संवर्ग–1

इकाई – 1

राजस्थान के पूर्व पाषाण युग की रूपरेखा मुख्यतः कालीबंगा, आहड़ एवं बैराठ के पुरातात्विक सन्दर्भ में

संरचना

1.0 उद्देश्य
1.1 प्रस्तावना
1.2 राजस्थान का नामकरण
1.3 राजस्थान और प्रस्तर काल
1.4. पूर्व पाषाण काल और उत्तर पाषाणकाल
1.5 कालीबंगा सभ्यता
1.6 कालीबंगा के मूल स्रोत
- 1.6.1 भग्नावशेष
- 1.6.2 बर्तन
- 1.6.3 मृण्मूर्तियाँ
- 1.6.4 आभूषण
- 1.6.5 चोसर की गोटियां
- 1.6.6 अस्थियां

1.7 प्राक सैन्धवयुगीन सभ्यता और सस्कृति
- 1.7.1 प्रारम्भिक बस्ती
- 1.7.2 भवन निर्माण
- 1.7.3 जुता हुआ खेत
- 1.7.4 बर्तन
- 1.7.5 अन्य वस्तुएं

1.8 सैन्धवयुगीन सभ्यता और संस्कृति
- 1.8.1 दुर्ग
- 1.8.2 नगर एवं भवन निर्माण
- 1.8.3 मिट्टी के बर्तन
- 1.8.4 मुद्राएं
- 1.8.5 मृणमूर्तियां
- 1.8.6 लिपि
- 1.8.7 मृतक संस्कार विधि

1.9 सभ्यता का हवास
1.10 आहड़ की सभ्यता
1.11 आहड की सभ्यता के स्रोत
1.12 आहड़ की खोज तथा उसका उत्खनन
1.13 आहड़ की भौगोलिक स्थिति
- 1.13.1 निवास स्थान

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

1.13.2 मृदभाण्ड एवं बर्तन
1.13.3 मुद्राएं व मुहरे
1.13.4 मिट्टी के अन्य उपकरण
1.13.5 पूजा की थाली
1.13.6 धातु एवं गोलियां
1.13.7 खिलौने
1.13.8 दीपक एवं गोलियां
1.13.9 मानवकृतियां
1.13.10 पहिये
1.13.11 खपरैल
1.13.12 मणियां एवं आभूषण
1.13.13 कृषि व्यवसाय एवं रहन–सहन
1.13.14 चावल तथा सिलबट्टा
1.13.15 मृतक संस्कार विधि
1.14 सभ्यता का विस्तार
1.15 आहड़ सभ्यता का सांस्कृतिक महत्त्व
1.16 बैराठ सभ्यता
1.17 उपलब्ध पदार्थ
1.18 शैल प्रस्तर कालीन सभ्यता का प्रमुख केन्द्र
1.19 बैराठ सभ्यता की विशेषताएं
1.19.1 भवन
1.19.2 मुद्राएं
1.19.3 मृदभाण्ड
1.19.4 अशोक स्तम्भ
1.19.5 गोल मन्दिर
1.19.6 अन्य वस्तुएं
1.20 बोध प्रश्न

1.0 उद्देश्य :

इस पाठ का उद्देश्य राजस्थान में पूर्व पाषाणकाल तथा उत्तर पाषणकाल में सभ्यता एवं संस्कृति के प्रमुख केन्द्रों और उनकी विभिन्न विशेषताओं से पाठकों को अवगत करना है जो निम्न बिन्दुओं द्वारा विस्तृत किया जायेगा।

– कालीबंगा, आहड़ तथा बैराठ सभ्यता के विशेष सन्दर्भ में।

– उपरोक्त स्थलों से प्राप्त विभिन्न वस्तुओं तथा मृदभाण्ड, मुद्राएं, भवन आदि का विस्तारपूर्वक विवेचन किया जायेगा।

1.1 प्रस्तावना :

राजस्थान भारत के उत्तरी–पश्चिम भाग का एक राज्य है। इसका क्षेत्रफल 3,42,274 वर्ग किलोमीटर है जो भारत के कुल क्षेत्रफल का दसवां भाग है और मध्यप्रदेश के बाद देश का दूसरा बड़ा प्रान्त है। राजस्थान आकार में विषमकोणीय चतुर्भुज है जिसके उत्तरी, पश्चिमी, दक्षिणी और पूर्वी कोणों में बीकानेर, जैसलमेर, बांसवाड़ा तथा धौलपुर की सीमाएं मिलती है। इसके पश्चिम में तथा उत्तर–पश्चिम में पाकिस्तान, उत्तर–पूर्व में पंजाब, उत्तर–पूर्व और पूर्व में उत्तरप्रदेश और पूर्व में ग्वालियर और दक्षिण में मध्यप्रदेश और गुजरात है। राजस्थान राज्य की बनावट का आधार पर्वतीय प्रदेश, पठारी भाग, मैदानी हिस्सा, मरूस्थलीय भाग तथा नदियां है। यदि इन प्राकृतिक भू–भागों की जलवायु, वर्षा तथा वनस्पति तथा उपज के सन्दर्भ में अध्ययन किया जाये तो यह स्पष्ट हो जायेगा कि राजस्थान की भौगोलिक अवस्था का प्रभाव ऐतिहासिक घटनाओं और यहां के राजनीतिक तथा सांस्कृतिक जीवन पर विशेष रूप से परिलक्षित होता है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

1.2 राजस्थान' का नामकरण :

प्राचीनकाल से ही राजस्थान के विभिन्न भागों को अलग–अलग नामों से जाना जाता था। 'राजस्थान' नाम प्राचीनकाल की देन नहीं बल्कि स्थान विशेष, भौगोलिक परिस्थिति के आधार पर अलग–अलग कालों में इसका नाम बदलता रहा। वर्तमान बीकानेर और जोधपुर के जिले महाभारत काल में 'जांगलदेश' कहलाते थे। काफी समय तक यह 'कुरू जांगलाः' या 'माद्रेय जांगलाः' के नाम से विख्यात रहा और उस समय इसकी राजधानी अहिच्छपुर (नागौर) थी। जांगल प्रदेश के आस–पास के भाग को 'सपादलक्ष' कहते थे। इसकी राजधानी शाकम्भरी (साँभर) थी। प्राचीनकाल में उत्तर भारत में कुरु, मत्स्य और शूरसेन बहुत विस्तृत राज्य थे। अलवर राज्य का उत्तरी भाग कुरू देश, दक्षिणी और पश्चिमी मत्स्य देश तथा पूर्वी भाग शूरसेन देश के अन्तर्गत आता था। भरतपुर और धौलपुर राज्य तथा करौली का अधिकांश भाग शूरसेन देश के अन्तर्गत था। शूरसेन की राजधानी मथुरा, मत्स्य की विराट (वैराट), और कुरू की इन्द्रप्रस्थ थी। उदयपुर राज्य का प्राचीन नाम 'शिवि' था जिसकी राजधानी मध्यमिका थी। डूंगरपुर, बांसवाड़ा प्रदेश बागड़ कहलाते थे। जैसलमेर राज्य का प्राचीन नाम माँड था वहीं जोधपुर के दक्षिणी भाग को गूर्जरत्रा कहते थे। सिरोही के हिस्से की गणना अर्बुद (आबू) देश से होती थी। मालव देश के अन्तर्गत आधुनिक झालावाड़ और टोंक के कुछ प्रान्त आते थे।

मुगलकाल के इतिहासकारों ने 'राजपूत' शब्द प्रयोग में लिया और इसी आधार पर अंग्रेजों ने इसे राजपूताना अर्थात् राजपूतों का देश कहा। राजपूताने के प्रथम और प्रसिद्ध इतिहास लेखक कर्नल जेम्स टॉड ने पुरानी बहियों के आधार पर इसका नाम 'राजवाड़ा' या 'रायथन' शब्द का प्रयोग करते थे। आगे चलकर सारे राज्य के लिये इस लौकिक रूप को बदलकर राजस्थान प्रयुक्त किया जाने लगा और आज भी एक ईकाई के रूप में वह इसी नाम से विख्यात है।

1.3 राजस्थान और प्रस्तर काल :

विद्वानों का अनुमान है कि लगभग 80 करोड़ वर्ष पूर्व पृथ्वी पर जीवन के चिह्न प्रकट होने लगे थे और उनके क्रमिक विकास में करोड़ों वर्ष लग गये। यद्यपि इसका लिखित इतिहास तो नहीं मिलता है लेकिन विभिन्न विद्वानों ने इस दीर्घकाल का चित्र, जीव शास्त्र, मानव शास्त्र एवं पुरातत्त्व के आधार पर खींचने का प्रयास किया है और ये आधार थे पाषण के औजार ओर धातुएं। राजस्थान में भी प्रागैतिहासिककाल के चरण हैं – पूर्वपाषाणकाल, उत्तर पाषाण काल।

1.4 पूर्व पाषाणकाल और उत्तर पाषाण काल :

राजस्थान में पूर्व पाषाण कालीन एवं उत्तर पाषाणकालीन अनेक केन्द्र पाये गये है जहां मानव जीवन का संकेत मिलता है। डॉ. विजय कुमार के अनुसार पाषाण–युगीन संस्कृति का प्रसार राजस्थान की अनेक प्रमुख तथा सहायक नदियों के किनारे, जैसे – जोधपुर, बीकानेर, जैसलमेर, अजमेर, अलवर, भीलवाड़ा, चित्तौड़गढ़, जयपुर, झालावाड़, जालौर, पाली, टोंक आदि जिलों में हो चुका था। बनास, गम्भीर, बेड़च, बाथन तथा चम्बल नदियों की घाटियों तथा इनके समीपवर्ती तटीय स्थानों के परिवेक्षण से प्रमाणित हो चुका है कि दक्षिण–पूर्वी तथा उत्तर–पूर्वी तथा दक्षिण–पूर्वी राजस्थान की नदियों के किनारे प्रस्तरयुगीन मानव रहता था और पत्थरों के हथियारों का प्रयोग करता था। ये हथियार भद्दे और भौंडे थे। इन हथियारों को प्रयोग में लाने वाला मनुष्य निरा बर्बर था। उसका आहार शिकार किये हुए बनैले जानवरों का मांस और प्रकृति द्वारा उपजाये कन्द, मूल, फल आदि थे। इस काल का मानव आग जलाना नहीं जानता था अतः वह कच्चा मांस एवं कच्चे कन्द–मूल व फल–फूल ही खाता था। आदिम मानव ने शिकार अथवा कन्द–मूल बटोरने में अपनी बुद्धि का प्रयोग किया।

राजस्थान का आदि मानव पूर्णतया आत्मनिर्भर था। वह अपनी दैनिक आवश्यकताओं की वस्तुओं की व्यवस्था स्वयं करता था। समय के साथ–साथ उसने एक कदम आगे बढ़न भी सीख लिया था। अपने हथियारों एवं औजारों को फैंककर शिकार करने से लेकर अब उसने धनुष और बाण का ज्ञान प्राप्त कर लिया फिर शिकार में उसने अधिक तेज व सफल औजारों का प्रयोग करना आरम्भ कर दिया। अब मानव ने चमड़े की खाल से और उसी के धागों का उपयोग करके सींग, हड्डी अथवा हाथी दांत की बनी हुई सुइयों से उसने तम्बू अथवा अपने पहनने और ओढ़ने के लिये खोल बनाना भी सीख लिया। प्राप्त साक्ष्यों से पता चलता है कि आदि मानव ने व्यापार विनिमय के लिये विभिन्न सामग्री (कोड़ियों, शंख) का प्रयोग प्रारम्भ कर दिया। इसी काल में उसे (आदि मानव) लज्जा की अनुभूति भी उत्पन्न हुई और उसने अपने गुप्त अंगों को ढ़कना शुरू कर दिया। अब वृक्षों के पत्ते, छाल तथा पशुओं की खाल उनके वस्त्र बन गये। वृक्षों की छाल को वह कमर में लपेटता था और पत्तों की माला बनाकर कटि प्रदेश के नीचे लटका देता था। पशुओं की खाल भी वह अपनी कमर में लपेटता था।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

यद्यपि धार्मिक भावनाओं का स्पष्ट उदय इस समय तक नहीं हुआ था, फिर भी राजस्थान के तद्युगीन मानव में एक विचार काफी गहराई में प्रवेश कर चुका था कि मनुष्य के व्यवहारिक जीवन का अन्त मृत्यु के साथ हीन नहीं हो जाता बल्कि उसके पश्चात् भी उसे उन सभी वस्तुओं की आवश्यकता पड़ती है, जो वह अपने जीवन में प्रयोग करता रहा है। इसी धार्मिक विचारधारा का परिणाम था कि जमीन मं गाड़े गये शवों के साथ औजार, आभूषण, मांस आदि जीवन की उपलब्ध उपयोगी वस्तुओं को भी रख दिया जाता था, जिनके अवशेष शव के अस्थि–पंजर के साथ मिलते हैं। विद्वानों का अनुमान है कि उस समय का मनुष्य किसी निराकार, अज्ञात शक्ति अथवा देव को प्रसन्न रखने के लिये आखेट करता था। वे अपने मृतकों को खुले मैदान में छोड़ देते थे, जिसको या तो जंगली जानवर खा जाते थे या फिर वे स्वयं ही सड़ गल जाते थे। उत्तर पाषाण काल में मानव ने बौद्धिक विकास किया। अब मानव जीवन में अपने पूर्वाधिकारियों की अपेक्षा उत्कृष्ट संस्कृति के लक्षण दिखाई देते हैं। वास्तव में देखा जाये तो राजस्थानी मानव सभ्यता की आधार शिला इसी युग में रखी गई थी।

उत्तर पाषाणकालीन मानव ने प्राकृतिक खोहो, कन्दराओं व कगारों को त्यागकर उसने नदी तट और पहाड़ियों की समतल पीठों पर अपने मकान बनाने का प्रयास किया। पत्थर के छोटे–बड़े टुकड़ों को एक दूसरे पर रखकर मकान की दीवार बनाई गई और फिर घास–फूस, पेड़ों की टहनियों, लकड़ी व जानवरों की हड्डियों को जोड़कर मकान की छत तैयार की गई। ये मकान झुण्डों में बनते थे जो मानव की सामाजिकता और संगठनात्मक प्रवृत्ति को प्रकट करते है। यही सामुहिक जीवन का श्रीगणेश था। उत्तरपाषाणकालीन मानव के औजार अधिक परिष्कृत, सुघड़, पॉलिशयुक्त एवं आकृति लिये हुये होने लगे। इस समय के औजारों में स्क्रेपर तथा पाइण्टर विशेष उल्लेखनीय है। जहां पूर्व पाषाणकाल में मानव हाथ से बर्तन बनाता था अब चाक के आविष्कार के साथ बर्तनों में कलात्मक अंलकरण भी देखने को मिलने लगा। उत्तर पाषाणकालीन औजार एवं अवशेष मुख्यतः चम्बल, भैसरोड़गढ़, नवाघाट, बनास तट पर हमीरगढ़, जहाजपुर, देवली व गिलूंड, लूनी नदी के तट पर पाली, समदड़ी, शिकारपुर, सोजत, पीपाड़, खींवसर, बनास नदी के तट पर टोंक में भरनी आदि अनके स्थानों से प्राप्त हुए हैं।

उत्तरपाषाणकाल में मानव ने पत्थरों को रगड़कर आग जलाना सीख लिया था और इसी आग में उसने अपना भोजन पकाना भी सीख लिया परिणामस्वरूप अब उसका भोजन कच्चे के साथ पक्का हुआ होने लगा। पशु–पालन का व्यवसाय शुरू होने के कारण अब उसका पेय पदार्थ दूध भी हो गया। धीरे–धीरे समय के साथ–साथ दूध से दही, घी निकालने की भी प्रक्रिया प्रारम्भ हो गई या यूं कह सकते हैं कि पूर्व पाषणकाल की अपेक्षा उत्तरपाषणकालीन मानव ने अपने भोजन में काफी विकास कर लिया था।

इस काल तक आते–आते मनुष्य ने यह अनुभव कर लिया था कि निरन्तर शिकार करते रहने या घूमक्कड़ जीवन जीने से उसका जीवन यापन नहीं हो सकता परिणामस्वरूप उसने पुशओं के मारने (शिकार) के साथ–साथ उनका पालन प्रारम्भ कर दिया। विशेषतः वे जानवर जो दूध देते जैसे गाय, बकरी आदि। इनके अलावा भार ढ़ोने वाले पशुओं को भी पाला जाने लगा। सबसे बड़ा क्रांतिकारी आविष्कार उत्तर पाषाणकाल में कृषि कार्य का शुभारम्भ था। अब मनुष्य ने स्थायी निवास बनाकर जीवन यापन करना प्रारम्भ कर दिया परिणामस्वरूप सभ्यता का विकास तेजी से होने लगा। इस प्रणाली से सामुहिकता की भावना और संगठन की भावना का विकास हुआ।

उत्तरपाषण काल में पशु पालन और खेती होने के कारण कपास की खेती प्रारम्भ हो गई परिणामस्वरूप सूत कातने और कपड़ा बुनने का काम आरम्भ हो गया पशुओं की ऊन से भी कपड़ों की बुनाई प्रारम्भ हुई। इस प्रकार राजस्थान में उत्तर पाषाण कालीन मानव सूती और ऊनी वस्त्र पहनने लगा। रंगों के प्रति मानव में आकर्षण स्वाभाविक था। अतः वनस्पति से तैयार किये हुए रंगों से लाल, पीले, हरे और नीले कपड़े रंगें जाने लगे। स्त्रियों विशेषतः अधोवस्त्र (लहंगे जैसा) जैसा वस्त्र धारण करती थी। बाल संवारने की कला भी विकसित हो गई थी। आभूषण का शौक स्त्री पुरुष दोनो को था। स्त्रियां विशेषकर पत्थर, कौड़ी, सीप, हड्डी आदि की मालाएं बालियां, अंगुठियां, कड़े व कंकणों से श्रृंगार करने का विशेष शोक रखती थी।

कृषि कर्म के कारण अब इस काल में मनुष्य ने बड़े–बड़े परिवार में रहना प्रारम्भ कर दिया ऐसे में सम्बन्ध भी प्रगाढ़ होने लगे और परिवार के सबसे वयोवृद्ध व्यक्ति को परिवार का मुखिया मान लिया जाता था और यहीं से राज–संस्था का विकास प्रारम्भ हो सका।

अब मानवीय भावना के साथ–साथ मनुष्य में आध्यात्मिक एवं धार्मिक प्रवृत्ति भी बढ़ने लगी यद्यपि प्रत्यक्ष किसी देवी देवता का तो उल्लेख नहीं है लेकिन मनुष्य के जीवन–मरण के सम्बन्धी विचार अधिक स्थिर होने लगे। अब यह विचार अधिक बल पकड़ने लगा कि मृत्यु के बाद जीव का पुनर्जन्म होता है। अब पूजा पद्धति भी धीरे–धीरे प्रचलन में आने लगी।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

समय के साथ–साथ धातु का ज्ञान, पत्थरों की बनाई हुई भट्टी अथवा चूल्हें का उपयोग मानव के विकास में सहायक हुआ। धातु ज्ञान से अब मनुष्य ने पाषाण हथियारों के स्थान पर धातु हथियार पर ज्यादा विश्वास होने लगा। ऐसे में मनुष्य ने उपयोगी धातुओं की खोज करनी प्रारम्भ कर दी। राजस्थान में भी मानव ने पत्थर के पश्चात् ताम्र की खोज की। राजस्थान में भी हथियार, औजार आदि बनाने में तांबें का प्रयोग अधिक होने लगा। राजस्थान के विभिन्न भागों से ताम्बे की वस्तुओं के अवशेष प्राप्त हुये हैं। इन अवशेषों में राजस्थानी सभ्यता की नव–अंकुरित सभ्यता के चिह्न स्पष्ट रूप से दिखाई देते हैं। ताम्र युगीन सभ्यता मुख्तः सिन्धुघाटी में विकसित हुई और इसका प्रसार निकटवर्ती भागों में दूर तक पर्याप्त रूप से हुआ था। राजस्थान के विभिन्न स्थानों कालीबंगा, आहड़, बागौर, रंगमहल, बैराठ, गिलूंड, नोह आदि स्थानों से सिन्धु घाटी सभ्यता के समकक्ष, और कहीं–कहीं इससे भी प्राचीन सभ्यता के साक्ष्य मिले हैं।

1.5 कालीबंगा सभ्यता :

ऐसा माना जाता है कि ऋग्वैदिक काल से सदियों पहले राजस्थान के वर्तमान रेगिस्तान क्षेत्र में समुद्र था तथा आहड़ (उदयपुर के निकट) और द्वषद्वति एवं सरस्वती नदियां उस समुद्र में आकर मिलती थी। कहा जाता है कि प्राचीन ऋषियों ने यही पर ऋग्वेद के कुछ मण्डलों की रचना की थी। ऋग्वेद में सरस्वती एवं मरू–दोनों का उल्लेख हुआ है। आहड़, द्वषद्वति और सरस्वती नदियों के कॉठों पर मानव संस्कृति सक्रिय थी। ये संस्कृति हड़प्पा तथा मोहनजोदड़ों की सभ्यता के समकक्ष एवं समकालीन सी थी। आज से लगभग पांच–छः हजार वर्षों पूर्व इन नदी घाटियों में मानव ने अत्यन्त ही समुन्नत सभ्यता का निर्माण किया था। इनमें कालीबंगा तथा आहड़ की सभ्यता अत्यधिक महत्त्वपूर्ण है।

कालीबंगा राजस्थान के गंगानगर जिले के अन्तर्गत आता है। 1961–69 ई. के बीच डॉ. बी.बी. लाल और बी.के. थापर के निर्देशन में कालीबंगा में खुदाई का कार्य हुआ इनमें जो अवशेष प्राप्त हुये है वे आद्य ऐतिहासिक काल के है। यह नगर प्राचीन सरस्वती नदी के किनारे पर बसा हुआ था, इस कारण इसे सिन्धु–सभ्यता (या हडप्पा सभ्यता) का नगर भी कहते हैं। यहां से प्राप्त सामग्री का अध्ययन पांच स्तरों पर किया गया जिनमें तीन स्तरों का पुनर्निर्माण हुआ है जबकि प्रथम और द्वितीय स्तर सिन्धु घाटी सभ्यता का समकालीन अथवा उससे भी पहले का प्रतीत होता है। यद्यपि यहां पर की गई खुइाई का कार्य 1952 ई में ही प्रारम्भ हो गया था। यहां की खुदाई से प्राप्त सामग्री के आधार पर यह कहा जा सकता है कि प्रस्तर धातुकाल में इस सभ्यता का विकास हो चुका था। इस प्रकार कालीबंगा, सरस्वती सभ्यता का एक महत्त्वपूर्ण केन्द्र था।

1.6 कालीबंगा सभ्यता के मूल स्रोत :

1.6.1. भग्नावशेष – यहां दो टीले प्राप्त हुए हैं और उन दोनों टीलों के उत्खनन में पुराने मकानों के अवशेष तथा प्रचीर के अवशेष मिले हैं। दोनों टीलों के भवनों में भिन्नता मिली है तथा भवन निर्माण के उपकरणों में भी भिन्नता पाई गई है। भवनों के उन अवशेषों के आधार पर तत्कालीन स्थापत्य–कला, नगर–निर्माण कला का पता लगाया गया हैं इसके साथ ही उन अवशेषों के आधार पर तत्कालीन जन–जीवन तथा आर्थिक अवस्था का पता लगाने का भी प्रयास किया गया है।

1.6.2. बर्तन – कालीबंगा में विभिन्न प्रकार के मिट्टी के बर्तन पर्याप्त मात्रा में मिले है। उन बर्तनों से तत्कालीन कला व विभिन्न रंगों का ज्ञान होता है। रंगों के अलावा वे मृद–भाण्ड यह भी स्पष्ट करते हैं कि चाक पर निर्मित होनेपर भी उनकी गढ़न साफ सुथरी नहीं थी।

1.6.3. मृण्मूर्तियां – कालीबंगा के उत्खनन में मृण्मूर्तियां भी उपलब्ध हुई हैं। इससे ज्ञात होता है है कि यहां के निवासी भी हड़प्पा के लोगों की भांति मूर्ति कला से परिचित थे।

1.6.4. आभूषण – कालीबंगा में विभिन्न पदार्थों से निर्मित आभूषण भी प्राप्त हुए हैं। मिट्टी से निर्मित चूड़ियां तथा तांबे के मणिएं भी मिले हैं। इससे स्पष्ट है कि कालीबंगा के निवासी आभूषणों के प्रेमी थी। वे तांबे का प्रयोग भी जानते थे। इसके साथ ही यह भी पता चलता है कि कालीबंगा के लोग अधिक समृद्ध नहीं थे।

1.6.5. चोसर की गोटियां – कालीबंगा के उत्खनन में शतरंज व चौसर की गोटियां मिली है। बच्चों के मिट्टी के खिलोने मिले हैं। इनसे स्पष्ट है कि बच्चे व युवा दोनों ही अपने मनोरंजन के साधन भी रखते थे।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

1.6.6. अस्थियां — प्राप्त अस्थियों के आधार पर यहां पाये जाने वाले विभिन्न पशुओं का अनुसंधान किया जाता है। पुराविद् यह भी विचार करते थे कि यहां के मनुष्य मांसाहारी थे। वे पशुओं का शिकार करके भी अपना भरण–पोषण करते थे।

इस आधार पर कालीबंगा की सभ्यता और संस्कृति को दो भागों में बाटा गया है — (1) प्राक् सैन्धवयुगीन सभ्यता और संस्कृति तथा (2) सैन्धवयुगीन सभ्यता और संस्कृति।

1.7 प्राक् सैन्धवयुगीन सभ्यता और संस्कृति :

1.7.1 प्रारम्भिक बस्ती — कालीबंगा में उत्खनित टीलों में से प्राक् सैन्धवयुगीन सभ्यता और संस्कृति के अवशेष चिह्न केवल पश्चिम टीले के दो प्रारम्भिक स्तरों से मिले हैं। इस काल में यह बस्ती 40 / 30 X 20 X10 सेन्टीमीटर माप की कच्ची ईंटों से बने परकोटे के अन्दर स्थित थी। यह परकोटा दो चरणों में बना था। प्रारम्भ में परकोटे की दीवार की चौड़ाई 1.90 मीटर थी, किन्तु कालान्तर में उसे अन्दर की ओर बढ़ाकर 3.10 से 4.10 मीटर तक चौड़ा किया है, किन्तु पश्चिमी और पूर्वी दीवारों की निश्चित दूरी अज्ञात है। विद्वानों की मान्यता है कि सम्भवतः यह दूरी 180 मीटर रही होगी।

1.7.2 भवन निर्माण — इस काल में बस्ती के अन्दर के मकान भी परकोटे में प्रयुक्त ईंटों की माप की कच्ची ईंटों से ही बने है। इन मकानों में दालान, 4–5 बड़े और छोटे कमरे होते थे। मकानों की छतें बल्लियों ओर मिट्टी से बनाई जाती थीं और उन्हें कवेलू से ढंका जाता था। मकानों के बाहर चबूतरे होते थे। सामान्यतः कमरों की फर्शे चिकनी मिट्टी से लीपी जाती थी। किन्तु कुछ मकानों में पकाई गई ईंटों के फर्श भी मिले है। मकानों की छत पर जाने के लिए सीढ़ियां भी मिली है। मकानों में बने चूल्हे सतह और सतह के अन्दर बने हैं। नीचे वाले चूल्हों में ईंधन देने और धुंवों के निकालने के लिये छेद बने है। घरों की सफाई का विशेष प्रबन्ध था। गन्दे पानी के निकास के लिये पूरे मकान में पक्की नालियां थी जिनका पानी मकान के बाहर बने विशेष प्रकार के बने गढ्ढ़ों में गिरता था।

1.7.3 जुता हुआ खेत — कालीबंगा के प्राक् सैन्धवयुग की सर्वोत्तम उपलब्धि बस्ती के दक्षिण–पूर्वी प्राचीर के बाहर जुते हुये खेत के अवशेष है। उल्लेखनीय तथ्य यह है कि संसार भीतर में उत्खनन में प्राप्त जुते हुये खेत के अवशेषों में यह प्राचीनतम है। साथ ही इस खेत की उपलब्धता ने सिन्धु सभ्यता के प्रारम्भिक रूप और उद्भव सम्बन्धी प्रश्न को हल करने में महत्त्वपूर्ण योगदान दिया है। वस्तुतः नगरीय सभ्यता का विकास प्रायः ग्रामीण सभ्यता से होता है। किन्तु इस सभ्यता की जानकारी के पूर्व नगर प्रधान सिन्धु सभ्यता की प्रारम्भिक कड़ियां लुप्त प्रायः थी, किन्तु इस सभ्यता के प्रकाश में आने से ये कड़ियां पुनः जुड़ गई है। इस खेत में दो प्रकार की फसलों को एक साथ उगाया जाता था। कालीबंगा के आसपास के क्षेत्र में आज भी दो प्रकार के अनाजों–सरसों और चने की मिली–जुली खेती होती है। उत्खनन में मिले खेत की दुतरफा जुताई में हराईयों के चिह्न एक वर्ग जाल के रूप में बने हैं। उत्तर दक्षिण की हराईयों की दूरी 1.10 मीटर है, किन्तु पूर्व से पश्चिम की हराइयों के मध्य केवल 30 सेन्टीमीटर की दूरी है। यहां के प्रमुख कृषि उत्पादनों के सम्बन्ध में कोई निश्चित जानकारी नहीं मिलती, किन्तु यहां की नदियों के आधार पर विद्वानों का अनुमान है कि यहां रबी की फसल के रूप में जौ, गेहूँ आदि उगाये जाते थे। उत्खनन में प्राप्त बहुसंख्यक कृषि उपकरण और अन्नसंग्रह के साधन, यहां की आर्थिक समृद्धि के परिचायक है। विद्वानों का मत है कि प्राचीन संस्कृत साहित्य में उल्लेखित 'बहुधान्यदायक' प्रदेश यही था।

1.7.4 बर्तन — कालीबंगा के उत्खनन से मिट्टी के कई बर्तन और उनके अवशेष मिले है जिनको फेबरिक — 'ए', 'बी', 'सी', 'डी' और 'ई' की संज्ञा दी जाती है। यहां के बर्तनों की विशेषता, उनका पतला एवं हल्का होना है। उन्हें चाक से बनाया जाता था, फिर भी ये उनकों भोंड़े ढंग से बने है। इनका रंग लाल है परन्तु ऊपर और मध्य भाग में काली एवं सफेद रंग की रेखाएं दिखाई देती है। इन पर अंलकरण चौकोर, गोल जालीदार, वृत्ताकार, घुमावदार, त्रिकोण एवं समानान्तर रेखाओं से किया जाता था। फूल, पत्ती, चौपड़, पक्षी, खजूर आदि का अलंकरण भी इन पर रहता था। बर्तनों में घड़े, प्याले, लौटे, हांडियां, रकाबियां, सरावलें पैदे वाले ढक्कन व लोटे भी होते थे। मछली, कछुए, बतख, हिरण आदि की आकृतियां भी इन पर बनाई जाती थी।

1.7.5 अन्य वस्तुएं — मकानों के अवशेषों व बर्तनों के अतिरिक्त यहां कई अन्य प्रकार की वस्तुएं भी उपलब्ध हुई है जिनमें खिलौनें, पशुओं एवं पक्षियों के स्वरूप, मिट्टी की मुहरें, चूड़ियां, नाप–तोल के पैमाने, तांबें की चूड़ियां, चाकू, तांबें के औजार, कॉंच के मणिये आदि प्रमुख है। मिट्टी के भाण्डों एवं मुहरों पर अंकित लिपि सैन्धव लिपि के तुल्य है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

कालीबंगा का प्रथम काल (प्राक्–हड़प्पा) उपलब्धियों की दृष्टि से उल्लेखनीय था। भारत के प्रमुख व्यवसाय कृषि के यहां अवशेष प्राप्त हुए हैं। भवन निर्माण में यहां के लोग दक्ष थे। ईंटों को पकाना वे जानते थे। नगर की सुरक्षा हेतु परकोटे का महत्व वे समझते थे। मिट्टी के विभिन्न प्रकार के कलापूर्ण बर्तन बनाना उन्हें ज्ञात था। ताम्बे व पाषाण के वे शस्त्र बनाते थे। गाड़ी के मिले पहिये व खंडित बैल की मूर्ति इस तथ्य का परिचायक हैं कि माल ढोने में बैलगाड़ी का प्रयोग किया जाता था। सम्भवतः आवागमन के साधन रूप में भी बैलगाड़ी का प्रयोग किया जाता होगा। कालीबंगा के इन अवशेषों व उपकरणों की प्राप्ति के लिए 60 मीटर की गहराई तक खुदाई करनी पड़ी है। सैन्धव सभ्यता की भांति यहां के अवशेष भी कई परतों (प्रकालों) को हटाने के उपरान्त मिले हैं। परन्तु इस सभ्यता के अवशोषों ने पाकिस्तान की चुनौती को स्वीकार करते हुए बता दिया है कि वह जिस हड़प्पा व मोहनजोदड़ों की प्राचीनता पर गर्व कर बैठा था – उससे भी प्राचीन सभ्यता भारत के राजस्थान प्रदेश के उत्तरी भाग में विकसित हो चुकी थी। इसकी प्रथम पड़त पर जमी बालू रेत इस बात का संकेत देती है कि संभवतः सरस्वती नदी में कभी भयंकर बाढ़ आई होगी – उसमें यह विकसित सभ्यता विनाश के गर्त में समा गई होगी।

1.8 सैन्धवयुगीन सभ्यता और संस्कृति :

जैसा कि बताया गया है कि प्रा–हड़प्पा बस्ती सम्भवतः नदी की बाढ़ में उसी प्रकार समा गई जिस प्रकार नदियों की घाटियों में विकसित होने वाली अन्य सभ्यताएं विनाश को प्राप्त हो गई। यह भी सम्भव है कि भूकम्प के प्रकोप से यह नष्ट हुई हो। परन्तु कालान्तर में सरस्वती व दृषद्वती नदियों की घाटियों में सभ्यता का पुनः विकास हुआ। दूसरे काल में विकसित सभ्यता के जो पुरावशेष कालीबंगा में प्राप्त हुए वे प्राक्–हड़प्पा सभ्यता से भिन्न है। उन प्राप्त उपकरणों के आधार पर पुराविद् अपना मत व्यक्त करते हैं कि इस दूसरी सभ्यता को विकस्ति करने वाले हड़प्पा निवासी थे क्योंकि दूसरे काल के प्राप्त पुरातत्व–उपकरण हड़प्पा सभ्यता के उत्खनन में प्राप्त पुरातत्व–उपकरणों से साम्यता रखते हैं। हो सकता है कि दूसरे काल की कालीबंगा (हड़प्पा युगीन) सभ्यता व संस्कृति को विकसित करने में कालीबंगा के प्राक्–हड़प्पा युगीन लोगों का भी सहयोग रहा हो। परन्तु यह यथार्थ है कि हड़प्पा कालीन संस्कृति ने प्राक्–हड़प्पा सभ्यता को पूर्णतः अपने में आत्मसात कर लिया। इसका प्रमुख कारण यह था कि हड़प्पा युगीन सभ्यता प्राक्–हड़प्पा सभ्यता से अधिक विकसित एवं श्रेष्ठ थी।

1.8.1 दुर्ग – कालीबंगा का सैन्धवकालीन दुर्ग सुरक्षा की दृष्टि से पश्चिम के ऊँचे टीले पर प्राक् सैन्धवयुगीन बस्ती के अवशेषों पर बनाया गया था। दुर्ग उत्तर–दक्षिण में 240 मीटर व पूर्व–पश्चिम में 120 मीटर में विस्तारित था। दुर्ग के परकोटे की दीवार 3 से 7 मीटर चौड़ी थी जिसमें दृढ़ता के लिये बीच में बुर्ज बने थे। दीवार में प्रयुक्त ईंटों का माप 40 x 20 x 10 से.मी. और 30 x 15 x 7.5 से.मी. है। सम्भवतः इस दीवार का निर्माण भी दो चरणों में सम्पन्न हुआ था। निर्माण के प्रथम चरण ने बड़ी और द्वितीय चरण में छोटी ईंटों का प्रयोग हुआ था। दुर्ग के दक्षिणी भाग के एक हिस्से में 5–6 चबूतरे बने है जिन पर सीढ़ियां बनी थी और वहां तक पहुंचने के लिये ईंटों को जड़ाई कर मार्ग बना था। कुछ चबूतरों पर आयताकार कुण्डनुमा वेदियों और कुवें बने है। इन वेदियां में प्राप्त हड्डियों, सींगों, राख आदि के अवशेषों के आधार पर विद्वानों का अनुमान है कि सम्भवतः इनका कोई धार्मिक प्रयोजन रहा होगा। दुर्ग के प्रवेशद्वार उत्तर और दक्षिण दिशा में बने थे। दो बुर्जों के मध्य बने उत्तरी द्वार में प्रवेश के लिये सीढ़ियां बनी थीं, किन्तु दक्षिण में सीढ़ियों के साथ गलियारा भी था। अनुमान है कि उत्तरी द्वार से अभिजात वर्ग के और दक्षिणी द्वार से सामान्य वर्ग के लोग प्रवेश करते थे। दुर्ग के दूसरे भाग में अभिजात वर्ग के निवास थे जो वैसी ही ईंटों से बने थे जिससे दुर्ग की प्राचीर बनी थी। ये भवन एक मंजिले थे, जिनमें 3–4 कमरे और नालियां बनी होती थी।

1.8.2 नगर एवं भवन निर्माण – दुर्ग के पूर्व की दिशा में नीचे की ओर की भूमि पर 360 x 240 मीटर माप में सैन्धव सभ्यता की विशिष्ट नगर आयोजन के अनुरूप कालीबंगा का सुनियोजित नगर या बस्ती खण्ड बसा था। दुर्ग की भांति नगर के चतुर्दिक कच्ची ईंटों का परकोटा बना था। ईंटों का माप 40 x 20 x 10 से.मी. था। नगर के भवनों व सड़कों की आयोजना शतरंज पट्ट की भांति थी। नगर उत्तर से दक्षिण की ओर जाने वाली तीन सड़कों के द्वारा अनेक खण्डों में विभक्त था। इन सड़कों की चौड़ाई 80 के गुणज में थी। प्रारम्भिक काल की सड़के कच्ची थीं, किन्तु परवर्ती काल की सड़के मृद्पिण्डों से पटी थी। स्थानीय दुर्घटनाओं को रोकने के लिए प्रत्येक सड़क के कोने पर रक्षा स्तम्भ बने थे। सुनियोजित नगर निर्माण के आधार पर विद्वानों का अनुमान है कि सम्भवतः इन तथ्यों को नियन्त्रित करने के लिये यहां कोई स्थानीय सत्ता रही होगी। सड़कों द्वारा विभाजित नगर के प्रत्येक खण्ड में 5–6 मकान बने थे। प्रायः प्रत्येक भवन दो या तीन सड़कों की ओर खुलता था। प्रत्येक भवन में एक आगन और 6–7 कमरे होते थे। भवनों में प्रयुक्त ईंटों की माप दुर्ग की ईंटों के अनुरूप ही थी। भवनों

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

की फर्श और छतें प्राक् सैन्धवयुगीन भवनों की भांति मिट्टी की ही बनी थी। कुछ भवनों की फर्शें कच्ची ईंटों और अंलकृत खपरैलों से भी बनी है। इन भवनों की छतें भी कच्ची ही है जो प्रायः लकड़ी की शहतीरों पर खपरैल और कवेलू डालकर बनाई गई है। एक भवन में छत पर जाने के लिये सीढ़ियां भी बनी हुई है।

1.8.3 मिट्टी के बर्तन – कालीबंगा सभ्यता के जिस प्रकार प्रथम काल में मिट्टी के बर्तन पर्याप्त संख्या में प्राप्त हुए थे, उसी प्रकार दूसरे काल में पुरावशेषों में भी मृद–भाण्ड काफी संख्या में उपलब्ध हुए हैं। ये मिट्टी के बर्तन हड़प्पा संस्कृति से सम्बद्ध दृष्टिगत होते हैं। बर्तन भी कई श्रेणी के मिले हैं।

उनमें प्रमुख हैं – खाना पकाने के , अनाज रखने व उसे छानने के बर्तन। इनके अलावा धार्मिक अनुष्ठान सम्पन्न करने के भी बर्तन प्राप्त हुए हैं। बर्तन अलंकरण युक्त भी हैं तो सादे भी हैं। अलंकरण प्रधानतः चित्रांकन के रूप में किया जाता था। कुछ भाण्ड ऐसे भी उपलब्ध हुए हैं जिन पर सिन्धु–लिपि या उत्कीर्ण प्रतीक अकिंत है। परन्तु बर्तनों की प्रमुख विशेषता यह थी कि वे चाक पर निर्मित थे और वे पतले व हल्के होते थे। बर्तनों की आकृति हड़प्पा संस्कृति के बर्तनों के समान थी। अलंकरण उन पर ज्यामितिक वृत्त जालक पुल्ले, मत्स्य–शकल आदि रूप में किया गया है। मछली, बतख, कछुए हिरण आदि भी मृद–भाण्डों पर चित्रित है। उल्लेखनीय बर्तनों में सपीठ थाली, नुकीली पैंदे के कुल्हड़, छिद्रित मृदंकार मर्तबान, लम्बोदर घड़ा आदि उपलब्ध हुए है। अन्य पुरातत्व उपकरण : उपर्युक्त मृद श्भाण्डों के अतिरिक्त कालीबंगा के उत्खनन में निम्न उपकरण और प्राप्त हुए हैं –

1. चकमक पत्थर के लम्बे फल
2. तामड़े पत्थर
3. यशब
4. घीया पत्थर
5. तांबे के मणियें
6. मिट्टी से निर्मित चूड़ियां व कड़ें
7. टोंटीदार प्यालियां
8. शंख–वलय आभूषण
9. मिट्टी के खिलौने (गाड़ियां)
10 चकमक पत्थर से निर्मित तौलने के बाट
11. शतरंज व चौसर की गोटियां
12. मृणमूर्तियां (मानव, पशु तथा पक्षी)
13. तिकोने और छोटे ढेलों से मिलते–जुलते मृदभाण्ड
14. कांचली मिट्टी

1.8.4 मुद्राएं – उपर्युक्त उपकरणों के अतिरिक्त सैन्धव सभ्यता से साम्यता रखती हुई यहां मुद्राएं भी उपलब्ध हुई है। उन मुद्राओं पर विभिन्न आकृतियां मुद्रित करने की छापें भी प्राप्त हुई हैं। मुद्राओं पर पौराणिक एवं वास्तविक पशुओं के चित्र चित्रित मिले हैं। मुद्राएं घीया पत्थर, तांबा, व कांचली मिट्टी से निर्मित होती थीं। सैन्धव सभ्यता के अन्तर्गत प्राप्त मुद्राओं पर जिस प्रकार कुछ लिखा मिला है – उसी प्रकार कालीबंगा की मुद्राओं पर भी कुछ लिखा मिला है। परन्तु जिस प्रकार मोहनजोदड़ो व हड़प्पा में प्राप्त मुद्राओं के लेख आज तक नहीं पढ़े जा सके हैं, उसी प्रकार कालीबंगा की मुद्राओं की लिपि भी आज तक नहीं पढ़ी जा सकी है। परन्तु कुछ मृत्पात्रों में उत्कीर्ण लेखों के लिखने के ढंग से यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि यह लिपि भी खरोष्ठी की भांति दायीं से बायीं ओर लिखी गई है। कभी–कभी इसे सर्पाकार शैली में भी लिखा जाता था।

1.8.5 मृण्मूर्तियां – हड़प्पा संस्कृति की भांति कालीबंगा में भी मिट्टी से निर्मित अनेक मूर्तियों मिली है। प्राप्त मृण्मूर्तियों में सर्वाधिक उल्लेखनीय मूर्ति आक्रामक सांड की है। इस मूर्ति को देख कर निःसन्देह कहा जा सकता है कि हड़प्पा युगीन कालीबंगा सभ्यता के लोग अच्छे मूर्तिकार थे। आक्रामक सांड का गठन इस प्रकार किया गया है कि लड़ने का उन्माद उसमें स्पष्ट झलकता है। उसका शरीर तना हुआ है तथा गर्दन कुछ झुकी हुई है। यह मूर्ति हड़प्पा युग की जीवन्त और सशक्त लोक–कला का परिचय देती है। इसके अलावा बेलनाकार सील, आशंकित पैमाना तथा एक मानव आकृति भी मिली है। पशुओं

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

के अवशेष देखने से स्पष्ट होता है कि कालीबंगा में उस युग में कूबड़ वाला बैल, भैंस, सूअर, बारहसिंघा, हाथी, ऊँट व गधे पाले जाते थे। जंगली पशुओं में गैण्डा व चीतल पशु की अस्थियां मिली है। परन्तु कूबड़ वाले बैल की हड्डियां अधिक मिली हैं। इससे स्पष्ट है कि बैल उस समय अति उपयोगी पशु बन गया था। गाड़िया खैंचने में उसे ही प्रयुक्त किया जाता था। ऊँट की हड्डियां व हिरण के सींग भी उत्खनन में प्राप्त हुए हैं जिन्हें पुराविदों ने अत्यन्त उपयोगी बताया है।

1.8.6 लिपि – खुदाई से प्राप्त मिट्टी के भाण्डों तथा मुहरों पर जो लिपि अंकित है, वह सिन्धु लिपि से मिलती–जुलती है। यह लिपि दाईं ओर से बाईं ओर को लिखी गई प्रतीत होती है। यह लिपि अभी पढ़ी नहीं जा सकी है। इसके पढ़ने में एक कठिनाई यह है कि लिपि के अक्षर एक दूसरे के ऊपर खुदे हुए प्रतीत होते हैं।

1.8.7 मृतक संस्कार विधि – कालीबंगा के दुर्ग से 300 मीटर दूर मिले कब्रिस्तान से यहां के निवासियों की शवाधान पद्धतियों की जानकारी मिलती है। यहां तीन प्रकार की शवाधन पद्धतियां प्रचलित थी –

1. आयताकार या अण्डाकार कब्रों में शव को सीधा लिटा देना,
2. वृत्ताकार गर्तों में शवाधान और
3. आयताकार या अण्डाकार गर्तों में मृद्‌भाण्ड निक्षेप।

प्रथम प्रकार की कब्र में शव के सिर को उत्तर दिशा में रखकर सीधा लिटाया जाता था और उसके पास मिट्टी के पात्र आदि रखे जाते थे। एक कब्र में तांबे का दर्पण भी मिला है। द्वितीय प्रकार की गोल कब्रों में एक कलश और उसके चतुर्दिक 4 से लेकर 29 तक मृद्‌भाण्ड रखे जाते थे। कुछ कब्रों में मनके, शंख, वलय तथा घीया पत्थर के वस्तुएं भी मिली है। तृतीय प्रकार की कब्रों की दीर्घ अक्ष उत्तर दक्षिण की ओर है तथा इनमें भी द्वितीय प्रकार की कब्रों की भांति मृद्‌भाण्ड व अन्य सामग्री मिली है। किन्तु द्वितीय व तृतीय प्रकार की कब्रें शव रहित हैं। सम्भवतः ये कब्रें प्रतीकात्मक शवाधान की प्रतीक है।

1.9 सभ्यता का ह्रास :

लगभग 1800 ई. पू के आस–पास कालीबंगा की सभ्यता का ह्रास हो गया। सिन्धु सभ्यता के अन्य केन्द्रों की भांति कालीबंगा की सभ्यता के अन्त का प्रश्न भी अनुमानों पर आधृत है। किन्तु प्राप्त साक्ष्यों से यह निश्चित है कि इसका अन्त बाह्य आक्रमणों या जल प्लावन (बाढ) आदि से नहीं हुआ क्योंकि कालीबंगा में सिन्धु सभ्यता के अवशेषों के ऊपर किसी अन्य संस्कृति के अवशेष नहीं मिले है स्पष्ट है इसके पश्चात् यह स्थान हमेशा के लिए निर्जन हो गया। कालीबंगा की सभ्यता के अन्त के सम्बन्ध में विद्वानों का अनुमान है कि कालीबंगा की सभ्यता के ह्रास का प्रमुख कारण जलवायु तथा नदियों के मार्ग का परिवर्तन होना था। कतिपय विद्वानों का मत है कि कालान्तर में उत्तर–पश्चिमी भारत की जलवायु शुष्क हो गई, जो समुद्री हवायें पहले इस ओर आर्द्रता (नमी) लाती थी और वर्षा का कारण बनती थी, वे ही हवाएं अब सूखी चलने लगी और कालान्तर में यह भू–भाग रेत का समुद्र बन गया। बीरबल साहनी, पुरा वनस्पति संस्थान के श्री गुरूदीप सिंह ने भी इस क्षेत्र के पराग परीक्षणों के आधार पर यह मत व्यक्त किया है कि लगभग 1800 ई. पू. में राजस्थान में शताब्दियों से व्याप्त आर्द्रता और हरियाली समाप्त होकर शुष्क जलवायु आरम्भ हो गई थी। इनका मत है कि यह जलवायु परिवर्तन ही कालीबंगा सहित उत्तरी–पश्चिमी भारत में सिन्धु सभ्यता के अन्य केन्द्रों के ह्रास के लिये मुख्य रूप से उत्तरदायी था। कार्बन–14 विधि से भी कालीबंगा के अन्त की तिथि भी लगभग यही निश्चित होती है। सभ्यताओं की पोषिका नदियों का मार्ग परिवर्तन भी अनेक सभ्यताओं के पतन का मुख्य कारण रहा है। सिन्धु सभ्यता के अनेक केन्द्र भी इसकी अपवाद नहीं है। कालीबंगा के सर्वेक्षण के आधार पर पुरातत्ववेत्ता डेल्स का मत है कि 1750 ई. पू. के आसपास घघर और उसकी सहायक नदियां के दिशा परिवर्तन और उनका गंगा ओर उसकी सहायक नदियों में मिलना, कालीबंगा सभ्यता के अन्त का मुख्य कारण था। सम्भवतः नदियों के दिशा परिवर्तन के कारण इस क्षेत्र में पीने और सिंचाई के लिये जल का अभाव हो गया होगा। इस सम्बन्ध में डॉ. गोपीनाथ ने लिखा है कि "ज्यों–ज्यों यहां की नदियों का पानी सूखता गया और अन्य सहायक नदियों के बहाव के मार्ग दूसरी ओर मुड़ते गये और धीरे–धीरे वर्षा की कमी आती गयी तो इस स्थान का कृषि–कार्य नष्ट होता गया। सूखे के कारण जंगल नष्ट हो गये और हरियाली भी चराई से कम होती गयी। मरूस्थल की बढ़ोतरी के कारण पीने के पानी की भी कमी होती गयी। सम्भवतः यहां के लोग देश के अन्य भागों में जाकर बस गये।

1.10 आहड़ की सभ्यता :

आहड़ उदयपुर के पासस्थित एक कस्बा है। सभ्यता भी अन्य प्राचीन सभ्यताओं की भांति नदियों की घाटी में ही विकसित हुई थी। यह कस्बा बनास नदी की घाटी में स्थित है। इस सभ्यता का विकास बनास नदी की घाटी में हुआ, इस

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

कारण इसे बनास सभ्यता भी कहते है। डॉ. गोपीनाथ शर्मा की मान्यता है कि यहां प्रस्तर युगीन मानव रहता था। यह सभ्यता चार हजार वर्ष पुरानी मानी जाती है।

1.11 आहड़ की सभ्यता के स्रोत :

इस सभ्यता के निम्न प्रमुख स्रोत हैं –

1. मृद भाण्ड,
2. भग्नावशेष,
3. प्रस्तर के उपकरण,
4. तांबे से निर्मित शस्त्र तथा अन्य उपकरण,
5. कीमती पत्थरों से निर्मित मणियां तथा
6. अस्थियां

1.12 आहड़ की खोज तथा उसका उत्खनन :

स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद आर.सी. अग्रवाल राजस्थान पुरातत्व विभाग के निदेशक नियुक्त हुए। उन्होंने 1954–55 में यहां पर खुदाई का कार्य आरम्भ करवाया। खुदाई से यह प्रमाणित हो गया कि आहाड़ में ईसा पूर्व दूसरी सहस्राब्दी में एक ऐसी सभ्यता विकसित थी, जो न हड़प्पा सभ्यत जैसी थी और न ही राजस्थान, मध्य प्रदेश तथा महाराष्ट्र की समकालीन ताम्र–पाषाणीय सभ्यताओं की जैसी थी और न ही राजस्थान, मध्यप्रदेश तथा महाराष्ट्र की समकालीन ताम्र–पाषाणीय सभ्यताओं की जैसी थी अपितु यह एक विशिष्ठ प्रकार की सभ्यता थी जिसे 'ताम्र युगीन सभ्यता' कहा जा सकता है।

इस सभ्यता को ताम्र युगीन कहने का मुख्य कारण यह है क इस सभ्यता में उत्खनन से तांबे के औजार तथा आभूषण पर्याप्त मात्रा में मिले हैं।

1.13 आहड़ की भौगोलिक स्थिति :

आहाड़ अरावली पर्वत की दक्षिणी पूर्वी ढाल पर स्थिति है। मेवाड़ के इस प्रदेश को प्राचीन काल में 'मेदपाटक' कहा जाता था। डॉ. गोपी नाथ शर्मा ने इसका 10–11वीं शताब्दी का नाम आधारपुर या आधार दुर्ग बताया है। बोलचाल की भाषा में उन्होंने इसे धूल कोट भी कहा है।

धूलकोट प्राचीन नगरी के अवशेषों को आवृत किये हुए हैं। धूल कोट का अर्थ धूल का टीला बताया गया है। आहड़ सभ्यता के प्राचीन अवशेषों को इस महान टीले की धूल ने ही अपने आंचल में छुपा लिया ऐसा लगता है।

उत्खनन से प्राप्त 8 स्तरों से ज्ञात होता है कि लगभग 2000 ई.पू. से 1800 ई. तक के लगभग 4000 वर्षों में यह बस्ती लगभग 8 बार बनी और उजड़ी तथा प्रत्येक बार प्रायः पुरानी बस्ती के अवशेष को प्रधानतः दो कालखण्डों में बांटा गया है – (1) प्रागैतिहासिक युग और (2) ऐतिहासिक युग।

तिथि निर्धारण की कार्बन–14 विधि के अनुसार आहड़ सभ्यता का प्रागैतिहासिक युग 2000 ई.पूर्व से 1200 ई. पू. तक रहा। इस के पश्चात् यह स्थान कुछ समय तक वीरान रहा। तदनन्तर ऐतिहासिक युग में मौर्यकाल से 18वीं शताब्दी ई. तक यहां अविच्छन्न रूप से एक के बाद एक बस्तियां बसती रही। किन्तु आहड़ की सभ्यता की विशिष्टता उसके प्रागैतिहासिक युग में ही निहित है। आहड़ के प्रागैतिहासिक युग की सभ्यता और संस्कृति की प्रमुख विशेषताओं इस प्रकार है –

1.13.1 निवास स्थान – आहड़ की खुदाई में कई घरों की स्थिति का पता चलता है। सबसे प्रथम बस्ती नदी के ऊपर के भाग की भूमि पर बसी थी जिस पर उत्तरोत्तर बस्तियां बनती चली गई। यहां मुलायम काले पत्थरों से मकान बनाये गये थे। ये मकान छोटे व बड़े बने थे। नदी के तट से लाई गई मिट्टी से मकानों को बनाया जाता था। यह मकान छोटे–बड़े बने थे। नदी के तट से लाई गई मिट्टी से मकानों को बनाया जाता था। यहां बड़े कमरों की लम्बाई चौड़ाई 33 x 20 फीट तक देखी गई है। इनकी छतें बांवों से ढकी जाती था। कुछ मकानों में 2 या 3 चूल्हें ओर एक मकान में तो 6 तक चूल्हों की संख्या देखी गई। इससे अनुमानित है कि आहाड़ में बड़े परिवारों में भोजन की व्यवस्था थी या संभवतः सार्वजनिक भोजन बनाने की भी व्यवस्था यहां की जाती थी। यहां कुछ अनाज रखने के बड़े भाण्ड भी गढ़े हुए मिले है जिन्हें स्थानीय भाषा में 'गोरे' व 'कोठे' कहा जाता है। इस व्यवस्था से प्राचीन आहड़ की समृद्धि प्रमाणित होती है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

1.13.2 मृदभाण्ड एवं बर्तन – आहड़ की खुदाई में हड़प्पा व मोहनजोदड़ों के विशिष्ट आकृति वाले कुछ मृदभाण्ड भी मिले हैं, जिनसे ज्ञात होता है कि आज से लगभग तीन–चार हजार वर्ष पूर्व अर्थात् सिन्धु सभ्यता के अन्तिम चरण में सिन्धु सभ्यता का मेवाड़ में प्रवेश हुआ होगा। यद्यपि यह कहना अत्यन्त कठिन है कि यह सम्पर्क किस दिशा से और किस साधन के द्वारा सम्पन्न हुआ। उत्खनन से प्राप्त सामग्री में सबसे अधिक संख्या मृदभाण्डों की है। यहां से प्राप्त लाल–काले रंग के बर्तनों से पता चलता है कि आहड़ लाल–काले मृदभाण्ड वाली संस्कृति का एक प्रमुख केन्द्र था। लाल–काले धरातल वाले चमकीले पात्र, अन्दर से सम्पूर्ण काले रंग के एवं बाहर से ऊपर की ओर गर्दन तक काले और उसके नीचे सम्पूर्ण लाल रंग के है। ऐसे पात्र तीन प्रकार के हैं – प्रथम सादे, जिन पर किसी प्रकार की डिजाइन नहीं है, दूसरे जिन पर अन्दर व बाहर की ओर हल्की डिजाइनें बनी है और तीसरे प्रकार में बाहर की ओर गर्दन पर सफेद रंग से कई प्रकार की लाइनें व बिन्दु बने हुए हैं। इन बर्तनों में दैनिक उपयोग में आने वाले बर्तन सभी आकार के मिलते हैं, जिनमें घड़े, कटोरियां, रकाबियां, प्याले, मटके, भण्डार के कलश, ढक्कन आदि मुख्य है। साधारणतः मिट्टी के बर्तनों को हाथ से बनाया जाता था, परन्तु इनको बनाने में चाक का प्रयोग भी किया जाता था। इस सम्बन्ध में डॉ. गोपीनाथ शर्मा ने लिखा है कि, ''यह सामग्री अपनी विविधता तथा प्रचुरता के विचार से बड़े महत्त्व की है। आहड़ का कुम्भकार इस बात में निपुण दिखाई देता है कि बिना चित्रांकन के भी मिट्टी के बर्तन सुन्दर बना सकता था। काटकर, छीलकर तथा उभारकर इन बर्तनों को आकर्षक बनाया जाता था और ऊपरी भागों पर पतली भीतर गढ़ी हुई रेखा बना दी जाती थी जिससे भाण्ड में एक स्वाभाविक अलंकरण उत्पन्न हो जाता था।'' यद्यपि खुदाई में किसी प्रकार का धान उपलब्ध नहीं हुआ है, किन्तु बर्तनों पर भूसे व धान के चिह्नों से सम्भव है कि पुरातत्त्ववेत्ता भविष्य में उस धान की किस्म का भी पता लगा लेंगे जिनका उपयोग आहड़वासी करते थे। खुदाई में अनाज रखने के बड़े मृदभाण्ड भी गढ़े हुए मिले हैं, जिन्हें यहां की बोलचाल की भाषा में 'गोरे' व 'कोठ' कहा जाता है। यहां से प्राप्त बर्तनों से पता चलता है कि यहां बर्तन बनाने का व्यवसाय काफी विकसित हो चुका था और इससे आहड़ की समृद्धि का भी पता चलता है। यहां से प्राप्त हुए विभिन्न प्रकार के बर्तनों से इस बात का संकेत मिलता है कि ई.पू. 2000–1000 के काल में आहड़वासियों का ईरान से भी सम्बन्ध था।

1.13.3 मुद्राएं व मुहरे – आहड़ के द्वितीय काल की खुदाई से 6 तांबे की मुद्राएं और तीन मुहरे प्राप्त हुई है। इनमें कुछ मुद्राएं अस्पष्ट है। एक मुद्रा में त्रिशुल खुदा हुआ दिखाई देता है और दूसरी में खड़ा हुआ अपोलो है जिसके हाथों में तीर व पीछे तरकस है। इस मुद्रा के किनारे यूनानी भाषा में कुछ लिखा हुआ है जिससे इसका काल दूसरी सदी ईसा पूर्व आंका जाता है। यहां से मिलने वाली तीन मुहरों पर 'विहिवभ विस', 'पलितसा' तथा 'तातीय तोम सन' अंकित हैै, जिनका अर्थ स्पष्ट तो नहीं है परन्तु लिपि से यह अनुमानित किया जाता है कि ये सामग्री आहड़ की तीसरी शताब्दी ईसा पूर्व से प्रथम सदी ईसा की स्थिति पर प्रकाश डालने में सहायक है।

1.13.4 मिट्टी के अन्य उपकरण – मिट्टी से निर्मित अनेक प्रकार के भाण्डों व दैनिक जीवनोपयोगी अन्य कई उपकरणों का हम वर्णन कर चुके हैं। इनके अलावा भी आहड़ में मिट्टी से अन्य वस्तुएं बनाई जाती थी जो कि आहड़ तथा गिलूण्ड की तत्कालीन विकसित सभ्यता का अच्छा परिचय दे रही हैं।

1.13.5 पूजा की थाली – पूजा की थाली का मिलना भी अपने आप में एक विशेषता रखता है। यह थाली इस बात की द्योतक है कि आज से 4000 वर्ष पूर्व भी राजस्थान के लोग अपने इष्ट देव की उपासना करते थे। थाली गोल व चौकोर दोनों प्रकार की होती थी। उनके बीच में दीपक रखने के लिए स्थान बने होते थे। दीपक रखने के खानों के अलावा पूजा की थालियों में नाग–नागिन व देवता भी मिट्टी के बने मिले है। पुराविदों की धारणा है कि इन थालियों को स्त्रियां जगमगाते दीपों से सजा कर नदी किनारे जाती थीं और वहां अपने इष्ट देवों की उपासना करती थी। उपासना के उपरान्त इन्हें नदी के जल में प्रवाहित कर देती थीं। यह प्रथा हम आज तक हमारे देश में पाते हैं। प्राप्त थालियां भी दोनों कालों का प्रतिनिधित्व करने वाली मिली है।

1.13.6 धातु गलाने के यन्त्र – धातुओं का गलाना प्राचीन काल में एक आसान कार्य नहीं था। उस युग में तो शक्ति के रूप में कोयले तक का प्रयोग आरम्भ नहीं हुआ था। परन्तु आहड़ के निवासी आज से चार हजार वर्ष पूर्व तांबे को गला लिया करते थे और उससे विभिन्न उपकरण बना लिया करते थे। आहड़ के प्रथम काल के ही दो ऐसे यन्त्र प्राप्त हुए हैं जो आकार में लम्बे तथा खोखले हैं। सम्भवतः इन्हें तांबा गलाने में प्रयुक्त किया जाता था।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

1.13.7 खिलौने – आहड़ की खुदाई में सैन्धव सभ्यता के सदृश्य मिट्टी के खिलौने भी उपलब्ध हुए हैं। मिट्टी के बैल, हाथी तथा घोड़े यहां उत्खनन में मिले हैं। अश्व की कोई मूर्ति आहड़ में नहीं मिली है। बैलों की मूर्तियां सीधी सादी हैं। केवल उनके सींग व कूबड़ से ही उन्हें पहिचाना जा सकता है।

1.13.8 दीपक एवं गोलियां – आहड़ में मिट्टी के 6 दीपक भी मिले है। पुराविदों के अनुसार वे प्रथम काल के है। आहड़ में 54 गोलियां प्राप्त हुई हैं। इनमें 44 प्रथम काल की हैं तथा शेष द्वितीय काल की है।

1.13.9 मानवकृतियां – अब तक आहड़ के उत्खनन में चार मूर्तियां मिली हैं। उनमें दो तो स्पष्ट रूप से नारी–मूर्तियां है और एक मूर्ति पुरुष की है। चौथी मूर्ति अभी तक संदिग्ध बनी हुई है। नारी मूर्तियों के सिर तो गायब है परन्तु उनकी वेश–भूषा से स्पष्ट होता है कि वे नारियां हैं। उन्हें लहंगा पहने दिखाया गया है तथा उनकी कमर में मनकों की करधनी भी लटकती बताई गई है। उरोजों के मध्य लटकती दो शृंखलाओं की एक लम्बी माला भी दिखाई गई है, जो उनकी नाभि के नीचे तक लटक रही है।

1.13.10 पहिये – आहड़ सभ्यता के प्रथम काल में जो खुदाई की गई – उसमें 3 पहिये उपलब्ध हुए हैं। तीनों पहिये आहड़ सभ्यता के प्रथम काल के माने जाते हैं। कालीबंगा की भांति यहां भी माल लाने ले जाने के लिए बैल गाड़ियों का प्रयोग किया जाता था।

1.13.11 खपरैल – जैसा कि भवन–निर्माण में स्पष्ट कर आये हैं कि मकानों की छतें कच्ची होती थी। उन कच्ची छतों के निर्माण में खपरैल का भी प्रयोग किया जाता था। तीन खपरैल प्राप्त हुए हैं। वे आहाड़ सभ्यता के प्रथम काल के माने जाते हैं।

1.13.12 मणियां एवं आभूषण – आहड़वासी कीमती पत्थरों, जैसे – गोमेद, स्फटिक आदि से गोल मणियां बनाते थे। ऐसी मणियों के साथ कॉच, पक्की मिट्टी, सीप और हड्डी के गोलाकार छेद वाले अंड भी लगाये जाते थे। इनका उपयोग आभूषण बनाने तथा ताबीज की तरह गले में लटकाने के लिए किया जाता था। इनके ऊपर सजावट और अलंकरण का काम भी किया जाता था। इनका आकार गोल, चपटा, चतुष्कोणीय एवं षट्कोणीय होता था।

आहड़वासियों के आभूषण अधिकांशतः पकी हुई मिट्टी के मणकों के थे, लेकिन कुछ कीमत पत्थरों के भी थे। खुदाई में दो प्रकार के मणके या मणियां प्राप्त हुई हैं – प्रथम तो कीमती पत्थरों की ओर दूसरी पकी हुई मिट्टी की। मिट्टी के मणके कुछ तो छोटे आकार के है ओर कुछ बड़े आकार के। उनके बीच में छिद्र हैं और कुछ पर रेखाओं द्वारा डिजाइन भी बनाई गई है। डॉ. एच.डी. सांकलिया की मान्यता है कि जिन मणकों पर रेखाएं अंकित हैं, वे मध्य एशिया की सभ्यता के प्रभाव को प्रदर्शित करते हैं। पत्थर के बने हुए मणके लाल, गुलाबी, हरे, नीले, काले आदि कई रंगों में पाये गये हैं। इन पर अंकित रेखाओं एवं इनको दिये गये आकार से प्रतीत होता है कि उस समय के कुशल कारीगरों ने ही उन्हें यह रूप दिया होगा। सम्भवतः कीमती पत्थरों के मणकों का प्रयोग यहां के सम्पन्न वर्ग के लोग करते थे। बड़े आकार वाले मिट्टी के मणकों को जानवरों के गले में पहनाया जाता था। कीमती पत्थरों व मिट्टी के के अतिरिक्त इनके आभूषण सीप, मूंगा, बीज आदि के भी होते थे। ये लोग सींग वाले पशु, कुत्ते, मेंढ़क, हाथी, मेंढक, गेंडा तथा मानव आकृति वाले मिट्टी के खिलौने बनाते थे। मानव आकृतियों में नाक अत्यन्त नुकीली बनाई गई है।

1.13.13 कृषि, व्यवसाय एवं रहन–सहन – आहड़ सभ्यता के लोग कृषि से परिचित थे। यहां से मिलने वाले बड़े–बड़े भाण्ड तथा अन्न पीसने के पत्थर से यह प्रमाणित होता है कि ये लोग अन्न का उत्पादन करते थे। एक बड़े कमरे में बड़ी–बड़ी भट्टियां मिली हैं, जिससे पता चलता है कि यहां सामूहिक भोज और दावतें भी हुआ करती थी। इस भाग में वर्षा अधिक होने तथा नदी पास में होने से सिंचाई की पर्याप्त सुविधा यह प्रमाणित करती है कि यहां अन्न प्रभूत मात्रा में पैदा होता रहा होगा।

खुदाई में यहां कपड़ों आदि पर छपाई करने के ठप्पे भी प्राप्त हुए हैं, जिनसे पता चलता है कि यहां रंगाई और छपाई का व्यवसाय भी विकसित हो चुका था। शरीर से मैल छुड़ाने के झाबे से पता चलता है कि आहड़वासी अपने शारीरिक सफाई का बहुत ध्यान रखते थे। खुदाई में तोल के बाट व माप भी मिले हैं, जिनसे यहां व्यापार–वाणिज्य होने का पता चलता है। आहड़ के ऐतिहासिक काल के अन्य उपकरणों में चमड़े के टुकड़े, मिट्टी के पूजा के पात्र, चूड़ियां आदि का भी महत्त्वपूर्ण स्थान है। पूजा के पात्र तो विभिन्न आकार–प्रकार के प्राप्त हुए है। यह सामग्री उस काल के लोगों के रहन–सहन और

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

आचार–विचार पर पर्याप्त प्रकाश डालती है। इनके मृतक संस्कार के सम्बन्ध में कुछ निश्चित नहीं कहा जा सकता, परन्तु ऊपरी सतह पर मिले मनुष्य के अस्थि–पिंजर से यह अनुमान लगाया जाता है कि वे शव को गाड़ते थे। मृतकों के शव का मस्तक उत्तर और पांव दक्षिण की ओर रखा जाता था तथा उसके साथ उसके पहनने के आभूषण भी गाड़ दिये जाते थे।

1.13.14 चावल तथा सिल बट्टा – रसोई घरों के आस–पास खुदाई में सिल बट्टे भी पड़े हुए मिले हैं। ये सिल–बट्टे वर्तमान में काम में आने वाले सिल बट्टों के समान लगते हैं इनका प्रयोग वे गेहूं, ज्वार जैसे अन्न पीसने में करते थे। हाल ही के शोध कार्यों से जानकारी मिली है कि आहड़ सभ्यता के लोग चावल का प्रयोग करते थे। वे चावल की खेती करना जानते थे।

1.13.15 मृतक संस्कार विधि – प्रागैतिहासिक युग में आहड़वासियों की मृतक संस्कार विधि की निश्चित जानकारी नहीं मिलती। किन्तु परवर्ती काल के अस्थिपंजरों से ज्ञात होता है कि वे अपने मृतकों को गाड़ते थे। मृतक के पैर दक्षिण में और सिर उत्तर में रखा जाता था तथा उसके साथ आभूषण आदि भी गाड़े जाते थे। सम्भवतः प्रागैतिहासिक युग में भी यही विधि प्रचलित रही है।

1.14 सभ्यता का विस्तार :

किन्हीं प्राकृतिक–प्रकोप से विध्वंस हुई इस सभ्यता के लोगों में से कई लोग आहड़ से उत्तर–पूर्व की ओर बढ़े। बी.बी. लाल के निर्देशन में खोदे गये गिलूंड तथा भगवानपुरा से मिलने वाली पुरा–सामग्री इसकी पुष्टि करती है। अब यह भी ज्ञात हो चुका है कि आहाड़ संस्कृति उदयपुर, राजसमन्द, चित्तौड़, भीलवाड़ा, टोंक, डूंगरपुर, बांसवाड़ा, और कोटा के निकट बहने वाली नदियों के किनारे फली–फूली थी। इसी संस्कृति से सम्बन्धित एक स्थल 'बालाथल' में अभी उत्खनन का कार्य चल रहा है।

1.15 आहड़ सभ्यता का सांस्कृतिक महत्व :

आहड़ सभ्यता राजस्थान की अत्यन्त प्राचीन तथा गौरवपूर्ण सभ्यता थी। इस सभ्यता के कारण ही राजस्थान भारत की प्राचीन सभ्यताओं में अपना महत्वपूर्ण स्थान बना सका है वस्तुतः आहाड़ इस युग की ताम्र–पाषाण संस्कृति विशेष का प्रमुख केन्द्र था तथा इसकी सभ्यता और संस्कृति काफी विकसित और उन्नत थी।

1.16 बैराठ सभ्यता :

बैराट नगर जयपुर नगर से 52 मील की दूरी पर जयपुर–अलवर मार्ग पर स्थित है। यह चारों ओर से पर्वतों से घिरा हुआ है। जिस घाटी में बैराट बसा हुआ है वह 5 मील लम्बी तथा 3–4 मील चौड़ी है। पहाड़ियों के अलावा बैराट रेतीले टीलों से भी आवर्त है। उन टीलों में बीजक की पहाड़ी और भीमजी की डूंगरी अति महत्त्वपूर्ण सिद्ध हुई है। उत्खनन कार्य प्रमुख रूप से इन्हीं दो स्थानों पर हुआ है। बीजक की पहाड़ी 50 कि.मी. दूरी पर गांवड़ी गणेश्वर का स्थान है। वहां काफी संख्या में तांबे के उपकरण उपलब्ध हुए हैं। उनके आधार पर ही बैराट को 'ताम्र युगीन सभ्यता' का भी प्रमुख केन्द्र माना जाता है। बैराट के उत्तर में 18 कि.मी. की दूरी पर जोधपुर स्थित है। वहां लोह गलाने की भट्टी भी मिली है। इससे स्पष्ट कि यहां 'लोह–युगीन' सभ्यता भी फलीभूत हुई थी। अतः प्राचीन सभ्यताओं की ऐतिहासिकता की दृष्टि से बैराट नगर अति प्राचीन तथा ऐतिहासिक नगर है। परन्तु लिखित साहित्य के अभाव में इसका ऐतिहासिक महत्व विवादों के गर्त में ही समाया हुआ है। स्वतन्त्रता की रश्मियों के प्रस्फुटित होते ही पुराविद् डॉ. सुन्दर राजन, डॉ. ए.घोष, डॉ. के.एन.दीक्षित की दृष्टि अरावली पर्वत की पहाड़ियों से आर्वत इस बैराट नगर पर पड़ी और उन्होंने इसके अतीत को उजागर किया। मौर्य कालीन सभ्यता का यह प्रमुख केन्द्र रहा। इसकी पुष्टि वहां प्राप्त अशोक अभिलेख से होती है। बृहत्संहिता के लेखक वराहमिहिर ने जनपदों में मत्स्य जनपद को प्रमुख बताया है। मनुस्मृति में भी इसे प्रमुख जनपद बताया है। यहां के निवासियों को वीर समझते हुए उन्हें सेना में स्थान देना भी उचित बताया है। वर्धनकाल में इस जनपद का विखण्डन आरंभ हो गया था।

1.17 उपलब्ध पदार्थ :

खनिज पदार्थों में यहां तांबा बहुतायत से पाया जाता है जो मुगल काल तक यह काफी मात्रा में मिलता रहा। इसी कारण मुगल सम्राटों ने यहां टकसाल बनवाई थी। यहीं तांबे के सिक्के ढाले जाते थे। गांवड़ी गणेश्वर, खोदरीबा, अहीरवाला, सुनारी क्षेत्रों में तांबा पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध था। खेतड़ी का तो तांबे के खान` लिए आज भी भारत में महत्त्वपूर्ण स्थान बना हुआ हैं यहां उत्खनन में 5 हजार से भी अधिक ताम्र–उपकरण उपलब्ध हुए हैं। इसीलिए यहां की सभ्यता को ताम्र–युग में उच्च शिखर पर पहुंची मानते हैं।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

1.18 शैल प्रस्तर कालीन सभ्यता का प्रमुख केन्द्र :

ताम्रयुगीन सभ्यता तो यहां अपने विकास की चरम–सीमा पर थी पर इससे पूर्व यहां पाषाण कालीन सभ्यता भी फलीभूत हो चुकी थी। इसलिए बैराट को पुरातात्विक दृष्टि से भी अत्यन्त महत्त्वपूर्ण समझा जाता है। आदि मानव की शैल–सभ्यता के यहां अवशेष मिले है ओर वे वअशेष ही यहां की सभ्यता को हजारों वर्ष पुरानी सिद्ध करते हैं। स्वयं विराट नगर की पर्वतमालाओं में जो शैल चित्र मिले हैं वे 1,50, 000 से 4000 वर्ष ई.पू. पुराने बताये जाते हैं।

1.19 बैराठ सभ्यता की विशेषताएं :

1.19.1 भवन – उत्खनन में बैराठ से प्राप्त भवन मिट्टी की पकाई गई ईंटों से बने हैं। विचित्र और अस्पष्ट तथ्य है कि पर्वतीय प्रदेश होने व पत्थरों की प्रचुरता के उपरान्त भी यहां के निवासियों ने भवन निर्माण में ईंटों का प्रयोग क्यों किया? भवन निर्माण में प्रयुक्त ईंटों का माप और बनावट, सिन्धु सभ्यता से प्राप्त ईंटों के समान 20 x 10.5 x 3'' और 21 x 31 x 3'' हैं। फर्श में 26'' माप की वर्गाकार टाइलें प्रयुक्त की गई है। उत्खनन से प्राप्त एक भवन में 7–8 कमरे बने है जिसकी मुख्य दीवार की चौड़ाई 20'' है। विद्वानों की मान्यता है कि सम्भवतः यह कोई बौद्ध मठ रहा होगा। इसके अतिरिक्त उत्खनन में गोदामों और चबूतरों के अवशेष भी मिले हैं।

1.19.2 मुद्राएं – बैराठ के एक बौद्ध मठ से चांदी की 36 मुद्राएं मिलीं है जिनमें 8 'पंचमार्क' मुद्राएं है और 28 हिन्द–यूनानी शासकों की है। बैराठ में मिले टकसाल के अवशेषों से ज्ञात होता है कि सम्भवतः यह स्थल पंचमार्क मुद्रा निर्माण का प्रमुख केन्द्र था। यूनानी मुद्राओं के आधार पर कुछ विद्वानों की मान्यता है कि किसी समय यह क्षेत्र यूनानी शासकों के प्रभाव में था। किन्तु चूंकि साहित्यनुसार प्राचीनकाल में बैराठ एक प्रसिद्ध व्यापारिक केन्द्र था। अतः कुछ विद्वान इस मुद्राओं को व्यापारियों द्वारा लाई हुई मानते हैं। ये मुद्राएं सूती कपड़े में बंधी हुई थी जिससे ज्ञात होता है कि इस काल में हमारे पूर्वज कपास की खेती और इससे कपड़ा बनाने में निपुण हो चुके थे।

1.19.3 मृद्भाण्ड – बैराठ से मिले मृद्भाण्ड लौह काल के पश्चात् की स्लेटी रंग के चित्रित और काली पॉलिशयुक्त मदभाण्ड संस्कृति का प्रतिनिधित्व करते हैं। स्लेटी रंग मृद्भाण्ड के संस्कृति को विद्वान् बैराठ, आर्यों की आदि संस्कृति के रूप में स्वीकार करते हैं। बैराठ में मृदभाण्डों में विभिन्न आकार–प्रकार के घड़ों की प्रचुरता है जो त्रिरत्न, स्वास्तिक आदि चिह्नों से अलंकृत है। मृद्भाण्डों के अतिरिक्त यहां से मिट्टी के बने पूजापात्र, थालियां, कटोरे, लोटे, चुण्डियां आदि भी मिले हैं। बैराठ में तांबे और लोहे की सामग्री तो नहीं मिली, किन्तु इन धातुओं की वस्तुएं बनाने के औजार अवश्य मिले हैं।

1.19.4 अशोक स्तम्भ – बीजक की पहाड़ी पर चुनार पत्थर के कुछ सादा और पालिशदार टुकड़े बिखरे पड़े हैं। इन पत्थरों पर उत्कीर्ण मौर्यकालीन सिंह आकृति के भागों के आधार पर विद्वानों का अनुमान है कि ये टुकड़े अशोक स्तम्भों के है। सम्भवतः वे स्तम्भ बौद्धमठ के दक्षिण की ओर स्थित थे। किन्तु स्तम्भों की संख्या के सम्बन्ध में मतभेद है। कुछ विद्वानों का मत है कि यहां एक स्तम्भ था जबकि डॉ. सत्यप्रकाश इनकी संख्या दो बताते हैं। इन स्तम्भों के ध्वंस के बारे में विद्वानों का मत है कि मुसलमानों के आगमन के काफी पहले ही सम्भवः 510–540 ई. में मध्य मिहिरकुल के आक्रमणों के समय ये स्तम्भ ध्वस्त कर दिये गये थे।

1.19.5 गोल मन्दिर – बौद्ध मठों के पास ही एक गोल मन्दिर के भी अवशेष मिले हैं। डॉ. गोपीनाथ शर्मा का कहना है कि उस मन्दिर का निर्माता भी सम्राट अशोक ही था जबकि मन्दिर की वास्तुकला को डॉ. दशरथ शर्मा भारतीय वास्तुकला से साम्यता रखती बताते हैं। इसके अलावा जो बौद्ध–मठ प्राप्त हुए हैं वे भी हीनयान सम्प्रदाय के ही प्रतीत होते हैं, क्योंकि उस समय महायान सम्प्रदाय तो प्रचलित नहीं हुआ था। इसके अतिरिक्त यहां उत्खनन में बौद्ध–प्रतिमायें भी नहीं मिली है। महायान के प्रचलन के उपरान्त ही महात्मा बुद्ध को विष्णु का अवतार भी मान लिया गया था तथा महात्मा बुद्ध व बोधिसत्वों की पूजा हाने लगी थी। अतः देवालय के प्राप्त अवशेषों से भी विभिन्न अनुमान लगाये जाते हैं। मन्दिर के द्वार काष्ठ निर्मित है तथा इसकी फर्श ईंटों से निर्मित है। लकड़ी के किवाड़ों को सुदृढ़ता प्रदान करने हेतु उनमें कीलों का प्रयोग किया गया है। मन्दिर में धूपदानी व पूजा के अन्य पात्र भी मिले हैं, ये सब मिट्टी के ही हैं। इनके अलावा मन्दिर में ही मृण्मय पक्षी की मूर्तियां व खप्पर आदि मिले हैं। मन्दिर की बाहर की दीवार भी ईंटों से ही निर्मित है तथा मन्दिर के चारों तरफ 7 फीट चौड़ी गैलरी भी है। प्रवेश द्वारा पूर्व दिशा में है और वह द्वार 6 फीट चौड़ा है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

1.19.6 अन्य वस्तुएं – इन मुद्राओं के अतिरिक्त मठ की इमारत से अन्य कई वस्तुएं भी उपलब्ध हुई है। जिस कपड़े में मुद्राएं बंधी हुई थी वह कपड़ा रूई का था जिसे हाथ से बुना गया था। मृद्भाण्डों से अलंकृत घड़े, जिन पर स्वस्तिक तथा त्रिरत्नचक्र के चिह्न बने हुए थे, बड़े रोचक दिखाई देते हैं। मिट्टी की वस्तुओं में दीपक, नाचती हुई पक्षी, खप्पर, थालियां, कूंडियां, मटके, लोटे, कटोरे, घड़े आदि यहां उपलब्ध हुए है। कुछ पत्थर की थालियां तथा छोटी सन्दूकें भी यहां मिली हैं। लोह व ताम्बे की वस्तुओं के बनाने के औजार भी यहां की उपलब्धियों में सम्मिलित है। ये वस्तुएं 250 ई. पू. से 50 ईसवी तक के काल की निर्धारित की जाती है।

1.20 बोध प्रश्न :

प्रश्न 1 कार्बन–14 विधि के अनुसार आहड़ सभ्यता का प्रागैतिहासिक काल कब से कब तक रहा है?

उत्तर – ....

प्रश्न 2 राजस्थान का वह कौन–सा ताम्र पाषाण कालीन स्थल है जहां से अशोक मौर्य का अभिलेख मिला है?

अ. आहड़ ब. बैराठ स. कालीबंगा द. राजसमन्द

उत्तर – ....

प्रश्न 3 बैराठ सभ्यता से उत्खनन में प्राप्त 'गोल मन्दिर' पर टिप्पणी लिखिए।

उत्तर – ....

प्रश्न 4 'कालीबंगा संस्कृति पर निबन्ध लिखिए?

उत्तर – ....

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

इकाई – 2
मत्स्य जनपद

संरचना

2.0 उद्देश्य

2.1 प्रस्तावना

2.2 जनपदों का उदय

2.3 राजस्थान के जनपद

2.4 मत्स्य जनपद : भौगोलिक स्थिति

2.5 वैदिक एवं महाकाव्य काल में

2.6 शासन व्यवस्था

2.7 सामाजिक एवं सांस्कृतिक जीवन

2.8 मत्स्य जनपद की कठिनाइयां

2.9 मत्स्य महाजनपद का पतन

2.10 बोध प्रश्न

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

2.0 उद्देश्य :

उद्देश्य – इस इकाई में प्राचीनकालीन जनपदों में से मत्स्य जनपद की भौगोलिक स्थिति मत्स्य जनपद का विभिन्न कालों में परिवर्तन, शासन व्यवस्था, सामाजिक एवं सांस्कृतिक जीवन तथा पतन आदि तथ्यों को विस्तारपूर्वक पाठकों को समझाया जायेगा।

2.1 प्रस्तावना :

राजस्थान में आर्य जाति का प्रवेश और आर्य सभ्यता का उदय व प्रसार अत्यन्त प्राचीन है। विद्वानों की मान्यता है कि सिन्धु, रावी, सतलज और गंगा–यमुना के दोआब के क्षेत्रों में चल रहे आर्य–अनार्य और आर्य–आर्य संघर्षों के दौरान ही आर्यों की कुछ शाखाएं सुरक्षित और उपजाऊ मैदानों की खोज में सरस्वती और दृषद्वती नदियों की सुरम्य उपत्यकाओं में प्रविष्ठ हुई। इस सुरम्य प्रदेश की उर्वरता, जलप्रवाह और चरागाहों की सुविधा से प्रभावित होकर इन आर्य शाखाओं ने यहां पहले से आबाद स्थानों के निकट अपनी बस्तियां बसा लीं। यहां यह उल्लेखनीय है कि राजस्थान में आर्यों का आगमन अन्य क्षेत्रों से विशिष्ट और अपेक्षाकृत शान्तिपूर्ण था। वस्तुतः राजस्थान में आर्य सभ्यता का प्रसार आर्य–अनार्य संघर्ष के मूल्य पर नहीं वरन् परस्पर शान्तिपूर्ण सहवास और सहअस्तित्व पर अवलम्बित था। अनूपगढ़, तार खानवाला और चक–64 में दो संस्कृतियों के पास–पास मिलने वाले अवशेष इस तथ्य की पुष्टि करते है कि राजस्थान में आर्य और अनार्य संस्कृतियां कुछ समय तक साथ–साथ विकसित होती रही। कहा जाता है कि सरस्वती और दृषद्वती नदियों की उपत्यकाएं प्रारम्भिक आर्य संस्कृति का प्रमुख केन्द्र थीं यहां के प्राकृतिक सौन्दर्य से मोहित होकर आर्यों ने इस प्रदेश को पुनीत ब्रह्मावर्त में सम्मिलित कर लिया था। डॉ. दशरथ शर्मा का मत है कि इन्द्र और सोम के मन्त्रों की रचना तथा ऋग्वेद में वर्णित आध्यात्मिक और आधिभौतिक गूढ़ विषयों का चिन्तन एवं यज्ञों की महत्ता का प्रतिपादन इसी क्षेत्र में हुआ था। शतपथ ब्राह्मण से ज्ञात होता है कि ऋग्वेद में जिन आर्य समूहों का उल्लेख हुआ है उनमें से भरत और मत्स्य शाखा के आर्य उत्तर–पश्चिमी राजस्थान में ही रहते थे और यहीं सरस्वती नदी के तट पर महापराक्रमी मत्स्यराज द्वैतवन ने चौदह अश्वमेघ यज्ञ किये थे। अनुश्रुतियों के अनुसार मद्र और कुरू शाखा के आर्य उत्तरी और उत्तरी–पूर्वी राजस्थान में बसते थे तो आर्यों की साल्व शाखा उत्तरी–पूर्वी और दक्षिणी–पश्चिमी राजस्थान तक फैली थी। पौराणिक कथाओं से ज्ञात होता है कि आर्य शासक मधु और कैटम अपने पराक्रम के लिये प्रसिद्ध थे। मधु के पुत्र धुन्धु ने मरूस्थल में धुन्धुमार (ढूंढाड़) और कुवलयाश्व के वंशज निकुंभ ने भी राजस्थान में आर्य बस्तियां बसाई थी।

कालान्तर में भूचाल आदि प्राकृतिक आपदाओं और जलवायु परिवर्तन आदि से उत्पन्न हुई सूखे की स्थिति के कारण जब सरस्वती ओर दृषद्वती नदियों का प्रदेश रहने के योग्य नहीं रहा, तब यहां की आर्य और अनार्य जातियां उपजाऊ भूमि की खोज में पूर्व की ओर चल पड़ी। शतपथ ब्राह्मण में भी इस प्रयाण की सूचना मिलती है कि सरस्वती प्रदेश का शासक वैदेध माथव अपने पुरोहित गौतम राहुगण अपनी प्रजा के साथ पूर्व की ओर निकल पड़ा। इसी प्रयाण की सूचना मिलती है कि सरस्वती प्रदेश का शासक वैदेध माथव अपने पुरोहित गौतम राहुगण अपनी प्रजा के साथ पूर्व की और निकल पड़ा। इसी प्रयाण के अनन्तर आर्यों की मत्स्य शाखा जयपुर के आस–पास और अनार्य समूह अरावली पर्वतों तथा दक्षिण–पूर्वी पठारों व जंगलों में जा बसे।

2.2 जनपदों का उदय :

ऋग्वेद से ज्ञात होता है कि भारतीय आर्य जनों में विभक्त थे। ये जन स्वयं को किसी एक पूर्वज का वंशज मानते थे। ऋग्वेद युग में आर्यों के सामाजिक और राजनीतिक जीवन की सबसे छोटी संवर्ग 'कुल' या 'कुटुम्ब' थी। एक ही जाति पुरुष से उत्पन्न विभिन्न कुटुम्बों के समुदाय को 'जन' कहा जाता था। प्रारम्भिक आर्य 'जन' घुमक्कड़ थे और इन जनों के निवास का कोई स्थायी स्थान नहीं था। ये उर्वर भूमि, चरागाहों आदि की खोज में प्रायः एक स्थान से दूसरे स्थान पर भ्रमण करते रहते थे। किन्तु कालान्तर में जब आर्यों के विभिन्न जनों ने एक स्थान पर स्थायी रूप से रहना आरम्भ कर दिया तो ये 'जन' 'जनपदों' में परिवर्तित हो गये। जो 'जन' जिस किसी प्रदेश या स्थान पर स्थायी रूप से बस गया वहीं क्षेत्र उस 'जन' का 'जनपद' हो गया। दूसरे शब्दों मे, भ्रमणशील आर्य जनों का किसी प्रदेश से स्थायी संयोग से अर्थात् किसी प्रदेश में स्थायी रूप से बसने से जनपद अस्तित्व में आये। डॉ. गोविन्द चन्द्र पाण्डये ने लिखा है कि ''600 ई. पू. तक आते–आते वैदिक जनों के संचार और सन्निवेश का युग बीत चुका था। इस काल में जनपदों में 'साजात्य' की अपेक्षा 'देशतत्व' प्रधान हो था।'' इस सम्बन्ध में डॉ. गोपीनाथ शर्मा लिखते हैं कि ''आर्य राज्यों को, जिनका आधार जन होता था, जनपद कहते थे। प्रारम्भ में जब इनका आकार छोटी संवर्ग के रूप में होता था तब प्रायः सभी जन 'सजात' समुदाय से बनते थे। ज्यों–ज्यों इनकी सीमाएं बढ़ती गई और वे शक्तिशाली होते गये, इनमें अन्य वर्ग भी सम्मिलित हो गए और उनमें सीमा या अन्य विवादों को लेकर परस्पर संघर्ष भी शुरू हो गये। इन संघर्षों के कारण गुट बनने लगे। एक जन में दूरे जन सम्मिलित हो जाते थे। ऐसी परिस्थिति ने गणराज्यों और महाजनपदों को जन्म दिया। इन महाजनपदों अथवा गणराज्यों में एक विशेष जन के प्रति भक्ति इतनी अपेक्षित नहीं थी जितनी उस प्रदेश के प्रति, क्योंकि वे सभी समूह की प्रजा थे।

2.3 राजस्थान के जनपद :

आर्यों के प्रसार के अन्तर्गत और उसके पश्चात् भारत के अन्य भागों की भांति राजस्थान में भी अनेक जनपदों का उदय, विकास और पतन हुआ। बौद्ध साहित्य में जिन 16 महाजनपदों का उल्लेख हुआ है उनमें से मत्स्य जनपद तो राजस्थान गें ही रिथत था और राजरथान के अनेक भाग कुरू, शूररोन और अवन्ति गहाजनपदों के अन्तर्गत थे। इराके अतिरिक्त चित्तौड़ के आस–पास का क्षेत्र शिवि जनपद कहलाता था। 327 ई. पू. में सिकन्दर के आक्रमणों से अपनी सुरक्षा और अस्तित्व की रक्षा के लिये पश्चिमोत्तर सीमा से जो कबीले भारत की और बढ़े उनमें से मालवों, यौधेयों और आर्जुनायनों ने राजस्थान को अपना क्रीड़ास्थल' बनाया।

2.4 मत्स्य जनपद : भौगोलिक स्थिति :

राजस्थान के सांस्कृतिक इतिहास में मत्स्य जनपद का अपना एक विशिष्ट स्थान रहा है। भारत में प्रारम्भिक आर्य संक्रमण के बाद राजस्थान में जिन आर्य जनपदों का उदय हुआ, उनमें मत्स्य जनपद भी था। प्राप्त साक्ष्यों के आधार पर विद्वानों की मान्यता है कि मत्स्य जनपद आधुनिक जयपुर–अलवर–भरतपुर जिलों के मध्यवर्ती क्षेत्र में फैला हुआ थां ऐसा अनुमान है कि इस जनपद का विस्तार चम्बल की पहाड़ियों से पंजाब में सरस्वती नदी के समीपवर्ती जंगल तक था। इससे स्पष्ट है कि यह जनपद न होकर एक महाजनपद था और बहुत बड़े क्षेत्र में फैला हुआ था।

2.5 वैदिक एवं महाकाव्य काल में :

मत्स्य लोगों का सर्वप्रथम उल्लेख ऋग्वेद में राजा सुदास के विरोधियों के रूप में मिलता है। ऋग्वेद में मत्स्यों का उल्लेख एक प्रमुख आर्य समूह के रूप में किया गया है। कौषितकी उपनिषद् और शतपथ ब्राह्मण–ग्रन्थों में भी इस महाजनपद का उल्लेख मिलता है। शतपथ ब्रह्माण में लिखा है कि यह जाति सरस्वती नदी के किनारे पर आबाद थी और मत्स्यों के एक

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

राजा ध्वसन द्वैतवन ने सरस्वती नदी के तट पर प्रमुख आर्य जनों द्वारा सम्पन्न किये गये अवश्वमेघ यज्ञ में भाग लिया था। मनु संहिता के अनुसार मत्स्य जनपद ब्रह्मर्षि देश का एक भाग था। अतः प्राचीन काल में मत्स्य महाजनपद एक महत्त्वपूर्ण आर्य जनपद था।

महाभारत में मत्स्य लोगों और उने महाजनपद का अनेक प्रसंगों में उल्लेख मिलता है। एक स्थान पर कहा गया है कि जंगलों में भटकते हुए पाण्डवों ने इस क्षेत्र में काफी समय बिताया था। इस क्षेत्र के लोग जरासंध के भय से उत्तर की ओर पलायन कर गये थे। एक अन्य प्रसंग में लिखा है कि अपने पूर्वी अभियान के दौरान भीम ने इस देश को जीता था। सहदेव ने भी अपने दक्षिणी अभियान के दौरान इस क्षेत्र के कुछ भू-भाग को जीता और अर्जुन ने अपने अज्ञातवास के समय इसी देश का चयन किया था।

महाभारत काल में मत्स्य जनपद पर विराट नामक राजा का शासन था। ऐसी मान्यता है कि इसी राजा ने जयपुर से लगभग 85 किलोमीटर की दूरी पर स्थित विराटनगर अथवा विराटपुर (वर्तमान बैराठ) को बसाया था और इस नगर को मत्स्य देश की राजधानी बनाया। महाभारत के विवरणानुसार पाण्डवों ने अपनी अज्ञातवास का अन्तिम वर्ष छद्मवेश में विराट राजा की सेवा में व्यतीत किया था। अज्ञातवास के अन्तिम दिनों में दुर्योधन को इसकी भनक पड़ी और उसने बिना किसी उचित कारण के विराट पर आक्रमण कर दिया और उसकी सेना मत्स्य जनपद के पशुधन को हांक कर ले जाने लगी। संयोगवश उसी दिन पाण्डवों के अज्ञातवास का अन्तिम क्षण गुजर चुका था और अर्जुन ने गाण्डीव को हाथ में सम्भाल कर दुर्योधन की कौरव सेना को मार भगाया। कौरव सेना पशुधन को छोड़कर भाग गई। इस घटना से राजा विराट को पाण्डवों का वास्तविक परिचय मिल गया। प्रसन्न होकर राजा विराट ने अपनी पुत्री राजकुमारी उत्तरा का विवाह अर्जुन के पुत्र अभिमन्यु के साथ कर दिया।

महाभारत के युद्ध के समय राज विराट एक शक्तिशाली सेना के साथ पाण्डवों की सहायता के लिए कुरूक्षेत्र में जा पहुंचा। महाभारत के विवरणानुसार युद्ध में भीष्म पितामह ने मत्स्य देश के अनेकों सैनिकों को मार गिराया था। द्रोण ने तो एक ही प्रहार में मत्स्य देश के 500 घोड़ों को मार गिराया। कर्ण ने भी मत्स्य सेना की रीढ़ तोड़ने में महत्त्वपूर्ण योगदान दिया। अन्त में राजा विराट अपने तीन पुत्रों– उत्तर, श्वेत और शंख के साथ पाण्डवों के पक्ष में लड़ता हुआ मारा गया। उसका दामाद अभिमन्यु भी युद्ध में वीरगति को प्राप्त हुआ। उसकी मृत्यु के बाद उत्तरा ने परीक्षित नामक पुत्र को जन्म दिया। यही परीक्षित बाद में पाण्डवों तथा उनके विशाल राज्य का उत्तराधिकारी बना।

2.6 शासन व्यवस्था :

मत्स्य देश की प्रारम्भिक शासन व्यवस्था का स्वरूप क्या रहा होगा,यह कहना कठिन है। परन्तु शतपथ ब्राह्मण एवं महाभारत के विवरणों से एक बात स्पष्ट है कि मत्स्य महाजनपद में दीर्घावधि तथा राजतन्त्रात्मक शासन पद्धति का अस्तित्व रहा होगा और उसकी शासन व्यवस्था वैदिक युग के अन्य राजतन्त्रात्मक जनपदों की भांति ही रही होगी। मत्स्य के पड़ौस में शाल्व बसे हुए थे। शाल्व जनपद वर्तमान अलवर क्षेत्र में फैला हुआ था। सीमान्तों को लेकर दोनों जनपदों में प्रायः सशस्त्र संघर्ष छिड़ जाता था। अतः सैन्य प्रशिक्षण एवं सेना पर विशेष ध्यान दिया जाता था। परन्तु इस सम्बन्ध में विस्तृत जानकारी उपलब्ध नहीं हो पाई है।

2.7 सामाजिक एवं सांस्कृतिक जीवन :

महाभारत के कर्ण पर्व में लिखा है कि मत्स्य देश के लोग आध्यात्मिक दृष्टि से काफी उन्नत एवं श्रेष्ठ हैं और वे लोग सत्य की रक्षा के लिए दृढ़ संकल्प के साथ सदैव तत्पर रहते हैं। महाभारत के विवरण से ही पता चलता है कि लोगों का जीवन सुखी एवं समृद्ध था। समाज में स्त्रियों को सम्मानजनक स्थान प्राप्त था। वे लोग स्वादिष्ट एवं पौष्टिक भोजन के शौकीन थे। वे नाना प्रकार के साधनों से अपना मनोरंजन करते थे। युधिष्ठिर राजा विराट के साथ चौपड़ खेलता था तो अर्जुन को राजकुमारी उत्तरा को नृत्य सिखाने का काम सौंपा गया था। बारहवीं सदी के एक प्रमुख संगीताचार्य हरिहर शर्मा ने अपनी रचना "नत–मुख" में लिखा है कि कत्थक शैली का प्रणेता मिहिर ईसा पूर्व दूसरी सदी में मत्स्य देश में हुआ था। इससे संगीत एवं नृत्य के प्रति मत्स्य लोगों की अभिरूचि का पता चलता है।

2.8 मत्स्य जनपद की कठिनाइयां :

मत्स्य जनपद को प्रारम्भ से ही अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ा। वस्तुतः आर्यों के संक्रमणकाल में सभी प्रमुख आर्य जनपद अपनी–अपनी सीमाओं और राजनीतिक सत्ता के प्रभाव को बढ़ाने में संलग्न थे। शाल्वों की भांति चेदि महाजनपद भी मत्स्य का पड़ौसी था और दोनों के मध्य भी प्रायः संघर्ष हुआ करता था। महाभारत में चेदि वंश के शिशुपाल

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

और सहज नाम के राजाओं का उल्लेख मिलता है जो अत्यधिक शक्तिशाली थे। शिशुपाल भगवान कृष्ण का समकालीन था और उन्हीं के हाथो मारा गया था। एक बार चेदि महाजनपद ने बड़े पैमाने पर मत्स्य महापनपद पर आक्रमण कर दिया। इस संघर्ष में मत्स्य लोग बुरी तरह से पराजित हुए और चेदियों ने मत्स्य महाजनपद को जीत कर अपने राज्य में मिला लिया। महाभारत से यह जानकारी भी मिलती है कि सहज नामक राजा ने चेदि और मत्स्य, दोनों महाजनपदों पर सम्मिलित रूप से शासन किया था। परन्तु सहज का तिथिक्रम निर्धारित करना दुष्कर कार्य है। सम्भव है कि चेदियों का प्रभुत्व अधिक समय तक कायम नहीं रह पाया हो और कुछ समय बाद मत्स्य महाजनपद स्वतन्त्र हो गया हो। एक संभावना यह भी है कि शिशुपाल के बाद चेदियों ने पूर्व की ओर बढ़ना शुरू कर दिया था और अन्त में उड़ीसा क्षेत्र में कलिंग राज्य की स्थापना की। उनके इस संक्रमण काल में मत्स्यों को स्वतंत्र होने का अनुकूल अवसर मिल गया होगा।

2.9 मत्स्य महाजनपद का पतन :

मत्स्य महाजन पद के पतन की कहानी काफी लम्बी है। यद्यपि सिकन्दर महान् के आक्रमण का मत्स्य जनपद पर कोई प्रत्यक्ष प्रभाव नहीं पड़ा, परन्तु अप्रत्यक्ष रूप से उसके आक्रमण ने मत्स्यों के लिए नई समस्या उत्पन्न कर दी, जिसने उसके अस्तित्व और उसकी सुरक्षा को गम्भीर रूप से प्रभावित किया। सिकन्दर के आक्रमण से जर्जरित परन्तु अपनी स्वतन्त्रता को सुरक्षित रखने को उत्सुक, दक्षिण पंजाब की मालव, शिवि तथा अर्जुनायन जातियां, जो अपने साहस एवं शौर्य के लिए प्रसिद्ध थीं, अन्य जातियों के साथ राजस्थान में आयी और अपनी–अपनी सुविधानुसार यहीं बस गई। भरतपुर और अलवर के क्षेत्र में अर्जुनायन बस गये। अजमेर–टोंक–मेवाड़ के मध्यवर्ती क्षेत्र में मालवों ने अपनी नई बस्तियां बसाई और चित्तौड़ के आस–पास (मझमिका नगरी) शिवियों ने अपना प्रभुत्व स्थापित किया। इन नये पड़ौसियों के आगमन का मत्स्य के राजनैतिक जीवन पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ा। उनकी विस्तारवादी नीति और सैनिक शक्ति के सम्मुख मत्स्य महाजनपद अधिक समय तक नहीं टिक पाया। धीरे–धीरे मत्स्य जनपद की सैनिक शक्ति क्षीण होती गई और अर्जुनायन तथा मालव लोगों की शक्ति सुदृढ़ होती गई।

चेदियों के स्वतन्त्र होने के बाद मत्स्य महाजनपद को पहले मालवों और अर्जुनायनों से लोहा लेना पड़ा और उसके नियंत्रण से बहुत–से क्षेत्र निकल गये। फिर भी, उसका अस्तित्व बना रहा। परन्तु इसके बाद उसे मगध की साम्राज्यवादी लिप्सा का शिकार होना पड़ा। मगध के सम्राटों ने भारत के अन्य भागों के महाजनपदों के समान मत्स्य महाजनपद को भी जीत कर अपने साम्राज्य में मिला लिया। प्रामाणिक ऐतिहासिक सामग्री के अभाव में यह कहना कठिन है कि यह कार्य मगध के किस राजवंश ने सम्पन्न किया था। चूंकि हर्यक और शिशुनाग वंशों के समय मगध की सीमाएं काफी सीमित रही थी अतः अधिकांश विद्वानों की मान्यता है कि मगध के नन्द सम्राटों के समय में मत्स्य जनपद को अपनी स्वतन्त्रता से हाथ धोना पड़ा। मौर्यों ने तो निश्चित रूप से मत्स्य जनपद पर दीर्घकाल तक शासन किया था। मत्स्य की राजधानी विराट (बैराठ) से प्राप्त अशोक–कालीन अवशेष और बौद्ध स्मारक इस कथन की पुष्टि करते हैं। सारांश जिसकी प्रथक शासन व्यवस्था रहन–सहन सामाजिक जीवन राजनैतिक जीवन, आर्थिक स्थिति थी। मौर्यों ने काफी समय तक यहां शासन किया था। राजनीतिक एवं सांस्कृतिक जीवन में महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा करता रहा।

2.10 बोध प्रश्न :

प्रश्न 1 जयपुर अलवर–भरतपुर जिलों के मध्यवर्ती क्षेत्रों में कौन–सा जनपद था?

अ. शिवि ब. मत्स्य

स. शूरसेन द. कुरु

उत्तर – ....

प्रश्न 2 मत्स्य जनपद के सामाजिक एवं सांस्कृतिक जीवन पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखिए। (30 शब्द सीमा)

उत्तर – ....

प्रश्न 3 मत्स्य जनपद की विशेषताओं का उल्लेख करिये। (निबन्धात्मक)

उत्तर – ....

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

इकाई – 3
राजपूतों की उत्पत्ति

संरचना

3.0 उद्देश्य
3.1 प्रस्तावना
3.2 राजपूतों की उत्पत्ति सम्बन्धी मत
    3.2.1 वैदिक क्षत्रियों की सन्तान
    3.2.2 अग्निवंशीय मत
    3.2.3 सूर्य और चन्द्रवंशीय मत
    3.2.4 राजपूतों का विदेशी मत
    3.2.5 देवीय शक्ति का मत
    3.2.6 ब्राह्मणों से उत्पत्ति का मत
    3.2.7 मिश्रित उत्पत्ति
3.3 सारांश
3.4 बोध प्रश्न

3.0 उद्देश्य :

इस इकाई में राजपूत कौन थे इनका उद्भव कैसे हुआ आदि विभिन्न मतों का तर्क व वितर्क के साथ अध्ययन किया जायेगा तथा राजपूतों की उत्पत्ति सम्बन्धी विभिन्न सिद्धान्त जैसे – वैदिक क्षत्रियों की सन्तान, अग्निकुण्ड से उत्पत्ति, दैविय सिद्धान्त तथा विदेशी सिद्धान्त आदि पर विभिन्न इतिहासकारों का मत प्रेषित किए जायेंगे।

3.1 प्रस्तावना :

राजपूतों का युग भारतीय इतिहास में बहुत महत्त्वपूर्ण रहा है। भारत पर निरन्तर होने वाले मुस्लिम आक्रमणों का पांच सदी तक मुकाबला इन वीर एवं त्यागी राजपूतों ने ही किया। उन्होंने धर्म व देश की रक्षा हेतु अपना सर्वस्व न्यौछावर कर दिया। हालांकि वे मुसलमानों से युद्ध करके भी देश की रक्षा नहीं कर सके तथापि भारतीय इतिहास आज भी उनकी वीरता व साहस की गाथाओं से चिर स्मरणीय बना हुआ है। राजपूत रण–बांकुरे तो होते ही थे पर साथ ही में ही वचन के पक्के भी होते थे। विश्वासघात करना व निःशस्त्र शत्रु पर प्रहार करना वे धर्म–विरूद्ध समझते थे। शरणागत की रक्षा करना वे अपना परम–धर्म समझते थे और शरणागत की रक्षार्थ मर जाना वे अपना पुनीत कर्त्तव्य समझते थे। रणक्षेत्र ही उनकी कर्म–भूमि थी और युद्ध भूमि में मर जाना ही वे स्वर्ग जाने का माध्यम समझते थे। इसीलिए कर्नल टॉड ने लिखा है – "यह स्वीकार करना पड़ता है कि उच्च साहस, देश–भक्ति, स्वामी–भक्ति, आत्म–सम्मान, अतिथि–सत्कार तथा सरलता के गुण राजपूतों में विद्यमान थे।"

3.2 राजपूतों की उत्पत्ति सम्बन्धी मत :

अब प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि ये राजपूत लोग थे कौन ? सातवीं सदी में ही उनका नाम क्यों सूना गया? ये लोग मूल रूप से भारतीय थे या कहीं बाहर से आये थे ? इन सब प्रश्नों का उत्तर देना आज भी आसान नहीं है। राजपूतों की उत्पत्ति का विषय आज भी बहुत विवादग्रस्त है। राजपूतों की उत्त्पत्ति सम्बन्धित अनेक सिद्धान्त प्रचलित है जिनमें प्रमुख मत इस प्रकार है।

3.2.1 वैदिक क्षत्रियों की सन्तान – प्रत्येक शासक के दरबारी लोग उसे देव तुल्य, ईश्वर द्वारा भेजा गया अथवा देवताओं की सन्तान बताते हैं। यही परम्परा राजपूतों पर भी लागू होती है। मनुस्मृति में क्षत्रियों की उत्पत्ति ब्रह्मा से बताई गई है। ऋग्वेद के अनुसार क्षत्रिय ब्रह्मा की बाहों से उत्पन्न हुए थे। इन दोनों ग्रन्थों के आधार पर क्षत्रिय का काम निर्बल लोगों की रक्षा करना बताया गया है। सातवीं शताब्दी के बाद क्षत्रियों ने अपना महत्त्व खो दिया और वे अन्य तीनों वर्णों की रक्षा नहीं कर सके, किन्तु उनके ब्रह्मा की सन्तान होने की कहानी को महत्त्व प्राप्त होने लगा। चारणों और भाटों ने उनकी खोई हुई महिमा को पुनः दोहराने के लिए उन्हें ब्रह्मा की सन्तान बताकर उनकी उत्पत्ति का दैविक शक्ति सिद्धान्त

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

दोहराया। नद्धरहरण में प्राप्त एक शिलालेख में 'रघुवंश कीर्ति' शब्द का प्रयोग किया गया है। इस शब्द का प्रयोग राजपूतों का महाकाव्य काल के राम और कृष्ण से सम्बन्ध स्थापित करने के लिए किया गया है। इसी प्रकार एक शिलालेख और दसवीं शताब्दी के साहित्य द्वारा राजपूतों की देवकुल या दैविक शक्ति द्वारा उत्पत्ति बताई है। इन विवरणों से स्पष्ट है कि राजपूत, यदि रामायण और महाभारत काल के राम व कृष्ण के वंशज है तो वे भारतीय है और वैदिक आर्यों की सन्तान हे। श्री ओझा तथा श्री वैद्य महोदाय भी राजपूतों को भारतीय आर्यों की सन्तान मानते हैं। उनके कथनानुसार राजपूत लोग प्राचीन क्षत्रियों की तरह अश्व तथा अस्त्र की पूजा किया करते थे। प्राचीन आर्यों की भांति यज्ञ और बलि में भी उनका विश्वास रहा है। उनके सुड़ौल शारीरिक गठन, लम्बी नाक और लम्बे सिर से भी यह प्रमाणित होता है कि वे आर्यों की सन्तान है। क्षत्रियों ने वैदिक सम्यता को सुरक्षित रखने के लिए अपने प्राणों तक की बाजी लगा दी। रामायण और महाभारत में क्षत्रियों के लिए जो नैतिक आचरण के नियम निर्धारित किये हैं, उनका पालन राजपूतों ने मुसलमानों से हुए युद्धों में किया था। इस प्रकार श्री ओझा व श्री वैद्य ने राजपूतों को वैदिक आर्यों की सन्तान माना है। यद्यपि सूर्यवंशी और चन्द्रवंशी होने की अनुश्रुति को महत्त्व देना युक्तिसंगत नहीं होगा, तथापि यह भी सम्भव नहीं है कि क्षत्रियों की प्राचीनता के प्रति आंख मूंद ली जाए।

3.2.2 अग्निवंशीय मत — राजपूतों को आर्यों का वंशज सिद्ध करने के लिए चन्दबरदाई कृत 'पृथ्वीराज रासो' में एक अनुश्रुति के आधार पर एक ऐसी कथा का उल्लेख है जिसके अनुसार राजपूतों की उत्पत्ति अग्निकुण्ड से होना बताया गया है। इस कथा के अनुसार आबू पर्वत पर करने वाले ऋषियों के यज्ञ को राक्षस मांस, हड्डियों, मल–मूत्र आदि डालकर अपवित्र कर देते थे। अतः वशिष्ठ मुनि ने इन राक्षकों को नष्ट करने के लिये आबू पर्वत पर एक अग्निकुण्ड का निर्माण करके यज्ञ किया और यज्ञ अग्नि से तीन योद्धा–परमार, चालुक्य और प्रतिहार उत्पन्न किये। किन्तु जब ये तीन योद्धा भी राक्षसों से ऋषियों की रक्षा न कर सके तो वशिष्ठ ने हथियारों से सुसज्जित चौथा योद्धा चौहान उत्पन्न किया जिसने राक्षसों का नाशकर शांति स्थापित की। इनकी उत्पत्ति अग्निकुण्ड से हुई थी अतः इन्हें अग्निवंशीय कहा जाता है। 'पृथ्वीराज रासो' के रचनाकाल से लेकर 18वीं शताब्दी तक राजपूतों की उत्पत्ति का यह मत सर्वाधिक प्रचलित रहा। चारों राजपूत वंशों ने भी अपनी विशुद्धता की पुष्टि के लिये इस सिद्धान्त को पूर्णतः स्वीकार कर लिया। नैणसी और सूर्यमल्ल मिश्रण ने भी इसे बढ़ा–चढ़ा कर प्रस्तुत किया। कर्नल टाड ने भी राजपूतों को विदेशी सिद्ध करने के लिये इस मत को मान्यता दी और विलियम क्रुक ने इसे विदेशियों को शुद्ध करने का आयोजन मान लिया। कुछ विद्वानों ने इस कथा को इस अर्थ में स्वीकार किया है कि इन चारों राजवंशों ने अग्नि के समक्ष यह शपथ ग्रहण की थी कि वे अरबों और तुर्कों से देश की रक्षा करेंगे।

समीक्षा : किन्तु अधिकांश विद्वानों ने अग्निकुण्ड से राजपूतों की उत्पत्ति, शुद्धि या शपथग्रहण के सिद्धान्त की कटु आलोचना की है। डॉ. जगदीश सिंह गहलोत ने इसे कथा को ''पृथ्वीराज रासो'' के रचयिता की दिमाग की उपज माना है। डॉ. गोपीनाथ शर्मा भी इसे केवल मात्र कवियों की मानसिक कल्पना का फल, अविश्सनीय', 'बनावटी और अव्यावहारिक' मानते हैं। डॉ. शर्मा का मत है कि कोई भी इतिहास का विद्यार्थी यह मानने के लिए उद्यत नहीं हो सकता कि अग्नि से भी यौद्धाओं का सृजन होता है।'' श्री सी.वी. वैद्य ने इस कथा को 'कवि कल्पना' माना है और डॉ. दशरथ शर्मा ने इसे 'भाटों की कल्पना की उपज मात्र' कहा है। डॉ. ईश्वरी प्रसाद ने इसे 'तथ्यरहित कोरी गल्प' और 'ब्राह्मणों का एक प्रतिष्ठित जाति की उत्पत्ति की महत्ता निर्धारित करने का प्रयास मात्र' कहा है। वस्तुतः अग्निकुण्ड से राजपूतों की उत्पत्ति का सिद्धान्त आधुनिक युग में पूर्णतः अमान्य, अविश्वसनीय और तथ्यहीन कल्पना ही प्रतीत होता है।

3.2.3 सूर्य और चन्द्रवंशीय मत — जहां 'अग्निकुल मत का खण्डन डॉ. ओझा ने किया है वहां वे राजपूतों को सूर्यवंशीय और चन्द्रवंशीय बताते हैं। अपने मत की पुष्टि में उन्होंने कई शिलालेखों और साहित्यिक ग्रन्थों के प्रमाण दिये हैं। उदाहरण के लिए , 1028 वि. (971 ई.) के नाथ अभिलेख में, 1034 वि. (977 ई.) के आटपुर लेख में, 1342 वि. (1285 ई) के आबू के शिलालेख में तथा 1485 वि. (1428 ई.) के श्रृंगीऋषि के लेख में गुहिलवंशीय राजपूतों को रघुकुल से उत्पन्न बताया गया है। इसी तरह से पृथ्वीराज विजय, हम्मीर महाकाव्, सुजान चरित्र ने चौहानों को क्षत्रिय माना है। वंशावली लेखकों ने राठौड़ों का सूर्यवंशीय यादवों, भाटियों और चन्द्रावती के चौहानों को चन्द्रवंशीय निर्दिष्ट किया है। इन सब आधारों से उनकी मान्यता है कि ''राजपूत प्राचीन क्षत्रियों के ही वंशधर है और जो लेखक ऐसा नहीं मानते उनका कथन प्रमाण शून्य है।''

परन्तु इस मत को सभी राजपूतों की उत्पत्ति के लिए स्वीकार करना आपत्तिजनक है, क्योंक राजपूतों को सूर्यवंशी बताते हुए उनका वंशक्रम इक्ष्वाकु से जोड़ दिया गया है जो प्रथम सूर्यवंशीय राजा था। बल्कि सूर्य और चन्द्रवंशीय समर्थक भाटों ने तो राजपूतों का सम्बन्ध इन्द्र, पदमनाभ, विष्णु आदि से बताते हुए एक काल्पनिक वंशक्रम बना दिया है। इससे स्पष्ट है कि जो लेखक राजपूतों की चन्दवंशीय या सूर्यवंशीय मानते है वे भी इनकी उत्पत्ति के विषय में किसी निश्चय पर नहीं पहुंच पाये है। अलबत्ता इस मत का एक ही उपयोग हमें दिखायी देता है कि ग्यारहवीं शताब्दी से इन राजपूतों का क्षत्रियत्व

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

स्वीकार कर लिया गया, क्योंकि इन्होंने क्षात्र धर्म के अनुसार विदेशी आक्रमणों का मुकाबला सफलतापूर्वक किया। आगे चलकर यह मत लोकप्रिय हो गया और तभी से इसको मान्यता प्रदान की जाने लगी।

3.2.4 राजपूतों का विदेशी मत – भारत में अधिकांश लोग विदेशों से आये। आर्यों से लेकर अंग्रेजों तक कोई एक दर्जन विदेशी शासकों ने भारत पर आक्रमण किया और फिर यहीं बसकर भारतीय धर्म व संस्कृति को अपना लिया। इसी आधार पर कुछ भारतीय व कुछ विदेशी लेखकों का मत है कि राजपूत भी विदेशी थे। कर्नल जेम्स टाड अपनी पुस्तक 'राजस्थान का इतिहास' के पृष्ठ–29 पर लिखा हैं कि ''राजपूत शक अथवा शिथियन जाति के वंशधर है।'' अपने इस कथन की पुष्टि के लिए टाड महोदय दो तर्क देते हैं। प्रथम तो यह कि विश्व के सभी प्रमुख धर्म चाहे वह बेबीलोन का हो या यूनान का, भारत का हो या मूसा का कथन, इसी बात पर जोर दिया है कि मूलतः मानव सभ्यता का विकास मध्य एशिया से हुआ और पहले पुरुष को किसी ने 'सुमेरु' कहा ओर किसी ने 'बेकस' ओर किसी ने 'मनु'। इन सब बातों को लेकर टाड महोदय कहते हैं कि – ''इन बातों से साबित होता है कि संसार के सभी मनुष्यों का मूल स्थान एक ही था और वहीं से ये लोग पूर्व की तरफ आये।'' (पृष्ठ 38) आर्य, यूनानी, शक, हूण, कुषाण (यूची) सभी विदेशी जातियां मध्य एशिया से आई थी अतः टाड महोदय का मत है कि राजपूत भी, मध्य एशिया अर्थात् बाहर से आये थे और विदेशी थे।

दूसरा तर्क जो टाड महोदय प्रस्तुत करते हैं वह यह है कि राजपूतों के रीति–रिवाज आदि शक, शिथियन और हूणों से मिलते हैं जैसे सूर्य की पूजा, सती प्रथा, अश्वमेध यज्ञ, घोड़ो की पूजा आदि राजपूत भी करते थे और शक व शिथियन लोग भी। ऐसी दशा में दोनों के एक होने का भ्रम स्वाभाविक सा है। श्री टाड के शब्दों में ''राजपूतों के स्वभावों और उनकी आदतों से भी इस बात का साफ–साफ पता चलता है कि वे और शक लोग किसी समय एक थे........शक लोगों की वीरता, उनकी आदतें और उनके विश्वास राजपूतों में पूर्ण रूप से देखने को मिलते हैं। ....इन सब बातों का अर्थ यह है कि आरम्भ में बहुत थोड़े से मनुष्य संसार में थे और वे बिना किसी भेद और विचार के एक ही स्थान पर रहकर अपना जीवन व्यतीत करते थे।'' किन्तु टाड के इन दोनों सिद्धान्तों का खण्डन भारतीय लेखक करते हैं। डॉ भार्गव, डॉ. गोपीनाथ, डॉ. दशरथ शर्मा सभी राजपूतों को आर्यों की सन्तान और भारत के मूल निवासी मानते हैं क्योंकि आर्य भी सतीप्रथा, अश्वमेघ यज्ञ, सूर्य पूजा आदि करते थे। मनु स्मृति में प्रजा की रक्षा करने वाला क्षत्रिय माना गया है। इस आधार पर राजपूत भी प्राचीन आर्य, क्षत्रिय थे। प्राचीन आर्यों में पाण्डु की दूसरी पत्नी माद्री सती हुई थी, राम व युधिष्ठर ने अश्वमेघ यज्ञ किया था। इस आधार पर श्री गौरीशंकर ओझा राजपूतों को आर्य और क्षत्रियों की सन्तान मानते हैं। प्रसिद्ध इतिहासकार स्मिथ अपनी पुस्तक 'अर्ली हिस्ट्री ऑफ इण्डिया'' में पृष्ठ 321–22 पर यही तर्क देते हैं कि ''राजपूत हूणों की सन्तान हैं'' उनका कहना है कि विदेशी गुर्जरों ने गुजरात को जीतकर उसका नाम अपने नाम पर गुजरात रख दिया। उसी प्रकार हूणों ने भी भारत की परम्पराओं को अपनाकर राजस्थान को अपना घर बनाया। अब रापूत नाम धारण कर रहना शुरू कर दिया होगा। स्मिथ निष्कर्ष निकालते हैं कि 'हूण जाति ही विशेषकर राजपूताने और पंजाब में स्थाई रूप से आबाद हुई, जिसमें अधिकांश गुर्जर थे और गूजर कहलाये।'' इस आधार पर राजपूत गुर्जर अथवा हूण थे जो राज्य खोने के बाद यहां बस गये थे। इस तर्क का खण्डन करते हुए श्री गहलोत अपनी पुस्तक 'राजपूताने का इतिहास' के पृष्ठ 9 पर लिखते हैं कि – ''विंसेन्ट स्मिथ आदि का राजपूत जाति की उत्पत्ति को आठवीं शताब्दी के करीब मानना इस कारण से असत्य प्रतीत होता है क्योंकि उससे पहले ईसा की सातवीं सदी में ही राजपूताने के कई प्रदेशों में गुहिल, चावड़ा, यादव आदि राजवंशों के राज्य थे। जैसे विक्रमी स. 625 के आसपास में मेवाड़ में गुहिलों (गहलोतों) का और विक्रमी सं. 625 में भलनमाल में (628 ई.) चावड़ा क्षत्रियों के आधार पर डॉ. स्मिथ का यह कहना कि ''राजपूत जाति आठवीं या नवीं शताब्दी से पहले का राजपूत इतिहास उपलब्ध है। अतः राजपूत विदेशी नहीं थे।

3.2.5 दैविक शक्ति का मत – हर शासक अपने आपको बड़ा बताता रहा है। विशेष तौर पर उसके दरबार के लोग शासक को देवता तुल्य, ईश्वर द्वारा भेजा गया या देवताओं की सन्तान बताते हैं। यही परम्परा राजपूतों पर भी लागू होती है। मनुस्मृति की नवीं जिल्द 303 से 311 तक के श्लोकों में क्षत्रियों की उत्पत्ति ब्रह्मा से बताई गई है। ऋग्वेद के अनुसार ये ब्रह्मा की बाहों से जन्मे थे और इन दोनो ग्रन्थों के आधार पर इनका काम निर्बल लोगों की रक्षा करना बताया गया हैं सातवीं शताब्दी के क्षत्रियों ने अपना महत्त्व खो दिया था और वे अन्य तीन वर्णों की रक्षा नहीं कर सके थे, किन्तु राजपूतों को चारण व भाटों में इनकी खोई हुई महिमा को पुनः दोहराने के लिए उन्हें ब्रह्मा का पुत्र कहकर पुराने दैविक शक्ति सिद्धान्त को दोहराया। ब्रह्मा से क्षत्रिय की उत्पत्ति मानी गई तो साहित्यकारों राजपूतों को राजा होने के नाते दैविक शक्ति या Divine Power मान कर बड़ा कहा है नद्धरहरण में एक शिलालेख प्राप्त हुआ है। इस शिलालेख में रघुवंश कीर्ति शब्द का प्रयोग किया गया है। यह शब्द राजपूतों का महाकाव्य काल के राम और कृष्ण से सम्बन्ध जोड़ने के लिए किया गया है। दसवीं शताब्दी के राजपूतों को राम या लक्ष्मण का वंशज माना गया है। इस प्रकार एक शिलालेख व दसवीं शताब्दी के साहित्य

द्वारा राजपूतों की देव कुल या दैविक शक्ति द्वारा उत्पत्ति बताई है। इस सिद्धान्त से भी स्पष्ट है कि राजपूत यदि रामायण और महाभारत काल के राम कृष्ण के वंशज है तो भारतवासी व आर्यों के वंशज ही है।

3.2.6 ब्राह्मणों से उत्पत्ति का मत – डॉ. भण्डारकर प्रथम विद्वान थे जिन्होंने चौहानों की उत्पत्ति किसी विदेशी (खज्जर) ब्राह्मण से बताई है। फिर तो कई विद्वानों व लेखकों ने राजपूतों की उत्पत्ति ब्राह्मणों से बता दी। मण्डोर के प्रतिहार ब्राह्मण के वंश के थे। इनके पूर्वज ब्राह्मण हरिशचन्द्र तथा उनकी पत्नी मादरा की सन्तान थीं। इसी प्रकार आबू के प्रतिहार वशिष्ठ ऋषि की सन्तान थे। ऐसा भी होता था कि राजपूत अपने पुराहित का गोत्र अपना लेते थे। इस विचार का प्रचार व प्रभाव यों होता है कि ब्राह्मण पहले राजा भी हुआ करते थे। टॉड महोदय इस मत पर जोर देते हैं। वे अपनी पुस्तक ''राजस्थान का इतिहास'' के पृष्ठ 40–41 पर लिखते हैं कि – ''भारत के शासकों में ब्राह्मणों का स्थान कम नहीं रहा। जमदग्नि से लेकर महाराष्ट्र के पेशवा तक में इस बात के प्रमाण मिलते हैं – रावण ब्राह्मण था और लंका में राज्य करता था।'' ब्राह्मण कहीं–कहीं राजा से भी बड़े थे। मिथिला का राजा जनक और अयोध्या का राजा दशरथ ब्राह्मण राजर्षि विश्वामित्र से हाथ जोड़कर प्रार्थना करते थे। अतः कुछ लेखों में, जिनमें पांचवीं शताब्दी का पिंगल सूत्र कृति' भी सम्मिलित है राजपूतों को बड़ा बताने के लिये उन्हें ब्राह्मणों की सन्तान बताया है। आधुनिक इतिहासकार डॉ. गोपीनाथ शर्मा ने इस बात को स्वीकार किया है कि मेवाड़ के गुहिलोत नागर जाति के ब्राह्मण गुहदत्त के वंशज हैं। श्री ओझा ने भी इस कि सद्धान्त को माना है। मेवाड़ के महाराणा कुम्भा ने जयदेव के 'गीत–गोवन्दि' पर टीका लिखते समय स्वयं स्वीकार किया है कि गुहिलोतों की उत्पत्ति गुहेदत्त से हुई किन्तु अधिकांश इसे स्वीकार नहीं करते।

3.2.7 मिश्रित उत्पत्ति – कुछ विद्वानों की मान्यता है कि यह कहना ठीक नहीं होगा की राजपूत लोग प्राचीन वैदिक–काल के क्षत्रियों की शुद्ध सन्तान है।.....कदाचित् पांचवी व छठी शताब्दी तक जो विदेशी भारत आये वे यहां के क्षत्रियों में घुलमिल गये। इस कथन का आशय यह है कि कुछ राजपूत क्षत्रियों के वंशज है और कुछ विदेशियों में से भी हैं। जब विदेशी यहां आये और उन्होंने उत्तर भारत में अपने राज्य स्थापित कर लिये तब उन्होंने अपने सम्बन्ध प्राचीन क्षत्रिय वंशों से स्थापित कर लिए। एक जगह रहने से उनमें धीरे–धीरे वैवाहिक सम्बन्ध भी होने लगे और फिर भारत के समस्त राजपूत एक जाति के सूत्र में बंध गये। डॉ. ईश्वरी प्रसाद ने भी इस धारणा का समर्थन किया है। उन्होंने लिखा है – ''यह निःसन्देहात्मक है कि विदेशी जातियां, जो भारत में आकर बसीं, उन्होंने सामाजिक वर्गों को पुनर्व्यवस्थित किया और राजनीतिक शक्ति उन्हीं के पास होने के कारण उनके ब्राह्मण सलाहकारों द्वारा उन्हें प्राचीन क्षत्रियों से जोड़ा गया।

3.3 सारांश :

राजपूतों को बड़ा बताने के लिए उस समय के लेखकों, धार्मिक ग्रन्थों और शिलालेखों में कभी उन्हें दैविक शक्ति से उत्पन्न किया, इन्द्र और ब्रह्मा का पुत्र बताया, मनु की सन्तान कहा और कभी उन्हें ब्राह्मणों की सन्तान बताकर सम्मानित किया। अग्निकुण्ड का सिद्धान्त बताकर उन्हें देवताओं की कृति बनाना चाहा। यहां इतने समर्थक और अच्छा बताने वाले हैं वहां उन्हें विदेशी, धर्म परिवर्तिति ओर आदिवासी अनार्य कहने वालों की भी कमी नहीं। स्मिथ ने उन्हें हूण कहा, भण्डारकर ने उन्हें नागर ब्राह्मणों की सन्तान कहा। वेद व्यासजी ने उनहें सूर्य व चन्द्रवंशी कहा और इस प्रकार अनुसंधान के लिए प्रचुर जिज्ञासा उत्पन्न हो गई। राजपूत क्या हैं ? यह अभी भी अनुसंधान का विषय है। किन्तु इन देशभक्त वीरों को विदेशी या दलित वर्ग का बताकर तो उनका ही नहीं राष्ट्रीयता का व देश के गौरव का अपमान करना है। अतः अन्त में डॉ. कानूनगो के शब्दों में इस विवाद को समाप्त करें जो उन्होंने अपनी पुस्तक "Studies in Rajput History" में कहे हैं कि ''अग्निकुण्ड की कहानी इस युग में नहीं चल सकती, उनकी सूर्य अथवा चन्द्र से उत्पत्ति एक काल्पनिक सत्य हो सकती है। राजपूत चाहे किसी भी रूप में जन्मे हो लेकिन यह सत्य है कि इतिहास में उन्होंने महाकाव्य काल के क्षत्रियों की परम्पराओं को बनाये रखा है।''

3.4 बोध प्रश्न :

प्रश्न 1 कर्नल जेम्स टॉड ने राजपूतों की उत्पत्ति किनसे बतायी है? अ. विदेशियों से ब. अग्निकुण्ड से स. वैदिक क्षत्रियों से द. मिश्रित लोगों से

उत्तर – ....

प्रश्न 2 राजपूतों की उत्पत्ति सम्बन्धी अग्निवंशीय मत पर टिप्पणी लिखिए।

उत्तर – ....

प्रश्न 3 राजपूतों की उत्पत्ति सम्बन्धी विभिन्न मतों की आलोचनात्मक व्याख्या करिये।

उत्तर – ....

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

इकाई – 4
पृथ्वीराज चौहान

संरचना :

4.0 उद्देश्य
4.1 प्रस्तावना
4.2 चौहानों की उत्त्पत्ति और मूल स्थान
4.3 पृथ्वीराज चौहान : जीवन परिचय
4.4 प्रारम्भिक कठिनाइया
4.5 पृथ्वीराज तृतीय की आक्रामक नीति
4.6 पृथ्वीराज की सैनिक कार्यवाहियां अथवा उसके युद्ध
    4.6.1 नागार्जुन का दमन
    4.6.2 भण्डानकों का दमन
    4.6.3 चन्देलों पर विजय
    4.6.4 चालुक्यों पर विजय
    4.6.5 जयचन्द से सम्बन्ध
4.7 पृथ्वीराज चौहान और मुहम्मद गौरी
    4.7.1 प्रारम्भिक संघर्ष
    4.7.2 तराईन का प्रथम युद्ध (1191 ई.)
    4.7.3 तराइन का द्वितीय युद्ध (1192 ई.)
    4.7.4 युद्ध का महत्व और परिणाम
4.8 पृथ्वीराज चौहान का मूल्यांकन
4.9 बोध प्रश्न

4.0 उद्देश्य :

प्रस्तुत इकाई में पृथ्वीराज चौहान की विशेषताएँ निम्नलिखित बिन्दुओं के माध्यम से स्पष्ट की जायेगी –
–साम्राज्य विस्तार
–मूल्यांकन

4.1 प्रस्तावना :

647 ई. में हर्षवर्धन की मृत्यु हो गई। उसकी मृत्यु से लेकर 1200 ई. तक का युग भारतीय इतिहास में विशेष महत्त्व रखता है। इस काल में उत्तर, दक्षिण और सुदूर दक्षिण में अनेक शक्तिशाली राजवंशों का उत्कर्ष और पराभव हुआ। ऐसे राजवंशों में चौहानों का स्थान काफी महत्त्वपूर्ण है। चौहानों ने राजस्थान तथा उसके आस–पास के क्षेत्रों में अपने कई शासन केन्द्र स्थापित कर लिये थे, जिनमें सांभर (शाकम्भरी) अथवा सपादलक्ष के चौहानों ने अपनी शूरवीरता तथा साम्राज्यवादी महत्त्वाकांक्षा के कारण भारतीय इतिहास में अपना एक महत्त्वपूर्ण स्थान बना लिया था।

4.2 चौहानों की उत्पत्ति और मूल स्थान :

चौहानों अथवा चाहमानों की उत्पत्ति तथा उनका मूल स्थान दोनों ही काफी विवादग्रस्त हैं। चन्दरबरदाई के 'पृथ्वीराज रासो' तथा चारणों की अनुश्रुतियों में उन्हें 'अग्निकुल' का बताया जाता है, जबकि 'पृथ्वीराज विजय', हम्मीर महाकाव्य', 'हम्मीर रासो' के अनुसार वे सूर्यवंशी थे। कर्नल टॉड, डॉ स्मिथ और क्रुक इत्यादि विद्वान उन्हें विदेशियों की संतान मानते हैं। राजस्थान के सुप्रसिद्ध इतिहासकार डॉ. दशरथ शर्मा और डॉ गोपीनाथ शर्मा उन्हें ब्राह्मणों की सन्तान बतलाते हैं। चौहानों के मूल स्थान के बारे में भी भिन्न–भिन्न मत देखने को मिलते हैं। डॉ. गोपीनाथ शर्मा तथा कुछ अन्य विद्वान जांगल देश (बीकानेर, जयपुर तथा उत्तरी मारवाड़) और सपादलक्ष (सांभर) को चौहानों का मूल स्थान मानते हैं। डॉ. दशरथ शर्मा चित्तौड़

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

को मूल स्थान मानते हैं। 'पृथ्वीराज विजय', 'हम्मीर महाकाव्य' आदि के अनुसर 'पुष्कर' उनका मूल स्थान था। सम्भवतः सांभर–पुष्कर–सीकर का मध्यवर्ती क्षेत्र उनका मूल स्थान रहा होगा।

4.3 पृथ्वीराज चौहान : जीवन परिचय

चौहान शासकों में पृथ्वीराज तृतीय सबसे अधिक प्रतापी, शक्तिशाली और तेजस्वी राजा हुआ। पृथ्वीराज का जन्म और राज्यारोहण कब हुआ, इस पर इतिहासकार एकमत नहीं है। यह अवश्य है कि वह अपने पिता सोमेश्वर की मृत्यु के बाद गद्दी पर बैठा और उस समय उसकी आयु केवल 11 वर्ष की थी। डॉ. दशरथ शर्मा ने पृथ्वीराज का जन्म 1166 ई. में माना है। उन्होनें पृथ्वीराज की जन्म–तिथि पर एक लेख राजस्थान भारती, बीकानेर में प्रकाशित किया था जिसमें इस जन्म–तिथि को प्रमाणित करते हुए उन्होंने लिखा कि "पृथ्वीराज का जन्म शुभ–मुहुर्त में हुआ था।" यदि इस तिथि को स्वीकार किया जाए तो पृथ्वीराज को गद्दीनशीनी 1177 ई. में मानी जानी चाहिए। जो भी हो, पृथ्वीराज महानता की विशेषताएं लेकर जन्मा था। संसार के बहुत से योग्य शासकों की तरह छोटी उम्र में ही उसके सिर पर से पिता का हाथ उठ गया। जब वह 11 वर्ष का था तभी उसके पिता सोमेश्वर का देहान्त हो गया। बाबर भी जब 9 वर्ष का था तो उसके पिता की मृत्यु हो गई थी। हुमायूं भी अकबर को केवल 13 वर्ष का छोड़कर चल बसा था। पृथ्वीराज ने भी अति अल्पायु में ही राज्य–कार्य सम्भाल लिया। उसने अपने मंत्री कबासा और अपनी संरक्षिका माता कर्पूरीदेवी की सहायता से राज्य का समुचित प्रबन्ध किया। अपने सरक्षण काल से ही उसने प्रशासकीय योग्यताओं का सुन्दर परिचय देकर यह सिद्ध कर दिया कि वह चौहानों के यशस्वी राज्य की बागडोर भली प्रकार संभालने में समर्थ है। वास्तव में पिता सोमेश्वर और माता कर्पूरीदेवी के संस्कारों का पृथ्वीराज पर गहरा प्रभाव पड़ा था और उसके ह्रदय तथा मस्तिष्क ने बहुत–सी असामान्य विशेषताएं अर्जित कर ली थी।

पृथ्वीराज ने अपने छोटे–से जीवन में पांच सुन्दरियों से विवाह किया जिनमें से एक संयोगिता थी। पृथ्वीराज स्वयं तो सुन्दर नहीं था, लेकिन सुन्दरता का उपासक और साथ ही सुन्दरियों के आकर्षण का केन्द्र था। वह इतना शूरवीर, सेनानी और योद्धा था कि कोई भी स्त्री उससे विवाह करके अपने को गौरवान्वित अनुभव कर सकती थी। 1192 ई. में तराइन के द्वितीय युद्ध में पराजित होकर पृथ्वीराज मोहम्मद गौरी के हाथों बन्दी बना लिया गया और कुछ समय बाद ही गौरी ने उसकी जीवन–लीला समाप्त कर दी। लेकिन अपनी छोटी–सी आयु में ही पृथ्वीराज चौहान तृतीय ने अपनी ख्याति का वह डंका बजा दिया कि आज भी वह भारत के सर्वाधिक लोकप्रिय नायकों में गिना जाता है।

4.4 प्रारम्भिक कठिनाइयां :

1. पृथ्वीराज जिस समय सिहासनरूढ़ हुआ उस समय अजमेर का चौहान राज्य बाह्य शत्रुओं से घिरा हुआ था और दक्षिण–पश्चिम के गुजरात के चालुक्य चौहानों के वंशपरम्परागत शत्रु थे। चालुक्य शासक पृथ्वीराज के प्रभुत्व व शक्ति को अधीनता के रूप में स्वीकार नहीं करते थे और उसे चुनौती देना चाहते थे।
2. पृथ्वीराज के समक्ष एक अन्य महत्त्वपूर्ण कठिनाई विग्रहराज के पुत्र नागार्जुन की ओर से थी। पृथ्वीराज को अल्पवयस्क समझकर नागार्जुन ने गुड़ापुरा पर अपना अधिकार जमा लिया था।
3. पृथ्वीराज के समक्ष एक बड़ी कठिनाई दक्षिण–पूर्व में महोबा के चंदेल शासकों की भी विद्यमान थी।
4. अन्य महत्त्वपूर्ण कठिनाई भण्डानकों की ओर से थें, जिन्होंने विद्रोह भी किया था। इनका आधुनिक रेवाड़ी, भिवानी तथा अलवर जिले के कुछ भागों पर अधिकार था।
5. पृथ्वीराज के समक्ष एक कठिनाई यह भी थी कि पूर्व में कन्नोज के गहड़वाल शासक अजमेर के चैहानों के प्रतिद्वन्द्वी थे।

उपर्युक्त समस्त बाह्य शत्रुओं की वंशपरम्परागत शत्रुता को पृथ्वीराज के पूर्वजों ने उसके लिए विरासत में सौपा था। पृथ्वीराज के आकांक्षामयी पूर्वजों में विग्रहराज, अजयराजा, अनोराजा व सोमेश्वर के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। इन पूर्वजों की निरन्तर विजयों के परिणामस्वरूप चौहान राज्यों की सीमाए पूर्व दिशा में कन्नौज व पश्चिम में नागौर तक तथा उत्तर में जांगल देश से लेकर दक्षिण में आधुनिक जहाजपुर तक फैल चुकी थी।

4.5 पृथ्वीराज तृतीय की आक्रामक नीति :

पृथ्वीराज के समक्ष जो विषम कठिनाइयां थीं और जिन परिस्थितियों से वह घिरा था, उनमें यह सर्वथा स्वाभाविक था कि वह शान्ति अथवा रक्षात्मक नीतियों की अपेक्षा आक्रामक नीति अपनाकर अपने शत्रुओं में आतंक पैदा करता और अपने शौर्य का उन पर सिक्का जमा देता। मुस्लिम आक्रान्ताओं के आतंक ने भी उसे सक्रिय और गतिमान आक्रामक नीति अपनाने को बाध्य किया। फलस्वरूप उसे अन्त में युद्ध लड़ने पड़े जिनमें उसे निर्णायक विजय प्राप्त हुई। यह राजस्थान का ही नहीं

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

सम्पूर्ण भारत का दुर्भाग्य था कि अन्त में आपसी फूट एवं कुछ अन्य कारणों से उसे विदेशी आक्रमणकारी से हारना पड़ा। पृथ्वीराज ने जिन विविध कारणों से आक्रामक नीति अपनाई वे ये हैं –

1. मोहम्मद गौरी के नेतृत्व में मुसलमानों ने भारतीय सीमाओं को 1175 ई. से ही आतंकित करना प्रारम्भ कर दिया था। मोहम्मद गौरी की सेनाओं ने 1178 ई. में गुजरात को नष्ट–भ्रष्ट कर दिया था। फलस्वरूप पृथ्वीराज का आक्रामक होना स्वाभाविक था।

2. पृथ्वीराज द्वारा आक्रामक नीति अपनाने का कारण यह भी हो सकता है कि पृथ्वीराज के एक निकटतम सम्बन्धी नागार्जुन ने पृथ्वीराज के विरूद्ध विद्रोह करके अजमेर को अपने अधिकार में करने की असफल कोशिश की थी।

3. वर्तमान अलवर, भरतपुर, मथुरा, रेवाड़ी, भिवानी आदि जिलों के भण्डानकों ने पृथ्वीराज की अल्पवयस्कता में विद्रोह करके चौहानों के प्रभुत्व से मुक्ति प्राप्त करने का प्रयत्न किया था।

4. भारतीय इतिहास की परम्परा के अनुसार पृथ्वीराज एक दिग्विजय शासक बनना चाहता था। वह स्वयं एक महत्त्वाकांक्षी शासक था। स्वभावतः उसने अपने पैतृक राज्य के कट्टर शत्रुओं के विरूद्ध निरन्तर युद्ध लड़े। राज्यारोहण बाद ही उसके युद्धों का जो क्रम चला वह 1192 ई. में गौरी के हाथों बन्दी बनाए जाने तक चलता रहा।

4.6 पृथ्वीराज की सैनिक कार्यवाहियां अथवा उसके युद्ध :

पृथ्वीराज का शासन निरन्तर युद्ध में व्यतीत हुआ। उसकी विजयों और सैनिक सम्बन्धों को मोटे रूप में निम्नांकित भागों में विभक्त किया जा सकता है –

4.6.1 नागार्जुन का दमन – सर्वप्रथम पृथ्वीराज ने अपने पूर्वज विग्रहराज के पुत्र नागार्जुन के विद्रोह का दमन किया जिसने पृथ्वीराज की अल्पवस्कता को उसकी कमजोरी मानते हुए गुड़ापुरा पर अधिकार कर लिया था। पृथ्वीराज की सेनाएं योग्य मन्त्री कबासा के नेतृत्व में नागार्जुन को निर्णायक रूप में पराजित करने में सफल हुई। नागार्जुन मारा गया।

4.6.2 भण्डानकों का दमन – इस विजय के बाद 1182 ई. के लगभग पृथ्वीराज ने विद्रोही भण्डानकों के विरूद्ध सैनिक कार्यवाही की। नारायना (नरेना) को अपना सैनिक केन्द्र–स्थल बनाकर चौहान सेनाओं ने गुड़ापुरा (गुड़गांव) नामक स्थान पर भयंकर युद्ध के भण्डानकों को पूर्ण रूप से पराजित किया। यह विजय चौहान राज्य की सुरक्षा के लिए बहुत ही महत्त्वपूर्ण थी।

4.6.3 चन्देलों पर विजय – भण्डानकों पर विजय ने पृथ्वीराज के राज्य की सीमाओं को चन्देलों के राज्य की सीमा से मिला दिया। दिग्विजय की नीति से प्रभावित पृथ्वीराज ने बुन्देलखण्ड के चन्देलों को एक भयानक युद्ध में पराजित करके महोवा पर अधिकार कर लिया। चन्देल राजा परमादीन ने पृथ्वीराज की अधीनता स्वीकार कर ली।

4.6.4 चालुक्यों पर विजय – चालुक्य–चौहान वैमनस्य बड़ा पुराना था और पृथ्वीराज का पिता सोमेश्वर युद्ध में गुजरात के चालुक्य शासक भीमदेव द्वितीय के द्वारा मारा गया था। अतः पिता की मृत्यु का बदला लेने के लिए पृथ्वीराज ने 1187 ई. के लगभग गुजरात पर हमला करके चालुक्यों को पराजित किया। लगभग इसी समय आबू के परमार शासक घरवंसा को भी हराया। चालुक्य नरेश जगदेव ने पृथ्वीराज की अधीनता स्वीकार करते हुए उसके साथ सन्धि कर ली और अपने जीनकाल में इस सन्धि को निभाता रहा। इस युद्ध से चौहानों तथा चालुक्यों की दीर्घकालीन शत्रुता हो गई।

4.6.5 जयचन्द से सम्बन्ध – पृथ्वीराज तृतीय और जयचन्द दोनों ही उस युग के महत्त्वाकांक्षी, प्रतापी और वीर शासक थे। दोनों ही अपने राज्य का विस्तार करना चाहते थे। दुर्भाग्यवश इन दोनो ही राजपूत नरेशों के बीच वैमनस्य था, जिसके कुछ मुख्य कारण निम्नलिखित थे –

1. जयचन्द अपने पितामह गोविन्दचन्द्र की भांति समस्त उत्तर भारत (आर्यावर्त) को विजय करना चाहता था। गोविन्दचन्द्र की मृत्यु के बाद जो प्रदेश गहड़वालों के हाथ से निकल गए उनकी पुनर्विजय की जयचन्द कामना करता था। उसकी यह महत्त्वाकांक्षा पृथ्वीराज तृतीय जैसे अजमेर व दिल्ली के शासक के लिए असहनीय थी। फलस्वरूप वैमनस्य बढ़ना स्वाभाविक था।

2. जयचन्द एक सुगठित विशाल सेना का स्वामी था चन्देलों की सहायता के लिए उसकी फौजे महोबा तक पहुंची थी। चन्देलों की हार से जयचन्द की प्रतिष्ठा को ठेस पहुंची थी। अतः दोनों ही पक्ष एक–दूसरे पर विजय के आकांक्षी थे।

3. पृथ्वीराज चौहान की विस्तारवादी नीति ने जयचन्द के साथ संघर्ष की भावना पैदा कर दी। अब अजमेर और दिल्ली के शासक पृथ्वीराज तृतीय अपने राज्य की सीमाओं का विस्तार करता गया जो जयचन्द का उत्तेजित होना स्वाभाविक था।

4. दोनों में वैमनस्य और तनाव का एक मुख्य कारण यह भी बताया जाता है कि जयचन्द की सुन्दर पुत्री संयोगिता

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

को पृथ्वीराज स्वयंवर से हर ले गया था। जयचन्द ने स्वयंवर नें पृथ्वीराज को आमन्त्रित न करके और द्वार पर उसकी प्रतिमा खड़ी करके पृथ्वीराज का अपमान किया था। संयोगिता की कहानी की ऐतिहासिकता विवादास्पद है।

5. जयचन्द और पृथ्वीराज का मनमुटाव अपनी चरम सीमा पर पहुंच गया जिसके कई महत्त्वपूर्ण हल निकले। संगठन में शिथिलता आ गई जिसके फलस्वरूप वह प्रशासन में विशेष रूप से ध्यान न दे सका। इसके कुछ समय बाद ही मोहम्मद गौरी ने पृथ्वीराज पर आक्रमण किया और जयचन्द ने पृथ्वीराज की कोई सहायता नहीं की। मोहम्मद गौरी ने पहले पृथ्वीराज को और फिर जयचन्द को पराजित किया। पृथ्वीराज की इस पराजय के साथ ही राजपूतों के हाथ से भारत का राज्य निकल गया। तराइन के द्वितीय युद्ध में चौहान साम्राज्य का पतन हुआ। भारत में जो पारस्परिक ईर्ष्या–द्वेष था, वह हिन्दुओं की पराजय का कारण सिद्ध हुआ और भारत पर मुसलमानों का अधिकार हो गया।

4.7 पृथ्वीराज और मुहम्मद गौरी :

पंजाब पर अधिकार कर लेने के बाद मुहम्मद गौरी का संघर्ष अजमेर के चौहानों से हुआ। इस समय अजमेर के चौहान राज्य पर पृथ्वीराज तृतीय शासन कर रहा था जिसकी गणना भारत के शक्तिशाली शासकों में होती थी। उसका राज्य दिल्ली से अजमेर तक विस्तृत था। अतः भारत की उत्तरी–पश्चिमी सीमा की रक्षा का दायित्व भी उसी का था और इसके लिये उसने भटिण्डा के किले पर अधिकार करके उसकी सुदृढ़ किलेबन्दी भी कर रखी थी। वस्तुतः गौरी की प्रारम्भिक विजयों के परिणामस्वरूप उसके अधीनस्थ प्रदेश की सीमाएं पृथ्वीराज के साम्राज्य की सीमाओं को छूने लगी थी। अन्तर्राज्य सजनय के अर्थों में वे एक–दूसरे के पड़ौसी और शत्रु निर्धारित हो चुके थे। ऐसी स्थिति में दोनों पक्षों में सीमा समस्याएं और संघर्ष होना स्वाभाविक था। साथ ही मुहम्मद गौरी और पृथ्वीराज दोनों ही महत्वाकांक्षी थे। पृथ्वीराज को अपने साम्राज्य को सुरक्षित बनाये रखने के लिये गौरी को उत्तरी–पश्चिमी से खदेड़ना आवश्यक था तो गौरी को भारत के आन्तरिक भागों पर अधिकार करने के लिये दिल्ली और अजमेर जीतना आवश्यक था। ऐसी स्थिति में दोनों पक्षों में संघर्ष अवश्यम्भावी था।

4.7.1 प्रारम्भिक संघर्ष – इतिहास में पृथ्वीराज और गौरी के मध्य हुये युद्धों में मुस्लिम इतिहासकारों द्वारा उल्लेखित 1191 व 1192 ई. के तराइन के प्रथम और द्वितीय युद्ध विशेष रूप से प्रसिद्ध है। किन्तु राजस्थानी इतिहास के साहित्यिक स्रोतों से ऐसा प्रतीत होता है कि इन दो प्रसिद्ध युद्धों के पूर्व ही पृथ्वीराज और गौरी की सेनाओं में अनेक मुठभेड़े हो चुकी थी क्योंकि इन साहित्यिक स्रोतों में पृथ्वीराज और गौरी के मध्य हुये युद्धों की संख्या काफी अधिक दी हुई है। 'पृथ्वीराजरासो' व 'सुर्जनचरित्र के अनुसार पृथ्वीराज ने 21 बर गौरी को पराजित किया था। इसी प्रकार 'हम्मीर महाकाव्य' व 'पृथ्वीराज प्रबन्ध' में पृथ्वीराज और गौरी के संघर्षों में मुसलमानों की पराजय की संख्या 8, 'प्रबन्ध कोष' में 20 और 'प्रबन्ध ा चिन्तामणी' में 23 बताई गई है। हो सकता है कि ये संख्याएं अतिशयोक्तिपूर्ण हो।

4.7.2 तराइन का प्रथम युद्ध (1191 ई.) – पृथ्वीराज चौहान और मुहम्मद गौरी का प्रथम संघर्ष 1190–91 ई. में हुआ। संघर्ष का मूल कारण तत्कालीन राजनैतिक तथा आर्थिक स्थिति में निहित था। गौरी एक महत्त्वाकांक्षी शासक था। वह भारत में अपने राज्य का विस्तार करना चाहता था और मध्य एशिया की राजनीति में भी महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा करना चाहता था। इसके लिए उसे विपुल धन–सम्पदा की आवश्यकता थी और यह आवश्यकता भारत में पूरी की जा सकती थी। तत्कालीन भारत की राजनैतिक स्थिति भी गौरी के अनुकूल थी। देश में केन्द्रीय सत्ता का अभाव था और अलग–अलग क्षेत्रों में स्वतन्त्र राजवंशों की नींवे सुदृढ़ हो चुकी थी। इन विभिन्न राजवंशों में एकता का अभाव था और वे एक–दूसरे को परास्त करने के लिए सदैव तत्पर रहते थे। गौरी को भारतीय शासकों की इन दुर्बलताओं की पूरी जानकारी थी। वह भारत में अपने राज्य का विस्तार करना चाहता था। परन्तु इसके लिए मार्ग की पहली बाधा–पृथ्वीराज को हटाना आवश्यक था।

कुछ इतिहासकारों ने दोनों के मध्य संघर्ष का कारण धार्मिक कट्टरता बतलाया है। परन्तु इस प्रकार की मान्यता में कोई विशेष वजन नहीं है। वास्तविक कारण दोनों की विस्तारवादी महत्त्वाकांक्षा थी। परिस्थिति ने दो नवोदित शक्तियों की सीमाओं को एक–दूसरे के निकट ला दिया और विस्तारवादी महत्त्वाकांक्षा ने एक दूसरे को समाप्त करने की प्रेरणा दी।

लाहौर पर अधिकार करने के बाद गौरी ने सरहिन्द (तबर हिन्द) पर भी अधिकार कर लिया। उसने इस दुर्ग की रक्षा के लिए काजी जियाउद्दीन को बारह हजार सैनिकों के साथ नियुक्त किया। सरहिन्द के दुर्ग पर मुसलमानों का अधिकार हो जाने से चौहान राज्य की सुरक्षा के लिए गम्भीर संकट उत्पन्न हो गया। अतः पृथ्वीराज ने अपने दिल्ली के सामन्त गोविन्दराज के साथ सरहिन्द की तरफ कूच किया। उसका ध्येय यहां से गौरी की सेना को खदेड़ कर दुर्ग को अपने अधिकार में लेना था। गौरी को पृथ्वीराज की गतिविधियों की जानकारी मिल गई। उसने वापस गजनी लौटने का विचार त्याग दिया और आगे बढ़कर पृथ्वीराज से मोर्चा लेने का निश्चय किया। तदनुसार गौरी आगे बढ़ा और तराइन के ऐतिहासिक मैदान में दोनों सेनाएं एक–दूसरे के सामने आ डटीं।

युद्ध के आरम्भ से ही चौहानों का पलड़ा भारी रहा। उन्होंने मुस्लिम सेना पर दोनों ओर से भयंकर आक्रमण किया जिससे मुस्लिम सेना में खलबली मच गई। परन्तु ऐसी स्थिति में भी गौरी हताश नहीं हुआ और वह अपनी सम्पूर्ण शक्ति के साथ राजपूतों पर टूट पड़ा। गौरी ने पृथ्वीराज के सामन्त दिल्ली के गोविन्दराज के ऊपर भाले का जोरदार प्रहार किया जिससे उसके दो दांत टूट गये। परन्तु गोविन्दराज ने साहस नहीं खोया और उसने अपनी पूरी ताकत के साथ गौरी पर कटारी का वार करके उसे बुरी तरह से घायल कर दिया। कुछ समय बाद ही गौरी अचेत हो गया और अपने घोड़े से गिरने वाला ही था कि उसके एक स्वामिभक्त खलजी सैनिक ने उसे देख लिया। वह कूदकर गौरी के पीछे चढ़ गया और सुल्तान को अश्व सहित सुरक्षित युद्धभूमि से बाहर ले आया। गौरी के पलायन करते ही मुस्लिम सेना के जल्दी ही पैर उखड़ गये और वह भाग खड़ी हुई। राजपूतों ने भागती हुई मुस्लिम सेना पीछा न्हीं किया जिससे वह भारी क्षति से बच गई। कुछ दिनों बाद राजपूतों ने तबर हिन्द पर आक्रमण किया और दुर्ग पर अपन अधिकार जमा लिया। गौरी के सेनानायक काजी जियाउद्दीन को बन्दी बनाकर अजमेर लाया गया परन्तु बाद में उसे सम्मान सहित रिहा कर दिया गया।

तराइन का प्रथम युद्ध यद्यपि पृथ्वीराज की सैनिक सफलता का चरमोत्कर्ष था, तथापि इस अवसर पर उसकी नीति की अधिकांश इतिहासकारों ने आलोचना की है। युद्ध से भागती हुई मुस्लिम सेना का पीछा न करना एक गंभीर भूल थी। इसी प्रकार, काजी जियाउद्दीन को भेंट–उपहार देकर रिहा करना भी उचित नहीं था क्योंकि ऐसी उदारता का मूल न तो सैनिक नियमों से था और न मुस्लिम युद्ध–प्रणाली से। मुहम्मद गौरी के लिए तराइन का युद्ध एक महान् अपमानजनक घटना थी। वह इस पराजय को भूल नहीं सका और प्रतिशोध लेने के लिए सैनिक तैयारी में जुट गया।

4.7.3 तराइन का द्वितीय युद्ध (1192 ई.) – प्रथम तराइन युद्ध में पराजित होने के बाद भी गौरी हताश नहीं हुआ और गजनी पहुंचते ही उसने देशद्रोही का अन्त किया एवं अपनी पराजय का बदला लेने हेतु 1192 ई. में दुबारा भारत पर आक्रमण किया। मोहम्मद गौरी 1 लाख 20 हजार सैनिक की एक विशाल सेना के साथ पहुंचा। तराइन के मैदान में पहुंचने के समय गौरी ने किवाम–उल मुल्क को पृथ्वीराज के पास अपना दूत बनाकर भेजा। साथ में एक पत्र भेजा गया जिसमें लिखा था कि इस्लाम को स्वीकार कर गौर की अधीनता को स्वीकार करो परन्तु पृथ्वीराज जैसे महत्वाकांक्षी कट्टर हिन्दू शासक ने घृणा से इस सुझाव को ठुकरा दिया तथा 30,000 घोड़े, 3,000 हाथी व भारी संख्या में पैदल सेना लेकर गौरी की सेना का मुकाबला करने के लिए 1192 ई. में तराइन के मैदान में आ डटा। इस अवसर पर भारत के कई राजाओं ने उसकी सहायता की, परन्तु कन्नौज के राजा जयचन्द ने पृथ्वीराज से ईर्ष्या के कारण साथ नहीं दिया।

राजपूतकालीन इतिहासकारों की मान्यता है कि द्वितीय तराइन युद्ध में मोहम्मद गौरी द्वारा पराजित किए जाने से पूर्व पृथ्वीराज 1178 से लेकर 1192 ई. तक मोहम्मद गौरी को 7 बार पराजित कर चुका था। फारसी भाषा के स्रोतों एवं राजस्थानी भाषा के स्रोतों में जो विभिन्नताएं पाई जाती है उनका आलोचनात्मक विवेचन करने के बाद यह कहा जा सकता है कि तराइन के द्वितीय युद्ध से 7 वर्ष पूर्व मोहम्मद गौरी व पृथ्वीराज की सेनाओं से छुट–पुट संघर्ष होते रहे होंगे। गौरी ने 1186 ई में लाहौर को अपने अधिकार में कर लिया था व इस्का प्रबन्ध काजीपुतुह को सौंप दिया गया था। उसके बाद से ही वह पृथ्वीराज की सेनाओं पर आक्रमण कर रहा था।

ऊतबी कृत जमाउल–हकीकत के पढ़ने से ज्ञात होता है कि मोहम्मद गौरी ने बड़ी सतर्कता के साथ प्रस्थान किया था। ऊतबी लिखता है कि द्वितीय तराइन युद्ध से पूर्व मोहम्मद गौरी ने पृथ्वीराज को भ्रम में डाल दिया था। इसके अतिरिक्त मुस्लिम सेना के खेमें में तराइन के युद्ध के पूर्व रात्रि को लकड़िया जलाई जा रही थी। जब प्रातःकाल के पूर्व राजपूत सैनिक नित्यकर्म में व्यस्त थे उस समय मुसलमानों ने राजपूतों को दबोच लिया। ताजुलमासिर का लेखक हसन निजामी लिखता है कि जब मोहम्मद गौरी ने आक्रमण किया उस समय पृथ्वीराज स्वयं गहन निद्रा में सोया हुआ था।

इतिहासकारों की मान्यता है कि मोहम्मद गौरी के शब्दों पर पृथ्वीराज को विश्वास नहीं करना चाहिए था कि वह स्वदेश (गौरी) लौटने की तैयारी कर रहा है। पृथ्वीराज ने ऐसा करले भूल की। वह स्वयं युद्ध के मैदान में चालाकी से कार्य लेने में अभ्यस्त था। जब उसने परमार शासक धारेश्वर पर आक्रमण किया था तो रात्रि के समय ही आक्रमण किया था, लेकिन फिर भी उसने गौरी के विरूद्ध एक नौसीखिए सेनानायक की प्रवृत्ति का परिचय दिया।

तराइन के मैदान में दोनों की सेनाओं के बीच में एक रक्तरंजित युद्ध लड़ा गया। गौरी ने अपनी सेनाओं को 5 भागों में विभक्त किया, जिसमें एक भाग को सुरक्षित रखा, शेष 4 भागों की पृथ्वीराज की सेना पर आक्रमण करने, फिर पीछे हटकर भागने और फिर लौटकर पुनः आक्रमण करनेका आदेश दिया। इस तरीके से पृथ्वीराज की सेना बहुत परेशान हो गई। दोपहर के बाद गौरी की सेना ने पृथ्वीराज की थकी सेना पर अपनी सुरक्षित सेना के पूरे जोश के साथ आक्रमण किया जिसके

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

फलस्वरूप पृथ्वीराज की पराजय हुई। तराइन के द्वितीय युद्ध में राजपूत सैनिकों को अपनी वीरता व शौर्य के प्रदर्शन का अवसर नहीं मिला एवं दोपहर तक पृथ्वीराज की समस्त सेना के पांव उखड़ चुके थ। दिल्ली का राज गोविन्दराज, जो पृथ्वीराज का कट्टर समर्थक था, युद्ध के मैदान में मारा जा चुका था। उसके धराशायी होने के बाद पृथ्वीराज भी मैदान छोड़कर भाग गया, परन्तु मुसलमानों ने पृथ्वीराज का पीछा किया उसे सरस्वती (आधुनिक सिरसा) के निकट बन्दी बनाया और बन्दी के रूप में ही उसकी राजधानी अजमेर तक लाया गया।

ताजुलमासिर का लेखक हसन निजामी लिखता है कि गौरी पृथ्वीराज को अजमेर का राज्य लौटाना चाहता था। इस कथन की पुष्टि प्रबन्धकोष व पृथ्वीराज विजय से भी होती है। दोनों अप्रकाशित पांडुलिपियां समकालीन कृतिया हैं। इसके अतिरिक्त दिल्ली की टकसाल में ढला हुआ मोहम्मद गौरी व पृथ्वीराज का सिक्का 1193 ई. का तारागढ के दुर्ग से प्राप्त हुआ है, उसके आधार पर अर्ली चौहान डाइनेस्टीज के लेखक डॉ. दशरथ शर्मा ने यह निष्कर्ष दिया है कि तराइन के युद्ध से पृथ्वीराज की पराजय के उपरान्त भी मोहम्मद गौरी और पृथ्वीराज के सम्बन्ध बने रहे। इस दृष्टिकोण से हम कह सकते है कि 14वीं शताब्दी में एक भाट के द्वारा लिखा गया था, जिसने ऐतिहासिक सत्य की अपेक्षा साहित्यिक कल्पना पर अधिक जोर दिया था। ताजुलमासि कर का लेखक लिखता है कि पृथ्वीराज को उसकी राजधानी अजमेर में ही तलवार के घाट उतारा गया था। हसन निजामी लिखता है कि उसे इस कारण मारा गया कि पृथ्वीराज इस्लाम के प्रति घृणित भावना रखता था। पृथ्वीराज के अजमेर में मारे जाने की पुष्टि समकालीन साहित्यिक ग्रन्थों से भी होती है।

4.7.4 युद्ध का महत्व और परिणाम – तराइन का द्वितीय युद्ध भार के लिए अभिशाप सिद्ध हुआ। युद्ध के बहुत ही गम्भीर परिणाम निकले जिन्होनें भारतीय इतिहास की धारा ही पलट दी और उसे एक ऐसे मार्ग पर ला पटका जिसमें वह पराधीनता के चंगुल में फंसता गया और सैकड़ों वर्षों बाद 1947 में जाकर स्वतन्त्र हो सका–वह भी तभी विभाजन की कीमत पर। तराइन के इस युद्ध के गम्भीर परिणामों को संक्षेप में निम्नवत् प्रस्तुत किया जा सकता हैं –

1. तराइन के द्वितीय युद्ध में पृथ्वीराज की पराजय के साथ–साथ दिल्ली और अजमेर पर चौहानों का लगभग 250 वर्ष पुराना शासन समाप्त हो गया।

2 इस विजय ने मोहम्मद गौरी के लिए भारत में मुस्लिम राज्य के प्रसार का मार्ग प्रशस्त कर दिया। दिल्ली को जीत कर मुस्लिम आक्रान्ता दो–आब की ओर बढ़ा। उसने कन्नौज को जीता, अनहिलवाड़ा पर अधिकार जमाया, अजमेर को मुस्लिम राज्य में मिलाया, बिहार और बंगाल के पाल तथा सेन राजाओं को भी अपने अधीन बनाया। इस प्रकार तराइन के इस युद्ध के बाद तेजी से सम्पूर्ण उत्तरी भारत पर मुसलमानों की विजय पताका फहराने लगी। डॉ. आशीर्वादीलाल श्री वास्तव ने 'दिल्ली सल्तनत' के पृष्ठ 77 पर ठीक लिखा है कि ''तराइन का दूसरा युद्ध भारतीय इतिहास में एक युग–परिवर्तनकारी घटना है। यह युद्ध निर्णायक सिद्ध हुआ और इससे मोहम्मद गौरी की भारत–विजय निश्चित हो गई। इसमें चौहानों की सैनिक–शक्ति को पूर्णतया भंग कर दिया गया। तराइन की विजय के उपरान्त मोहम्मद गौरी ने शीघ्र ही हांसी, कुहराम, सरस्वती आदि सैनिक महत्वपूर्ण स्थानों पर अधिकार कर लिया और उनकी रक्षा के लिए तुर्क सैनिक नियुक्त कर दिये। हमारे इतिहास में पहली बार मोहम्मद गौरी ने हिन्दुस्तान के बीचों–बीच एक विदेशी तुर्की राज्य की नींव डाल दी।''

3. हिन्दुओं में जो विभाजन की प्रवृत्ति थी उसका उन्हें फल मिला। मुस्लिम राज्य की स्थापना के पश्चात् स्वाभाविक रूप से हिन्दू जाति, विशेषतः राजपूत लोग पृष्ठभूमि में फैंक दिए गए व सामान्य व्यक्तियों के रूप में वे कभी भी संगठित नहीं हो सके।

4. तराइन के मैदान में हजारों की संख्या में हिन्दुओं का सर्वनाश हुआ। अधिकांशतः राजपूत योद्धा इस युद्ध में काम आ गये। इसके साथ–साथ मुसलमानों को हिन्दुओं के द्वारा संचित अपार धनराशि भी हाथ लगी।

5. इस निर्णायक युद्ध के फलस्वरूप न केवल भारत में मुस्लिम राज्य की स्थापना सुदृढ़ हो गई वरन् हिन्दू धर्म और धार्मिक संस्थानों के विनाश का खेल भी खुल कर खेला गया। डॉ. ए.एल. श्रीवास्तव के शब्दों में, ''सभी विजित स्थानों में हिन्दुओं के मन्दिर तोड़े गये और उनके स्थान पर मस्जिदें खड़ी की गई तथा मुस्लिम परम्परा के अनुसार सभी स्थानों में इस्लाम को राज्य–धर्म घोषित कर दिया गया। अजमेर में मुसलमानों ने मन्दिरों को ध्वस्त किया और विग्रहराज चौहान द्वारा संस्थापित प्रसिद्ध विद्यालय को मस्जिद में परिवर्तित कर दिया।''

6. तराइन के युद्ध में राजपूतों की पराजय का बौद्ध धर्म पर सीधा और भयानक प्रभाव पड़ा। मोहम्मद गौरी की सफलता बिहार में पूर्ण विकसित बौद्ध धर्म के विनाश का कारण बन गई। इतिहासकार स्मिथ ने "Oxford History of India" के पृष्ठ 236 पर लिखा है कि ''1200 ई. के बाद उत्तर भारत में बौद्ध धर्म के चिन्ह धुंधले और अस्पष्ट हैं।''

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

सार रूप में कहा जा सकता है कि तराइन के द्वितीय युद्ध में चौहान नरेश व राजपूतों की सम्मिलित शक्ति की पराजय से भारत में मुस्लिम साम्राज्य की नींव का मार्ग पूरी तरह प्रशस्त हो गया। यह कहना अतिशयोक्तिपूर्ण नहीं होगा कि तुर्कों की अगली विजये इस महत्वपूर्ण युद्ध का ही परिणाम थीं। इस युद्ध ने राजपूतों की राजनीतिक और सैनिक शक्ति को इतनी विनाशकारी चोट दी कि आगामी कुछ ही वर्षों में आक्रमणकारी सम्पूर्ण उत्तर–भारत को रोंदते हुए सुदूरपूर्वी सीमा तक फैल गए और देखते–देखते सारे भारत का राजनीतिक नक्शा ही बदल गया। इतिहासकार आर.सी.मजूमदार ने "The Struggle for Empire" में युद्ध के भयानक परिणामों को सारभूत रूप में चित्रित करते हुए लिखा है – ''तराइन के दूसरे युद्ध में पृथ्वीराज की पराजय ने केवल चौहानों के राज्य की शक्ति का ही नाश नहीं किया वरन् पूरे हिन्दू धर्म पर विनाश ला दिया। शासक कुमारों का साहस पूरी तरह टूट गया और सारा देश आतंक से जकड़ गया।''

4.8 पृथ्वीराज चौहान का मूल्यांकन :

चौहानवंशी शासकों में पृथ्वीराज तृतीय का महत्त्वपूर्ण स्थान है। वह वीर, साहसी और सैनिक प्रतिभाओं से युक्त शासक था। वह विद्वानों तथा कलाकारों का आश्रयदाता था। ''पृथ्वीराज विजय' का रचयिता जयानक, ''पृथ्वीराज रासो' का लेखक चन्दबरदाई, वागीश्वर, जनार्दन, आशाधर, पृथ्वीभट्ट आदि अनेक विद्वान, कवि एवं साहित्यकार उसकी राजसभा की शोभा बढ़ाते थे। पृथ्वीराज एक रसिक व्यक्ति था। उपर्युक्त गुणों के आधार पर इतिहासकार उसे एक अत्यधिक प्रतिभावान और रहस्यमय शासक मानते हैं।

अपने शासन के प्रारम्भिक काल में उसने शानदार सैनिक सफलताएं प्राप्त कर अपने आपको एक महान सेनानायक एवं विजयी सम्राट सिद्ध कर दिखाया। उसने न केवल विरासत में प्राप्त राज्य की सीमाओं का ही विस्तार किया अपितु आंतरिक विद्रोहों एवं उपद्रवों का दमन कर समूचे राज्य में शांति एवं व्यवस्था स्थापित करके उसे सुदृढ़ता भी प्रदान की। परन्तु इतना होते हुए भी उसमें अनेक दोष थे। उसमें कूटनीतिक सूझ–बूझ की कमी थी और वह राजनीतिक अहंकार से पीड़ित था। उसने दिग्विजय की नीति को अपनाकर अपने पड़ौसी शासकों को अपना शत्रु बना लिया। व्यक्तिगत प्रतिष्ठा अर्जित करने की लालसा में वह यह भी भूल गया कि पहले विदेशी शत्रु की समुचित व्यवस्था करना आवश्यक है और पड़ौसी राज्यों की सैनिक सहायता के बिना इस ध्येय की पूर्ति एक दुष्कर कार्य था। इस सन्दर्भ में डॉ. सत्यप्रकाश ने ठीक ही लिखा है कि, ''उसने मुस्लिम आक्रमण को कभी भी गम्भीरता से नहीं लिया ओर न ही अपने पड़ौसियों – गहड़वाल और चन्देल शासकों का सहयोग प्राप्त करने का प्रयत्न किया।'' 1178 ई. में चालुक्यों ने मुहम्मद गौरी को पराजित किया था और 1191 ई. में पृथ्वीराज ने उसे परास्त किया। यदि दोनों में सहयोग होता तो गौरी की क्या स्थिति होती ? इसी प्रकार पृथ्वीराज ने अकारण ही चन्देलों पर आक्रमण करके उन्हें गहड़वालों की तरफ धकेल दिया। वास्तविकता यह थी कि उसमें युवकोचित साहस एवं महत्त्वाकांक्षाएं तो थीं परन्तु सम्पूर्ण देश की राजनीतिक स्थिति और आवश्यकता को समझने योग्य परिपक्व बुद्धि का अभाव था। उसमें राजनीति और युद्ध में शत्रु को छकाने योग्य कूटनीति एवं कुशलता का भी अभाव था। जब गौरी भारतीय प्रदेशों पर आक्रमण कर रहा था तो उसने इस तरफ ध्यान न देकर अपने पड़ौसियों पर अपनी प्रभुसत्ता स्थापित करने के लिए उन पर सैनिक अभियान किये। तराइन के प्रथम युद्ध में उसे सफलता मिली थी परन्तु अवसर का लाभ उठाकर भागती हुई मुस्लिम सेना का पीछा कर उसे नष्ट करने का प्रयास नहीं किया और न ही आगे बढ़कर पंजाब पर अधिकार करने का ही प्रयत्न किया। इसके विपरीत वह भोग–विलास तथा विजयोत्सव में डूब गया। इसी प्रकार, तराइन के दूसरे युद्ध के पूर्व वह गौरी की कपटपूर्ण नीति को समझने में असफल रहा। उसने अपनी गुप्तचर व्यवस्था को सक्षम बनाने की तरफ भी विशेष ध्यान नहीं दिया। परिणाम यह निकला कि उसे गौरी के सैनिक शिविर की गतिविधियों की सूचना नहीं मिल पाई और गौरी ने उसे असावधान स्थिति में अचानक दबोच लिया। इन त्रुटियों के कारण ही उसका सर्वनाश हुआ। डॉ. दशरथ शर्मा लिखते है कि, ''उसको (पृथ्वीराज को) सैनिक भूलों के लिए क्षमा नहीं किया जा सकता। तराइन के युद्ध के ठीक पहले उसके आचरण न तो एक सुयोग्य योद्धा के थे, न एक सेनानायक के वरन् एक नये सिखतड़ के थे।'' वस्तुतः पृथ्वीराज चौहान अवसर के अनुकूल खरा नहीं उतर पाया। इसलिए उसे अपने युग का महान् शासक कहने से पहले उसके उपर्युक्त दोनों को ध्यान में रखना आवश्यक होगा।

4.9 बोध प्रश्न :

प्रश्न 1 तराइन का प्रथम युद्ध कब हुआ? अ. 1190 ई. ब. 1191 ई. स. 1192 ई. द. 1193 ई.

प्रश्न 2 पृथ्वीराज चौहान की प्रारम्भिक कठिनाइयां बताइये। (30 शब्द सीमा)

उत्तर – ....

प्रश्न 3 पृथ्वीराज चौहान के साम्राज्य विस्तार को बताते हुये तराइन के द्वितीय युद्ध में हार के कारणों को बताइये।

उत्तर – ....

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

संवर्ग – 2

इकाई – 5

राजपूत राज्यों में सामन्तवाद की विशेषताएँ

संरचना

5.0 उद्देश्य
5.1 सामन्तवाद व्यवस्था से तात्पर्य एवं भूमिका
5.2. सामन्त प्रथा का उद्‌भव
    5.2.1 प्रारम्भ में सामन्त व्यवस्था का स्वरूप
5.3 राजस्थान की सामन्त व्यवस्था की विशेषताएं
    5.3.1 समानता पर आधारित
    5.3.2 सामन्तों का राजा से रक्त सम्बन्ध
    5.3.3 सामन्ती व्यवस्था उत्थान व पतन, उनके राजाओं के साथ होना
    5.3.4 स्वामी–भक्ति
5.4 मुगल प्रभाव में राजस्थान की सामन्त व्यवस्था
5.5 राजस्थान में सामन्त व्यवस्था के विकसित होने के कारण
    5.5.1 हिन्दी उत्तराधिकार नियम
    5.5.2 राजपूत नरेशों की साम्राज्यवादी महत्त्वाकांक्षा
    5.5.3 राजपूत नरेशों का सदैव संघर्षरत रहना
    5.5.4 पुरस्कार वितरण के मध्काल में भूमि ही एकमात्र साधन था
    5.5.5 सामन्तों का विश्वसनीय एवं स्वामीभक्त होना
5.6 मुगलकाल में सामन्त प्रथा के स्वरूप में परिवर्तन
5.7 सामन्तों से ली जाने वाली सेवाएँ, कर और शुल्क
5.8 अन्य कर और शुल्क
    5.8.1 रेख
    5.8.2 उत्तराधिकार शुल्क
    5.8.3 अन्य कर
    5.8.4 अन्य उत्तराधिकार और सेवाएँ
5.9 सामन्तों के अधिकार, विशेषाधिकार
5.10 सामन्तों की श्रेणियां, पद और प्रतिष्ठा
5.11 सामन्तों की अन्य श्रेणियां–ग्रासिया और भौमिया
5.12 सामन्ती प्रथा से लाभ
    5.12.1 राज्य की सुरक्षा में सहायक
    5.12.2 राजस्व की वसुली में सहायक
    5.12.3 आर्थिक क्षेत्र में उपयोगी
    5.12.4 राजपूतों में एकता बनाए रखने में सहायक
    5.12.5 जीवन–यापन का साधन
    5.12.6 राज दरबार के गौरव के साधन
    5.12.7 नरेशों की स्वेच्छाचारिता पर अंकुश
5.13 सामन्त व्यवस्था से हानियाँ
    5.13.1 राजा का सामन्तों पर आश्रित रहना

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

5.13.2 अहंकारी एवं स्वाभिमानी सामन्त राजा के मार्ग में बाधक
5.13.3 भूमि का बंटवारा
5.13.4 राज्यों का विकास अवरुद्ध होना
5.13.5 सामन्ती व्यवस्था असमानता की पोषक
5.13.6 सामन्तों का जीवन विलासी एवं निष्क्रिय होना
5.14 सारांश
5.15 बोध प्रश्न

5.0 उद्देश्य :

इस इकाई का मुख्य उद्देश्य प्राचीन काल से चली आ रही राजस्थान में सामन्तवादी प्रथा की महत्त्वपूर्ण विशेषताओं का विस्तृत उल्लेख करना है तथा साथ ही सामन्तों के महत्त्वपूर्ण अधिकार, कर्त्तव्य, लाभ और हानियों से भी पाठकों को अवगत कराना है।

5.1 सामन्तवाद व्यवस्था से तात्पर्य एवं भूमिका :

राजस्थान की सामाजिक व्यवस्था में सामन्त पद्धति अपना विशेष स्थान रखती है। राजस्थान के राज्यों में आरम्भ से ही राजतन्त्र व्यवस्था प्रचलित रही है और सामन्त व्यवस्था इस राजतन्त्र प्रणाली का ही एक प्रतिफल है। सामन्त पद्धति एक प्रकार की सामाजिक–राजनीतिक व्यवस्था का रूप थी जिसमें नेता के रूप में एक राजा रहता था और उसके साथ उसके अपने कुल के वंशज या अन्य राजपूत कुल के वंशज उसके साथी और सहयोगी के रूप में रहते थे। राज्य का स्वामी एक होता था जो राजा कहलाता था। राज्य का स्वामी अधिकांशतः मृत राजा का ज्येष्ठ पुत्र होता था। उसके अन्य भ्राता भी अपने जीवन यापन तथा अस्तित्व के लिए उस राज्य के कुछ भागीदार होने का अधिकार रखते थे। अतः राजा अपने भाइयों व अन्य समीप के सम्बन्धियों को उनकी जीविका के लिए अपने राज्य में से कुछ भूमि जागीर के रूप में देता था। उस भूमि पर जागीर प्राप्ति का जन्म–जात अधिकार हो जाता था और वे अपने को राजा के समकक्ष की समझते थे। जागीरों के माध्यम से अपना भरण–पोषण करने वाले ये राजपूत ही सामन्त कहलाते थे। यहां राजा और सामन्तों के सम्बन्ध यूरोप के सामन्तों की भांति दास और स्वामी के न होकर बराबरी के होते थे। यह सामन्त व्यवस्था राजस्थान में स्वतन्त्रता प्राप्ति के कुछ समय उपरान्त तक बनी रही।

5.2 सामन्त प्रथा का उद्भव :

मध्ययुगीन राजस्थान के सामाजिक जीवन में सामन्त प्रथा का अपना एक विशेष स्थान रहा है। इस प्रथा का जन्म कब और किन परिस्थितियों में हुआ, इसका उत्तर काफी विवादास्पद है। परन्तु इतना निश्चित है कि इसका जन्म राजपूत राज्यो की स्थापना के साथ ही हो गया था, क्योंकि यह प्रथा राजपूत राज्यो की सैनिक व्यवस्था और संगठन के साथ जुड़ी हुई थी। राजपूताने में राजपूत जाति के विविध कुलों ने ज्यों–ज्यों अपने राज्यों की स्थापना की, उसके साथ ही राज्यों में व्यवस्था बनाये रखने तथा बाह्य आक्रमणों से राज्य की सीमा को सुरक्षित रखने के लिए राजाओं ने अपने परिजनों, कुलीय सम्बन्धियों तथा अपने विश्वस्त सेनानायकों एवं अधिकारियों को जागीरें देकर अपना सामन्त बना लिया। ज्यों–ज्यों राज्यों का विस्तार होता गया, त्यों–त्यों इन सामन्तों की जागीरों और अधिकारों में वृद्धि होती गई तथा नये सामन्तों की संख्या भी बढ़ती गई।

5.2.1 प्रारम्भ मे सामन्त व्यवस्था का स्वरूप – उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट है कि आरंभ में कुलीय व्यवस्था होने के कारण सामन्त बहुत शक्तिशाली थे। अपनी जागीर की व्यवस्था करने के अलावा वे राजा को प्रशासन, शान्ति व व्यवस्था बनाये रखने में भी सहायता देते थे। राजा सामन्तों के प्रभाव में इतना था कि वह उनकी इच्छा के विरूद्ध कुछ भी नहीं कर सकता था। उत्तराधिकारी के प्रश्न में सामन्त प्रमुख भूमिका निभाते थें सामन्त कभी–कभी अपने को इतना प्रभावशाली एवं शक्तिशाली समझ बैठते थे कि वे अपने राजा की आज्ञा की अवज्ञा भी करने से नहीं हिचकते थे। उदाहणार्थ, मारवाड़ के राव सूजा ने जब अपने पौत्र वीरम को अपना उत्तराधिकारी मनोनित कर दिया तो उसके सामन्तों ने उसे अयोग्य समझते हुए उसके (वीरम) भ्राता गंगा को मारवाड़ का राव बना दिया। इसी प्रकार राव जोधा की मृत्यु पर उसके ज्येष्ठ पुत्र जोगा को गद्दी नसीन न करके सातल को राजा बना दिया। सामन्तों द्वारा इस प्रकार का हस्तक्षेप केवल मारवाड़ में ही नहीं था वरन् राजस्थान के अन्य राज्यों में भी था।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

राजस्थान में सामन्त व्यवस्था प्रबल ही नहीं थी वरन् व्यापक भी थी। डॉ. आर.पी.व्यास का कहना है कि राजस्थान के राज्यों के कुल क्षेत्र का लगभग 80 प्रतिशत भू–भाग सामन्तों के अधिकार में था। सामन्तों को जागीर में बंजर भूमि के प्रदेश ही नहीं दिए जाते थे वरन् उपजाऊ प्रदेश भी उन्हें जागीर में दिए जाते थे। परन्तु नरेशों के महत्त्वाकांक्षी होने के कारण व प्रशासनिक भार बढ़ने के कारण खर्चे में जब वृद्धि होने लगी तो उन्होंने सामन्तों की अधीनस्थ भूमि को अपने आधीन करने हेतु खालसा भूमि में बढ़ोतरी करना आरम्भ किया। सामन्तों ने अपने नरेशों की इस नीति का खुलकर विरोध किया। इससे सामन्तों व नरेशों के बीच सम्बन्धों में तनाव उत्पन्न होने लगा। राजा अपनी शक्ति व प्रतिष्ठा में वृद्धि करने हेतु सामन्तों के अधिकारों पर कुठाराघात करने का प्रयास करने लगे। इसके विपरीत सामन्त स्वकुलीय व्यवस्था को ज्यों की त्यों बनाये रखना चाहते थे। इसी विषय को लेकर मारवाड़ के राव गांगा व उसके सामन्तों के बीच ठन गई थी, परन्तु सामन्त उसके समय में इतने शक्तिशाली हो गये थे कि वे स्वतन्त्र शासक की भांति व्यवहार करने लग गये थे। राव गांगा उनकी शक्ति का दमन नहीं कर सका और जब मालदेव ने उनके अधिकारों पर प्रहार किया तो उसे इसके दुष्परिणाम भुगतने पड़े। अतः स्पष्ट है कि राजस्थान के सामन्त प्रभावशाली एवं शक्तिशाली थे।

5.3 राजस्थान की सामन्त व्यवस्था की विशेषताएं :

स्पष्ट है कि राजस्थान की सामन्ती व्यवस्था कोई मौलिक व्यवस्था नहीं थी। इससे पूर्व यह यूरोप में फलीभूत हो चुकी थी। परन्तु राजस्थान की सामन्त व्यवस्था अपनी कुछ मौलिक विशेषताएं रखती थी। उनमें से कतिपय निम्नलिखित हैं –

5.3.5. समानता पर आधारित – जैसा कि इससे पूर्व में स्पष्ट किया जा चुका है कि राजस्थान की सामन्त पद्धति समानता के सिद्धान्त पर अधारित थी। यहां राजा व सामन्तों के सम्बन्ध दास व स्वामी के सिद्धान्त पर आधारति न होकर समानता के अधार पर आधारित थे। सामन्त अपने को राजा के दास न समझकर उसके समकक्ष समझते थे। जागीर मिलना राजा की अनुकम्पा का प्रतिफल न मानकर सामन्त अपने अधिकार का प्रतिफल मानते थे।

5.3.2. सामन्तों का राजा से रक्त सम्बन्ध – राजस्थान के अधिकांश सामन्तों का सम्बन्ध उनके राजा से रक्त का होता था। उन्हें जागीर इसलिए दी जाती थी कि वे राजा के भाई–बन्धु या सम्बन्धी ही होते थे। इनके अलावा कुछ ही सामन्त ऐसे होते थे जिन्हें राजा उनकी वीरता तथा धार्मिक निष्ठा के कारण जागीर प्रदान करता था। इसीलिए वे अपने राजा की सुरक्षा के लिए मर–मिटना अपना कर्त्तव्य समझते थे। अन्य सामन्त राजा को अपने ही कुल का एक सदस्य मानते थे।

5.3.3. सामन्ती व्यवस्था उत्थान व पतन उनके राजाओं के साथ होना – राजस्थान के नरेशों के उत्थान का इतिहास वहां के सामन्तों के उत्कर्ष का इतिहास है। इसी प्रकार उनका पतन भी राजाओं के साथ ही हुआ। यूरोप का इतिहास इससे भिन्न है। वहां के राजा व सम्राट अपने सामन्तों की शक्ति का दमन करके ही शक्तिशाली हुए। राजस्थान में ऐसा बहुत कम मात्रा में हुआ। यहां राजा व उसके सामन्तों के बीच शक्ति की प्रतिद्वन्द्विता कम रही है।

5.3.4. स्वामी–भक्ति – सामन्त व राजाओं के सम्बन्धों में निःसन्देह उतार–चढ़ाव आते रहे – परन्तु सामन्त सदा अपने राजा के परम–भक्त बने रहे। हालांकि जोधपुर के सामन्त बहुत शक्तिशाली थे। उन्होंने अपने राजा की इच्छा का कई बार विरोध भी किया। परन्तु ऐसे अवसर बहुत कम आये जब सामन्तों ने कठिनाई के समय अपने स्वामी का साथ न दिया हो। इसी प्रकार की घटनाएं हमें राजस्थान के अन्य राजाओं के राज्यों में भी मिलती हैं वक्त पड़ने पर सामन्तों ने अपने राजा का पूरा साथ देकर राज्य में शान्ति व व्यवस्था बनाये रखने में सहयोग दिया।

5.4 मुगल–प्रभाव में राजस्थान की सामन्त व्यवस्था :

कर्नल टॉड ने तो राजस्थानी सामन्त व्यवस्था को यूरोप की सामन्त व्यवस्था से प्रभावित सिद्ध करना चाहा है। यद्यपि यूरोप की सामन्त–व्यवस्था का प्रभाव तो राजस्थान कीसामन्त पद्धति पर नहीं पड़ा, परन्तु मुगल प्रशासन का उस पर प्रभाव अवश्य पड़ा है। राजस्थान के राजपूत नरेश ज्योंहि मुगलों की दासता में गये कि उनकी सामन्त व्यवस्था में परिवर्तन आने लगा। राजस्थान के सामन्त अब राजा के समकक्ष न रहकर उनकेसेवक के रूप में रहने लगे। राजपूत नरेश मुगल सेना की सहायता से अपने सामन्तों की शक्ति को कम करने लगे। यदि कोई सामन्त अपने राजा के विरूद्ध सिर उठाने का साहस करता तो उसे मुगल सेना की सहायता से दबा दिया जाता था। कहने का तात्पर्य यह कि राजस्थान के राजा अब अपने यहां शान्ति व व्यवस्था बनाये रखने में अपने सामन्तों की सैनिक सहायता पर निर्भर न रहकर मुगल सेना पर निर्भर रहने लगे थे।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

पड़ौसी राज्यों के झगड़े मुगल सम्राट की मध्यस्थता से तय होने लगे। इस कारण भी राजा अब अपने सामन्तों की सैनिक सहायता पर कम निर्भर रहने लगे। उदाहरणार्थ – मारवाड़ के मोटा राजा उदयसिंह को लीजिए। उसने अकबर की दासता स्वीकार कर अपने प्रतिद्वन्द्वी भ्राता चन्द्रसेन के समर्थक सामन्तों को मुगल सेना की सहायता से दबा दिया था। राजपूत नरेश दिल से मुगल सेवा करके जब उच्च मनसब पदों पर आसीन होने लगे तो वे अपने सामन्तों पर सैनिक दृष्टि से आश्रित न रहकर उनको प्रदत्त जागीर की आय के अनुसार उनसे सैनिक सहायता प्राप्त करने लगे।

सैनिक सेवा के सम्बन्ध में कुछ हेर–फेर के साथ सामान्यतः सभी राज्यों में एक से नियम थे। उदाहरणार्थ – मारवाड़ में सामन्त 1000 रूपये की रेट पर एक घुड़सवार, 750 रूपये पर एक सुतर संवार और 500 रूपये पर एक पैदल सिपाही राजा की सेवार्थ रखता था। मेवाड़ में 1000 रूपये पर दो घुड़सवार और चार पैदल सिपाही तीन महीने के लिए राणा की सेवा में भेजने पड़ते थे। जयपुर राज्य में एक हजार रूपये पर एक घुड़सवार तथा एक पैदल राजा की सेवा में सामन्त भेजता था। जैसलमेर के सामन्तों की आय बहुत कम होती थी। इस कारण उन्हें राजा की चाकरी में सैनिक भेजना आवश्यक नहीं था।

मध्यकालीन इतिहास साक्षी है कि मेवाड़ के महाराणाओं ने मुगल दासता स्वीकार नहीं की थी। इस कारण मेवाड़ की सामन्त व्यवस्था भी मुगल–प्रशासन से प्रभावित नहीं हुई। यहां के सामन्त मुगल–काल में शक्तिहीन न होकर उल्टे शक्तिशाली बने। इसका प्रमुख कारण राणा का मुगलों से निरन्तर संघर्ष करना था। अतः मेवाड़ के महाराणा तो अपने सामन्तो की सैन्य–शक्ति पर अधिक आश्रित हो गये। राणा ने अपने सामन्तों के गांवों में हेरा–फेरी करना भी बन्द कर दिया। एक स्थान पर स्थायी रूप से बसने के कारण भी मेवाड़ के सामन्त शक्तिशाली एवं प्रभावशाली हो गये थे। दरबार में प्रथम श्रेणी के सामन्तों की कुर्सी राज्य के युवराज के भी आगे लगती थी। अतः स्पष्ट है कि मुगल–काल में मेवाड़ के सामन्त राजस्थान के अन्य राज्यों की भांति निर्बल नहीं बने वरन् वे अधिक शक्तिशाली व प्रभावशाली बन गये।

5.5 राजस्थान में सामन्त व्यवस्था के विकसित होने के कारण :

5.5.1. हिन्दू उत्तराधिकार नियम – हिन्दू उत्तराधिकार–नियम के अन्तर्गत राजा के मरने के उपरान्त उसकी गद्दी उसके ज्येष्ठ पुत्र को ही मिलती थी। अतः जब ज्येष्ठ पुत्र पिता की गद्दी पर आसीन हो जाता था तो उसे अपने कनिष्ठ भ्राताओं के जीवन–यापन के लिए जागीर देना आवश्यक था। इस प्रकार राजाओं के छोटे–पुत्र सामन्त बनते ही चले गये।

5.5.2. राजपूत नरेशो की साम्राज्यवादी महत्त्वाकाक्षा – राजस्थान के राजपूत नरेश पृथ्वीराज चौहान व राणा सांगा की भांति महत्त्वाकांक्षी होते थे। वे एक विशाल साम्राज्य के स्वामी बन कर राज्य करना चाहते थे। विशाल साम्राज्य की स्थापना के उपरान्त राजपूत नरेशों को अपनी राजधानी से दूरस्थ प्रदेशों पर अपने प्रशासक नियुक्त करने पड़ते थे। वहां के प्रशासन का उत्तरदायित्व नरेश अपने अनुज व अन्य समीप के सम्बन्धियों को सौंपना पसन्द करते थे। नरेश उनको नकद में वेतन न देकर भूमि सौंप दिया करते थे। उस भूमि के किसानों से लगान वे राजा के प्रतिनिधि ही वसूल करते थे ओर एक निर्धारित धन राशि राजा के कोष में जमा करा देते थे। प्रशासन की इस व्यवस्था से भी जागीरदारी व सामन्त व्यवस्था विकसित हुई।

5.5.3. राजपूत नरेशों का सदैव संघर्षरत रहना – राजपूत राजा स्वाभिमानी होते थे। वे किसी के परीध् ीन रहना पसन्द नहीं करते थे। इस कारण राजस्थान के नरेश सदैव आपस में ही संघर्ष करते रहते थे। संघर्ष में विजयी होने की अभिलाषा से रापजूत नेरश अपने लघु भ्राताओं तथा सम्बन्धियों को भूमि देकर बदले में सैनिक सहायता मांगते थे। अतः जागीर देते समय इस बात का ध्यान रखना पड़ता था कि भूमि लेने वाला उनके प्रति स्वामी भक्त रहेगा या नहीं। इस कारण नरेश जागीर अपने विश्वसनीय भ्राताओं को ही देना पसन्द करते थे। इस प्रकार राजपूत नरेशों को अपने राज्यों में सामन्त व्यवस्था को पल्लवित करना पड़ा।

5.5.4. पुरस्कार वितरण के मध्यकाल में भूमि ही एक मात्र साधन था – कई बार राजा युद्ध में अपूर्व वीरता एवं स्वामी–भक्ति प्रदर्शित करने के उपलक्ष्य में भी लोगों को पुरस्कृत करना चाहते थे। मध्यकाल से आधुनिक काल तक तो पुरस्कार में भूमि देना ही सर्वोत्तम समझते थे। इस प्रणाली के अन्तर्गत भी राजपूत नरेशों को अपनी भूमि का वितरण करना पड़ता था और इसके परिणामस्वरूप उसे बहुत से सामन्त बनाने पड़ते थे।

5.5.5. सामन्तों का विश्वसनीय एवं स्वामी–भक्त होना – एक रक्त से सम्बन्धित होने के कारण सामन्त अपने स्वामी नरेशों के परम–स्वामी भक्त होते थे। इस कारण राजा भी अपनी भूमि को अपने सामन्तों को देने में नहीं हिचकिचाते थे।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

5.6 मुगलकाल में सामन्त प्रथा के स्वरूप में परिवर्तन :

16वीं शताब्दी ई. में राजस्थान में मुगल आधिपत्य होने तथा यहां के शासकों द्वारा मुगल संरक्षण स्वीकार कर लेने के बाद यहां की सामन्त व्यवस्था में अनेक परिवर्तन आये। अकबर और परवर्ती मुगल सम्राटों ने राजपूत राजाओं पर अपना पूर्ण आधिपत्य स्थापित करने के उद्देश्य मुगल सम्राटों ने राजपूत राजाओं पर अपना पूर्ण आधिपत्य स्थापित करने के उद्देश्य से राजपूत राज्यों के उत्तराधिकारी सम्बन्धी मामलों में विशेष रूचि ली और उसमें हस्तक्षेप करके अपने कृपापात्रों को राजा बनाया। सम्राट अकबर ने किसी राजपूत राजा की मृत्यु होने पर उसके उत्तराधिकारी के ललाट पर 'टीका' लगाकर उसके उत्तराधिकार को मान्यता देने की प्रथा आरम्भ की। यद्यपि प्रायः मृत राजा ने ज्येष्ठ पुत्र अथवा उसके द्वारा मनोनीत उत्ताराधिकारी को सम्राट की ओर से 'टीका (मान्यता) मिल जाता था। किन्तु विवादास्पद उत्तराधिकारी के मामले तथा ज्येष्ठ और मनोनीत उत्तराधिकारी की मुगल साम्राज्य के प्रति निष्ठा और स्वामिभक्ति में सन्देह होने की स्थिति में मुगल सम्राट अपने कृपापात्र उम्मीदवार को राज्य का टीका देकर उत्तराधिकारी के रूप में मान्यता दे देते थे। मुगल सम्राटों की इस प्रथा और नीति में उत्तराधिकारी के सम्बन्ध में कुलीय सामन्तों की मान्यता का अधिकार प्रभावहीन हो गया क्योंकि मुगल सम्राट द्वारा मान्यता प्राप्त प्रत्याशी का विरोध करना सामन्तों के लिये सम्भव नहीं था जिससे सामन्तों का महत्व कम हो गया।

मुगल संरक्षण ने राजपूत शासकों और उनके सामन्तों के पारस्परिक सम्बन्ध को भी पूर्णतया परिवर्तित कर दिया। पहले सामन्त राजा के समकक्ष थे और राजा केवल बराबर वालों में प्रथम था। किन्तु अब सामन्तों और राजा के सम्बन्धों का रूप सेवक ओर स्वामी का हो गया। पूर्व व्यवस्था में राजाओं के पास कोई स्थायी सेना नहीं होती थी। अतः उन्हें अपने अस्तित्व व राज्य की रक्षा व राज्य विस्तार के लिये अपने सामन्तों की सेना पर निर्भर रहना पड़ता था। इसलिये राजा अपने सामन्तों के परम्परागत सम्मान और अधिकारों का आदर करता था। सामन्त भी राजा व राज्य के प्रति स्वामिभक्त और निष्ठावान रहते थे। किन्तु मुगल संरक्षक स्वीकार करने के बाद राजा को अब अपने राज्य की रक्षा तथा वहां शान्ति और व्यवस्था बनाये रखने के लिए केवल अपने सामन्तों पर ही निर्भर नहीं रहना पड़ता था वरन् इसके लिए वह अब मुगल सम्राट का सहयोग ले सकता था। राज्य विस्तार की आकांक्षा और पड़ौसी राज्यों से झगड़े तो मुगल सम्राटों के संरक्षण और मध्यस्थता से वैसे ही समाप्त हो गये थे। इस कारण भी राजाओं की सामन्तों पर सैनिक निर्भरता कम हो गई। इन स्थितियों में राजपूत राजाओं ने भी मुगलों की भांति अपने सामन्तों पर निरंकुश नियन्त्रण स्थापित करने का प्रयास किया। मारवाड़ में मोटा राजा उदयसिंह ने मुगल संरक्षण स्वीकार करने के बाद उन सभी सामन्तों को दण्ड दिया जो उसके प्रतिद्वन्द्वी भाई चन्द्रसेन के सहयोगी थे। शासकों की इस नीति से सामन्तों की शक्ति को गहरा आघात लगा। यही नहीं मुगल संरक्षण के बाद राजाओं ने अपने सामन्तों को सैनिक सहयोगियों और अधीनस्थ सहायकों के रूप में परिवर्तित कर दिया। अब सामन्तों की आय का मुल्यांकन किया गया और उसी के अनुपात में उनके सैनिक सहयोग की न्यूनतम सीमाएं निर्धारित की गई। मुगलों की भांति राजपूत राजाओं ने भी अपने सामन्तों के उत्तराधिकार की परम्परागत व्यवस्था में हस्तक्षेप करके उस पर अधीनस्थ शासकों की भांति नियन्त्रण स्थापित 'हुक्मनामा' तथा 'नजर' आदि प्रथाएं प्रचलित की। साथ ही सामन्तों की आर्थिक स्थिति को नियन्त्रित रखने के लिये उन पर विभिन्न प्रकार के नवीन कर लगाये गये जबकि इससे पूर्व सामन्त राज्य रक्षा और राज्य–विस्तार के लिये राजा की तरफ से युद्ध में भाग लेते थे और इस सेवा के अतिरिक्त उनसे अन्य कोई कर नहीं लिया जाता था। इसी प्रकार मुगलों की मनबदारी प्रथा की भांति राजपूत राजाओं ने भी सामन्तों को उनकी जागीर की आय, पद ओर प्रतिष्ठा आदि के आधार पर विभिन्न श्रेणियों में विभाजित किया। इन समस्त कार्यों से सामन्तों के राजा के साथ सम्बन्धों में पर्याप्त परिवर्तन आ गया। अब सामन्त सेवक और राजा उनका स्वामी हो गया। किन्तु इन सबके विपरीत इस काल में मेवाड़ के सामन्तों की शक्ति में वृद्धि हुई क्योंकि मेवाड़ द्वारा मुगलों के विरूद्ध किये जा रहे अनवरत् संघर्ष में राणा की शक्ति का आधार सामन्त ही थे। राणा सामन्तों के सहयोग के कारण ही शाही सेना का मुकाबला करने में सक्षम हुआ था। मुगलों से सन्धि और उसके बाद राणा के मुगल सम्राट से अलगाव के कारण मुगल दरबार में राणा का महत्व कम हो गया। फलतः सामन्तों ने अपनी शक्ति बढ़ा ली। यही नहीं मेवाड़–मुगल संधि के पूर्व मेवाड़ में सामन्तों की जागीर में मुख्य गांवों को छोड़कर अन्य गांवों की अदला–बदली होती रहती थी। किन्तु अनवरत् संघर्ष से सामन्तों के योगदान और संघर्ष से उत्पन्न परिस्थितियों के कारण राणा ने यह व्यवस्था समाप्त कर दी और सामन्तों की जागीरे स्थायी कर दी जिससे सामन्तों की शक्ति में वृद्धि हुई। यहां तक की राणा के दरबार में प्रथम श्रेणी के सामन्त का स्थान युवराज (उत्तराधिकारी) से भी अधिक हो गया।

मुगल सर्वोच्चता के युग में मुगलों ने सभी राजपूत राज्यों पर अपना प्रभावशाली नियंत्रण रखा और उन्हें परस्पर एक–दूसरे से नहीं लड़ने दिया। यही नहीं उनके पारस्परिक झगड़ों को भी उन्होंने मध्यस्थता करके सुलझा दिया। किन्तु

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

औरंगजेब की मृत्यु के बाद अर्थात 18वीं शताब्दी ई. के आरम्भ में मुगल साम्राजय का गौरव सूर्य अस्ताचल की ओर चल पड़ा। फलतः सशक्त केन्द्रीय नियंत्रण के प्रभाव में राजपूत शासकों की महत्त्वाकांक्षाओं, अनाधिकार चेष्टाओं और पारस्परिक प्रतिस्पर्द्धाओं को रोकने वाली कोई शक्ति नहीं रही। अतः इस काल में उनके कुलीय संघर्ष पुनः आरम्भ हो गये तथा शासकों की व्यक्तिगत महत्त्वांकाक्षाएं और रियासतों की प्रतिस्पद्धाएं पुनः जागृत हो गई। ऐसी स्थिति में राजपूत राजाओं को पुनः अपने सामन्तों की सहायता और सहयोग पर निर्भर होना पड़ा। फलतः सामन्तों ने भी अपने पुरातन अधिकारों को पुनः स्थापित करने का प्रयत्न किया जिसमें उत्तराधिकार के निर्णय में भाग लेना महत्त्वपूर्ण था। किन्तु शासकों के लिये सामन्तों का पुनः शक्तिशाली होना असहनीय था, अतः उन्होंने सामन्तों के दबाव से मुक्त होने तथा अपनी महत्त्वाकांक्षाओं की पूर्ति और अपनी निरंकुशलता को सुदृढ़ बनाने के लिये मराठों का सहयोग लिया। किन्तु यह सहयोग कालान्तर में विनाशकारी सिद्ध हुआ और अन्ततः राजपूत शासकों को ब्रिटिश संरक्षण स्वीकार करना पड़ा। इस संरक्षण ने अन्ततोगत्वा दोनों ही पक्षों को शक्तिहीन बना दिया।

5.7 सामन्तों से ली जाने वाली सेवाएं, कर और शुल्क :

5.7.1 सैनिक सेवाएं — सामन्त प्रथा के उदय काल से ही सामन्तों द्वारा राज्य को दी जाने वाली सैनिक सेवाएं, सामन्तों और शासकों के पारस्परिक सम्बन्धों की आधारशिला थी। प्रारम्भ में सामन्त राजा को युद्ध में इसलिये सैनिक सहायता देते थे क्योंकि राजा से उनका व्यक्तिगत और रक्त सम्बन्ध था और राज्य सामूहिक धरोहर था जिसकी रक्षा करना उनका कर्त्तव्य था। इस लिये सैनिक सेवा के लिये कोई मापदण्ड निर्धारित नहीं थे। किन्तु मुगल सम्पर्क के फलस्वरूप राजपूत शासकों ने सामन्तों अपने सैनिक सहयोगियों के रूप में परिवर्तित कर दिया और वे सामन्तों को प्रदत्त जागीर की आय के आधार पर उनसे सैनिक सेवा प्राप्त करने लगे। ये सैनिक सेवा दो प्रकार की थी — (1) युद्धकालीन सेवा और (2) शान्तिकालीन सेवा। युद्ध के समय सामन्तों को अपने दल–बल सहित शासक की सहायता में उपस्थित होना पड़ता था और शान्तिकाल में सामन्त राज्य में शान्ति और व्यवस्था बनाये रखने के लिये अपनी जागीर की आय के अनुसार सैनिक और सवार राजा की सेवा में भेजता था। विभिन्न राज्यों में सैनिक सेवा के भिन्न–भिन्न मापदण्ड थे। मारवाड़ (जोधपुर) में एक हजार रूपये वार्षिक आय पर सामन्त को एक घुडसवार, साढ़े सात सौ की आय पर एक शुतर सवार और पांच सौ की आय पर एक पैदल सैनिक से राज्य की सेवा करनी पडती थी। मेवाड़ में प्रत्येक सामन्त को एक हजार की आय पर दो घुड़सवारों और चार पैदल सैनिकों को तीन महीने के लिये राज्य की सेवा में भेजना पड़ता था। जयपुर में एक हजार की आय पर एक सवार और एक पैदल सैनिक तथा पांच सौ की आय पर एक सवार से राज्य की सेवा करनी पड़ती थी। बीकानेर में सैनिक सेवा के लिये कोई निश्चित नियम नहीं था। भिन्न–भिन्न शासकों ने इस सम्बन्ध में भिन्न–भिन्न मापदण्ड निर्धारित किये थे। जैसलमेर में सामन्तों की अल्प आय के कारण उन्हें अनिवार्य सैनिक सेवा नहीं देनी पड़ती थी और युद्ध काल में ली गई सैनिक सेवा के लिये राजा को सैनिकों के वेतन का भुगतान करना पड़ता था।

5.7.2 अन्य कर और शुल्क — मुगल सम्पर्क के पूर्व सामन्तों से सैनिक सेवा के अतिरिक्त अन्य कोई कर या शुल्क नहीं लिया जाता था। किन्तु मुगल काल में सामन्तों की आश्रित स्थिति में उन पर अनेक कर और शुल्क लगा दिये गये जिनमें रेख, हुक्मनामा (उत्तराधिकार शुल्क), न्यौत आदि प्रमुख थे मुगलों के पतन के पश्चात् मराठों के आक्रमणों और उनकी आर्थिक मांगों ने राजपूत शासकों को सामन्तों के धन संग्रह करने के लिये बाध्य किया। फलतः उन्होंने सामन्तों पर अनेक नये कर लगाये जिनमें रेख, हुक्मनामा, न्यौत आदि प्रमुख थे।

5.7.3 रेख — राजपूत शासकों ने भी मुगल परम्परा के अनुरूप अपने सामन्तों की जागीर की अनुमानित आय का निर्धारण किया जिसे 'रेख' कहा जाता था। वस्तुत 'रेख' वह मापदण्ड था जिसके आधार पर सामन्तों की सैनिक सेवा, उत्तराधिकार शुल्क, न्यौता शुल्क आदि निर्धारित किये जाते थे। सर्वप्रथम मारवाड़ में सूरसिंह, के शासनकाल (1595–1619 ई.) रेख शब्द का प में रेख का निर्धारण किया गया। मारवाड़ में रेख शब्द का प्रयोग दो रूपों में हुआ है — (1) पट्टा रेख और (2) भरतु रेख। 'पट्टा रेख' जागीर की अनुमानित वार्षिक आय थी जिसका उल्लेख जागीर के पट्टे में होता था और 'भरतु रेख' वह राशि थी जो सामन्त राज्य के कोष में जमा करता था। यह राशि भिन्न–भिन्न राज्यों में भिन्न–भिन्न कालों में अलग–अलग थी। किन्तु प्रायः राज्य की ओर से एक हजार की वार्षिक आय पर 150 रूप से 500 रू. तक की राशि रेख के रूप में ली जाती थी।

5.7.4 उत्तराधिकार शुल्क — मुगल प्रभाव के फलस्वरूप राजपूत राजाओं ने भी अपने सामन्तों पर उत्तराधि

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

ाकार शुल्क लगाया जो राज्य की ओर से सामन्त के उत्तराधिकारी से वसूल किया जाता था। यह शुल्क भिन्न–भिन्न राज्यों में भिन्न–भिन्न नामों से प्रचलित था। उदाहरणार्थ मारवाड़ में यह पहले 'पेशकशी' और फिर 'हुक्मनामा', मेवाड़ में 'तलवार बंधाई' और 'कैद खालसा', बीकानेर में 'पेशकशी' और जयपुर में इसे 'नजराना' कहा जाता था। सर्वप्रथम मारवाड़ के शासक मोटा राजा उदयसिंह ने पेशकशी के रूप में उत्तराधिकार शुल्क प्रचलित किया। सामन्त की मृत्यु होने पर उसकी जागीर अस्थायी रूप से जब्त कर ली जाती थी और उसके उत्तराधिकार द्वारा पेशकशी की राशि देने पर उसे जागीर का नया पट्टा प्रदान कर दिया जाता था। सूरसिंह के काल (1595–1619 ई) में पेशकशी की दर जागीर की रेख (वार्षिक आय) के बराबर थी। महाराजा अजीतसिंह के काल (1707–1742) में पेशकशी को 'हुक्मनामा' कहा जाने लगा और उत्तराधिकार शुल्क के रूप में 'तागीरात' नामक एक अन्य कर लगाया गया। मेवाड़ में उत्तराधिकार शुल्क को 'तलवार बन्धाई' या 'कैद खालसा' कहा जाता था और इसकी कोई निश्चित दर नहीं थी। प्रारम्भ में यह राशि जागीर की वार्षिक आय के बराबर थी, किन्तु कालान्तर में यह जागीर की वार्षिक आय के तीन–चौथाई भाग के रूप में ली जाने लगी। मेवाड़ के अनेक सामन्त तलवार बन्धाई की राशि से मुक्त थे। किन्तु नये उत्तराधिकारी को उत्तराधिकार शुल्क के रूप में जागीर की वार्षिक आय की 5 प्रतिशत राशि नजराने के रूप देनी पड़ती थी। बीकानेर में नये उत्तराधिकारी को एक निश्चत राशि पेशकशी के रूप में देनी पड़ती थी, किन्तु इसकी कोई निश्चत दर नहीं थी। विभिन्न शासक परिस्थितियों के अनुसार इसका निर्धारण करते थे जो प्रायः जागीर की वार्षिक आय के एक–तिहाई भाग से उसके बराबर तक होती थी। जयपुर में सामन्तों को उत्तराधिकार शुल्क के रूप में 'नजराना' देना पड़ता था।

5.7.5 अन्य कर – सैनिक, सेवा, रेख और उत्तराधिकार शुल्क के अतिरिक्त सामन्तों की कुछ अन्य अनियमित कर भी चुकाने पड़ते थे। इन अनियमित करों में नये शासक के राज्याभिषेक पर नजराना, शासक या युवराज के प्रथम विवाह पर भेंट, राजकुमारियों के विवाह के अवसर पर 'न्यौता' के रूप्ये, शासकों के तीर्थ यात्राओं पर जाने पर भेंट आदि प्रमुख थे। इन अनियमित करों की राशि भी भिन्न–भिन्न राज्यों में भिन्न–भिन्न समयों में अलग–अलग थी। मारवाड़ में शासक के राज्याभिषेक के समय सामन्तों को 1000 रू. की रेख पर 25 रू. की दर से नजराना देना पड़ता था। शासक या युवराज के प्रथम विवाह के समय मारवाड़ में सामन्तों से 1000 रू. की आय पर 100 रू. की दर से राशि ली जाती थी, तो मेवाड़ में इस अवसर पर राज्याभिषेक दी दर से राशि वसूल की जाती थी। राजकुमारियों के विवाह के अवसर पर मेवाड़ में सामनें से 100 की रेख पर 150 रू. 'न्यौतें' के रूप में लिय जाते थे, जबकि मारवाड़ में तख्तसिंह के शासनकाल तक इस अवसर पर 1000 की रेख पर 40 रू. न्यौते के रूप में लिये जाते थे। मेवाड़ में महाराणाओं की तीर्थ यात्राओं के समय सामन्तों को 1000 की रेख पर 75 रू. की दर से राशि भेंट करनी पड़ती थी। अन्य राज्यों में भी न्यूनाधिक परिवर्तनों के साथ सामन्तों से ये सभी कर वसूल किये जाते थे। ब्रिटिश संरक्षण के काल में इनमें एकरूपता स्थापित हुई।

5.7.6 अन्य उत्तराधिकार और सेवाएं – उपर्युक्त नियमित और अनियमित करों की अदायगी के अतिरिक्त सामन्तों को अपने शासक के प्रति कुछ अन्य दायित्वों और सेवाओं का निर्वहन करना पड़ता था। सामन्तों को प्रतिवर्ष एक निश्चित अवधि के लिए शासक के दरबार में उपस्थित रहना पड़ता था। इस अवधि में वे शासक की अनुमति के बिना राजधानी नहीं छोड़ सकते थे। इसके अतिरिक्त उन्हें कुछ विशेष अवसरों यथा – दशहरा, अक्षय तृतीया आदि पर भी दरबार में उपस्थित होना पड़ता था। इसी प्रकार शासक की अनुपस्थिति में रनिवास की देखरेख का दायित्व भी किसी सामन्त को ही सौंपा जाता था। रनिवास की स्त्रियों की यात्रादि के अवसर पर सुरक्षा और अन्य व्यवस्था का दायित्व भी किसी सामन्त को ही सौंपा जाता था। इसके साथ ही सामन्तों को स्वयं तथा अपने पुत्र–पुत्रियों का विवाह करने के पूर्व उसकी सूचना शासक को देनी पड़ती थी। सामन्त को नया दुर्ग या परकोटा बनाने के लिये भी शासक से अनुमति लेनी पड़ती थी।

5.8 सामन्तों के अधिकार विशेषाधिकार :

मारवाड़, मेवाड़, जयपुर, बीकानेर आदि राज्यों के प्रथम श्रेणी सामन्त स्वयं को राज्य का संरक्षक और शासक का सहयोगी मानते थे और शासक से अपेक्षा करते थे कि वह महत्वपूर्ण मामलों में उनसे विचार–विमर्श करेगा। ऐसे सामन्त शासक की ओर से खास–रूक्का' मिलने पर ही राज दरबार में उपस्थित होते थे। उनकी उपस्थिति पर शासक उनकी श्रेणी, पद और मर्यादा के अनुसार उनका सम्मान करता था और उनकी वापसी के समय उन्हें 'सिरोपाव' आदि देकर बिदा करता था। सामन्त को अपनी श्रेणी, पद और मर्यादा के अनुरूप शासक से लवाजमा, नक्कारा, निशान, चंवर–चंवरी, सोने–चांदी की छड़ी आदि प्राप्त करने का अधिकार था। शासक के राज्याभिषेक, शासक के परिवार में विवाह तथा युवराज के जन्म के समय शासक

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

से 'सिरोपाव' प्राप्त करना सामन्त का विशेषाधिकार था। इसी प्रकार सामन्तों को अपने स्वयं तथा अपने पाटवी के पुत्र–पुत्रियों के विवाह के अवसर पर अपने शासक से 'न्यौते' की राशि और 'सिरोपाव' प्राप्त करने का अधिकार थे। ताजीमी सरदारों के नये उत्तराधिकारी भी शासक से 'सिरोपाव' प्राप्त करने के अधिकारी थे। इसके अतिरिक्त ताजीमी सरदार सामान्य न्यायालयोकं में उपस्थित होने से मुक्त थे और शासक की पूर्वानुमति के बिना उन पर अभियोग नहीं चलाया जा सकता था। प्रथम श्रेणी के अनेक सामन्त को दानपत्रों पर हस्ताक्षर करने का अधिकार था। मेवाड़ में प्रथम श्रेणी के सामन्तों को राजमहल के एक भाग तक लवाजमे सहित जाने का विशेषाधिकार प्राप्त था। कुछ राज्यों में प्रमुख सरदारों को सिक्के ढालने का भी अधिकार प्राप्त था बड़े सामन्तों की मृत्यु पर सम्पूर्ण राज्य में राजकीय शोक रखा जाता था सामन्तों को अपने जागीर क्षेत्र में अनेक न्यायिक अधिकार भी प्राप्त थे।

5.9 सामन्तों की श्रेणियां, पद और प्रतिष्ठा :

मुगलकाल में, राजपूत राजाओं ने भी मुगलों की मनसबदारी प्रथा का अनुकरण करते हुए अपनी सामन्तों की श्रेणी, पद और प्रतिष्ठा का निर्धारण करने का निश्चय किया। परिणामस्वरूप कुलीय भावना पर आधारित भाई–बिरादी अब स्वामी और सेवक में परिवर्तित हो गई।

मेवाड़ में महाराणा अमरसिंह द्वितीय (1698–1710 ई.) ने अपने सामन्तों को तीन श्रेणियों में विभाजित किया जो आगे चलकर क्रमशः 'सोलह', 'बत्तीस' और 'गोल' के सरदार कहलाये। प्रथम श्रेणी के सामन्तों को सामान्य रूप से उमराव कहा जाता था। महाराणा अमरसिंह द्वितीय के काल में इनकी संख्या 16 थी किन्तु उन्नीसवीं सदी के अन्त तक इनकी संख्या 24 तक पहुंच गई। द्वितीय श्रेणी के सदस्यों की संख्या प्रारम्भ में 32 थी, अतः वे 'बत्तीस' कहलाये। तृतीय श्रेणी के सरदारों की संख्या कई सौ थी, अतः उन्हें 'गोल' के सरदार कहा जाता था। महाराणा ने इन सभी सरदारों को उनकी जागीरों का पक्का पट्टा प्रदान कर, उनके पट्टों के लिए 'रेख' कायम कर दी थी। सामन्तों द्वारा दी जाने वाली सेवाएं (चाकरी) तथा सामन्तों की तलवार–बधाई आदि के नियम भी बनाये गये। दरबार में सभी सरदारों की बैठक भी तय कर दी गई। प्रथम और द्वितीय श्रेणी के अधिकांश सामन्तों को 'ताजीम' प्रदान की गई।

मेवाड़ राज्य के 'उमराव' अपने आपको राज्य की सम्पत्ति का हिस्सेदार, राज्य के संरक्षक तथा महाराणा का सलाहकार मानते थे। महाराणा का खास रूक्का मिलने पर ही वे राजदरबार में उपस्थित होते थे। मेवाड़ के सामन्तों को अनेक अधिकार और विशेषाधिकार प्राप्त थे। जब कोई सामन्त दरबार में उपस्थित होता था, तो महाराणा खड़ा होकर उसका स्वागत करता था। इस प्रक्रिया को 'ताजीम' कहते थे। मेवाड़ के सभी उमरावों (प्रथम श्रेणी के सरदार) को ताजीम का विशेषाधिकार प्राप्त था। किसी सामन्त के दरबार में उपस्थित होने पर महाराणा खड़ा होता था (ताजीम), वह सामन्त अपनी तलवार को महाराणा के समक्ष रखता था तथा झुककर महाराणा को की अचकन को छूता था, तब महाराणा इस अभिवादन को स्वीकार करते हुए अपने हाथ उरा रागन्त के कन्धों पर रख देता था। इरा प्रक्रिया को 'बांह परााव' कहते थे। गेवाड़ के राभी उगरावों को 'बांह पसाव' का विशेषाधिकार प्राप्त था। इस प्रकार अभिवादन करने के पश्चात् वह सामन्त अपने निश्चित स्थान पर बैठ जाता था। सभी सामन्तों को उनके निश्चित स्थान पर बैठाने का उत्तरादियत्व दरीखाने (सभा भवन) के दरोगा का था। महाराणा के दाहिने हाथ की बैठक को 'बड़ी ओल' तथा बायें हाथ की बैठक को 'कुंवरों की ओल' कहा जाता था। उमरावों को 'बड़ी ओल' में सबसे आगे की पंक्ति में बैठने का अधिकार प्राप्त था। उमरावों के नीचे युवराज की बैठक होती थी। मेवाड़ के सामन्तों में सलूम्बर के रावत को राज्य में प्रधान का पद वंशानुगत रूप से प्राप्त था। राज्य की ओर से यदि किसी को जमीन या जागीर दी जाती थी तो उस अनुदान पर सलूम्बर रावत की सहमति होती थी। महाराणा की अनुपस्थिति में नगर शासन और प्रसाद की सुरक्षा का दायित्व भी उसी का होता था। नये महाराणा की गद्दी–नशीनी भी सलूम्बर के रावत की सहमति से होती थी। बेदला के रावत को भी महत्त्वपूर्ण विशेषाधिकार प्राप्त था। नये महाराणा के शोक–निवारण का दस्तूर बेदला शवत के हाथ से सम्पन्न होता था। महाराणा के राज्याभिषेक के समय ऊन्दरी गांव का गमेती भलराज (भेमिया सरदार) अपने अंगूठे को चीर कर महाराणा के मस्तक पर टीका करता था। मेवाड़ में बागौर, करजली, शिवरती के सामन्त महाराणा के नजदीकी रिश्तेदार थे और यही के भाई–बेटों को गोद लेने की परम्परा बन गई थी।

मारवाड़ में भी सामन्तों की कई श्रेणियां थीं। इनमें चार प्रमुख थे – राजवी, सरदार, मुत्सदी और गनायत। राजा के छोटे भाई व निकट के सम्बन्धी जिन्हें अपनी उदरपूर्ति के लिए जागीर दी जाती थी, वे राजवी कहलाते थे। उन्हें तीन पीढ़ी

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

तक रेख, चाकरी, हुकमनामा आदि शुल्कों में छूट होती थी। तीन पीढ़ी के बाद ये राजवी भी सामान्य जागीरदारों की श्रेणी में आ जाते थे। राजपरिवार के अतिरिक्त अन्य राठौड़, सामन्तों को 'सरदार' कहा जाता था। जिन अधिकारियों को जागीरें मिली हुई थीं वे 'मुत्सदी' कहलाते थे और राठौड़ के अलावा अन्य शाखाओं के सामन्तों को 'गनायत' कहा जाता था।

मारवाड़ के सरदारों को चार श्रेणियों में विभाजित किया जा सकता है। प्रथम श्रेणी के सरदार 'सिरायत' कहलाते थे। ये सभी राठौड़ सरदार थे। दरबार में इनकी बैठक अन्य सरदारों के पहले होती थी। दाँई मिसल के सिरायत महाराणा के दाँई तरफ और बाँई मिसल के सरदार महाराजा के बाँई तरफ बैठते थे। जोधा के भाई–वंशज दाँई मिसल और जोधा के वंशज बाँई मिसल के सरदार कहलाते थे। सिरायत सरदारों को 'दोहरी ताजीम' प्राप्त थी। दोहरी ताजीम से तात्पर्य यह है कि जब सरदार राजा के सामने उपस्थित होता था तो उसके आने पर और लौटने पर राजा खड़ा होकर उसका अभिवादन स्वीकार करता था। इकहरी ताजीमी सरदार के लिए राजा केवल उसके आने पर ही उसका अभिवादन स्वीकार करता था। इकहरी ताजीमी सरदार के लिए राजा केवल उसके आने पर ही उसका अभिवादन ग्रहण करता था। कुछ सरदारों को 'बाँह पसाव' की ताजीम प्राप्त थी। ऐसे सरदारों के उपस्थित होने पर तथा सरदार द्वारा अपनी तलवार महाराजा के पैरों के पास रखने और महाराजा के घुटने या अचकन के पल्ले को छूने पर महाराजा उसके कन्धों पर हाथ रख देते थे। इसी प्रकार, जिसे हाथ का कुरब प्राप्त था, महाराजा उसके कन्धे पर हाथ लगाकर अपने हाथ को अपनी छाती तक ले जाते थे। ये ताजीमें भी इकहरी और दोहरी–दोनों प्रकार की होती थीं। इस प्रकार की ताजीम बहुत बड़ी सेवा एवं बलिदान के बाद प्राप्त होती थी। मारवाड़ में कहावत प्रचलित थी – ''कुरब सिर साटे मिलता है, दाम साटे नहीं।'

गनायतों के ठिकाने उन जागीरदारों के थे जिन्हें जागीरें या तो राजघराने से वैवाहिक सम्बन्ध के कारण मिली थीं अथवा वे राठौड़ों के राज्य स्थापित होने के पहिले से ही मारवाड़ क्षेत्र के स्वामी थी। बाद में उन्होंने राठौड़ की प्रभुता स्वीकार कर ली थी।

जयपुर में प्राथमिक रूप से जागीरदारों का विभाजन 'बारह कोटड़ी' में आधारित था। सरदारों में सबसे मुख्य राजावत कछवाहा होते थे जो राजवंश के निकट सम्बन्धी थे। उनके बाद बारह कोटड़ी वाले नाथावत, चतुरभुजोत, खांगरोत, कल्याणोत आदि थे। इनके अतिरिक्त शेखावतों, नरूकों, बांकावतों, गोगावतों की कोटड़ियां थीं। भारमल के समय से ही जागीरों को कोटड़ी कहा जाने लगा था। जयपुर राज्य में राजपूत जागीरदार ठाकुर कहलाते थे। इनमें से कई को वंशानुगत तो कई को व्यक्तिगत पदवियां मिली हुई थीं। जो जागीरदार कछवाहा राजवश से ही निकले हुए थे उनको भाई–बेटे कहा जाता थ। इनकी दो श्रेणियां थीं – ताजीमी और खासबांकी। ताजीमी सरदार जब दरबार में महाराज को नजर करता था। तब महाराजा स्वयं खड़ा होकर नजर लेता था। ऐसे सरदारों को पैर में सोना पहनने का अधिकार था। इनको खास रूक्का भेजकर आवश्कता होने पर दरबार में बुलाया जाता था तथा सिरोपाव देकर विदा किया जाता था।

कोटा में सेवा के अनुसार जागीरदारों को पद निर्धारित होता था। कोटा के सरदार देशवी (देश में ही रहकर रक्षा करने वाले) तथा हजूरथी (राजा के साथ मुगल सेवा में रहने वाले) की संज्ञा में बांटे गये थे। कोटा नरेश के निकट के कुटुम्बीराजवी कहलाते थे और अन्य सरदारों को अमीर–उमराव के नाम से पुकारा जाता था। कोटा में ताजीमी सरदारों की संख्या 30 थी। इनमें अधिक संख्या हाड़ा चौहानों की थी।

समय के साथ–साथ सामन्तों के अधिकारों में भीउता–चढ़ाव आता रहा। अठारहवीं शताब्दी के आरम्भिक काल तक उत्तर–पूर्वी राजस्थान के सामन्त काफी निर्बल हो गये थे, परन्तु दक्षिण–पश्चिम राजस्थान में सामन्तों के अध्थकार बने रहे। इसका मूल कारण यह था कि उत्तर–पूर्व में दक्षिणी–पश्चिमी की अपेक्षा मुगल प्रभाव अधिक रहा था। उत्तर की अपेक्षा दक्षिण राजपूतों की संख्या भी अधिक थी। इसलिए उनका स्थानीय प्रभाव में एक दबाव था और उनकी मान्यता भी। कोटा, बून्दी, भरतपुर और धौलपुर के शासक अधिक शक्तिशाली होते गये और उनके सामन्तों की शक्ति कमजोर पड़ गई।

5.10 सामन्तों की अन्य श्रेणियां–ग्रासिया और भौमिया :

सामन्तों की उपर्युक्त श्रेणियों के अतिरिक्त राजस्थान के अनेक राजपूत राज्यों में सामन्तों की कुछ अन्य श्रेणियां भी थी जिनमें 'ग्रासिया' और 'भौमिया' सामन्त मुख्य थे। 'ग्रासिया' सामन्त वे थे जिन्हें सैनिक सेवा के बदले शासक की ओर से पट्टे या सनद द्वारा दी गयी भूमि का उपज (गास) पाने का अधिकार था। सेवाच्युत होने सेवा में शिथिलता बरतने या आज्ञा का उल्लंघन करने पर शासक उस भूमि का पट्टा रद्द कर सकता था। 'भौमिया' सामन्त वे थे जिन्हें सीमा क्षेत्रों में गांव या राज्य की सुरक्षा अथवा अन्य विशिष्ट सेवाओं के लिये किये गये बलिदान के उपलक्ष में जागीर दी गयी थी। भौमियां सामन्तों को उनकी जागीर से बेदखल नहीं किया जा सकता था तथा उन्हें अपना भूमि पर नाम मात्र का कर देना पड़ता था। मेवाड़,

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

मारवाड़ बीकानेर आदि राज्यों में अनेक भौमियों सामन्त थे। मेवाड़ राज्य के भौमिया सामन्त दो श्रेणियां में विभक्त थे – (1) बड़े भौमिया और (2) छोटे भौमिया। बड़े भौमियां शक्तिशाली थे और राज्य को सैनिक सहायता भी देते थे। आंगना, पानखा, जवास के सामन्त इसी वर्ग में थे। छोटे भौमिया वे थे जो डाक पहुंचाने, राज्याधिकारी के दौरे की व्यवस्था करने तथा राजकोष को सुरक्षित पहुंचाने में सहायता करते थे।

समय के अनुसार सामन्तों के अधिकारों और महत्त्व में कमी–वृद्धि होती रही। 18वीं शताब्दी के आरम्भ तक उत्तरी–पूर्वी राजस्थान के सामन्त अपनी शक्ति, अधिकारों और महत्त्व को अक्षुण्ण नहीं रख सके क्योंकि भौगोलिक निकटता के कारण उत्तरी–पूर्व राजस्थान में मुगलों का प्रभाव अधिक था जबकि दक्षिण–पश्चिमी राजस्थान के सामन्त मुगल सत्ता से दूर होने तथा राजपूतों की बहुलता के कारण अपनी प्रभुता को बनाये रखने में सफल रहे। कोटा, बूंदी और भरतपुर के शासक अधिक शक्तिशाली थे। अतः उन्होंने सामन्तों की शक्ति का दमन करके, उनके अधिकारों को नियन्त्रित कर दिया।

5.11 सामन्त प्रथा से लाभ :

सामन्त प्रथा का प्रचलन भी इस विश्वास के साथ किया गया था कि नरेशों को अपने राज्यों की सुरक्षा में इससे सहायता मिलेगी तथा प्रशासन को सुचारू रूप से संचालित करने में इससे सहयोग भी मिलेगा। सामन्त प्रथा के सफल रहने पर ही राजपूत नरेश अपने राज्यों का विस्तार कर सके। राजधानी से दूरस्थ प्रदेशों की सुरक्षा की भी नरेशों को सामन्तों के सहयोग से चिन्ता नहीं करनी पड़ी। अतः स्पष्ट है कि राजस्थान की सामन्त व्यवस्था राज्यों को लाभप्रद ही रही। इस व्यवस्था से होने वाले प्रमुख लाभ निम्नलिखित हैं –

5.11.1. राज्यों की सुरक्षा में सहायक – मध्यकाल में जब राजस्थान के विभिन्न भागों में विभिन्न वंश के राजाओं ने अपने राज्यों की स्थापना की थी उस समय उनमें बहुधा संघर्ष होते रहते थे। एक राजा दूसरे राज्य को समाप्त कर अपने राज्य को विस्तृत देखना चाहता था। उस संघर्ष व असुरक्षा के काल में सामन्त अपने राजा के राज्य के वफादार प्रहरी सिद्ध हुए। देखा जाय तो नरेशो का विश्वसनीय एवं महत्वपूर्ण सहयोगी–वर्ग सामन्तों का ही होता था। जिस प्रकार एक राजा का प्रधान कार्य अपने राज्य की रक्षा करना था उसी प्रकार सामन्तों का भी प्रमुख कर्त्तव्य अपने स्वामी नरेश के राज्य की सुरक्षा में हाथ बंटाना था। वक्त पड़ने पर सामन्त अपने सैनिकों सहित प्राण देकर भी राज्य की रक्षा करते थे। अतः स्पष्ट है कि सामन्त व्यवस्था शासकों को शक्ति सम्पन्न बनाने में सहायक सिद्ध हुई।

5.11.2. राजस्व की वसूली में सहायक – राजस्थान में नरेशों की आय का मुख्य साधन भूमि कर ही होता था। अतः उस भूमि कर की वसूली में भी सामन्ती व्यवस्था सहायक सिद्ध हुई। सामन्त अपनी–अपनी जागीरी के क्षेत्र का राजस्व वसूल करते ाि ओर उसमें से निर्धारित रकम वे राजा के कोष में जमा करा देते थे। अतः इस सामन्ती व्यवस्था के माध्यम से विशाल राज्यों के नरेश भी बिना किसी कठिनाई के अपने राज्यों का राजस्व उसी प्रकार वसूल कर लिया करते थे जिस प्रकार कम्पनी सरकार भारत में जमींदारों के सहयोग से वसूल करती थी।

5.11.3. आर्थिक क्षेत्र में उपयोगी – मध्यकाल के पूर्वार्द्ध तक तो राजपूत नरेश निरन्तर युद्धों में उलझे रहे। प्रथम उन्हें अपने अस्तित्व के लिए अपने ही पड़ौसी राजाओं से युद्ध करने पड़े। इसके उपरान्त जब मुसलमानों के भारत पर आक्रमण होने लगे तो राजपूतों को अपने धर्म व राज्य की रक्षा हेतु मुस्लिम आक्रमणकारियों के विरूद्ध युद्ध करने पड़े और जब मुसलमान भारत के सुल्तान ही बन बैठे तो राजस्थान के राजपूत नरेशों को अपने राज्यों की सरुक्षा के निमित्त निरन्तर युद्ध करने पड़े। इस प्रकार के युद्ध मुगल सम्राट अकबर के शासन–काल तक चलते रहे। इन दीर्घकालीन न अनिश्चित युद्धों में राजपूत नरेशों को अपार जन व धन की हानि उठानी पड़ती थी। उस काल में आज की भांति जनता पर नाना प्रकार के कर लगाकर तो धन वसूल नहीं किया जा सकता था। अतः सीमित आय के साधनों के साथ निरन्तर युद्ध करने से राजाओं की आर्थिक अवस्था दयनीय हो जाती थी। उस आर्थिक दयनीयता का निवारण नरेश अपने सामन्तों से धन लेकर ही करते थे। वे अपनी आर्थिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए सामन्तों पर नाना प्रकार की लाग–बाग लगाते रहते थे और उनसे धन वसूल करते रहते थे। निःसन्देह राजाओं द्वारा सामन्तों से इस प्रकार धन वसूल करना उनके सम्बन्धों में तनाव उत्पन्न करने का कारण बन गया – परन्तु नरेशों की आर्थिक कठिनाइयां तो सामन्तों के सहयोग से ही दूर होती थी।

5.11.4. राजपूतों में एकता बनाये रखने में सहायक – सामन्त राजा के कुल वंश के ही होते थे। इनके अलावा राजा के दूर के सम्बन्धी भी सामन्त बनाये जाते थे। अतः सामन्तों के साथ राजा एक बड़े परिवार के अध्यक्ष के तुल्य होता था। सामन्त व राजा के बीच सम्बन्ध दास व स्वामी के न होकर भाईचारे के होते थे। इसके परिणामस्वरूप राजा व सामन्त

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

बन्धुत्व का जीवन व्यतीत करते रहे। उनमें असमानता की भावना का उद्‌भव नहीं हो सका था। परिणामतः उनमें एकता बनी रही और वे एक परिवार के सदस्यों की भांति सम्मान का जीवन व्यतीत करते रहे। अतः राजस्थान की सामन्त व्यवस्था यहां के राजपूतों में एकता व सौहार्दपूर्ण वातावरण बनाये रखने में एक अनुपम कड़ी सिद्ध हुई।

5.11.5. जीवन–यापन का साधन – प्राचीनकाल में जीवन–यापन के साधन के रूप में भी सामन्त व्यवस्था महान सहायक सिद्ध हुई। जैसा कि इससे पूर्व बताया जा चुका है कि एक राजपूत राजा के अनेक पत्नियां होती थी और उनसे अनेक पुत्र उत्पन्न होते थे। गद्दी केवल एक पुत्र (ज्येष्ठ) को मिलती थी। ऐसी परिस्थिति में यदि राजा अपने अनुज भ्राताओं को जागीर प्रदान नहीं करता तो वे अपना जीवन किस प्रकार व्यतीत करते। इसके अलावा राजपूतों (क्षत्रिय) का प्रमुख व्यवसाय की धर्म व देश की रक्षा हेतु युद्ध करना था। मध्यकाल तक सैनिकों को नकद वेतन देने की परम्परा नहीं के बराबर ही थी। अतः राजा अपने राजपूत भाइयों को जागीर दे कर ही उनसे युद्ध सेवा लेते थे। अतः राजा अपने राजपूत भाइयों को जगीर दे कर ही उनसे युद्ध–सेवा लेते थे। अतः सामन्त व्यवस्था ने राजपूतों को उनके योग्य की जीविका उपार्जन का साध ान भी प्रस्तुत किया।

5.11.6. राज दरबार के गौरव के साधन – राजपूत नरेशों का गौरव भी इन सामन्तों के सहारे ही सुरक्षित था। राज–दरबार के गौरव को बढ़ाने का प्रयास तो प्राचीनकाल से ही चला आ रहा है। अपने गौरव का प्रदर्शन करने हेतु राजा समय–समय पर दरबारों का आयोजन करते थे। उस राज–दरबार में सामन्त प्रस्तुत होकर अपने स्वामी नरेश का नजर करके उसके प्रति उचित आदर का प्रदर्शन करते थे। इसी प्रकार सामन्त भी अपने नरेश से दरबार में यथोचित आदर पाकर अपने को कृतज्ञ समझते थे।

5.11.7. नरेशों की स्वेच्छाचारिता पर अंकुश – राजतन्त्र प्रणाली का ही दूसरा स्वरूप स्वेच्छारी शासन है। दैवी सिद्धान्त में विश्वास रखने वाले राजपूत नरेश निरंकुशता से ही शासन करना पसन्द करते थें परन्तु राज्य के सामन्त राजा की निरंकुशता पर अंकुश रखते थे। राज्य के महत्त्वपूर्ण सामन्तों से राजा को राज्य के प्रशासनिक कार्यों में मन्त्रणा लेनी पड़ती थी। कई ताजमी सरदार राज्य के प्रशासन में उच्च पदाधिकारी भी होते थे। उच्च पदों पर आसीन सामन्त राजा को मनमानी नहीं करने देते थे। सलाहकार के रूप में ये सामन्त केवल प्रशासनिक कार्यों में ही राजा पर नियन्त्रण नहीं रखते वरन् उसके व्यक्तिगत जीवन पर भी अंकुश रखते। उत्तराधिकार के प्रश्न पर भी सामन्तों का बड़ा महत्त्व होता था। सामन्त इतने शक्तिशाली होते थे कि वे राजा के प्रशासन सम्बन्धी निर्णय भी बदल दिया करते थे।

5.12 सामन्त व्यवस्था से हानियां :

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट झलकता है कि राजस्थानी सामन्त व्यवस्था राज्य की सुरक्षा व एकता के लिए हितकर सिद्ध हुई। मध्यकाल में जबकि यातायात व संदेशवाहन के साधन विकसित नहीं हुए थे, उस समय यह व्यवस्था प्रशासन में भी लाभप्रद रही। परन्तु इसका यह मतलब नहीं कि इस व्यवस्था से कोई हानि ही नहीं हुई। इस व्यवस्था से राजस्थान के राज्यों को निम्न हानियां भी हुई –

5.12.5. राजा का सामन्तों पर आश्रित रहना – अपने राज्य का सर्वोच्च अधिकारी राजा होता था पर उसे अपने सामन्तों के आश्रित रहना पड़ता था। राज्य की सुरक्षा सामन्त की सैनिक सहायता पर अवलम्बित थी। राजा को अपना उत्तराधिकारी मनोनीत करने में भी अपने सामन्तों की अनुमति लेनी पड़ती थी। कई बार सामन्तों ने राजा द्वारा मनोनीत उत्तराधिकारी को मानने से इन्कार कर दिया। राजा की आर्थिक दशा भी सामन्तों के सहयोग पर भी निर्भर करती थी। ऐसी परिस्थिति में सामन्तों के असहयोग पर राजा को शासन चलाना दुर्लभ हो जाता था। मुगल काल में तो सामन्त खुले रूप में अपने स्वामी नरेश के विरूद्ध बगावत कर मुगल दरबार में आश्रय ले लिया करते थे।

5.12.2. अहंकारी एवं स्वाभिमानी सामन्त राजा के मार्ग में बाधक – राजपूत सामन्त प्रकृति से स्वाभिमानी तो होते ही थे पर कभी–कभी आवश्यकता से अधिक स्वाभिमानी बन कर वे राजा का विरोध कर बैठते थे। स्वाभिमान के साथ ही यदि किसी सामन्त में अहंकार भी उत्पन्न हो जाता तो वह अपने राजा का ही शत्रु बन बैठता था। सामन्तों को अभिमान इस बात पर होता था कि राजा ने उन्हें जागीर देकर कृतज्ञ नहीं किया है। जागीर मिला उनका पैतृक अधिकार है। इसी भावना से वे अपने स्वामी नरेश को स्वामी न समझ कर भाई के समान ही समझते थे। इसी से उनमें स्वाभिमान तथा अहंकार होता था और वे अनुशासन में न रहते हुए राजा की नीति का विरोध करते थे।

5.12.3. भूमि का बंटवारा — सामन्त व्यवस्था जागीरदारी का ही दूसरा स्वरूप था। अतः इस व्यवस्था के अन्तर्गत राजा अपनी भूमि को सामन्तों में और सामन्त अपनी भूमि को अपने पुत्रों व भ्राताओं में विभक्त करते रहते थे। इसका परिणाम यह हुआ कि भूमि छोटे–छोटे टुकड़ों में विभक्त होती चली गई। इससे भूमि की उर्वरता नष्ट हुई तथा जागीरे सामन्तों के जीविका उपार्जन का साधन भी पर्याप्त रूप में नहीं रहीं। इसका परिणाम यह हुआ कि भूमि के टुकड़े होते चले गये और इससे सामन्तों की आर्थिक अवस्था दिनों–दिन दयनीय ही होती चली गई।

5.12.4. राज्यों का विकास अवरूद्ध होना — प्रथम तो राजस्थान के नरेश ही परम्परावादी व अविकसित विचारों के होते थे। अपने प्रजाजनों को वे अधिक शिक्षित बनाना पसन्द नहीं करते थे। सामन्त इस दिशा में राजाओं से भी बढ़ कर होते थे। वे अपने यहां शिक्षा की व्यवस्था नहीं करते थे। अपनी जागीर के लोगों को बाहरी प्रभाव से बचाने की दृष्टि से वे यातायात के साधनों को भी विकसित नहीं करते थे। इसके अलावा वे अपने लोगों को अपनी भूमि बेचकर अन्यत्र नहीं जाने देते थे। इसका परिणाम यह होता था कि जागीर के लोग कूप मण्डुक ही बने रहते थे। वे शिक्षा के अभाव में सामाजिक व राजनीतिक विचारों में भी पिछड़े रह जाते थे। परिणामतः जागीरों के अविकसित रहने पर राज्य भी अविकसित रह जाते थे।

5.12.5. सामन्ती व्यवस्था असमानता की पोषक — राजस्थान के विभिन्न राज्यों की सामन्त व्यवस्था के अवलोकन से स्पष्ट होता है कि प्रत्येक राज्य में सामन्तों का वर्गीकरण था। कुछ सामन्त ताजमी होते थे तो कुछ आदर के भी पात्र नहीं होते थे। सामन्तों को अपनी श्रेणी के अनुसार ही दरबार में बैठना पड़ता था और राजा से उसी अनुपात में वे आदर पाते थे। यहीं दशा सामन्तों की समाज व प्रशासन में होती थी। परिणामतः सामन्तों में ही समानता के स्थान पर असमानता पनपती थी। इस असमानता की भावना से सामन्त समाज में ही कई दूरगामी अहितकर परिणाम लक्षित हुए।

5.12.6. सामन्तों का जीवन विलासी एवं निष्क्रिय होना — जन्म की दृष्टि से तो सामन्त अपने को सूर्यवंशी तथा चन्द्रवंशी घोषित कर अपने वंश की उच्चता प्रदर्शित करते थे परन्तु अपनी झूठी आन–बान के प्रदर्शन हेतु वे सुरा और सुन्दरी के दास हो जाते थे। अपने स्वामी राजा की भांति वे भी अपनी शादियां करते थे तथा अनेक रखैल रखते थे। महलों में सुरा–पान के साथ–साथ सदैव नृत्य व संगीत की झनकार सुनाई पड़ती थी। जागीरदारों को प्रशासन की ओर ध्यान देने का अवसर ही नहीं मिलता था। जागीर की सारी व्यवस्था वे अपने कामदार पर छोड़ देते थे। इस प्रकार उनका सारा जीवन विलासित में ही व्यतीत होता था। राज्यों के मुगल संरक्षण में चले जाने के उपरान्त युद्ध व संघर्ष का भी वातावरण नहीं रहा था। इस प्रकार उसका जीवन एक प्रकार से निर्जीव हो गया था।

5.13 सारांश :

सामन्त व्यवस्था के इन सब पहलुओं पर विश्लेषणात्मक ढंग से विचार करने के उपरान्त हम इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि राजस्थानी सामन्त व्यवस्था आपसी भाईचारे की व्यवस्था थी। राजाराज्य का सर्वोच्च अधिकारी व प्रशासनिक अध्यक्ष अवश्य होता था परन्तु सामन्त रूपी तारों में लगभग उसकी अवस्था चांद जैसी होती थी। औरंगजेब और शासक का सम्बन्ध पूर्ण रूप से आश्रितों का न हो कर समकक्ष आज्ञाकारी सहयोगियों का था। निःसन्देह यह व्यवस्था एक प्रकार से सामाजिक, आर्थिक व राजनीतिक विशेषताओं से युक्त थी। इस सन्दर्भ में डॉ. गोपीनाथ शर्मा का कहना है कि इस सामाजिक और राजनीतिक व्यवस्था के कारण ही यह व्यवस्था विकसित हुई और दीर्घकाल तक जीवित रही।

5.14 बोध प्रश्न :

प्रश्न 1 मारवाड़ राज्य में 'उत्तराधिकारी शुल्क' को क्या कहते थे?

अ. पेशकशी ब. हुक्मनामा स. तलवर बंधाईद. कैद खालसा

उत्तर – ....

प्रश्न 2 'रेख' क्या था संक्षिप्त टिप्पणी लिखिए?

उत्तर – ....

प्रश्न 3 राजपूत राज्यों में सामन्तों की प्रमुख विशेषताओं का विस्तारपूर्वक विवेनच कीजिए?

उत्तर – ....

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

इकाई – 6
ब्रिटिश प्रभुसत्ता के समय से राजपूत जागीरदारों की स्थिति में परिवर्तन

संरचना

6.0 उद्देश्य
6.1 प्रस्तावना : ब्रिटिश संरक्षण की स्थापना से पूर्व
6.2 ब्रिटिश संरक्षण की स्थापना के बाद
6.3 ब्रिटिश संरक्षण काल में सामन्तों की स्थिति
    6.3.1 खालसा भूमि की समस्या
    6.3.2 सैनिक सेवा
    6.3.3 सामन्तों के अधिकारों में कमी
6.4 सामन्तों की विशेषाधिकारों से वंचित करने के परिणाम
6.5 यूरोपीय सामन्त पद्धति से तुलना
6.6 सारांश
6.7 बोध प्रश्न

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

6.0 उद्देश्य :

इस इकाई में मुगलों के पश्चात राजस्थान के सामन्तों की ब्रिटिश प्रभुता के समय मिले अधिकार एवं समस्याओं को विस्तृत विवेचित किया गया है।

6.1 प्रस्तावना : ब्रिटिश संरक्षण की स्थापना से पूर्व :

औरंगजेब की मृत्यु ने भारतीय इतिहास में एक संक्रमण काल प्रस्तुत कर दिया। निर्बल मुगल शहजादे गद्दी के लिए निरन्तर संघर्ष करने लगे और वे मुगल गद्दी से जल्दी–जल्दी हाथ धोने लगे। परिणामतः मुगल साम्राज्य के देदीप्यमान सूर्य का अस्ताचल की ओर जाना स्वाभाविक था। परन्तु इसका घातक परिणाम राजस्थान राज्यों पर भी पड़ा।

शक्ति शाली केन्द्र के मध्यस्थ रूप में न रहने के कारण राजपूत नरेश पुनः स्वतन्त्र हो गये। उनमें व्यर्थ का स्वाभिमान जागृत हो गया। जयपुर व मारवाड़ राज्य मुगल दरबार में अपना अधिकाधिक प्रभाव जमाने का प्रयास करने लगे। मेवाड़ के महाराणा को मराठों की चिन्ता सताने लगी। यही दशा कोटा–बून्दी की हो गई। परिणामतः राजपूत नरेशों को पुनः अपने सामन्तों की ओर देखना पड़ा।

मुगल सम्राटों से सैनिक सहायता न मिलने के कारण राजपूत नरेशों को पुनः सामन्तों की सैनिक सहायता की आवश्यकता हो गई। सामन्तों ने भी अपने स्वामी नरेशों की इस दयनीय अवस्था का आभास कर लिया था। मराठों के निरन्तर होने वाले आक्रमणों ने राजस्थान के राज्यों को क्या सैनिक और क्या आर्थिक क्षेत्रों में अतिशोचनीय बना दिया था। इन दोनों ही क्षेत्रों में नरेश अपने सामन्तों का सहयोग लेने का प्रयास करने लगे। उधर सामन्त अपनी शक्ति बढ़ाने लगे। वे खालसा जमीन पर अधिकाधिक अधिकार करने लगे। संक्षेप में यही कहना पर्याप्त है कि अकबर के शासन से औरंगजेब के शासन (1707) तक तो सामन्त अपने नरेशों के प्रति स्वामी–भक्त बने रहे। इसके उपरान्त उनमें बदलाव आने लगा। वे दिनों दिन अपनी शक्ति बढ़ाने लगे।

6.2 ब्रिटिश संरक्षण की स्थापना के बाद :

1818 ई. में अपने सामन्तों के विरोध के उपरान्त भी राजपूत राजाओं ने ब्रिटिश संरक्षण स्वीकार कर लिया। सामन्तों के विरोध का कारण उनमें व्याप्त यह भय था कि उन्हें भी ब्रिटिश संरक्षण की भारी कीमत न चुकानी पड़े और दीर्घकालीन परम्पराओं से प्राप्त अपने विशेषाधिकारों से वंचित न होना पड़े। ब्रिटिश संरक्षण की स्थापना के पूर्व सामन्त लोग अपनी जागीरों में लगभग स्वतन्त्र शासक की भांति शासन करते थे। बड़े–बड़े सामन्तों के अपने दरबार थे। अपने अधिकारी, कर्मचारी और सैनिक दस्ते थे। अपनी जागीरों में शान्ति और व्यवसथा को बनाये रखने तथा आन्तरिक उपद्रवों को दबाने

की जिम्मेदारी उन्हीं की थी। उनके न्यायिक अधिकार भी बढ़–चढ़े थे। बड़े सामन्तों को मृत्यु–दण्ड के अलावा सभी प्रकार की सजाएं देने का अधिकार प्राप्त था। व्यापारियों तथा दुकानदारों की सुरक्षा के बदले में उनसे कई प्रकार के शुल्क वसूल करने का अधिकार प्राप्त था। इस प्रकार, सामन्तों को अपने–अपने क्षेत्रों में पर्याप्त अधिकार प्राप्त थे, जिनके परिणामस्वरूप अपनी प्रजा पर उनका मजबूत नियन्त्रण कायम था।

राजपूत शासकों द्वारा ब्रिटिश संरक्षण स्वीकार करने का एक मुख्य कारण अपने–अपने सामन्तों की शक्ति को नियन्त्रित करने में सर्वोच्च सत्ता का सहायोग प्राप्त करना था। प्रत्येक राज्य में सामन्तों की शक्ति में काफी वृद्धि हो गई थी। संयोगवश, सामन्तों में भी परस्पर विरोधी गुट बनते गये और उनकी आपसी स्पर्धा के कारण लगभग सभी राज्यों में अव्यवस्था फैल गई थी। जोधपुर, जयपुर, उदयपुर, बीकानेर आदि राज्यों में तो शासकों और सामन्तों के मध्य तथा सामन्तों का एक–दूसरे के विरूद्ध संघर्ष चरम सीमा पर पहुंच चुका था। ऐसी स्थिति में राजपूत शासकों ने ब्रिटिश संरक्षण स्वीकार किया था। परन्तु इसके बाद भी खालसा भूमि, सैनिक सेवा, रेख, उत्तराधिकार शुल्क और सामन्तों के अधिकारों को लेकर राजाओं का अपने सामन्तों के साथ लम्बे समय तक विवाद बना रहा।

राजाओं और सामन्तों के आपसी झगड़े ब्रिटिश संरक्षण की स्थापना के पहले भी होते रहे थे। परन्तु उस समय में सामन्त लोग राजाओं के विरूद्ध गुटबन्दी, षड्यन्त्र तथा सशस्त्र संघर्ष जैसे उपायों के द्वारा अपने हितों की वृद्धि करने का प्रयास करते थे। ब्रिटिश संरक्षण की स्थापना के बाद अब ये उपाय कारगर सिद्ध नहीं हुये क्योंकि राजाओं को ब्रिटिश संरक्षण प्राप्त था और सामन्त लोग भी यह बात भली–भांति समझ गये कि ब्रिटिश सत्ता का विरोध उनके हितों के अनुकूल नहीं रहेगा। अतः उन्होंने भी ब्रिटिश सरकार के सहयोग एवं समर्थन से अपने हितों को सुरक्षित बनाने का प्रयास किया।

6.3 ब्रिटिश संरक्षण काल में सामन्तों की स्थिति :

19वीं शताब्दी में राजपूत शासकों द्वारा प्राप्त ब्रिटिश संरक्षण ने प्रत्यक्ष रूप से राजस्थानी सामन्त व्यवस्था में कोई हस्तक्षेप नहीं किया, किन्तु इस सरंक्षण की शर्तो और तदनन्तर अंग्रेजों की नीतियां ने राजस्थानी सामन्त व्यवस्था को व्यापक रूप से प्रभावित किया। वस्तुतः ब्रिटिश संरक्षण के पश्चात् राजपूत शासकों की रक्षाका दायित्व कम्पनी सरकार ने ग्रहण कर लिया था। अतः इस कार्य के लिये अब उनकी सामन्तों पर निर्भरता समाप्त हो गई थी। फलतः सामन्तों के महत्व में अनवरत् कमी आई। सामन्तों ने भी दीर्घकालीन परम्परागत विशेषाधिकारों से वंचित होने के भय से ही इस संरक्षण का विरोध किया था। कम्पनी सरकार का प्रारम्भ में, तो बंगाल के जमींदारों की भांति वे राजस्थानी सामन्तों की अपनी कूटनीति का मोहरा नहीं बना सके और ना ही उन्होंने इस व्यवस्था में कोई सीधा हस्तक्षेप किया। किन्तु राजपूत राजाओं और सामन्तों के मध्य व्याप्त सर्वोच्चता के संघर्ष ने अंग्रेजों के समक्ष हस्तक्षेप की उपयुक्त पृष्ठभूमि प्रदान कर दी। प्रारम्भ से तो राजाओं और सामन्तों के संघर्ष में कम्पनी सरकार ने स्वयं को तटस्थ रखा, किन्तु ज्यों–ज्यों अंग्रेज अधिकारी राजपूत राजाओं के सम्पर्क में आये और उनका सामन्तों के साथ सम्पर्क बढ़ा और वे सामन्तों के विशेषाधिकारों और प्रशासन में उनके महत्व से परिचित हुये तो उन्होंने बाह्य रूप में तटस्थ रहते हुये भी कूटनीति के माध्यम से राजाओं और सामन्तों, दोनों की शक्ति क्षीण करके दोनों का अपना आश्रित बनाकर राजपूत शासकों के आन्तरिक शासन पर नियन्त्रण स्थापित करने का प्रयत्न किया। वस्तुतः अंग्रेजों की नीति जहां एक ओर किसी शासक को निरकुंश होने से रोकने की थी तो दूसरी ओर वे सामन्तों को भी अधिक शक्तिशाली नहीं होने देना चाहते थे। फलतः उन्होंने राजाओं और सामन्तों के मध्य संघर्ष का बढ़ावा देकर दोनों की शक्ति को क्षीण करने का प्रयास किया क्योंकि वे जानते थे कि दोनो ही पक्ष अपनी अपनी स्थिति को निर्बल और अस्तित्व को संकट ग्रस्त पाकर अन्ततः उन्हीं की शरण में आयेंगे और ऐसा हुआ भी। इस नीति के अन्तर्गत उन्होंने ऐसे अनेक कदम उठाये जिससे न केवल राजाओं की शक्ति क्षीण हुई। राजपूत राज्यों में ब्रिटिश नियन्त्रण का शिकंजा दृढ़ हुआ और सामन्तों का महत्व कम हुआ वरन् सामन्तों के विशेषाधिकार और सम्मान भी लगभग समाप्त प्रायः हो गये। वस्तुतः तुगलकाल में सामन्त व्यवस्था का रूपान्तरण होकर सामन्तों की महत्ता में ही कमी आई थी। किन्तु अंग्रेजों की नीति ने सामन्तों के विशेषाधिकारों को समाप्त करके इस व्यवसथा के जीवन रस को ही निचोड़ दिया। ब्रिटिश सत्ता के अन्त के समय तो सामन्ती व्यवस्था का ढांचा मात्र ही शेष रहा था। ब्रिटिश संरक्षण काल (1818–1947 ई.) में सामन्त व्यवस्था में अधोलिखितपरिवर्तन आये।

6.3.1. खालसा भूमि की समस्या – ब्रिटिश संरक्षण के पूर्व राजपूत नरेशों की कमजोरी का लाभ उठाकर अनेक सामन्तों ने खालसा भूमि पर जबरदस्ती अधिकार कर लिया था। ब्रिटिश संरक्षण की स्थापना के बाद राजपूत शासक अब ऐसी भूमि को पुनः प्राप्त करने के लिए लालायित थे। दूसरी ओर सामन्त लोग अपना अधिकार छोड़ने को तैयार नहीं थे।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

अतः राजपूत शासकों ने ब्रिटिश सरकार से इस मामले में उन्की सहायता करने की प्रार्थना की। अंग्रेजों ने अपने हितों की पूर्ति के लिए शासकों की सहायता करना स्वीकार कर लिया। अतः जिन सामन्तों ने अपनी इच्छा से खालसा भूमि को नहीं लौटाया, उनके विरूद्ध सैनिक कार्यवाही की गई। परन्तु ब्रिटिश सरकार के समर्थक सामन्तों से खालसा भूमि प्राप्त करने के लिए सैनिक कार्यवाही नहीं की गई। खालसा भूमि से वंचित हो जाने से न केवल सामन्तों के प्रभाव क्षेत्र में कमी आई वरन् इससे सामन्तों के महत्त्व का भी ह्रास हुआ और उनकी आर्थिक स्थिति दयनीय हो गई।

6.3.6. सैनिक सेवा – ब्रिटिश संरक्षण की स्थापना के पश्चात् शासकों एवं सामन्तों में सैनिक सेवा के सम्बन्ध में विवाद उठ खड़ा हुआ क्योंकि अब राजपूत शासकों को सामन्तों की सैनिक सेवाओं की पहले जैसे आवश्यकता नहीं रही थी। अतः उन्होंने भी अंग्रेजों की भांति अपने सामन्तों से सैनिक सेवा के बदले में नकद रूपया वसूल करने का निश्चय किया। सामन्तों ने इसका विरोध किया, परन्तु अंग्रेजो ने अपने आर्थिक हितों की पूर्ति के लिए इस विवाद में शासकों का पक्ष लिया। सैनिक सेवा के नकदीकरण से भी सामन्तों के महत्त्व में पर्याप्त कमी आई।

6.3.3. सामन्तों के अधिकारों में कमी – ब्रिटिश संरक्षण की स्थापना के बाद शासकों ने सामन्तों के अधिकारों मे कमी करना शुरू कर दिया। सामन्तों को खालसा भूमि लौटाने के लिये भी बाध्य किया ही गया। साथ ही सामन्तों के भूमि–अनुदान सम्बन्धी अधिकार भी समाप्त कर दिए गए। कुछ राज्यों में सामन्तों के राजस्व वसूली के अधिकार सीमित कर दिए गए। पहले जागीरों के निवासी सामन्त की अनुमति के बिना अन्यत्र नही बस सकते थे, किन्तु ब्रिटिश सरकार ने राजाओं के माध्यम से यह व्यवस्था कर दी कि अब जागीरों के निवासी सामन्तों की अनुमति प्राप्त किये बिना अपना मूल निवास स्थान छोड़कर दूसरी जगहों पर जाकर बस सकते थे। यह भी सामन्तों के विशेषाधिकार का हनन था। इस काल में सामन्तों के न्यायिक अधिकार भी कम कर दिए गए। अब सामन्तों के विरूद्ध अभियोगों की सुनवाई के लिए 'सरदार कोर्टस' स्थापित किये गये।पहले सामन्त न्यायालय शुल्क से मुक्त थे। किन्तु अब उन्हें भी न्यायालय शुल्क देना पड़ता था। यही नहीं बीकानेर राज्य ने तो सामान्य न्यायालयों को सामन्तों के विरूद्ध अभियोग सुनने व दण्ड देने का अधिकार भी दे दिया गया।

पहले सामन्तों को व्यापारियों की सुरक्षा के बदले उनसे राहदारी, दाना–पानी आदि शुल्क वसूल करने का अधिकार था। किन्तु ब्रिटिश सरकार के निर्देश पर राजाओं ने सामन्तों के इस विशेषाधिकार को समाप्त कर दिया। फलतः सामन्तों की आय का एक महत्वपूर्ण स्रोत समाप्त हो गया। यही नहीं ब्रिटिश सरकार के वाणिज्यिक नियमों, बैकिंग व्यवस्था और यातायात के साधनों विशेषतः, रेलमार्गों के कारण व्यापारियों की सामन्तों पर निर्भरता समाप्त हो गई। फलतः सामन्तों के प्रभाव व प्रतिष्ठा में कमी आई।

साथ ही नवीन नियमों और व्यवस्थाओं ने भी सामन्तों के प्रभाव को कम करने में महत्त्वपूर्ण योगदान दिया। 19वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध तक जागीरों में आने वाला सामान चुंगी आदि करों से मुक्त था। किन्तु नये नियमों के अन्तर्गत अब सामन्तों को भी व्यापारियों की भांति चुंगी देनी पड़ती थी। यही नहीं अब उन्हें अपनी गढ़ी में अपराधियों को शरण देने और शराब निकालने की भट्टियां रखने के अधिकार से भी वंचित कर दिया गया। यहां तक कि सामन्तों के न्यायालयों में उपस्थित न होने तथा स्टाम्प शुल्क से मुक्ति के अधिकार भी समाप्त कर दिये गये। स्पष्ट है इनके चलते न केवल सामन्तों के गौरव व प्रभाव में कमी आई वरन् अनेक मामलों में तो वे जनसाधारण की भांति सामान्य लोगों की श्रेणी में आ गये।

18वीं शताब्दी तक राज्य के महत्वपूर्ण पदों पर प्रायः सामन्त ही नियुक्त किये जाते थे। अनेक राज्यों में तो जागीर विशेष का सामन्त ही पद विशेष का अधिकारी होता था। किन्तु ब्रिटिश सरकार ने राजपूत राज्यों के आन्तरिक प्रशासन पर अपना शिकंजा दृढ़ करने और इच्छानुसार हस्तक्षेप करने के लिये इन राज्यों में अपने प्रति निष्ठावान और स्वामिभक्त नौकरशाही की स्थापना की जिसके परिणामस्वरूप 19वीं निष्ठावान और स्वामिभक्त नौकरशाही की स्थापना की जिसके परिणामस्वरूप 19वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में लगभग सभी राज्यों में सामन्तों की अपेक्षा नवीन नौकर शाही का वर्चस्व स्थापित हो गया जिससे शासनतन्त्र पर सामन्तों का अवशिष्ट प्रभाव भी समाप्त हो गया।

6.4 सामन्तों को विशेषाधिकारों से वंचित करने के परिणाम

1. सामन्त अब अपने दुर्ग में शराब नहीं निकलवा सकते थे। इससे उन्हें महान् आर्थिक हानि उठानी पड़ी।

2. व्यापारी वर्ग सामन्तों के प्रभाव से मुक्त हो गया। व्यापारी अब अपनी जमीन बेचकर अन्यत्र जा सकते थे तथा वहां बस सकते थे। जहां चाहे तथा जो चाहे अपना व्यवसाय कर सकते थे। साहूकारों को अब अपने पैसे की वसूली के लिए सामन्तों की शरण में नहीं जाना पड़ता था।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

3. सामन्त अब अपने गढ़ों (दुर्गों) में किसी अपराधी को शरण नहीं दे सकते थे। अतः स्पष्ट है कि वे अब –सत्ता के स्रोत' नहीं रहे।

4. राज्यों के प्रशासन में भी उनका विशेष हाथ नहीं रहा। राज्य के उच्च पदों पर पहले की भांति अब उनकी नियुक्ति आवश्यक नहीं समझी गई।

5. शिक्षा के क्षेत्र में उनके विशेषाधिकार अवश्य सुरक्षित रखे गये। परन्तु यह अधिकार भी सरदारों के पुत्रों के लिए ही था। उनके लिए अलग से शिक्षण संस्थाएं खोली गई। सामान्य शिक्षण संस्थाओं में भी उनके लिये कक्षाओं में अलग से कुर्सियां लगाई जाने लगी। परन्तु ऐसा सामन्तों के कुमारों को अंग्रेजी शिक्षा के माध्यम से पाश्चात्य संस्कृति से प्रभावित करने के लिए किया गया था। इसलिए किया गया था ताकि वे अंग्रेजी संस्कृति में रमते जावें।

6. प्रशासन में सामन्तों के महत्व को घटाने हेतु ब्रिटिश सरकार ने राज्यों में अपने निष्ठावान तथा अपने स्वामी–भक्त सेवकों का एक अलग वर्ग उत्पन्न किया। ये सेवक न तो राजा की ही चिन्ता करते थे और न सामन्तों की ही।

6.5 यूरोपीय सामन्त पद्धति से तुलना :

खड़गबन्दी के समय सामन्त द्वारा दी जाने वाली धनराशि (नजराना), वैध उत्तराधिकारी के अभाव में जागीर पर राज्य का अधिकार, सामन्त को अपने स्वामित्व का हस्तानान्तरण करने, राजपरिवार में विवाह के अवसर पर दी जाने वाली धनराशि (न्योता), अवयस्क सामन्त की रक्षा का दायित्व, सामने में राजस्व वसूल करने के अधिकार, विभिन्न समयों पर दरबार में उपस्थित होने की परम्परा, सामन्तों के वर्गीकरण, सामन्तों द्वारा दी जाने वाली सैनिक व अन्य सेवाओं तथा उनके शान्ति और रक्षा सम्बन्धी दायित्वों और विशेषाधिकारों आदि साम्यताओं के आधार पर पाश्चात्य विद्वान कर्नल टॉड ने राजस्थानी सामन्त व्यवस्था को यूरोपीय सामन्त व्यवस्था के समान माना था। किन्तु अनेक विद्वान इन दोनों व्यवस्थाओं को समान नहीं मानते। उनका मत है कि टॉड द्वारा प्रदर्शित साम्यताएं दोनों व्यवस्थाओं में संयोगवश ही समान रूप से मिलती है किन्तु यह राजस्थानी सामन्ती व्यवस्था के आवश्यक लक्षण नहीं है क्योंकि यदि हम यूरोपीय और राजस्थानी सामन्त व्यवस्था का गहन अध्ययन करे तो यह स्पष्ट हो जायेगा कि दोनों व्यवस्थाएं अपने उदय, स्वरूप, विकास आदि की दृष्टि से दो भिन्न व्यवस्थाओं की प्रतिनिधि थी, जिनमें परस्पर कोई समानता नहीं थी। यहां हम दोनों में अन्तर्निहित भिन्नताओं की संक्षिप्त विवेचना करेंगे।

यूरोपीय और राजस्थानी सामन्त व्यवस्था का उद्‌भव भिन्न–भिन्न परिस्थितियों में हुआ था। यूरोप में सामन्त व्यवस्था का उद्‌भव राजाओं की शक्ति के पतन के कारण और राजसत्ता के दायित्वों का निर्वहन करने वाली वैकल्पिक संस्था के रूप में हुआ था जबकि राजस्थानी सामन्त व्यवस्था का उद्‌भव राजाओं की शक्ति के उदय के साथ ही हुआ था और यहां यह व्यवस्था राजसत्ता की सहयोगी थी, विकल्प नहीं। वस्तुतः यूरोपीय सामन्त व्यवस्था रोमन साम्राज्य के पतन की देन थी। रोमन साम्राज्य के पराभव और पतन के काल में जब यूरोप में सर्वत्र अशान्ति और अराजकता व्याप्त हो गई तथा सरकार अपने नागरिकों के जान–मान की सुरक्षा को प्राथमिक दायित्व के निर्वहन में भी असफल हो गई तो इस दायित्व के निर्वहन के लिये विकल्प के रूप में सामन्त व्यवस्था का उदय हुआ। सामन्तों ने स्थानीय लोगों के जान–माल की सुरक्षा का दायित्व स्वीकार किया। उन्हें अपने क्षेत्र में शान्ति और व्यवस्था बनाये रखने के लिये अनेक अधिकार दिये गये जैसे सिक्कों को ढ़लवाना, निजी तौर पर युद्ध लड़ना, सामन्ती कर के अतिरिक्त अन्य कर न देना, अपने क्षत्र के शासन के लिये कानून बनाना तथा न्याय प्रदान करना आदि। टॉड सहित सभी पाश्चात्य विद्वानों ने स्वीकार किया है कि यूरोप में सामन्ती व्यवस्था का जन्म बर्बरतापूर्ण वातावरण के फलस्वरूप हुआ था, किन्तु इसके विपरीत राजस्थानी सामन्त व्यवस्था के उदय के लिये ऐसी परिस्थितियां उत्तरदायी नहीं थी वरन् यहां इस व्यवस्था का जन्म राजाओं की शक्ति के साथ हुआ था। डॉ. पी.शरण का मत है कि राजस्थानी सामन्त प्रथा का उदय सामाजिक और नैतिक कारणों से हुआ था, राजनीतिक आवश्यकता के कारण नहीं।

स्वरूप की दृष्टि से भी ये दोनों व्यवस्थाएं भिन्न थी। यूरोप में राजा और सामन्त के सम्बन्ध स्वामी और सेवक के थे तथा दोनों में मध्य एक अनुबन्ध था जिसके अन्तर्गत सामन्त अपने स्वामी की मदद में युद्ध करने जाता था। किन्तु राजस्थान में राजा सामन्त का स्वामी नहीं वरन् कुल का नेता मात्र था। यही नहीं राजा का सामन्त के साथ व्यक्तिगत या रक्त का सम्बन्ध ा होता था। राजस्थान के सामन्त राजा की मदद किसी अनुबन्ध के अन्तर्गत नहीं वरन् इसलिये करते थे कि वे राजा को सम्पूर्ण कुल की सामूहिक सम्पत्ति मानते थे।

यूरोप व राजस्थान के सामन्तों में अधिकारों की दृष्टि से भी पर्याप्त भिन्नता थी। यूरोप में सामन्तों को सिक्के ढालने, अपने क्षेत्र के प्रशासन के लिये नियम बनाने तथा न्याय प्रदान करने आदि के व्यापक अधिकार प्राप्त थे। किन्तु राजस्थान के

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

सामन्तों के कभी भी इतने व्याप्त अधिकार प्राप्त नहीं हुये। यद्यपि स्वतन्त्रता के पूर्व राजस्थान के कुछ सामन्तों के पास न्यायिक अधिकार थे, किन्तु वे नाममात्र के थे अन्यथा राजस्थान में न्याय कार्य ग्राम पंचायतों और जाति पंचायतों के पास था जिसमें सामन्त कभी हस्तक्षेप नहीं करते थे। इसके विपरीत यूरोप में सामन्तों को न्याय सम्बन्धी सभी अधिकार प्राप्त थे।

दोनों व्यवस्थाओं में एक भिन्नता भूमि स्वामित्व सम्बन्धी भी थी। यूरोप में भूमि राजा की मानी जाती थी अर्थात् वहां भूमि का स्वामी राजा था। अतः वह सामन्तों को भू–स्वामित्व हस्तानान्तरित करता था। किन्तु भारत के अन्य भागों की भांति राजस्थान में भी भूमि का स्वामी किसान था, राजा अथवा सामन्त केवल भूमि की उपज का भाग लेने का अधिकारी था। इसलिये यहां के राजा भूस्वामित्व को नहीं वरन् भूमि की उपज का भाग लेने अर्थात् भूमि कर लेने के अधिकार को ही हस्तानान्तरित कर सकते थे।

अन्त में, हम देखते है कि यूरोप में राष्ट्रीय राज्यों के उदय और राजाओं की शक्ति में वृद्धि के साथ सामन्तों की शक्ति का भी पतन आरम्भ हो गया और अन्ततः यह व्यवस्था पूर्णतः समाप्त ही हो गई, किन्तु राजस्थान में राजा और सामन्त प्रथा दोनों अन्त तक साथ–साथ चलती रही।

6.6 सारांश :

मध्ययुगीन सामन्तवाद की बाह्य छवि प्रभावोत्पादक थी। बाह्य आक्रमणों से राज्य की सुरक्षा और राज्यों के कुलीय संघर्षों में उनके सैनिक सहयोग का महत्त्व बढ़ा–चढ़ा था। परन्तु अपनी उन्नति की चरम सीमा के दिनों में भी उनकी वास्तविक स्थिति काफी दुर्बल थी। लगभग सभी राज्यों में प्रशासन की बागड़ोर कुलीय सामन्तों के हाथों में कभी नहीं दी गई थी। राज्यों के प्रबन्ध कार्य में हमेशा गैर–राजपूतों को महत्त्व दिया जाता रहा। जैसे कि, जयपुर में सिन्धी परिवार, उदयपुर में ओसवाल, जोधपुर में भण्डारी तथा सिन्धी, बीकानेर में ओसवाल और मेहता परिवारों को ही मुख्यतः शासन कार्य का दायित्व सौंपा जाता था। कई बार ब्राह्मणों को भी यह दायित्व सौंपा जाता रहा। परन्तु राजाओं ने अविश्वास की वजह से अपने सगे–सम्बन्धियों तथा बन्धु–बान्धवों को इस उत्तरदायित्व से दूर ही रखा। सामन्तों की उपयोगिता तभी तक थी, जब तक कि राजा उनके स्थान और महत्त्व को स्वीकार करता रहे। ब्रिटिश संरक्षण की स्थापना के बाद जब बाह्य आक्रमणों तथा कुलीय संघर्षों का भय समाप्त हो गया तो राजाओं को उनके सहयोग की आवश्यकता न रही। अब सामन्त लोग उनके दरबारो की शोभामात्र बन कर रह गये। यही कारण है कि सामन्त लोग नयी राजनीतिक व्यवस्था से सन्तुष्ट नहीं थे। परन्तु ब्रिटिश समर्थन से युक्त राजाओं के विरूद्ध वे कोई कदम उठाने की स्थिति में भी नहँ थे। अतः उनके सामने सर्वोच्च सत्ता के प्रति निष्ठावान रहते हुए अपने स्वार्थों की रक्षा करने के अलावा अन्य कोई मार्ग नहीं खुला था।

6.7 बोध प्रश्न :

प्रश्न 1 राजपूत राजाओं ने अपने सामन्तों के विरूद्ध ब्रिटिश संरक्षण कब स्वीकार किया?

अ. 1807 ई.　　ब. 1818 ई.

स. 1825 ई.　　द. 1858 ई.

उत्तर – ....

प्रश्न 2 खालसा भूमि की समस्या क्या थी? 30 शब्दों में टिप्पणी लिखिए।

उत्तर – ....

प्रश्न 3 ब्रिटिश प्रभुत्व में सामन्तों की स्थिति में क्या परिवर्तन हुए? सविस्तार विवेचन कीजिए।

उत्तर – ....

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

इकाई – 7
मालदेव के अधीन मारवाड़ राज्य का उत्कर्ष

संरचना

7.0 उद्देश्य
7.1 प्रस्तावना
7.2 राज्याभिषेक एवं मारवाड़ की स्थिति
7.3 तत्कालीन परिस्थितियाँ
7.4 मालदेव की विजय
 7.4.1 भाद्राजुण विजय (1539 ई.)
 7.4.2 नागौर विजय (1536 ई.)
 7.4.3 मेड़ता व अजमेर विजय (1535 ई.)
 7.4.4 सिवाना और जालौर विजय
 7.4.5 अन्य विजय
 7.4.6 मालदेव व बीकानेर
 7.4.7 मालदेव और जैसलमेर
 7.4.8 मालदेव और मेवाड़
7.5 मालदेव और हुमायूं
7.6 मालदेव और शेरशाह
 7.6.1 सुमेल युद्ध के कारण
 7.6.2 युद्ध की घटनाएँ
 7.6.3 सुमेल युद्ध का महत्त्व
 7.6.4 राजपूतों की पराजय के कारण
7.7 मालदेव का पुनः सत्तारूढ़ होना
7.8 मालदेव और मेड़ता विजय
7.9 मालदेव और अकबर
7.10 मालदेव का मूल्यांकन
 7.10.1 विजेता के रूप में
 7.10.2 निर्माता के रूप में
 7.10.3 प्रशासक के रूप में
 7.10.4 सेनानायक के रूप में
 7.10.5 युद्ध प्रणाली
 7.10.6 साहित्यकारों को आश्रय देना
 7.10.7 मालदेव की व्यक्तिगत त्रुटियां
7.11 सारांश
7.12 बोध प्रश्न

7.0 इकाई :

राजस्थान के मारवाड़ के राजपूत राजा मालदेव के सैनिक अभियानों, विजयों, मुगल सम्बन्ध तथा विभिन्न देशी रियासतों के साथ सम्बन्ध को इस इकाई में समझाया गया है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

7.1 प्रस्तावना :

मारवाड़ के इतिहास में मालदेव का उतना ही महत्त्वपूर्ण स्थान है जितना मेवाड़ के इतिहास में राणा सांगा या प्रताप का है। विदेशी लेखक फरिश्ता और बदायूनी ने मालदेव को "भारत का महान् पुरुषार्थी राजकुमार कहा है।" वास्तव में विदेशियों का यह वर्णन सत्य ही है। राणा सांगा को तो सिर्फ बाबर का ही सामना करना पड़ा था और प्रताप भी एकमात्र अकबर का प्रतिद्वन्द्वी था, किन्तु मालदेव को अन्तरिक वैमनस्य और विदेशी आक्रमणकारियों का एक साथ सामना करना पड़ा। गुजरात का बहादुरशाह, दिल्ली का हुमायूं और बिहार का शेरशाह तो उसकी प्रगति में बाधक थे ही किन्तु राजस्थान के राजपूत राजा भी मालदेव के मार्ग में बड़ी रूकावट थे। उसे जिस प्रकार शेरशाह से उलझना पड़ा उसी प्रकार उसने बीकानेर, जैसलमेर, मेड़ता आदि 48 राजस्थानी स्थानों पर विजय प्राप्त कर अपने पुरुषार्थ का प्रमाण दिया। उसके 31 वर्षीय शासनकाल में मारवाड़ का जो राज्य विस्तार हुआ तथा जिस विजय को अपना कर मालदेव ने मारवाड़ को सुदृढ़ और शक्तिशाली राज्य बनाया, , उससे वह मारवाड़ के ही नहीं सारे राजस्थान के इतिहास में अमर हो गया है। सन् 1531 में जब मालदेव मारवाड़ की गद्दी पर बैठा तो जोधपुर के अतिरिक्त उसके राज्य में सोजत और मंडोर मात्र दो राज्य ही और थे। मालदेव के शासनकाल में जोधपुर का राज्य अपनी चरम सीमा तक जा पहुंचा था। समय मालदेव के अनुकूल था और परिस्थितियां उसका मार्ग–दर्शन कर रही थी।

7.2 राज्याभिषेक एवं मारवाड़ की स्थिति :

राव मालदेव गांगा का सबसे बड़ा पुत्र था। उसका जन्म 5 सितम्बर, 1511 ई. को हुआ था। उसकी माता सिरोही के देवड़ा शासक जगमाल की पुत्री थी। गांगा के शासनकाल में ही मालदेव ने अपने आपको एक सुयोग्य एवं पराक्रमी सेनानायक सिद्ध कर दिया था। गांगा द्वारा सोजत की विजय में मालदेव की प्रमुख भूमिका रही थी। सेवाकों के युद्ध में भी मालदेव के पराक्रम तथा नेतृत्व के कारण गांगा को सफलता मिली थी। गांगा के प्रतिनिधि की हैसियत से मालदेव ने खानवा के युद्ध में भाग लिया था और राणा सांगा ने मुगलों के दक्षिणी पार्श्व पर आक्रमण करने का दायित्व मालदेव को ही सौंपा था। मालदेव का प्रारम्भिक आक्रमण इतना भयंकर रहा कि मुगल सेना इसका दबाव सहन न कर पायी और बाबर को तत्काल इस पार्श्व की सहायता के लिये सैनिक दस्ते भेजने पड़े। मुगलों के साथ प्रतिरोध का इकाई यहीं से शुरू हो जाता है। घायल सांगा को सुरक्षित स्थान तक ले जाने वाले विश्वस्त सरदारों में मालदेव भी एक था।

गांगा की मृत्यु के बाद 1532 ई. (कुछ के अनुसार 1531 ई.) में मालदेव मारवाड़ राज्य तथा राठौड़ों का शासक बना, परन्तु उत्तराधिकार में उसे केवल जोधपुर और सोजत के दो परगने प्राप्त हुए थे। अन्य परगनों राठौड़ सरदार केन्द्रीय सत्ता से लगभग स्वतन्त्र हो चुके थे और जोधपुर के शासक को वे केवल कुलीय नेता मानकर उसका सम्मान करते थे न कि अपना शासक मानकर। स्वजातीय प्रेम के कारण संकटकाल में वे जोधपुर राज्य कोसैनिक सहयोग देना अपना नैतिक कर्त्तव्य मानते थे परन्तु इसके लिए वे किसी प्रकार से बाध्य नहीं थे। इसका मुख्य कारण यह था कि इन राठौड़ सरदारों अथवा उनके पूर्वजों को ये परगने जोधपुर राज्य की ओर से जागीरों के रूप में प्राप्त नहीं हुए थे, अपितु उन्होंने जोधपुर राज्य की सहायता अथवा कभी बिना सहायता के अपने स्वयं के पराक्रम से जीते थे और अपने ही बलबूते पर अभी तक अपने अधिकृत क्षेत्रों पर अपने अधिकार को बनाये हुए थे। जोधपुर, मारवाड़ के राठौड़ की परम्परागत राजधानी थी। यहां का शासक राजस्थान के सभी राठौड़ सरदारों का जातीय नेता समझा जाता था। राठौड़ों के अलावा कुछ अन्य जातियों ने भी मारवाड़ के कुछ क्षेत्रों में अपना शासन कायम कर रखा था जैसे कि बिलाड़ा में सीरवी, भाद्राजूण में वीरा सींघल, नागौर में मुहम्मदखान, जैसलमेर में भाटी लूणकरण, फतहपुर, झुंझुनूं, डीडवाना में कायमखानी मुसलमान, जालौर में बिहारी पठानों का और अजमेर में जगमाल का शासन था। परन्तु मालदेव एक महत्त्वकांक्षी शासक था। वह सांगा के पदचिह्नों पर चलकर उत्तरी भारत में राजपूतों की सर्वोच्चता को पुनः स्थापित करना चाहता था। उसने अपनी निरन्तर सैनिक विजयों तथा कूटनीति के द्वारा मारवाड़ राज्य की सीमाओं का विस्तार किया और अपने राज्य को उत्तरी भारत का एक शक्तिशाली राज्य बना दिया। इसीलिए समकालीन फारसी इतिहासकारों (अबुल फजल, बदायूंनी, निजामुद्दीन आदि) ने उसे हिन्दुस्तान का हशमत वाला शासक कहा है और मुक्तकंठ से उसकी शूरवीरता की प्रशंसा भी की है।

7.3 तत्कालीन परिस्थितियां :

उत्तरी भारत की तत्कालीन परिस्थितियों ने मालदेव को अपनी महत्त्वाकांक्षी विस्तारवादी नीति को कार्यान्वित करने का अनुकूल अवसर प्रदान किया। भारत में मुगल साम्राज्य की स्थापना करने वाले बाबर की 1530 ई. में मृत्यु हो चुकी थी।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

उसका उत्तराधिकारी हुमायूं विलासी, अकर्मण्य तथा अयोग्य सिद्ध हो रहा था। उसे अपने शासन के प्रारम्भिक दस वर्षों में गुजरात के सुल्तान बहादुरशाह और अफगानों के नवोदित नेता शेरखां सूरी से निरन्तर संघर्ष करना पड़ा और अन्त में उसे अपने साम्राज्य से भी हाथ धोना पड़ा। अपने उपर्युक्त शत्रुओं के साथ संघर्ष में उलझे रहने के कारण हुमायूं को मारवाड़ की तरफ ध्यान देने का अवसर ही नहीं मिल पाया।

खानवा के बाद राजस्थान का राजनीतिक संतुलन भी डगमगाया। राणा सांगा की पराजय और उसके कुछ समय बाद ही उसकी मृत्यु के परिणामस्वरूप मेवाड़ राजवंश की शक्ति जो उत्तरी भारत में अपनी सर्वोच्चता की ओर अग्रसर हो रही थी, को अपंग बना दिया। सांगा की मृत्यु से राजपूती नेतृत्व का जो स्थान रिक्त हो गया था, उसकी पूर्ति अपेक्षित थी, परन्तु मेवाड़ के तत्कालीन राणाओं में उस स्थान की पूर्ति करने योग्य क्षमता न थी। सांगा के बड़े पुत्र तथा उत्तराधिकारी राणा रत्नसिंह की राज्याभिषेक के थोड़े दिनों बाद ही मृत्यु हो गई। उसकी मृत्यु के बाद सांगा के दूसरे पुत्र विक्रमादित्य को राणा बनाया गया, परन्तु वह उद्दण्ड तथा अयोग्य निकला ओर दासी पुत्र बनवीर ने उसकी हत्या करके मेवड़ की बागडोर अपने हाथ में ली। बणवीर ने सांगा के अन्तिम जीवित पुत्र उदयसिंह को भी समाप्त करने की योजना बनाई थी, परन्तु पन्ना धाय ने उसे बचा लिया। कुछ दिनों बाद मेवाड़ के सरदारों ने बणवीर को मौत के घाट उतार कर उदयसिंह को राणा बनाया। इस प्रकार, सांगा की मृत्यु के बाद एक लम्बे समय तक मेवाड़ के शासक अपनी आंतरिक समस्याओं में ही उलझे रहे और राजस्थान की राजनीति में किसी प्रकार की महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा नहीं कर पाये। पूर्वी राजस्थान में आमेर के कछवाहा राजपूतों का शासन था परन्तु इस अवधि में उनकी पारस्परिक कलह ने उन्हें भी शक्तिहीन बना दिया था। बीकानेर में राठौड़ों का शासन था परन्तु उनमें मालदेव का सामना करने अथवा उसकी विस्तारवादी नीति को रोकने की क्षमता नहीं थी। इस प्रकार की अनुकूल परिस्थितियों में मालदेव ने अपनी शक्ति को संगठित करके अपनी सर्वोच्चता को स्थापित करने का प्रयास किया।

7.4 मालदेव की विजय :

मालदेव को गुजरात के शासक बहादुरशाह का सदा भय बना रहता था। किन्तु 1573 में उसका भी देहान्त हो गया। हुमायूं तो शेरशाह से उलझा था अतः इन दोनों का भी शुरू में कोई भय नहीं था। सब ओर से निश्चित होकर मालदेव ने राज्य विस्तार कार्य शुरू किया। उसकी विजयों में प्रारम्भिक महत्त्वपूर्ण, भद्राजुण, नागौर, मेड़ता, अजमेर,सिवाना और जालौर विजय हैं।

7.4.1. भद्राजुण विजय – मालदेव राज्य विस्तार की नीति में विश्वास रखता था। उसने सबसे पहले 1539 में भद्राजुण पर अधिकार किया। भद्राजुण जोधपुर के दक्षिण में स्थित है। भद्राजुण का स्वामी वीरा कई दिनों के युद्ध के बाद मारा गया। भद्राजुण के सिंघली शासक जोधपुर के विरोधी थे। वीर के मारे जाने पर मालदेव ने भद्राजुण की जागीर अपने लड़के रतनसिंह के नाम कर दी। इस विजय से उसका एक प्रबल शत्रु समाप्त हो गया। इस अभियान में मेड़ता के जागीरदार वीरमदेव ने भी मालदेव का साथ दिया। इस प्रथम विजय ने मालदेव के हौसले बढ़ा दिये और वह अन्य विजय की योजनाएं बनाने लगा। लगे हाथ उसने रायपुर पर भी आक्रमण कर दिया। रायपुर में भी सिंघली वंश का शासक था। मालदेव ने 1541 में उसे भी पराजित कर मार डाला और रायपुर भी अपने लड़के रतनसिंह को दे दिया।

7.4.2. नागौर विजय (1536) – भद्राजुण और रायपुर जीतने के बाद मालदेव ने अपना ध्यान दूसरी तरफ की सीमा पर दिया। नागौर पर दौलत खां का अधिकार था और दौलत खां मालदेव के पिता के समय से मेड़ता लेने का प्रयत्न कर रहा था। मालदेव ने उपयुक्त समय देखकर नागौर पर आक्रमण कर दिया। दौलत खां ने मालदेव के चाचा शोखा के साथ जोधपुर पर भी आक्रमण किया था। उस समय दौलत खां जान बचाकर भाग गया था। दौलत खां ने हीरावाड़ी के मैदान में मालदेव कासामना किया किन्तु हार गया। नागौर पर मालदेव अधिकार हो गया। दौलत खां ने अपनी सारी सेना को एकत्रित कर एक बार फिर मालदेव पर आक्रमण किया किन्तु इस बार भी पराजित हुआ। मालदेव ने वीरम मांगलियोत को नागौर का हाकिम नियुक्त किया और स्वयं जोधपुर लौट आया। कवि श्यामलदास, रेऊ और ओझाजी सभी मालदेव की इस विजय को महत्त्वपूर्ण बताते हैं।

7.4.3. मेड़ता व अजमेर विजय (1535) – यद्यपि मेड़ता में जोधपुर का ही एक हाकिम राज्य करता था किन्तु राव गांगा के समय से मेड़ता और जोधपुर के सम्बन्ध बिगड़ रहे थें मेड़ता के हाकिम राव वीरमदेव ने दौलत खां का हाथी पकड़ लिया था और राव गांगा के मांगने पर भी नहीं दिया था। फलस्वरूप गांगा और मालदेव ने मेड़ता पर चढ़ाई की थी। अपनी दुर्बलता को समझ कर वीरमदेव ने जोधपुर नरेश का स्वागत किया था और हाथी लौटाने का वादा भी। किन्तु हाथी मार्ग में ही मर गया था और मालदेव इस व्यवहार से असंतुष्ट था। मालदेव इस प्रकार के हाकिमों को हटा देनाचाहता था। उसने तेजा और कूंपा नामक योग्य सेनापतियों की अधीनता में एक सेना मेड़ता भेजी जिसने वीरमदेव को मेंड़ता से निकाल

दिया वीरमदेव अजमेर भाग गया और वहां से उसने मेवाड़ और रीयां पर पुनः अधिकार करने के लिये छापो मारे। फलस्वरूप तेजा और कूंपा ने आगे बढ़ कर अजमेर पर भी आक्रमण किया। वीरमदेव को अजमेर भी छोड़ना पड़ा और वह रायमल शेखावत के पास गया। एक वर्ष तक युद्ध की तैयारी करने के बाद उत्तने मेड़ता पर फिर से आक्रमण किया किन्तु मालदेव के योग्य सेनापित तेजा ओर कूंपा ने उसे फिर मार भगाया। निराश होकर वीरमदेव रणथम्भौर के मुसलमान हाकिम से मिला जो उसे शेरशाह के पास ले गया। आगे चल कर शेरशाह ने मारवाड़ पर आक्रमण किया औरयही वीरमदेव मारवाड़ की पराजय का बड़ा कारण बन गया। मारवाड़ के इस हाकिम ने मालदेव के लिये बड़ी कठिनाइयां उत्पन्न कर दीं। जो भी हो अपने प्रारम्भिक काल में मालदेव ने वीरमदेव से मेड़ता और अजमेर छीन कर अपने राज्य में मिला लिया।

7.4.4. सिवाना और जालौर विजय – कृष्ण पक्षी आषाढ़ वि.स. 1594 (1537) का एक लेख सिवाना के काले द्वार के बाहर प्राप्त हुआ है जिसके अनुसार मालदेव ने सिवाना विजय 1537 ई. में की थी। टाड महोदय का यह मत कि मालदेव ने सिवाना 1539 में जीता था असत्य सिद्ध होता है। उस समय सिवाना पर राणा डूंगरसी राज्य करता था। मालदेव ने पहले अपनी एक सेना भेजी जिसे राणा डूंगरसी ने परास्त कर वापस लौटा दिया तब स्वयं मालदेव अपनी पूरी शक्ति के साथ सिवाना पर चढ़ आया और उसने सिवाना के किले को घेर लिया। डूंगरसी के पास रसद की कमी थी अतः वह किला खाली कर चुपचाप निकल गया और इस प्रकार बिना विशेष कठिनाई के मालदेव ने सिवाना का दुर्ग जीत लिया। डॉ. गोपीनाथ मालदेव की सिवाना विजय 1838 में लिखते हैं। इस वर्ष में कुछ सन्देह हो सकता है किन्तु यह स्पष्ट है कि मालदेव ने डूंगरसी को भगा कर सिवाना पर अधिकार कर लिया।

इसी प्रकार जब उसे मालूम हुआ कि जालौर का शासक सिकन्दर खां उसके विरूद्ध षड़यंत्र रच रहा है और उसे मारने का अवसर ढूंढ रहा है तो उसने जालौर पर आक्रमण कर सिकन्दर खां को बन्दी बना लिया। सिकन्दर खां मालदेव की कैद में ही मर गया। इस प्रकार सिकन्दर खां को अपने किये का फल मिल गया और उसके पतन के साथ मालदेव की प्रारम्भिक विजय का कार्य पूरा हो गया।

7.4.4. अन्य विजय – मालदेव को अपनी पैतृक सम्पत्ति के रूप में मंडोर, सोजत और जोधपुर मिले थे। धीरे–धीरे राज्य विस्तार कर उसने अड़तालीस जिलों पर अधिकार कर लिया। ऊपर हम उसकी भद्राजुण, नागौर, मेड़ता, अजमेर, सिवाना और जालौर विजय का वर्णन कर चुके हैं। इस प्रकार उसका नौ जिलों पर अधिकार हो गया बाकी के 39 जिलों पर विजय प्राप्त करने में उसे विशेष कठिनाई नहीं पड़ी। उसकी अन्य विजय के प्रदेश सांभर, खाटू, विदनौर, लौनू, लोहागढ़, झागलगढ़, बीकानेर, भीनमाल, पोकरण, बाड़मेरी, करौली, जोजावर, बंवली, मलार, नाडौल, फलौदी, सांचोर, डीडवाना, चाटसू, लौहान, मलारना, देवरा, फतहपुर, अमृतपुर फादर, भनापुर, टोंक, टोड़ा, जहाजपुर, उदयपुर (शेखावाटी में) मालपुरा, बिलाड़ा, जैतारण, पंचमदरा आदि के शासकों को पराजित किया। इस प्रकार मालदेव ने सिर्फ दस वर्ष के समय में 48 जिलों को जीतकर अपने अधीन कर लिया। उसके राज्य की सीमा दिल्ली और आगरा को छूने लगी। जिस समय शेरशाह 1540 में शक्तिशाली शासक बन चुका था और इस स्थिति में था कि उसकी सहायता भगोड़े हुमायू को पुनः दिल्ली के सिंहासन पर बैठा सकती थी। उसने हुमायूं को निमंत्रण भी दिया था। स्पष्ट है कि मालदेव में शेरशाह को चुनौती देने की शक्ति थी। उसके अधीन अनेक राठौर आ गये थे। इन्हीं में से जयमल हुआ जो मेवाड़ के इतिहास में काफी ऊंचा स्थान रखता है।

श्री मनोहर प्रभाकर अपनी पुस्तक 'राजस्थान की ऐतिहासिक विभूतियां' में लिखा हैं कि ''अपने परिवार को साथ लेकर हुमायूं राजा मालदेव के पास शरण मांगने आया। परन्तु राणा सांगा की ओर से बाबर के विरूद्ध लड़ता हुआ मालदेव का लड़का खानवा के युद्ध में मारा गया था अतः हुमायूं की सहायता करना अस्वीकार कर दिया और फलतः हुमायूं को मारवाड़ से निराश ही लौटना पड़ा।'' किन्तु ऐतिहासिक तथ्यों से स्पष्ट है कि सहायाता का प्रस्ताव राव मालदेव ने भेजा था न कि स्वयं हुमायूं ने। इस प्रकार मालदेव इतना शक्तिशाली हो गया कि भारत का मुगल सम्राट भी उससे सहायता की आशा करने लगा। मालदेव के लिये इससे बढ़कर मान्यता क्या हो सकती थी।

7.4.6. मालदेव व बीकानेर – बीकानेर को उस समय जांगल देश के नाम से जाना जाता था और मालदेव के समय इस जांगल देश का राजा राव जैतसी था। मालदेव जब मेड़ता, नागौर और शेखावटी पर अपना अधिकार कर चूका तो राज्य विस्तार की लालसा में प्रेरित होकर उसने अपने सेनापति कूंपा की अधीनता में एक विशाल सेना जांगल देश की विजय के लिये भेजी। बीकानेर का राजा राव जैतसी अपनी सीमित शक्ति से पूर्णतया परिचित था फिर भी उसने आत्म–समर्पण करने से मर जाना अच्छा समझा। उसने अपने परिवार को सुरक्षा के लिये सिरसा नगर भेज दिया और स्वयं अपनी पूरी शक्ति

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

के साथ मालदेव की सेना का मुकाबला करने आगे बढ़ा। साहेबा के मैदान में उसने मालदेव के सेनापति का कड़ा मुकाबला किया और लड़ता हुआ अपने साथियों सहित वीरगति को प्राप्त हुआ। लड़ाई के मैदान में आने से पहले जैतसी ने अपना दूत शेरशाह के पास भेज कर उससे मालदेव के विरूद्ध सहायता की मांग की किन्तु इससे पूर्व कि शेरशाह राव जैतसी की सहायता को आता, यह वीर युद्धभूमि में मारा गया। कूंपा की इस विजय से प्रसन्न होकर मालदेव ने उसे डीडवाना तथा झुंझुनूं की जागीर दे दी और साथ ही बीकानेर का प्रबन्ध भी सौंप दिया। इस प्रकार मालदेव ने 1542 ई में सिर्फ राज्य विस्तार की भावना से प्रेरित होकर जांगल देश को भी अपने अधीन कर लिया।

7.4.7. मालदेव और जैसलमेर – अपने पड़ौसी राज्यों से सम्बन्ध सुधारने के लिये मालदेव ने 1536 ई. में जैसलमेर की राजकुमारीउमादे से विवाह किया। लेकिन अज्ञात कारणों से पति पत्नी में अधिक समय तक मेल नहीं रह सका। कदाचित अन्य रानियों के प्रभाव में मालदेव जैसलमेर की राजकुमारी से रूष्ट हो गया। जब यह समाचार जैसलमेर के रावल लूणकरण को मिला तो उसके क्रोध का ठिकाना नहीं रहा ओर उसने मालदेव की हत्या करवाने का षड़यंत्र रचा। किन्तु उसकी खुद की रानी यह सहन नहीं कर सकी कि उसकी बेटी विधवा हो जाये। अतः उसने अपने पुरोहित राघवदेव के द्वारा मालदेव को सतर्क कर दिया। मालदेव को अपने ससुर लूणकरण की नीयत का पता चला तो उसका क्रोध और भड़क गया। रानी उमादे भी किसी प्रकार से झुकने को तैयार नहीं थी। मालदेव ने नाराज होकर उमादे को अजमेर के तारागढ़ में रहने को भेज दिया। उमादे मारवाड़ के इतिहास में रूठी रानी के नाम से विख्यात है। उमादे अजमेर में रहने लगी और शेष सारी उमर उसने वियोग में काट दी किन्तु मालदेव के बुलाने पर भी वापस जोधपुर नहीं गयी।

जिस समय शेरशाह ने अजमेर पर आक्रमण किया उस समय मालदेव ने अपना दूत ईश्वरदास रूठी रानी को मनाकर जोधपुर लाने को भेजा। अन्य रानियों को यह भय हो गया कि यदि उमादे जोधपुर आ गयी तो मालदेव अपना सारा स्नेह उसी पर न्योछावर कर देगा और अन्य रानियों का महत्त्व कम हो जायेगा अतः दूसरी रानियों ने आसा नामक बारेठ को अजमेर भेजा ताकि वह उमादे को जोश दिलाकर जोधपुर लौटने से रोक दे। मालदेव के दूत ईश्वरदास के मनाने पर रानी जोधपुर लौटने को तैयार हो गयी किन्तु उसी समय अन्य रानियों के दूत आसा ने रानी उमादे को एक ऐसा दोहा सुना जिसे सुनकर रानी का आत्मस्वाभिमान जाग उठा और उसने जोधपुर आने से मना कर दिया। यह दोहा रेऊ ने अपनी पुस्तक मारवाड़ का इतिहास के भाग एक में पृष्ठ – 121 पर दिया है। दोहा इस प्रकार हैं –

''मान राखे तो पीव तज, पीव रखे तो मान।
दोय गयंद न बन्ध ही, एकण खम्मे ठाँण।।''

अपना शेष जीवन रानी ने अपने दत्तक पुत्र राम के साथ गंदाज में रह कर काट दिया और जब मालदेव का देहान्त हुआ तो वह भी सती हो गयी। स्वाभिमान और स्नेह का ऐसा दूसरा उदाहरण नहीं मिलता। इस आपसी क्लेश से जैसलमेर और जोधपुर के सम्बन्ध दीर्घकाल के लिये खराब हो गये और जब मालदेव पर विपत्ति आई तो जैसलमेर ने कोई सहायता नहीं की।

7.4.8. मालदेव और मेवाड़ – प्रारम्भ में मेवाड़ और जोधपुर के सम्बन्ध अच्छे थे। इम इकाई के प्रारम्भ में देख चुके हैं कि वणवीर के विरूद्ध राव मालदेव ने राणा उदयसिंह की सहायता की थी। रेऊ आदि इतिहासकार तो यहां तक मानते हैं कि वणवीर को चित्तौड़ से भगाकर उदयसिंह को मेवाड़ की गद्दी पर मालदेव ने ही बैठाया था और उदयसिंह ने उपहार स्वरूप मालदेव को हाथी और चार लाख रूपये आदि दिये थे। इस सारी कथा का सार इतना आवश्यक है कि मालदेव और उदयसिंह आपस में मित्र थे। दो राज्यों की मित्रता एक रूपमती कन्या के प्रश्न को लेकर छिन्न–भिन्न हो गयी। झाला सज्जा का पुत्र जैतसिंह माराणा उदयसिंह से नाराज होकर, अपनी उदयपुर की जागीर छोड़कर मारवाड़ आ गया। मालदेव ने इस असंतुष्ट सामन्त को अपने यहां शरण दी और खैरवा की जागीर दे दी। बदले में जैतसिंह ने अपनी पुत्री स्वरूप देवी का विवाह मालदेव के साथ कर दिया। कुछ समय बाद जब मालदेव एक दिन अपने ससुराल गया तो उसने जैतसिंह की छोटी लड़की को देखा और उसके रूप पर मोहित हो गया। मालदेव ने जैतसिंह की छोटी लड़की से भी विवाह करने की इच्छा प्रकट की। जैतसिंह को यह बात अच्छी नहीं लगी। उसने तत्काल प्रयत्न कर अपनी छोटी लड़की का विवाह राणा उदयसिंह से कर दिया। इस विवाह से झाला जैतसिंह और उदयपुर के सम्बन्ध तो ठीक हो गये लेकिन मालदेव को अच्छा नहीं लगा। उसने नाराज होकर कुम्भलगढ़ पर आक्रमण किया किन्तु गढ़ को जीत नहीं सका। एक कन्या के लिये उसने मेवाड़ से सम्बन्ध बिगाड़ कर अच्छा नहीं किया। वह अपने जीवन काल के लिये मेवाड़ जैसी शक्ति का सहयोग खो बैठा।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

7.5 मालदेव और हुमायूं :

जिस समय दिल्ली पर हुमायूं शासन कर रहा था उस समय मारवाड़ का शासक राव मालदेव था। हुमायूं की कठिनाइयों से मालदेव ने पूरा–पूरा फायदा उठाया था। जब हुमायूं, शेरखा और गुजरात के बहादुरशाह के विरूद्ध युद्धों में व्यस्त था, उस समय मालदेव ने राजस्थान के अधिकांश भाग को अपने अधिकार में कर लिया था।

भारत से पलायन के समय जब हुमायूं सिंध में था, उसे मालदेव का निमन्त्रण मिला। मालदेव ने जून, 1541 ई. में अपना दूत हुमायूं के पास भेजकर उसे वापस सिंहासन प्राप्त करने में सहयोग का आश्वासन दिया। वास्तव में हुमायूं और शेरशाह में जो संघर्ष चल रहा था उसे मालदेव सतर्कता के साथ देख रहा था। कन्नौज के युद्ध के बाद की परिस्थितियों से मालदेव भली–भांति अवगत था। वह यह भी जानता था कि शेरशाह की फौजें चारों ओर बिखरी हुई थी और जगह–जगह ऐसी स्थिति थी कि अफगान फौजें वहां से आसानी से लौट नहीं सकती थी। स्वयं शेरशाह दिल्ली से सुदूर गौड़ से लगभग एक हजार मील की दूरी पर पहुंच गया था। मालदेव ने विचार किया कि जोधपुर राज्य का प्रभाव –क्षेत्र बढ़ाने का यह सबसे उपयुक्त समय था अतः उसने हुमायूं के पास सन्देश भेजा कि वही से शेरशाह के विरूद्ध सहायता देने को तैयार है। इस में सन्देश सूझ–बूझ थी, क्योंकि शेरशाह की अनुपस्थिति में मालदेव सीधा दिल्ली और आगरे की ओर प्रयाण कर सकता था और हुमायूं के नाम से अपने समर्थकों की संख्या बढ़ा सकता था। मालदेव इस युक्ति से न केवल अपना राज्य विस्तारित कर सकता था बल्कि हुमायूं के दिन भी बदल सकते थे मालदेव हुमायूं के निष्कासन को अस्थायी समझता था, उसे विश्वास था कि मुगल सम्राट को दिल्ली के तख्त पर बैठाकर वह उत्तरी भारत की राजनीति को नियन्त्रित कर सकता था। मालदेव का निमन्त्रण हुमायूं के राजपूतों के प्रति प्रेम के कारण नहीं था बल्कि इसलिए था कि वह अफगानों के विरूद्ध अपनी स्थिति सुदृढ़ बना लेना चाहता था।

हुमायूं स्वभाव से दृढ़ निश्चय का व्यक्ति नहीं था और शायद उसे मालदेव के प्रस्ताव पर भी पूरा भरोसा नहीं था। अतः वह सिंध में ही टक्करे मारता रहा लेकिन हर दिशा में निराशा पाने के पश्चात् ठीक एक वर्ष बाद उसे मालदेव का ध्यान आया और 6 मई, 1542 ई. को वह मारवाड़ की तरफ रवाना हो गया। मारवाड़ की राजधानी जोधपुर से काफी फासले पर कुल–ए–जोगगी नामक स्थान पर उसने अपना पड़ाव डाला। मालदेव के पास तीन दूत (अतगा खां, समन्दर और रायमल सोनी) भेजे। समकालीन फारसी ग्रन्थों को पढ़ने से पता चलता है कि जब हुमायूं मालदेव की सहायता चाहता था। उस वक्त मालदेव ने बेरूखी से काम लिया और उसकी सहायता नहीं की। गुलबन्द, बेगम लिखती है कि सैनिक सहायता देने के स्थान पर मालदेव ने केवल बहुमूल्य भेंट हुमायूं के पास भिजवाई और उसे बीकानेर देने का आश्वासन दिया। लेकिन जब मालदेव की सेवा में रहने वाले हुमायूं के भूतपूर्व पुस्तकाध्यक्ष मुल्ला सुख(ने जोधपुर से बादशाह को लिखकर भेजा कि मालदेव के इरादे ठीक नहीं है तो हुमायूं मारवाड़ छोड़कर वापस सिंध की तरफ चला गया। गुलबदन बेगम और जौहर ने जिस रूप में हुमायूं की मारवाड़ यात्रा का वर्णन किया है कि उसे पढ़ने से यह स्पष्ट रूप से जाहिर होता है कि मालदेव ने हुमायूं के पास स्वयं निमन्त्रण भेजकर उसकी सहायता नहीं की। लौटते हुए बादशाहीदल का मालदेव की थोड़ी सी सेना ने पीछा किया जिससे भयभीत होकर हुमायूं मारवाड़ से निकल भागा। इस यात्रा में भी उसे कष्ट उठाना पड़ा। अब प्रश्न यह रहा जाता है कि हुमायं को अमन्त्रित कर मालदेव ने उसके साथ ऐसा व्यवहार क्यों किया? इस प्रश्न का उत्तर लगभग सभी मुगल इतिहासकार तो यही देते है कि मालदेव ने बादशाह को धोखा दिया परन्तु यह विचार तथ्यहीन है। जिन परिस्थितियों में मालदेव ने हुमायूं को अमन्त्रित किया था उन्हें देखते हुए तो यह सही प्रतीत होता है कि मालदेव उस समय हुमायूं को साथ लेकर शेरशाह की शक्ति को चुनौती देना चाहता था। यह तो हुमायूं का दोष था कि वह समय की आवश्यकता को न पहचान सका और निमन्त्रण मिलने के एक वर्ष के बाद आया यह तो हुमायूं की उपेक्षा थी जिस ने ऐसी परिस्थिति में डाला। हुमायूं के साथी शेरशाह के दूत की सूचना पाकर और मालदेव के उपेक्षाजन्य आचरण के पहले से ही राजा के प्रति शक्ति हो गए थे जिससे प्रत्येक घटना को मालदेव के धोखे से जोड़ते थे। मालदेव ने इस समय न तो हुमायूं को कोई सहायता दी और न उसका इरादा भविष्य में ही उसे सहायता पहुंचाने का था, यह स्पष्ट है इसका कारण भी साफ है। मालदेव उस समय न तो शेरशाह को अप्रसन्न करने के लिए तैयार था और न इस स्थिति में था कि शेरशाह से लड़े। ऐसी दशा में उसके लिए यही उचित था कि वह किसी न किसी तरह हुमायूं को मारवाड़ से बाहर भेज दे जिससे उसे शेरशाह का कोप–भाजन बनना पड़े। यदि वास्तव में उसका इरादा हुमायू को धोखा देने का था तो वह शेरशाह के सुझाव को क्यों नहीं मान लेता। उसके लिए फलौदी अथवा कूल–ए–जोगी' तक आए हुए हुमायूं को गिरफ्तार कर शेरशाह के हवाले करना कोई कठिन कार्य नहीं था। इसी तरह हुमायूं के मुट्ठी–भर आदिमियों को समाप्त कर देना मालदेव की एक बड़ी सेना के लिए लीलामात्र था परन्तु उसने एक सच्चे राजपूत की भांति ऐसे समय में ऐसा आचरण किया जिससे हुमायूं को कुछ सैनिक भय बताकर किसी तरह शेरशाह से दूर कर दिया। डॉ ओझा का भी यह मत है कि वास्तविक बात तो यह प्रतीत होती है कि मालदेव

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

का उद्देश्य हुमायूं को गिरफ्तार करके शेरशाह के हवाले करने का कभी न था। वह तो शेरशाह के कोप से बचने के लिए हुमायूं को केवल अपने राज्य की सीमा से बाहर निकाल देना चाहता था। सम्भव है कि शेरशाह को दिखने के लिए ही उसने अपने कुछ सैनिक हुमायूं के अमरकोट की ओर प्रस्थान करने पर उसके पीछे भेजे है।

7.6 मालदेव और शेरशाह :

वस्तुत इतिहास स्वयं को दोहराता है। जिस प्रकार पानीपत के युद्ध में विजय के बाद उत्तर भारत में सर्वोच्च सत्ता के लिये बाबर और सांगा में युद्ध अनिवार्य हो गया था, उसी प्रकार शेरशाह द्वारा दिल्ली का सुल्तान बनते ही मालदेव और शेरशाह के सर्वोच्चता के प्रश्न को लेकर संघर्ष अवश्यम्भावी हो गया था। मालदेव भी इस सत्य से परिचित था। अतः उसने शेरशाह की नवोदित शक्ति को समाप्त या नियन्त्रित करने के लिये ही हुमायूं को सहायता का निमन्त्रण भेजा था। किन्तु हुमायूं द्वारा इस और देरी से ध्यान देने के कारण यह अवसर निकल गया। परिवर्तित परिस्थितियों में मालदेव ने अपनी राजनीतिज्ञ बुद्धिमत्ता का परिचय देते हुए शेरशाह के दूत का भी यथोचित सम्मान किया और शरणागत और सहायतापेक्षी हुमायूं का भी बिना सहायता दिये लौटा दिया। किन्तु फिर भी वह शेरशाह के साथ संघर्ष की सम्भावना को समाप्त करने में असफल रहा और 1543 ई. में रायसीन के अभियान से मुक्ति पाकर शेरशाह ने मालदेव का मानमर्दन करने के लिये एक विशाल सेना सहित मारवाड़ पर चढ़ाई कर दी और उसे सुमेल के युद्ध में पराजित कर दिया।

7.6.1 सुमेल–युद्ध के कारण –

1. शेरशाह तथा मालदेव दोनों ही समान रूप से महत्त्वाकांक्षी थे। मालदेव ने अपनी वीरता से केवल जोधपुर व सोजत ही प्राप्त किये थे। परन्तु उसने अपनी छल–बल से स्वजातीय बन्धुओं की स्वतन्त्रता को समाप्त कर अपने साम्राज्य का इतना विस्तार किया कि उसकी सीमा शेरशाह के साम्राज्य से जा टकराई थी। अतः मालदेव का साम्राज्य राजपूताने के लिए ही गौरव का विषय नहीं था वरन् मुगल साम्राज्य के लिए भी एक भंयकर चुनौती बनता जा रहा था। उस समय दिल्ली की गद्दी पर अफगान शासक शेरशाह था। अतः इस चुनौती का प्रथम उसे ही सामना करना पड़ा। शेरशाह भी अत्यन्त सामान्य था। अतः इस चुनौती का प्रथम उसे ही सामना करना पड़ा। शेरशाह भी अत्यन्त सामान्य स्थिति से उन्नति करता हुआ मुगल राज्य को प्राप्त करने में सफल हुआ था। अपनी इस उपलब्धि में उसने बल की अपेक्षा छल का अधिक सहारा लिया था। अतः इससे स्पष्ट होता है कि दोनों ही महत्त्वाकांक्षा तथा साम्राज्यवादी थे। इससे दोनों का प्रतिद्वन्द्वी युद्ध होना स्वाभाविक था। जब कन्नौज के युद्ध में हुमायूं को परास्त कर शेरखां शेरशाह के नाम से दिल्ली का शासक बना तो अपने साम्राज्य की सुरक्षा के लिए अपनी सीमा पर स्थिति शक्तिशाली राठौड़ राज्य का विनाश करना उसके लिए आवश्यक हो गया।

2. हुमायूं भी मालदेव व शेरशाह के मध्य वैमनस्य बढ़ाने का कारण सिद्ध हुआ। कन्नौज के युद्ध के बाद शेरशाह ने सत्ता तो प्राप्त कर ली थी परन्तु दूरदर्शी होने के कारण वह बाबर के वंश को पूर्णतया समाप्त कर देना चाहता था। अतः उसने हुमायूं का पीछा किया। परन्तु जब उसने अपने शत्रु हुमायूं को मालदेव की शरण में जाते देखा तो शेरशाह ने मालदेव के पास दूत भेजकर कहलवाया कि वह हुमायूं को बन्दी बना कर उसके हवाले कर दे। इस कार्य के बदले शेरशाह ने मालदेव को कुछ प्रदेश देने का भी प्रलोभन दिया था। परन्तु जब मालदेव ने हुमायूं को बन्दी नहीं बनाया तो शेरशाह का उसे नाराज होना स्वाभाविक था।

7. युद्ध का तीसरा कारण वीरमदेव तथा राव कल्याणमल का शेरशाह की शरण में जाना था। वीरम देव ने मेड़ता का राज्य पुनः प्राप्त करने के लिए तथा राव कल्याणमल ने बीकानेर का राज्य प्राप्त करने के लिए शेरशाह को मालदेव पर आक्रमण करने के लिए प्रोत्साहित किया। 'कर्मचन्द्र वंशोत्कीनक' काव्य के आधार पर डॉ. ओझा ने लिखा है कि बीकानेर वालों के आमन्त्रणार्थ बुलाने पर ही शेरशाह ने मालदेव पर चढ़ाइ की थी, अन्य किसी कारण से नहीं। शेरशाह की इच्छा राजपूताने पर अधिकार करने की पहले से ही थी जब राजपूत सरदारों का सहयोग उसे अनायास ही प्राप्त हो गया तब तो उसने शीघ्र ही राजपूताने पर आक्रमण करने का निर्णय लिया। इन राजपूत सरदारों से उसे मरू–प्रदेश तथा राजपूत शक्ति दोनों का सहज ज्ञान प्राप्त हो गया। इस प्रकार शेरशाह ने राजपूतों की पारस्परिक फूट का लाभ उठाने का निश्चय किया।

4. मालदेव की तत्कालीन राजनीतिक स्थिति ने भी शेरशाह को उस पर आक्रमण करने के लिये प्रेरित किया। मालदेव चारों और से शत्रुओं से घिरा हुआ था। चित्तौड़ पर अधिकार कर मेवाड़ के राणाओं से उसने सम्बन्ध खराब कर लिये थे। सिवाना, जालौर, नागौर आदि को विजित कर उसने पड़ौसी राठौड़ नरेशों को अपना शत्रु बना लिया था। शेरशाह ने भांप लिया था कि ऐसी स्थिति में मालदेव युद्ध में एकाकी पड़ जायेगा और उसे हराना आसान रहेगा।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

5. मालदेव द्वारा उत्तर में विशाल एवं शक्तिशाली राज्य की स्थापना शेरशाह को एक चुनौती थी क्योंकि उत्तरी भारत में वह एक अखण्ड अफगान राज्य स्थापित करना चाहता था, इसके लिए राजपूताने पर अधिकार करना उसे आवश्यक था। कतिपय इतिहासकारों का यह भी कहना है कि आर्थिक दृष्टि से पिछड़े मारवाड़ पर शेरशाह आक्रमण करना नहीं चाहता था परन्तु मारवाड़ की तत्कालीन सामरिक स्थिति ने शेरशाह को उस पर आक्रमण करने को विवश किया। मालदेव का सुदृढ़ एंव विस्तृत साम्राज्य उसकी राजधानी दिल्ली से केवल तीस मील ही दूर रह गया था। अतः मालवा को विजित करते ही उसका ध्यान जोधपुर पर केन्द्रित हो गया। मालवा की सुरक्षा के लिए भी शेरशाह को मारवाड़ विजय परम–आवश्यक हो गई थी।

6. कुछ इतिहासकार यह भी कहते हैं कि रायसीन की विजय के उपरान्त शेरशाह कुछ धर्मान्ध हो गया था। वह काफिरों को समाप्त कर देना चाहता था। तारीखे–शेरशाही में उल्लेख मिलता है कि शेरशाह ने मालदेव काफिर को जड़ से उखाड़ देने का प्रण किया था। इसीलिए तत्कालीन मुस्लिम इतिहासकारों ने इसे धर्म–युद्ध की संज्ञा दी है। परन्तु आधुनिक इतिहासकार इस मत से सहमत नहीं है। वास्तव में शेरशाह जैसे धार्मिक सहिष्णु शासक पर यह दोष लगाना उचित नहीं। अतः मालदेव पर आक्रमण करने का कारण धार्मिक नहीं था, अपितु विशुद्ध राजनीतिक ही था।

7.6.2 युद्ध की घटनाएं – इतिहासकार अब्बास का कहना है कि मालदेव पर आक्रमण करने के पूर्व शेरशाह ने युद्ध की पूरी तैयारी की। उसने विशाल सेना गठित की तथा तोपखाना साथ लिया। 80,000 प्रशिक्षित सैनिकों के साथ वह मारवाड़ की ओर रवाना हुआ। उसने बयाना, सांगानेर तथा अजमेर का सीधा मार्ग नहीं अपनाया क्योंकि वह जानता था कि अजमेर, मेड़ता, नागौर और उसके आस–पास के स्थानों पर मालदेव ने सुदृढ़ किलेबन्दी कर रखी है। अतः वह आगरे से दिल्ली,, नारनौल होता हुआ फतेहपुर शेखावाटी पहुंचा। वहां से रेतीले मार्ग से होता हुआ डीडवाना गया। यहां मालदेव के सेनापति कूंपा से उसे युद्ध करना पड़ा। कूंपा ने ही मालदेव को शेरशाह के आगमन का सर्वप्रथम समाचार दिया। मालदेव ने जो पहले से ही इसके लिए सजग था जैतारण तथा पीपाड़ में अपनी सेना एकत्रित की। ये दोनों ही स्थान ऐसी स्थिति में थे जहां से जोधपुर पर किसी भी तरह से होने वाले आक्रमण का सामना किया जा सकता था। डीडवाना से हटकर शेरशाह ने अजमेर से 80 मील दूर बाबरा नामक स्थान पर पड़ाव डाला और मोर्चे–बन्दी आरम्भ कर दी। उसने पड़ाव के चारों तरफ खाइयां खुदवाई। जहां खाइयां खोदना सम्भव नहीं था वहां रेत के बोरों से रक्षा–प्राचीर बनवा दी। दूसरी ओर मालदेव भी शेरशाह के पड़ाव से 12 मील की दूरी पर गिरीं नामक स्थान पर सेना सहित पहुंच गया।

लगभग एक मास तक शेरशाह व मालदेव की सेना एक–दूसरे के सामने पड़ाव डाले पड़ी रही पर किसी ने भी आक्रमण नहीं किया। अपने ही राज्य में छावनी डालकर पड़े रहना मालदेव के लिये सरल कार्य था। उसे रसद मिलने में कोई कठिनाई नहीं थी। परन्तु दिल्ली से दूर होने तथा खाद्य–सामग्री की प्राप्ति में कठिनाई होने की सम्भावना से शेरशाह की अवस्था दयनीय होने लगी। रेऊ का कहना है कि कई बार तो भयभीत होकर शेरशाह ने लौटने का इरादा कर लिया था, परन्तु वीरमदेव उसे धैर्य दिलाता रहा। दूसरे वहां से पीछे हटना तथा आगे बढ़ना दोनों ही शेरशाह को हानिकारक दिखाई दे रहे थे। इस संकट–ग्रस्त अवस्था से बचने के लिए उसने कूटनीति से काम लिया। उसने मालदेव तथा उसके विश्वसनीय सरदारों में अविश्वास उत्पन्न करने के लिए षड्यन्त्र रचा। शेरशाह ने मालदेव के सरदारों की ओर से अपने नाम कुछ जाली पत्र तैयार करवाये जिनका आशय था कि वे युद्ध में शेरशाह का साथ देंगे तथा मालदेव को पकड़ कर उसके सम्मुख उपस्थित कर देंगे। ये पत्र मालदेव के डेरे के पास इस प्रकार डलवा दिये कि वे मानों संयोग से वहां गिर गये हों। संयोगवश वे पत्र मालदेव के वकील के हाथ पड़ गये। वकील ने वे पत्र अपने स्वामी मालदेव को प्रस्तुत कर दिए।

मुहणोत नैणसी ने अपनी ख्यात में लिखा है, ''वहां वीरमदेव ने एक तरकीबकी, कूंपा के डेरे पर 20,000 रूपये भिजवाये और कहलाया हमें कम्बल मंगवा देना और और बीस हजार ही जेता को भिजवाये और कहला दिया कि हमें सिरोही से तलवारें मंगवा देना।'' उसकी मालदेव के पास सूचना भिजवा दी ताकि ऐसा लगे कि जेता और कूंपा शत्रुओं से मिल गये हैं। वे उसे बन्दी बनाकर शेरशाह के समक्ष प्रस्तुत कर देंगे।

मालदेव शेरशाह के इस छल को समझ नहीं सका। वह अपने सामन्तों के प्रति सन्देह कर बैठा। वह युद्ध के प्रति निराश हो गया। उसने युद्ध करना व्यर्थ समझा और अपने मुख्य सरदारों से परामर्श किये बिना 4 जनवरी, 1544 ई की रात्रि को अपनी मुख्य सेना सहित युद्ध क्षेत्र से जोधपुर लौट गया, जबकि उसके मुख्य सरदार जेता व कूंपा जिन पर उसने अविश्वास किया था, सैनिक टुकड़ियों के साथ वही जमे रहे।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

मालदेव के चले जाने के बाद बचे हुए राठौड़ सरदारों ने बाबरा तथा गिर्री के सुमेल के मैदान में 5 जनवरी, 1544 ई. को कूंपा व जेता के नेतृत्व में अफगानों पर धावा बोल दिया। जेता व कूंपा ने अपने ऊपर लगे विश्वासघात के मिथ्या कलंक को धोने के लिए युद्ध क्षेत्र में वीरगति को प्राप्त करने का निश्च्य कर लिया था। दोनों सरदार बचे हुए केवल 12,000 सैनिकों के साथ इतनी शूरवीरता से लड़े कि शेरशाह की विशाल सेना के पांव उखड़ने लगे। राजपूत सैनिकों के समीप आ जाने पर अफगान सैनिक भी राजपूतों की भांति तलवारों से युद्ध करने के लिए अपने घोड़ों से उतर पड़े परन्तु शेरशाह ने उन्हें तुरन्त ऐसा करने से मना किया और अपने हारते सैनिकों को विजय दिला दी। शेरशाह की सेना परास्त होने को ही थी कि उसका सेनापति जलालखां जलवानी नई कुमुक लेकर समय पर सहायता के लिये आ पहुंचा। उन सैनिकों द्वारा राजपूत सैनिक घेर लिये गये और जेता और कूंपा वीरता से लड़ते हुए वीरगति को प्राप्त हो गये। अब्बास खां शेरवानी के विवरण से ऐसा लगता है कि जैसे शेरशाह को युद्ध में विजय की उम्मीद बहुत कम थीं वह युद्ध के समय नमाज पढ़ रहा था। खुदा से दुआ कर रहा था ताकि सैनिकों का मनोबल बना रहे। हांलाकि शेरशाह विजयी रहा परन्तु उसे यह कहने के लिये बाध्य होना पड़ा कि "एक मुट्ठी भर बाजरे के लिये मैं हिन्दुस्तान की बादशाहत खो देता।" इन शब्दों से यह स्पष्ट होता है कि शेरशाह को इस युद्ध से कोई विशेष लाभ नहीं हुआ लेकिन अगर वह हार जाता तो दिल्ली का राज्य उसके हाथ से निकल सकता था।

सुमेल गिर्री युद्ध कोई सामान्य घटना नहीं था, वरन् यह भारत की दो महान शक्तियों के मध्य लड़ा जाने वाला निर्णायक युद्ध था।

सुमेल गिर्री के युद्ध में विजय प्राप्त करने के बाद शेरशाह जोधपुर की ओर बढ़ा। मालदेव इस समय तक सिवाना पहाड़ी प्रदेश में चला गया था। जोधपुर के दुर्ग की रक्षा के लिए सैना तैनात थी। राजपूतों ने अफगान सैनिकों का डटकर मुकाबला किया। दुर्ग की रक्षा का भार अचला विराजोत, तिलोकसी वरजांगोत, उदावत व माला जोधावत को सौंप रखा था। ये वीर घायल तो सुमेल में ही हो गये थे। इस पर भी वे दुर्ग की रक्षा में आ डटे और युद्ध करते–करते वीर गति को प्राप्त हो गये। जोधपुर के दुर्ग पर अधिकार करके शेरशाह ने खवास खान को वहां का अधिकारी नियुक्त कर दिया। इसी समय उसने अजमेर पर भी अधिकार कर लिया गया। जोधपुर के दुर्ग पर शेरशाह का अधिकार एक वर्ष रहा। इस अन्तराजल में जोधपुर में दो मस्जिदें बनवाई गई। दुर्ग में निर्मित मस्जिद के अवशेष आज भी एक मकबरे के रूप में दृष्टव्य हैं।

7.6.3. सुमेल यद्ध का महत्त्व – सुमेल गिर्री के युद्ध ने केवल राजस्थान के इतिहास को प्रभावित किया वरन् भारतीय इतिहास को भी प्रभावित किया। दिल्ली में नवोदित अफगान सत्ता को इस विजय से सुदृढ़ता प्राप्त हुई। इधर राजपूतों के समस्त इरादों पर पानी फिर गया।

प्रो. कानूनगो के शब्दों में सुमेल का युद्ध मारवाड़ के भाग्य के लिये एक निर्णायक युद्ध सिद्ध हुआ। मालदेव समस्त राजपूताना को अधिकृत कर दिल्ली पर हिन्दू–राज्य स्थापित करने की जो आकांक्षा रखता था, उसकी उस महत्त्वाकांक्षा को अत्यधिक धक्का लगा। इतना ही नहीं वरन् कुछ सत्य के लिए तो उसे अपनी पैतृक सम्पत्ति से भी वंचित होना पड़ा। इस युद्ध में मालदेव ने अपने वीर तथा स्वामिभक्त योद्धाओं को खो दिया। कहा जाता है कि इस युद्ध में पांच हजार राजपूत मारे गये तथा 15 हजार घायल हो गये। उधर शेरशाह की विजय के सन्दर्भ में दिवाकर ने लिखा है कि उसे (शेरशाह) चाहे मुट्ठी भर बाजरा ही मिला हो, उसने इस युद्ध में विजय पाकर अगले दस वर्षों के लिए दिल्ली पर अफगान राज्य निश्चित कर दिया। शेरशाह की विजय अवश्य हुई, पर उसने राजपूतों की वीरता की बड़ी प्रशंसा की। मालदेव के यश को चरम–सीमा पर पहुंचाने वाले उसके योद्धा जेता व कूंपा इस युद्ध में काम आ गये। इस युद्ध ने यह भी सिद्ध कर दिया कि युद्ध में विजय भी प्राप्त करने के लिये सामरिक शौर्य की अपेक्षा कूटनीतिक चालें अधिक महत्व रखती है। लेकिन राजपूतों ने इससे कुछ नहीं सीखा। उनमें आपसी फूट, मिथ्या–दम्भ, कूटनीति का अभाव बना रहा जो उनके पतन का कारण बना। युद्ध के उपरान्त भी उनमें वही अकड़न बनी रही। इस कारण उनमें जातीय एकता भी स्थापित नहीं हो सकी। इसीलिए पाश्चात्य इतिहासकारों ने कहा है कि राजपूत शरीर से बलिष्ठ किन्तु मस्तिष्क से विवेक शून्य होते हैं।

सुमेल के युद्ध ने राजपूतों की अदूरदर्शिता को स्पष्ट कर दिया। मालदेव अपनी अदूरदर्शिता के कारण ही शेरशाह द्वारा प्रसारित अफवाह पर बिना सोचे–विचारे विश्वास कर बैठा। जेता और कूंपा उसके विश्वास–पात्र योद्धा थे तथा कई युद्धों में उसके साथ कन्धे से कन्धा मिलाकर लड़े थे। उन्हीं की स्वामी–भक्ति पर अविश्वास कर लेना मालदेव के लिए निन्दनीय तथा अशोभनीय था। उसी प्रकार जेता व कूंपा ने अपनी स्वामिभक्ति का प्रमाण देने के लिये उसी रात अपने थोड़े से सैनिकों के साथ शत्रु सेना पर धावा बोल दिया। मुट्ठी भर राठौड़ों के सहयोग से शेरशाह की विशाल सेना से युद्ध

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

करना उनकी बुद्धिमत्ता का परिचायक नहीं था। इस युद्ध में वीर राजपूतों का अफगानों द्वारा विनाश कराया जाना भी जेता व कूंपा की अदूरदर्शिता कही जा सकती है।

इस युद्ध के बाद जोधपुर शेरशाह के राज्य का अंग अवश्य बन गया परन्तु इससे शेरशाह के राज्य में कोई वृद्धि नहीं हुई। उसे केवल आत्म–सन्तोष था कि इसने एक प्रबल राजपूत शत्रु को समाप्त कर दिया है। यह सत्य है कि शेरशाह एक वीर योद्धा, कुशल प्रशासक तथा अच्छा कूटनीतिज्ञ था परन्तु यह युद्ध शेरशाह की कीर्ति को कलंकित ही करता है। कानूगो का कहना है कि शेरशाह का यह कार्य जघन्य था। इस युद्ध के आधार पर उसे महान विजेता नहीं कहा जा सकता। यद्यपि अब तक उसने छल से ही समस्त युद्धों में विजय पाई थी परन्तु इस युद्ध में उसका छल चरम–सीमा पर पहुंच गया था जिससे उसका साम्राज्य निर्माता के रूप में महत्व कम हो गया। इसी सन्दर्भ में प्रो. श्रीराम शर्मा ने कहा है कि ''यदि मालदेव के साथ चाल न चली गई होती तो यह सम्भव था कि रणक्षेत्र में शेरशाह अपना साम्राज्य खो बैठता।'' सुमेल युद्ध की समाप्ति के साथ ही राजपूत–गौरव व स्वतन्त्रता का इकाई भी समाप्त हो जाता है। पृथ्वीराज तृतीय, राणा हम्मीर, राणा सांगा तथा मालदेव हमारे समक्ष स्वतन्त्र महत्त्वाकांक्षी शासकों के रूप में आते हैं। उन्होंने भारत में हिन्दूराज्य की स्थापना के प्रयास किये। अपने इस उद्देश्य की पूर्ति के लिये मुसलमानों, मुगलों तथा अफगानों से उन्होंने युद्ध किये। परन्तु मालदेव की पराजय के बाद हमारे सामने वीरमदेव, राव कल्याणमल, आमेर नरेश मानसिंक, मिर्जा राजा जयसिंह आते है जिन्होंने अपना जीवन दिल्ली के शासकों पर आश्रित रहकर व्यतीत किया। मेवाड़ के राणा उदयसिंह को भी मुगल सम्राट से परास्त होकर चित्तौड़ मुगलों को देना पड़ा। इस प्रकार मालदेव की इस पराजय के साथ राजपूताना ने अपनी स्वतन्त्रता खो दी।

7.6.4. राजपूतों की पराजय के कारण –

1. शेरशाह का षड्यन्त्र : सुमेल के युद्ध में राजपूतों की पराजय का मुख्य कारण शेरशाह का षड्यंत्र था जिस कारण मालदेव ने अपने विश्वासपात्र सरदारों पर सन्देह किया ओर बिना युद्ध लड़े ही मुख्य सेना सहित रणक्षेत्र छोड़कर जोध ापुर लौट गया। प्रो. श्रीराम शर्मा ने कहा है कि ''यदि मालदेव के साथ चाल नहीं चली गई होती तो यह सम्भव था कि गिरीं के रणक्षेत्र में शेरशाह अपना साम्राज्य खो बैठता।'' डॉ. (कु.) साधना रस्तौगी ने भी ''सुमेल के युद्ध में मालदेव की पराजय का प्रमुख कारण मालदेव और उसके सैनिकों का रणक्षेत्र छोड़कर चला जाना'' माना है। मालदेव के पलायन से राठौड़ सेना विभाजित हो गई जिससे राजपूतों की शक्ति कमजोर हो गई और शेष बचे हुये 20 हजार सैनिकों के लिये 80 हजार अफगानों से युद्ध करके उन्हें पराजित करना दुष्कर हो गया। किन्तु डॉ. कानूनगों मालदेव के पलायन को राजपूतों की पराजय का प्रमुख कारण नहीं मानते। उनका कथन है कि यह सोचना व्यर्थ है कि सैनिकों की संख्या कम हो जाने से राजपूतों की पराजय हुई, अन्यथा पूर्ण सेना के साथ मालदेव शेरशाह को पराजित ही कर देता क्योंकि यदि सैनिकों की संख्या ही जय–पराजय का मापदण्ड होती तो खानवा के युद्ध में मुगलों से अधिक सैनिकों वाला सांगा क्यों पराजित होता? किन्तु यहां यह उल्लेखनीय है कि सांगा की सेना मैदानी युद्ध में अभ्यस्त न होने तथा अन्य कारणों से हारी थी संख्या की कमी से नहीं। मालदेव की सेना में, वे अन्य दोष नहीं थे। ऐसी स्थिति में शेरशाह का षड्यन्त्र और उससे राजपूत सेना का विभाजन ही पराजय के प्रमुख कारण सिद्ध हुये।

2. शेरशाह का तोपखाना : शेरशाह का तोपखाना भी राजपूतों की पराजय का एक कारण सिद्ध हुआ। अफगानों के शक्तिशाली तोपखाने के समक्ष राजपूतों की वीरता, शौर्य और साहस निरर्थक सिद्ध हुये। राजपूतों के तीर और तलवार, तोपों का सामना करने में असफल रहे। इसी प्रकार अफगानें की घुड़सवार, सेना भी राजपूत घुड़सवारों से श्रेष्ठ थी।

3. मालदेव का राजपूतों से वैमनस्य : मालदेव का अपने पड़ौसी और समकालीन राजपूत शासकों से वैमनस्य भी उसकी पराजय का कारण सिद्ध हुआ। मालदेव ने अपनी विस्तारवादी नीति को क्रियान्वित करने में अनेक राजपूत राज्यों पर अधिकार करके वहां के शासकों को अपना शत्रु बना लिया था। ये राजपूत शासक अपने राज्यों को पुनः प्राप्त करने के लिये शेरशाह की शरण में पहुंच गये। इनमें मेड़ता का वीरमदेव और बीकानेर का कल्याणमल प्रमुख थे। इन्होंने शेरशाह को मारवाड़ पर आक्रमण करने के लिये प्रोत्साहित किया। कतिपय विद्वानों की तो मान्यता है कि आर्थिक दृष्टि से पिछड़े हुये रेतीले राजपूताना पर आक्रमण करने की शेरशाह की कोई इच्छा नहीं थी, वह तो राजपूत राजाओं की इच्छा पर ही राजपूताना पर आक्रमण करने को तत्पर हुआ था। यद्यपि यह कथन पूर्णतया सत्य नहीं हैं, फिर भी यदि हम राजस्थानी स्रोतों को सही माने तो यह तो स्वीकार करना ही पड़ेगा कि भूमिका निभाई थी जिसे कारण राजपूत सुमेल के युद्ध में पराजित हुए।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

4. रात्रि में शत्रु शिविर न मिलना : शेरशाह के षड्यंत्र से मालदेव के पलायन के बाद विश्वासघात के आरोपी जैता और कूंपा अपने पर लगे मिथ्या आरोप के कलंक को धोने के लिये आवेश में आकर शेष सैनिकों के साथ शेरशाह की सेना पर आक्रमण करने के लिये रात्रि में ही रवाना हो गये। किन्तु वीरमदेव ने रात्रि में आक्रमण की आशंका से शेरशाह की सेना के शिविर को पहले ही वहां से हटा दिया था। अतः निर्धारित स्थान पर शत्रु सेना को न पाकर राजपूत सेना उनकी खोज में भटक गई। प्रातः जब राजपूत सेना को शेरशाह का शिविर दृष्टिगत हुआ तो उस समय अफगान सेना युद्ध के लिये तैयार बैठी थी, जबकि राजपूत रात्रि में भटकने से काफी थक चुके थे। यदि राठौड़ सेना रात्रि में शत्रु पर आक्रमण करने में सफल रहती तो सम्भवतः युद्ध का परिणाम दूसरा ही होता।

5. जलालखां जुलानी की आरक्षित सेना : युद्ध की निर्णायक घड़ी में शेरशाह के सेनापति जलालखां जुलानी का नई सेना सहित युद्ध क्षेत्र में पहुंचना भी राजपूतों की पराजय का कारण सिद्ध हुआ। जिस समय शेरशाह की पराजय और राजपूतों की विजय सन्निकट थी, उसी समय जलालखां जुलानी के नेतृत्व में एक नई सेना युद्ध क्षेत्र में आ पहुंची और उसने राजपूतों को चारों ओर से घेर कर पराजित कर दिया। डॉ. साधना रस्तौगी ने लिखा है कि ''जलालखां द्वारा अतिरिक्त सेना सहित युद्ध की चरम स्थिति में शेरशाह से मिलना भी राठौड़ों की हार का एक कारण था।''

सुमेल के युद्ध में विजय के पश्चात् शेरशाह ने एक सेना जोधपुर पर अधिकार करने भेज दी और स्वयं ने एक सेना सहित आगे बढ़कर अजमेर पर अधिकार कर लिया। वहां से वह मेड़ता पहुंचा और मेड़ता को वीरमदेव को सौंपकर वह नागौर होता हुआ बीकानेर पहुंचा और बीकानेर कल्याणमल के सुपुर्द कर दिया। यहां से वह जोधपुर पहुंचा। मालदेव शेरशाह का सेना का सामना किये बिना ही जोधपुर छोड़कर सिवाणा के किले में चला गया। किन्तु जोधपुर के दुर्ग रक्षक त्रिलोकसिंह ने शेरशाह की सेना का मुकाबला किया। किन्तु अन्त में रसद की कमी होने पर वह दुर्ग से बाहर निकलकर शत्रु से युद्ध करते हुये वीरगति को प्राप्त हुआ और जोधपुर पर शेरशाह का अधिकार हो गया। शेरशाह जोधपुर को सईदखों बिलोच, ख्वासखौ, ईसाखों आदि को सौपकर मेवाड़ की ओर बढ़ा। किन्तु उसके चित्तौड़ पहुंचने से पहले की उदयसिंह ने दुर्ग की चाबियों और अधीनता स्वीकार करने का संदेश शोरशाह के पास भेज दिया। इससे सन्तुष्ट होकर शेरशाह मेवाड़ का प्रबन्ध शम्सखां को सौपकर मालवा की ओर चला गया।

7.7 मालदेव का पुनः सत्तारूढ होना :

वापिस लौटने के पूर्व शेरशाह मारवाड़ राज्य के प्रमुख स्थानों–फलौदी, पोकरण, पाली, जालौर, नागौर आदि पर अपने थाने बिठाता गया ताकि मालदेव इन स्थानों को सरलता के साथ अधिकृत न कर सके। 524 दिन तक शेरशाह का अधिकार बना रहा। शेरशाह की मृत्यु की सूचना मिलते ही मालदेव ने अफगानों को मारवाड़ से खदेड़ने की तैयारी कर ली। 1546 ई. में मालदेव ने अफगानों के मांगेसर नामक थाने पर आक्रमण किया। इस आक्रमण में बहुत से अफगान सैनिक मारे गये और मालदेव विजयी रहा। इसके बाद मालदेव ने अपनी राजधानी जोधपुर पर आक्रमण कर उसे जीत लिया। इस संघर्ष में भी सैकड़ों सैनिक मारे गये। जोधपुर पर अधिकार कर लेने के बाद मालदेव ने अपने खोये हुए क्षेत्रों पर पुनः अधिकार जमाने का प्रयास शुरू किया। सुमेल के युद्ध में फलौदी के सरदार राम ने मालदेव का साथ नहीं दिया था। इस समय तक राम का देहान्त हो चुका था और उसका छोटा भाई डूंगरसी फलौदी पर शासन कर रहा था। मालदेव ने छल–कपट से डूंगरसी को बन्दी बना लिया और से तभी रिहा किया गया जबकि उसके अधिकारियों ने फलौदी का दुर्ग मालदेव के अधिकारियों को सौंप दिया।

इसके बाद मालदेव ने पोकरण–सातलमेर पर आक्रमण किया। सातलमेर के महाजनों ने वहां के शासक जैतमल तथा उसके अधिकारियों के अत्याचारों से तंग आकर मालदेव से सहायता की याचना की। इस पर मालदेव ने पोकरण–सातलमेर पर आक्रमण किया। मालदेव की सेना ने सातलमेर के दुर्ग को चारों तरफ से घेर लिया। जब दुर्ग में और अधिक रहना सम्भव न रहा तो जैतमल ने दुर्ग मालदेव को सौंप दिया ओर वह स्वयं अपनी ससुराल जैंसलमेर चला गया। मालदेव ने सातलमेर के दुर्ग को ध्वसं कर दिया और पोकरण में एक सुदृढ़ दुर्ग का निर्माण करवाया। इस बीच जैतमल जैसलमेर के भाटियों के साथ पोकरण आ धमका, परन्तु मालदेव का अधिकार मजबूत हो गया। इसके बाद मालदेव ने बाड़मेर तथा कोटड़ा पर भी अपना अधिकार कर लिया। जैसलमेर के राजा ने पोकरण, बाड़मेर तथा कोटड़ा के सरदारों को मालदेव के विरूद्ध सैनिक सहायता दी थी। अब मालदेव ने जैसलमेर पर आक्रमण किया। 1552–53 ई. के मध्य दोनों पक्षों में संघर्ष चलता रहा। अन्त में जैसलमेर के भाटी शासक मालदेव ने मारवाड़ के मालदेव की अधीनता स्वीकार कर ली। जालौर पर अधिकार करने के लिए मालदेव को लम्बे समय तक पठानों से संघर्ष करना पड़ा। 1552 ई. में पठानों के विद्रोही बिलोचियों की सहायता से

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

राठौड़ों ने जालौर पर अधिकार जमा लिया, परन्तु कुछ दिनों बाद बिहारी पठानों ने जालौर को पुनः अपने अधिकर में ले लिया। 1558–59 ई. में मालदेव की सेना ने पुनः जालौर पर आक्रमण किया और पठानों को परास्त करे जालौर को मारवाड़ के राज्य में सम्मिलित कर लिया।

सुमेल के युद्ध के बाद शेरशाह ने मेड़ता वीरमदेव को सौंप दिया था। कुछ दिनों बाद उसकी मृत्यु हो गई और उसका लड़का जयमल मेड़ता का शासक बना। मालदेव मेड़तिया राठौड़ों को अपना शुत्र समझता था और मेड़ता पर पुनः अपना अधिकार जमाना चाहता था। फलौदी, पोकरण, जैसलमेर आदि से निपटने के बाद 1533 ई. में उसने मेड़ता पर आक्रमण कर दिया। परन्तु जयमल ने उसके आक्रमण को विफल कर दिया। पुनः सत्तारूढ़ होने के बाद मालदेव को पहली असफलता का सामना करना पड़ा।

सुमेल युद्ध के बाद अजमेर पर भी शेरशाह का अधिकार हो गया था। इस समय वहां हाजीखां नामक अमीर नियुक्त था। शेरशाह की मृत्यु के बाद जब हुमायूं ने पुनः दिल्ली–आगरा पर अधिकार कर लिया तो परिस्थितियों का लाभ उठाते हुए मेवाड़ के महाराणा उदयसिंह ने अजमेर को जीत लिया। इस अवसर पर हाजीखां अलवर–मेवात के महाराणा की शरण में उदयपुर चला गया और महाराणा ने उसे अपनी अधीनता में अजमेर में रहने की आज्ञा दे दी। इसी समय मालदेव ने अजमेर को जीतने के लिए अपनी सेना भेज दी। हाजीखां की प्रार्थना पर महाराणा उदयसिंह और बीकानेर के कल्याणमल ने मालदेव के विरूद्ध उसकी सहायता के लिए सैनिक दस्ते भेज दिये। अतः मालदेव की सेना बिना युद्ध लड़े ही वापिस लौट गई। इसके कुछ दिनों बाद ही 'रंगरय' नामक वेश्या को लेकर महाराणा उदयसिंह और हाजी खां के आपसी सम्बन्ध बिगड़ गये और महाराणा ने जीखां को दण्ड देने का निश्चय किया। अब हाजीखां ने मालदेव से सहायता की याचना की। मालदेव तो पहले से ही महाराणा से खिन्न था और वह मेवाड़ की बढ़ती हुई शक्ति को भी नियन्त्रित करना चाहता था, अतः उसने तत्काल हाजीखां की सहायता के लिए सेना भेज दी। उधर मेवाड़ की सेना भी हरमाड़े स्थान तक जा पहुंची। हाजीखां और मालदेव की सेना ने भी हरमाड़े में मोर्चा जमा लिया। हरमाड़े के इस युद्ध में मेवाड़ की सेना बुरी तरह से पराजित हुई। इससे राजस्थान में मालदेव की प्रतिष्ठा पुनः स्थापित हो गई।

7.8 मालदेव और मेड़ता विजय :

अब मालदेव ने पुनः मेड़ता की तरफ ध्यान दिया। वह जयमल के हाथों अपनी पिछली पराजय का बदला लेना चाहता था। हरमाड़े के युद्ध के बाद मालदेव ने अचानक मेड़ता पर आक्रमण कर दिया। इस बार जयमल बिना किसी प्रतिरोध के मेड़ता से भाग खड़ा हुआ और मेड़ता पर मालदेव का अधिकार हो गया। यह घटना जनवरी, 1557 ई. की है। जयमल के इस तरह से भगाने का मुख्य कारण यह था कि हरमाड़े के युद्ध में उसके काफी सैनिक मारे जा चुके थे और युद्ध के बाद उसके बचे हुए सैनिक अपने घरों को लौट गये थे। मेड़ता पर अधिकार कर लेने के बाद मालदेव ने आधा मेड़ता वीरमदेव के लड़के जगमाल को दिया। मालदेव ने मेड़ता की सुरक्षा के लिए सुदृढ़ किले का निर्माण भी करवाया।

7.9 मालदेव और अकबर :

जनवरी, 1556 ई. में हुमायूं की मृत्यु हो गई ओर उसका पुत्र अकबर मुगल साम्राज्य का स्वामी बना। अकबर एक महत्त्वाकांक्षी शासक था और वह न केवल उत्तरी भारत में ही, अपितु समूचे भारत को अपने साम्राज्य के अन्तर्गत लाने की आकांक्षा रखता था। सिंहासन पर बैठते ही उसने मेवात के हाजीखां के विरूद्ध सेना भेजी और उसके क्षेत्र को जीतकर मुगल साम्राज्य में मिला लिया। हाजीखां अलवर से भागकर महाराणा की शरण में चला गया था और महाराणा ने उसे अजमेर सौंप दिया था। परन्तु बाद में दोनों के सम्बन्ध बिगड़ गये और हरमाड़े का युद्ध लड़ा गया जिसमें मालदेव की सहायता से वह मेवाड़ की सेना को पराजित करने तथा अजमेर को बचाने में सफल रहा। हरमाड़े के युद्ध के कुछ दिनों बाद ही अकबर ने अजमेर को जीतने के लिए सेना भेज दी। हाजीखां का पीछा करती हुई जैतारण की रक्षा के लिए सेना नहीं भेज पाया और जैतारण पर मुगलों का अधिकार हो गया। इस प्रकार, मुगल सत्ता का मारवाड़ में प्रवेश हो गया।

राजपूत वृत्तान्तों के अनुसार मालदेव से परास्त होने के बाद मेड़ता का जयमल राठौड़ अकबर की शरण में जा पहुंचा और उसने मेड़ता दिलवाने की प्रार्थना की। अकबर ने अजमेर के सूबेदार शरफुद्दीन हुसैन मिर्जा को जयमल के साथ मेड़ता पर आक्रमण करने की आज्ञा दी। दोनों की संयुक्त सेना मेड़ता की तरफ बढ़ी। मालदेव ने अपने पुत्र चन्द्रसेन को एक सेना के साथ मेड़ता की तरफ भेज दिया, परन्तु उसे यह सलाह भी दी कि यदि शत्रु पक्ष अधिक शक्तिशाली प्रतीत हो तो युद्ध न लड़ने का फैसला किया, परन्तु राठौड़ देवीदास और सांवलदास ने बिना लड़े ही शत्रु को मेड़ता देना स्वीकार नहीं किया।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

इस पर चन्द्रसेन तो मुख्य सेना के साथ वापिस जोधपुर लौट गया परन्तु देवीदास ओर सावंलदास अपने सैनिकों के साथ वहीं डटे रहे और उन्होंने जमकर मुगलों से लोहा लिया तथा अपने साथियों सहित वीरगति को प्राप्त हुए। मेड़ता पर मुगलों का अधिकार हो गया। अकबर ने मेड़ता जयमल को सौंप दिया, परन्तु कुछ दिनों बाद ही अकबर उससे अप्रसन्न हो गया ओर उसने जयमल से मेड़ता छीनकर जगमाल को सौंप दिया। जयमल महाराणा उदयसिंह की सेवा में चला गया। महाराणा ने उसे बदनोर की जागीर प्रदान की। इस सम्पूर्ण राजनीतिक स्थिति के सन्दर्भ में डॉ. गोपीनाथ शर्मा ने लिखा है कि ''मारवाड़ में मेड़ता और जैतारण पर मुगलों का अधिकार हो गया, जिसने छाया रूप से प्रमाणित कर दिया कि भविष्य में राजस्थान में मुगलों के अधिकार का क्षेत्र विस्तृत होगा ओर यहां के देशी नरेश अपनी स्वतन्त्रता खो बैठेंगे।'' सौभाग्य से मालदेव को वे दिन नहीं देखने पड़े ?। 7 दिसम्बर, 1562 ई. को उसका स्वर्गवास हो गया।

7.10 मालदेव का मूल्यांकन :

केवल मारवाड़ के इतिहास में ही नहीं, अपितु भारतीय इतिहास में राव मालदेव को अद्वितीय स्थान प्राप्त है। मालदेव को अपने पैतृक–राज्य में केवल जोधपुर और सौजत के प्रदेश मिले थे जिनको उसने एक विशाल मारवाड़ साम्राज्य के रूप में रूपान्तरित कर दिया। इसके अन्तर्गत 58 परगने सम्मिलित थे। मारवाड की ख्यातों के अनुसार मालदेव ने 52 युद्ध करके यह विशाल साम्राज्य स्थापित किया था।

7.10.1. विजेता के रूप में – मालदेव एक पराक्रमी तथा कुशल सेना–नायक था। उसकी उपलब्धियों, उसके शौर्य तथा कुशल सैन्य–प्रतिभा ने दिल्ली के शासक शेरशाह सूरी को भयातुर कर दिया था। एक युद्ध को छोड़कर वह सभी युद्धों में सफल रहा, जो कि एक योद्धा के लिये कम गौरव का विषय नहीं है। वह सुमेल युद्ध में सफल रहा, जो कि एक योद्धा के लिये कम गौरव का विषय नहीं हैं उसकी सुमेल युद्ध की पराजय तो उसके द्वारा खोये राज्यों की पुनः प्राप्ति हेतु लड़े गये युद्धों के विजय अभियानों से पूर्णत आवृत हो गई। इसके अतिरिक्त सुमेल के युद्ध में वह स्वयं परास्त नहीं हुआ था बल्कि उसके सामन्त परास्त हुये थे। जब तक वह गिरी में डेरा डाले पड़ा रहा–शेरशाह का उसकी सेना पर आक्रमण करने का साहस नहीं हुआ। यहां तक कि मालदेव के सेनापति जेता ओर कूंपा को भी उसने धोखे से तथा कम सैनिकों के कारण परास्त किया था और इस युद्ध की भयंकरता को शेरशाह ने स्वयं स्वीकार किया था। मेड़ता के युद्ध में भी स्वयं मालदेव अकबर से परास्त नहीं हुआ था वरन् उसका पुत्र चन्द्रसेन पराजित हुआ था और उसका भी कारण राठौड़ सैनिकों की निर्बलता नहीं, अपितु अकबर के सैनिकों का राठौड़ों के सैनिकों की अपेक्षा अधिक संख्या में होना था। परन्तु इस स्थल पर राठौड़ों के परास्त हो जाने पर मालदेव के शौर्य की छाप अवश्य अकबर के हृदय पर स्थापित हो गई थी। यही कारण था कि अकबर जैतारण की पराजय का बदला लेने के लिए सेना नहीं भेज सका। अकबर ने जोधपुर पर भी अधिकार मालदेव की मृत्यु के बाद ही किया। अतः इसमें सन्देह नहीं कि शेरशाह और अकबर पर उसकी वीरता की छाप अवश्य थी। उसकी विजयों ने क्षत्रियों के अद्वितीय शोर्य में चार चांद लगा दिए। उसकी सैनिक वीरता राजस्थानी व फारसी ग्रन्थों में भी स्पष्ट रूप से वर्णित है। उसके समकालीन कवि बारहठ आसा ने निम्न शब्दों में उसकी वीरता का यशोगान किया है – मुझे कृष्ण, शिव आदि पौराणिक देवताओं में कोई ऐसा बलवान प्रतीत नहीं होता जिससे याचना की जा सके। हिन्दुओं में तो हिन्दू नरेश मालदेव से बढ़कर कोई नहीं। मालदेव काल नाशक, यम के जाल से मुक्त करानेवाला श्रेष्ठ शासक है। अबुल फ़ज़ल ने भी उसको भारत के शक्तिशाली राजाओं में से एक बताया है।

7.10.2. निर्माता के रूप में – मालदेव का एक निर्माता के रूप में भी इतिहास में विशेष स्थान है। दुर्ग निर्माण कार्य में मालदेव की विशेष रूचि थी। तत्कालीन परिस्थितियों में दुर्ग निर्माण का कार्य सामरिक दृष्टि से तथा साम्राज्य सुरक्षा के लिये अत्यन्त आवश्यक था। उसने नागौर के दुर्ग की मरम्मत करवाई। जोधपुर तथा राणीसर में नये दुर्गों का निर्माण करवाया। दुर्ग का निर्माण कराते समय इस तथ्य को दृष्टिगत रखा गया कि दुर्ग में रहने वाले सैनिकों को दुर्ग के घिर जाने पर भी अन्न एवं जल की कमी का सामना न करना पड़े। उसने सौजत, रायपुर, सीवाना, रीयां, भाद्राजूण, पीपाड़, पोकरण, नाडोल, फलौदी आदि कस्बों को सुदृढ़ प्राचीरों से सुरक्षित किया। अजमेर के तारागढ़ के किले में पानी के अभाव को दूर करने के लिये उसने तारागढ़ के किले में नीचे से ऊपर पानी पहुंचाने की व्यवस्था की। उसने जोधपुर शहर में प्रवेश के लिये कई दरवाजों का निर्माण करवाया तथा जोधपुर दुर्ग में कई छतरियां भी बनवाई। जोधपुर शहर तथा दुर्ग का परकोटा भी उसी ने बनवाया था। मण्डौर में राव गांगा का देवल उसने बनवाया था। मालदेव के समय के अधिकतर भवन लाल रेतीले पत्थरों के बने हुये है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

7.10.3. प्रशासक के रूप में — मालदेव का प्रशासन रावजोधा के प्रशासन से प्रभावित था। राजा मालदेव अपने राज्य का सर्वोच्च अधिकारी था। तत्कालीन शिलालेखों से ज्ञात होता है कि उसने महाराजा, महाराजाधिकार तथा महाराय की उपाधियों से अपने को अलंकृत करनेके लिए राव शब्द का प्रयोग हुआ है। राजदरबार में वह सर्वोच्च स्थान पर आसीन होता था तथा अन्य सरदार चाहे उसके भ्राता ही क्यों न हो, अपने निर्धारित स्थान पर ही बैठते थे। राजा अपने सरदारों से कभी भी कोई प्रदेश मांग सकता था जैसाकि मालदेव ने वीरम से उसके द्वारा विजित अजमेर मांगा था, परन्तु वह अपने इन सरदारों को उचित सम्मान भी देता था क्योंकि उसकी शासन–व्यवस्था जागीदारी प्रथा पर ही अवलम्बित थी।

मालदेव स्वयं सर्वोच्च न्यायाधिकारी था। अपने परिवार–जनों को भी वह दण्डित करता था। राजा के अतिरिक्त अन्य न्यायाधीश भी होते थे पर जटिल मामलों में राजा की राय अवश्य ली जाती थी।

7.10.4. सेनानायक के रूप में — एक सेनानायक के रूप में राव मालदेव अपने पिता गांगा से भी अधिक शक्तिशाली तथा योग्य सिद्ध हुआ। वह सेना का प्रधान था। उसने अपनी समस्त सेना को अपने पूर्ण–नियन्त्रण तथा अनुशासन में रखा। उदाहणार्थ सेना के अजमेर जाने की इच्छा व्यक्त करने पर भी उसे मालदेव के आदेश पर प्रथम मेड़ता के जयमल के विरूद्ध जाना पड़ा। सैनिक अधिकरी के स्थान पर सामन्त व सरदार ही होते थे जो अपनी जागीर में निर्धारित सैनिक रखते थे। युद्ध के समय ये सामन्त अपने सैनिकों के साथ नरेश की सहायतार्थ युद्ध में पहुंचते थे। परन्तु सेना का प्रधान–सेनापति मालदेव ही होता था।

विभिन्न स्रोतों से ज्ञात होता है कि मालदेव के पास 50 से 80 हजार की घुड़सवार सेना थी। मालदेव के समय हाथियों का भी महत्व बना हुआ था। वीरम से कलह का कारण एक हाथी ही था। परन्तु युद्ध में उनके अधिक प्रयोग होने के कारण नहीं मिलते। सेना में पैदल सेना भी काफी संख्या में थी। परन्तु मालदेव की सेना की शक्ति प्रमुख रूप से अश्वारोहियों पर ही निर्भर करती थी।

7.10.5. युद्ध प्रणाली — राजपूत नरेश बहुधा दुर्ग में रहकर शत्रु का सामना करते थे। परन्तु मालदेव के समय में अधिकांश युद्ध खुले मैदान में लड़े गये थें सुमेल का युद्ध इसका स्पष्ट प्रमाण है। युद्ध के बाद नगरों को लूटना भी मालदेव ने प्रारम्भ कर दिया था। उसने सौजत, जैसलमेर तथा नागौर को लूटा था। विजय प्राप्त करने के लिए वह छल–कपट का सहारा भी लेने से नहीं हिचकिचाता था। यह उसने फलौदी जीतने के लिये किया। ये दोनों बातें उसने मुस्लिम आक्रमणकारियों से सीखी थीं। मालदेव एक वीर योद्धा था। चारण साहित्य में उसकी शौर्यपूर्ण कृतियों का विशद् वर्णन है। ख्यातवात लेखकों ने उसे 'हिन्दू बादशाह' की पदवी से अलंकृत किया है। वीर होने के साथ–साथ वह दानी प्रवृत्ति का भी शासक था। उसने चारणों और ब्राह्मणों को अनेक गांव दान में दिये। विकट परिस्थितियों में भी वह हतोत्साहित नहीं होता था।

7.10.6. साहित्यकारों को आश्रय देना — कुशल योद्धा व कूटनीतिज्ञ होने के साथ–साथ मालदेव साहित्य प्रेमी था। उसके दरबार में कई साहित्यकार, कवि व लेखक विद्यमान थे। उसके दरबारी कवि वीर रस में कविता रचते थे। डिंगल भाषा में रचित आशानन्द के गीत व छप्पय उस काल में अति विख्यात थे। बारहठ ईसरदास के दोहे, सोरठे व गीत उल्लेखनीय थे। मालदेव के शासनकाल में कई जैन लेखक भी विद्यमान थे। महात्मा नरसेन ने उस काल में जिन रात्रि कथा की रचना की थीं संस्कृत भाषा में भी कुछ रचनाएं रची गई थी। श्री लघुस्तव की संस्कृत टीका अति विख्यात है। मालदेव स्वयं संस्कृत भाषा का अच्छा विद्वान था।

7.10.7. मालदेव की व्यक्तिगत त्रुटिया — मालदेव निःसन्देह एक साम्राज्य निर्माता तो था परन्तु वह एक सफल कूटनीतिज्ञ नहीं था। उत्साह उसमें अवश्यक था, परन्तु वह राजनीति में दक्ष नहीं था। अतः अपनी विजयों से उसने अपने पड़ोसी राजपूत नरेशों को अप्रसन्न किया। अपनी अदूरदर्शिता के कारण उसने मेड़ता तथा बीकानेर से सम्बन्ध बिगाड़ कर एक बार तो जोधपुर भी खो दिया था। एक छोटी–सी उत्तेजना में आकर उसने अपने ससुर जैसलमेर के राव को अप्रसन्न कर लिया। अपनी शंकित प्रवृत्ति के कारण वह अपने वीर व स्वामी–भक्त सेनापति जेता व कूंपा को खो बैठा। इन सब दोषों के परिणामस्वरूप उसे शेरशाह से करारी मात खानी पड़ी। वह विजेता अवश्य था पर सुप्रशासक नहीं। उसका शासन सामन्त प्रथा पर ही आधारित था। अपनी दंभी प्रकृति व पड़ौसी प्रदेशों की विजय से तो अपने पड़ौसी राठौर शासकों को अपना शत्रु बना ही लिया था पर शीघ्र आवेश में आ जाने की प्रवृत्ति से भी उसने अनेक पड़ौसी नरेशों को नाराज कर दिया। चरित्र से हीन भी वह था। कामुक अधिक था। इस कारण भी उसे अनेक समस्याओं का सामना करना पड़ा। अपनी इस नीति के

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

कारण ही वह राम का अधिकार छीन कर कनिष्ठ चन्द्रसेन को अपना उत्तराधिकारी घोषित कर गया। जिसके भी दूरगामी परिणाम हुए।

7.11 सारांश :

1530 ई. में भारत में मुगल साम्राज्य का संस्थापक बाबर इस जहां से विदा ले चुका था। उसकी मृत्यु पर अदूरदर्शी व अस्थिरचित्त हुमायूं बादशाह बना। वह तत्कालीन राजपूत शक्ति का आभास नहीं कर सका। हालांकि खानवा के युद्ध में बाबर ने राणा सांगा को परास्त कर राजपूत शक्ति को महान आघात पहुंचाया था। परन्तु इस युद्ध के उपरान्त वह अफगानों के दमन में व्यस्त हो गया और इधर राजपूत पुनः अपनी सैनिक शक्ति के गठन में व्यस्त हो गये। यह इसी का परिणाम था कि मालदेव राजस्थान का एक सर्व–शक्तिशाली राजा बन गया। उस समय दिल्ली पर हुमायूं शासन कर रहा था। विलासी, अयोग्य व अदूरदर्शी हुमायूं को गद्दी पर बैठते ही प्रथम अपनी आन्तरिक समस्याओं से जूझना पड़ा और फिर अफगानों के भंवर में फंस गया। बहादुरशाह का दमन करते समय मेवाड़ की राजमाता द्वारा प्रेषित राखी का लाभ वह नहीं उठा सका। अपने प्रबल शत्रु शेरखां से लोहा लेते समय वह शक्तिशाली नालदेव का सहायोग ले सकता था। उधर मालदेव भी दंभी व अदूरदर्शी था। शेरखां से भविष्य में उत्पन्न होने वाले संकट का आभास न कर हुमायूं की सहायता के लिए वह भी आगे नहीं बढ़ा। जब शेरखां से परास्त हुमायूं दर–दर भटकने लगा तो मालदेव ने हुमायूं को मारवाड़ आने का निमन्त्रण दे कर सहायता का हाथ अवश्य बढ़ाया। परन्तु सहायता को प्रस्ताव हुमायूं के पास समय पर उचित रूप से नहीं पहुंचा। शंकालु नीति से ग्रसित हुमायूं भी उसका समय पर लाभ नहीं उठा सका। इसके परिणाम दोनों अदूरदर्शी शासकों को भोगने पड़े। अपनी शक्ति पर अति विश्वास करने वाला मालदेव शेरशाह की शक्ति को नहीं पहचान कर उसका मुकाबला कर बैठा। उसके प्रति भी उसने सहयोग की नीति अपनाई। शेरशाह के तो उस समय यह सोच के बाहर था कि राजपूतों का सहयोग लिया जावे या नहीं। अतः दोनों ही एक दूसरे की सहायता नहीं ले सके। उनकी इस नीति के दूरगामी परिणाम निकले।

7.12 बोध प्रश्न :

प्रश्न 1 मालदेव के नागौर आक्रमण के समय नागौर पर किसका शासन था?

अ. दौलत खां   ब. रावल लूणकरण

स. कल्याणमल   द. जैतसिंह

उत्तर – ....

प्रश्न 2 सुमेल युद्ध के प्रमुख कारण बताइये।

उत्तर – ....

प्रश्न 3 राव मालदेव का साम्राज्य विस्तार बताते हुए उसकी उपलब्धियों का उल्लेख करिये।

उत्तर – ....

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

इकाई – 8
दुर्ग वास्तुकला : चित्तौड़, रणथम्भौर और आमेर के सन्दर्भ में

संरचना

8.0 उद्देश्य
8.1 मध्यकालीन राजस्थान में स्थापत्य कला का विकास : प्रस्तावना
    8.1.1 दुर्ग निर्माण
8.2 चित्तौड़गढ़ का दुर्ग
8.3 रणथम्भौर का दुर्ग
8.4 आमेर के राजप्रासाद
8.5 सारांश
8.6 बोध प्रश्न

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

8.0 उद्देश्य :

राजस्थान की ऐतिहासिक धरोहर दुर्ग वास्तुकला का अध्ययन करे तो चित्तौड़, रणथम्भौर व आमेर के दुर्ग अपनी अलग पहचान रखते हैं। इस इकाई में इन दुर्गों की भौगोलिक स्थिति बनावट, विशेषताओं को विस्तारपूर्वक समझाया गया है।

8.1 मध्यकालीन राजस्थान में स्थापत्य कला का विकास : प्रस्तावना :

कला एक साधना है, कलाकार के रस और भावों का साकार रूप है। कला वह कृति है जो हर देखने वाले को आनन्द पहुंचाती है। जनसाधारण के ह्रदय में रस तरंगों का तूफान उठाती हैं सामान्यतः कला को मनोरंजन का साधन, विलासिता की सामग्री और सौन्दर्य का खिलौना मान लेते हैं किन्तु कला जहां जन साधारण को नवजीवन व आकर्षण प्रदान करती है वहां इतिहास की अद्वितीय सामग्री भी उपलब्ध कराती है। इसलिए ताजमहल को देखकर एक विदेशी कलाकार ने कहा था कि यदि समय की सारी लिखित सामग्री नष्ट कर दी जाये तो भी अकेला ताजमहल शाहजहां के समय की समस्त गौरवगाथा कह देगा। यह सच भी है कि जहां लिखित सामग्री प्राप्त नहीं होती वहां की कलाकृतियां मुक्त कंठ से उस समय की गौरवगाथा स्वयं बता देती है। जहां अन्य ऐतिहासिक साधन उपलब्ध नहीं होते हैं वहां किसी भी देश का पूर्ण इतिहास तब तक नहीं जाना जा सकता, जब तक कि वहां की कला का आद्योपान्त अध्ययन न किया जाये। राजस्थान में भी कला को शासकों का संरक्षण मिलता रहा है तथा किलों, शहरों, मंदिरों, राजमहलों और यहां तक कि गांवों में राजस्थानी कला बिखरी पड़ी है।

कला मानव के साथ जन्मी है और प्रकृति के कण–कण में इसका सौन्दर्य मचल रहा है। कला पवित्र है, दैनिक शक्ति है, अकाट्य सत्य है और सौन्दर्य का सागर है। वास्तव में कला में सत्यम्–शिवम्–सुन्दरम का समावेश है।राजस्थान में कला का विकास दो क्षेत्रों में अत्यधिक सराहनीय रहा। ये दो भाग (1) स्थापत्य कला और (2) चित्रकला। इन दोनों क्षेत्रों को अध्ययन की सरलता के लिए निम्न भागों में बांटा जा सकता हैं।

8.2. दुर्ग–निर्माण :

भारत वर्ष में ऐसे दो ही राज्य हैं जहां पग–पग पर किले मिलते हैं। वे दो राज्य राजस्थान और महाराष्ट्र है। यहां के राजा और जागीरदार किले को अपनी सम्पत्ति मान कर उसकी रक्षा करना अपना धर्म समझते थे। राजस्थान में तो हर दस मील पर एक न एक किला अवश्य मिल जाता है। सिर्फ मेवाड़ रियासत में ही 84 किले हैं जिनमें से 32 किले सिर्फ कुम्भा अकेले ने बनवाये थे। किलों का निर्माण कई कारणों से किया जाता था जो निम्नांकित हैं –

1. आक्रमण के समय प्रजा की रक्षा के लिये।
2. सामग्री संचय के लिये।
3. राजा के निवास और राज्य की रक्षा के लिये।

4. विदेशों से जीत कर लाई गई सम्पति संग्रह के लिये, और

5. पशुधन को बाढ़ व प्राकृतिक प्रकोपों से बचाने के लिये।

सिन्धु नदी के किनारे हड़प्पा की गढ़ी दुर्ग–निर्माण का प्राचीनतम प्रमाण है। राजा लोग किलों में रहकर शासन चलाते थे। किलों में सामान्यतः सेना राजा के पास रहती थी और आज जनता किलों के बाहर बस्तियों में। राजस्थान में किले का निर्माण काफी पुराना है जिसके प्रमाण कालीबंगा की खुदाई में प्राप्त हुए हैं। यहां 8 से 10 फुट चौड़ी दीवार के अवशेष मिले हैं। इसी प्रकार हाड़ौती, बागड़ और भोमट आदि प्राचीन बस्तियों के लोग भी दीवार बनाकर कांटों की बाड़ से उसकी रक्षा करते थे। आबू और बागड़ के निवासी तो आज भी अपनी पहाड़ी बस्तियां किलों की भांति बनाते हैं ओर रेगिस्तानी भाग में रहने वाले मिट्टी की डोली बनाकर उसके पार खाई खोद कर झाड़ियों और कांटों के पेड़ थोर व गंवार पाठा आदि से अपनी सुरक्षा करते है। अतः स्पष्ट है कि किलों का निर्माण एक मामूली स्थिति के रणथम्भौर व चित्तौड़ जैसे सुदृढ़ किलों तक प्रगति कर गया। चित्तौड़ का दुर्ग तो सातवीं शताब्दी से भी पुराना प्रतीत होता है। जिसका नव–निर्माण राजपूतों ने किया। किलों के निर्माण में मंदिरों और तालाबों को भी बहुत महत्व दिया जाता है।

मुसलमानों के आगमन तक राजस्थान में पहाड़ों पर किले बनने शुरू हो गये थे। अजयपाल ने अजमेर में तारागढ़ का किला बनवा कर इस ओर एक महत्वपूर्ण कदम उठाया। वैसे आबू, चित्तौड़, कुम्भलगढ़ ओर माण्डलगढ़ के किले राजपूतों से पहले के थे जिन पर राजपूतों ने दृढ़ता और सुरक्षा के साथ–साथ कलाकृतियों का ध्यान रख कर नव–निर्माण कराया। ये किले ऊंची ओर चौड़ी पहाड़ियों पर बनते थे जिनमें खेती भी हो सकती थी। किले में ऊंचे भागों पर मंदिर और राजप्रसाद बनाये जाते थे तथा निचले भागों में तालाब व समतल भूमि पर खेती की जाती थी। किलों के चारों तरफ की दीवार इतनी चौड़ी बनाई जाती थी कि उस पर कम से कम दो घोड़े एक साथ चल सकें। छोटी व ऊंची पहाड़ियों पर जहां तालाब नहीं बन सकते थे और खेती नहीं हो सकती थी वहां पर किले के नीचे ही खेती का स्थान सुरक्षित रहता था और किले मे बरसात का पानी भरने के लिये बड़ी–बड़ी बावड़ियां व टंकियां बनाई जाती थी। आपत्ति के समय के लिये बड़े–बड़े भंडार ग्रह बनाये जाते थे। जिनमें अनाज जमा कर लेते थे। इस प्रकार किलों का निर्माण आवश्यकताओं को देखकर ही किया जाता था।

मुगलों के सम्पर्क में आकर किलों का अलंकरण शुरू हुआ। दो तीन छेद वाले कंगारे, दीवारों में सजावट, नुकीली बूर्जे और ढालू दीवारे बनने लगी। यहां पर कुछ महत्त्वपूर्ण किलों का वर्णन किया गया है।

8.3 चित्तौड़गढ़ का दुर्गः

अजमेर से खण्डवा जाने वाले रेल मार्ग पर चित्तौड़ जंक्शन से दो मील दूर पूर्व में चारों ओर मैदान से घिरी हुई एक पहाड़ी पर एक सुन्दर सुदृढ़ किला बना हुआ है, जिसे चित्तौड़गढ कहते हैं। यह दुर्ग न केवल राजस्थान का सबसे प्रसिद्ध व महत्वपूर्ण दुर्ग है अपितु भारतवर्ष के समस्त सुदृढ़ दुर्गों में इसका स्थान है। यह किला राजपूती आन–बान एवं शान का प्रतीक है। यहां की मिट्टी का कण–कण उन वीर राजपूतों के रक्त से रंजित है, जिन्होंने अपने देश के सम्मान व धर्म की रक्षार्थ सहर्ष अपने प्राणों की आहुति दी थी। यहां की वीरांगनाओं ने अपने सतीत्व की रक्षा के लिए जौहर की धधकती ज्वालाओं का आलिंगन कर ऐसा आदर्श उपस्थित किया जिसकी समता भारत क्या विश्व का कोई देश नहीं कर सकता है।

इस दुर्ग के निर्माण की तिथि के सम्बन्ध में निश्चित रूप से कुछ नहीं का जा सकता। दन्त कथाओं के आधार पर यह कहा जाता है कि यह किला पाण्डवों के समय में भी विद्यामन था। भीम ने अपने घुटने के बल से यहां पानी निकाला था। आज भी इस स्थान पर एक कुण्ड बना हुआ है जिसे 'भीमताल' कहा जाता है। परन्तु कर्नल टॉड की पुस्तक में उद्धत वि.सं. 770 के शिलालेख की प्रतिलिपि से प्रमाणित होता है कि यहां मौर्य वंश का एक भीम नामक शासक था। सम्भवतः पाण्डववंश के भीम को इस भीम के साथ गलती से मिला दिया गया है। डॉ. गोपीनाथ शर्मा भी यह स्वीकार करते है कि शिलालेख की वंशावली के अनुसार मौर्यवंशीय भीम का ही चित्तौड में रहना ठीक प्रतीत होता है। इसी भीम का उत्तराधिकारी मान था जिसे चित्रांगद अथवा चित्रांगद भी कहते है। सम्भवतः सातवीं शताब्दी के लगभग इसने चित्तौड़ का किला बनवाया था। अतः उसी के नाम पर यह दुर्ग चित्रकूट जाना गया तथा किले का एक तालाब चित्रंगमोरी तालाब के नाम से जाना जाता है। ओझा के अनुसार आठवीं शताब्दी में गुहिल वंशीय शासक बापा रावल ने मौर्य वंश के शासक से यह दुर्ग छीन लिया था। कुछ इतिहासकारों की मान्यता है कि इस दुर्ग पर प्रतिहार व परमार वंशीय नरेशों का भी अधिकार रहा था। 12वीं सदी में इस पर सोलंकी नरेश सिद्धराज का अधिकार था। परन्तु तेरहवीं शताब्दी के आरम्भ में गुहिल वंशीय जैतसिंह ने इस दुर्ग पर अधिकार कर लिया। डॉ. दशरथ शर्मा ने जैत्रसिंह को चित्तौड़ का प्रथम विजेता माना है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

चित्तौड़ का किला समुद्र की सतह से 1850 फुट ऊँचा, लगभग तीन मील लम्बा तथा आधा मील चौड़ा है। किले का वैभव वहां के खण्डहरों, मन्दिरों, सरोवरों तथा राजप्रसादों के अवशेषों से आंका जा सकता है। सम्पूर्ण किला चारों ओर से सुदृढ़ प्राचीर से घिरा हुआ है। जिसके मुख्य मार्ग पर कुछ द्वार है। महाराणा कुम्भा ने किले का मार्ग सीधा करवाया तथा चार दरवाजे बनवाये थे। अब इस दुर्ग में सात दरवाजे है। ये सात दरवाजे पाण्डनपोल, भैरवपोल, हनुमानपोल, गणेशपोल, लक्ष्मणपोल, जोडनपोल और रामपोल है। इनको पार करने के बाद किले में पहुंचा जा सकता है। पाण्डनपोल चित्तौड़ दुर्ग का प्रथम द्वार है। इस द्वार के बाहर चबूतरे पर प्रतापगढ़ के रावत बाघसिंह का स्मारक बना हुआ है जिसने 1534 ई. में गुजरात के सुल्तान बहादुरशाह के विरूद्ध किले की रक्षा करते हुए अपने प्राण न्यौछावर कर दिये थे। बाघसिंह का यह स्मारक चित्तौड़ के इस द्वार पर एक प्रहरी रूप में बना हुआ है। यहां से आगे चलकर भैरवपोल है जहां जयमल और पत्ता की छतरियां है।

पत्ता सियोदिया के स्मारक के दाहिनी ओर जाने वाली सड़क पर तुलजामाता का मन्दिर आता है। कुम्भलगढ़ में भी मुख्य द्वार से दुर्ग में प्रवेश करते ही देवी का मन्दिर है। कुछ अन्य दुर्गों में भी ऐसा ही देखा गया है। इससे यह प्रतीत होता है कि दुर्गों के निर्माण में मातृ–देवी के मन्दिर का विशेष स्थान था जो राजपूतों की मातृ–शक्ति के प्रति श्रद्धा को स्पष्ट करता है। तुलजा–माता के मन्दिर के आगे ऊँची दीवारों से युक्त एक सुरक्षित अहाता है जिसे नवलखा भण्डार कहते हैं। इसे बनवाकर बनवीर ने अपने समय की अस्थिरता की स्थिति से बचने के लिए दुर्ग के अन्दर एक दूसरे दुर्ग की व्यवस्था की थी। इस अहाते के आसपास तोपखाने का दालान, पुरोहितों की हवेलियां, भामा शाह की हवेली तथा अन्य महल हैं। इससे स्पष्ट है कि दुर्ग में सामन्तों के लिए भी भवन निर्मित होते थे जो उस काल में हवेलियां कहलाती थी। नवलख भण्डार के पास एक छोटा–सा किन्तु सुन्दर खुदाई वाला मन्दिर है जिसे श्रृंगार चंवरी का मन्दिर कहते हैं। इसके लिए यह प्रसिद्ध है कि राणा कुम्भा की पुत्री का विवाह यहां हुआ था अथवा वह यहां श्रृंगार किया करती थी। परन्तु वास्तव में यह शान्तिनाथ का जैन मन्दिर है और इसकी प्रतिष्ठा खैरतर गच्छ के आचार्य जिनसेन सूरी ने की थी। इस मन्दिर का जीर्णोद्वार राणा कुम्भा के भण्डारी वेलाक ने 1448 ई. में करवाया था। इस मन्दिर का मध्य स्थान जिसे लोग चंवरी कहते है वास्तव में अष्टापद मूर्ति की वेदी है। यह पूजा का विशेष स्थान है।

यहां से आगे बढ़ने पर त्रिपोलिया नामक द्वार आता है जिसमें राणा कुम्भा के महल है जो अब खण्डित अवस्था में दृष्टव्य है। ये महल हिन्दू स्थापत्य कला के उत्कृष्ट नमूने कहे जा सकते हैं। अलंकरण से दूर हट कर सरलता व सादगी लिए हुए ये महल कुम्भा के युद्ध–रत जीवन की झांकी प्रस्तुत करते हैं। सम्भवतः ये महल प्राचीन थे। जिन्हें राणा कुम्भा ने नवीन रूप दिया था। डॉ. गोपीनाथ शर्मा के अनुसार ''राजप्रसाद का यह ढांचा 15वीं सदी के उच्च वर्गीय समाज के जीवन के अध्ययन के लिए बड़ा उपयोगी है। एक पट्टशाल को जोड़ने वाले दो कमरे, गवाक्ष और खम्भों पर दालान की छत रोकने की विधि, राजप्रासादों को जोड़ने वाले संकरे मार्ग, छोटे दालान आदि उस समय के स्थापत्य की विशेषतायें थीं, जो चित्तौड़ के राजप्रसादों में झलकती है।'' इन महलों में एक सुरंग है जिसे रानी पद्मनी के जौहर का स्थल बताया गया है परन्तु यह निर्मूल है। ओझा ने भी इसे निराधार बताया है। पुरातत्व विभाग द्वारा की गई यहां की खुदाई में कई कमरे और बरामदे निकल आने से स्पष्ट हो जाता है कि यह स्थल जौहर का स्थल नहीं हो सकता। वास्तव में जौहर का स्थल समिधेश्वर के मन्दिर के आस–पास का खुला स्थान होना चाहिए। अलाउद्दीन खलजी के समय में भी मेवाड़ की वीरांगनाओं ने यही जौहर किया था। यहां पर छोटे–बड़े शिवालय, स्मारक व चबूतरें मिलते हैं जो जौहर–स्थल होने के प्रमाण कहे जा सकते हैं।

राजभवन के आगे 'कुम्भाश्याम' का मन्दिर है। इसका निर्माण कुम्भा ने करवाया था। इसके सभा मण्डप की छत पर सुन्दर नक्काशी की हुई है। इसके पास ही मीराबाई का मन्दिर है जहां मीरा हरि कीर्तन के लिए जाया करती थी। इसके आगे सात बीसी देवरी के जैन मन्दिर है जो संख्या में 27 है। ये मन्दिर गुजरात शैली की तक्षण कला से ओतप्रोत है। यहां पर त्रिभुन नारायण का मन्दिर है जो 13वीं सदी की मूर्तिकला तथा जन–जीवन की झांकी का अद्वितीय नमूना कहा जा सकता है। इसके निकट ही राणा कुम्भा द्वारा बनवाया हुआ नौ मंजिल का विशाल कीर्तिस्तम्भ है। यह राणा कुम्भा ने मालवा के सुल्तान महमूद शाह खलजी को परास्त करने की स्मृति में बनवाया था। परन्तु सोमानी के अनुसार यह स्तम्भ राणा कुम्भा की विजय के सन्दर्भ में नहीं बनवाया गया अपितु राणा के उपास्यदेव भगवान विष्णु के निमित्त बनाया गया था। सूत्रधार जेता के नेतृत्व में इसका निर्माण करवाया गया था। यह विशाल स्तम्भ 47 फुट के चौकोर और 10 फुट ऊँचे एक चबूतरे पर बना हुआ है। इस स्तम्भ की आधार पर चौड़ाई 30 फुट तथा ऊँचाई 122 फुट है। नौ खण्डों के इस विशाल स्तम्भ के अन्दर 157 सीढ़ियां बनी हुई हैं इस स्तम्भ के निर्माण में उस समय 90 लाख रू. खर्च हुए थे। यह स्तम्भ अनेक देवी–देवताओं ओर सामाजिक जीवन की परिचायक मूर्तियों का कोष है। हमें मूर्तिकला तथा स्थापत्य कला का सुन्दर समन्वय इस स्तम्भ में देखने को मिला है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

कीर्ति स्तम्भ से आगे चलकर जयमल की हवेली है। सम्भवतः यह सामन्तों के निवास–स्थल के रूप में प्रयुक्त होती होगी। दुर्ग में सामन्तों के आवास तथा रहने की सुविधाओं के सम्बन्ध में इस हवेली से पर्याप्त जानकारी प्राप्त होती है। इसके बाद रानी पद्मनी के महल आते है। इन महलों के आगे कालिका माता का मन्दिर है जो पहले सूर्य मन्दिर था। इसकी तक्षण कला को देखते हुए यह मन्दिर आठवीं शताब्दी का बना हुआ प्रतीत होता हे। सम्भवतः मुसलमानों ने इस मन्दिर की पहली मूर्ति को तोड़ दिया हो और बाद में कालिका माता की मूर्ति स्थापित की गई हो। यहां से आगे चित्रंमोरी तालाब को पार कर इस किले के ऐसे छोर की ओर पहुंचते हैं जहां से नीचे 'मोर मगरी' दिखाई देती है। अकबर ने अपने आक्रमण के समय इसे और ऊँचा उठा कर इसे तोपों के प्रयोग में लिया था। यहां से सम्राट तोपों के प्रयोग से ही राजपूतों का मोर्चा तोड़ने में सफल रहा था।

विभिन्न महलो, वीरों के स्मारकों, जौहर के स्थानों, मन्दिरों तथा तालाबों से सजा हुआ चित्तौड़ का दुर्ग अपने आप में एक पूर्ण संवर्ग प्रतीत होता है। 1303 ई. से पहले किले की तलहटी पर बसा हुआ वर्तमान चित्तौड़ का कस्बा नहीं था। समस्त लोग किले में ही रहते थे। जब मुसलमानों ने इस किले पर अधिकार कर लिया तब लोगों ने किले की तलहटी में बसना आरंभ किया। स्थापत्य कला की दृष्टि से सुन्दर तथा सुदृढ़ चित्तौड़ का दुर्ग राजस्थान के दुर्गों में सर्वोपरि माना जाता है। परन्तु सामरिक दृष्टि से भी इस दुर्ग की स्थिति अच्छी नहीं कही जा सकती। यह दुर्ग ऊँची पहाड़ी पर निर्मित है ओर चारों ओर समतल मैदान से घिरा हुआ है। अतः इस पर शत्रु की निगाह भी आसानी से पड़ जाती है और इसका घेरा भी शत्रु आसानी से डाल लेते थे। इसकी स्थिति कुम्भलगढ़ व रणथम्भौर के दुर्गों जैसी नहीं है।

8.8. रणथम्भौर का दुर्गः

दिल्ली–मथुरा रेलमार्ग पर स्थित सवाई माधोपुर जंक्शन से 13 किलोमीटर दूर अरावली पर्वत श्रृंखला की 7 पहाड़ियों के पठार पर निर्मित रणथम्भौर का दुर्ग अपनी प्राकृतिक और मानव प्रदत्त दृढ़ता के कारण ऐतिहासिक ओर समरिक दृष्टि से राजस्थान के दुर्गों में महत्वपूर्ण स्थान रखता है। कहा जाता है कि ऐसा दुर्गम, दुर्भेद्य, प्राकृतिक रूप से सुरक्षित और दृढ़ता से निर्मित दुर्ग अन्यत्र दुर्लभ है। चित्तौड़ की एकाकी पहाड़ी की अपेक्षा सात पहाड़ियों से आवृत एक पहाड़ी के पठार पर बने रणथम्भौर के दुर्ग को प्रकृति ने इस प्रकार अपने अंक में भर लिया है कि दुर्ग के मुख्यदार पर पहुंचे बिना दुर्ग पूर्ण रूप से दृष्टिगत ही नहीं होता। किन्तु दुर्ग के अन्दर की स्थिति ऐसी है कि उनकी प्राचीर से सम्पूर्ण क्षेत्र पर नजर रखी जा सकती है।

इस दुर्ग की निर्माण तिथि संदिग्ध है। कहा जाता है कि महेश्वर के चौहान शासक रन्तिदेव ने 8वीं शताब्दी ई. में इस दुर्ग का निर्माण करवाया था। एक अन्य जनश्रुति के अनुसार चन्देल वंश के राव जेता ने मीणा जाति के सहयोग से इसका निर्माण करवाया था। कतिपय विद्वान रणथम्भौर के निर्माण का श्रेय चौहान शासक रणथम्भन देव को देते है। किन्तु जनश्रुतियों और ऐतिहासिक साक्ष्यों आधार पर यह निश्चित है कि 10वीं शताब्दी तक यह दुर्ग अस्तित्व में आ गया था और इसके प्रथम अधिकारी चौहान थे। इस दुर्ग के नामकरण के बारे में भी विद्वानों में मतभेद है। एक परम्परा के अनुसार मध्ययुग के आरम्भ में यह क्षेत्र रणक्षे. के रूप में प्रसिद्ध था। अतः इस दुर्ग का नाम रणथम्भोर पड़ गया। 'जहांगीरनामा' के अनुसार 'रिन' और 'थम्भ' नामक पहाड़ियों के मध्य स्थित होने के कारण इसका नाम रणथम्भौर पड़ गया था। रणथम्भौर का इतिहास संघर्षों की विभिषिकाओं से युक्त है। वस्तुतः यह दुर्ग राजस्थान का प्रवेशद्वार था। राजस्थान विजय की आकांक्षा रखने वाले को रणथम्भौर जीतना आवश्यक था। आगरा और दिल्ली की शाही राजधानियों के सर्वाधिक निकट होने के कारण रणथम्भौर का दुर्ग प्रत्येक विजिगीषू के लिये समुपस्थित संकट था। अतः प्राय प्रत्येक बार बाह्य आक्रमण का प्रथम आघात रणथम्भौर पर ही हुआ। अपने निर्माण काल से 13वीं शताब्दी ई. तक यह दुर्ग प्रायः चौहानों के अधिकार में ही रहा। तराइन के द्वितीय युद्ध में पराजय के पश्चात् पृथ्वीराज चौहान के पुत्र गोविन्दराज ने इसी दुर्ग में आश्रय लिया था। एक शताब्दी के पश्चात् 1301 ई. में अलाउद्दीन खिलजी ने चौहान शासक हम्मीर को पराजित करके इस दुर्ग पर अधिकार कर लिया। खिलजियों की शक्ति निर्बल होने पर रणथम्भौर मेवाड़ के राणाओं के हाथ में आ गया। तदनन्तर यह शेरशाह के अधीन हो गया। अकबर के समय इस दुर्ग पर जझार खान (हाजी खान या सग्रांमखान) का अधिकार था जिसने 1559 ई में इसे बूंदी के सुर्जन हाड़ा को सौंप दिया। इसी वर्ष अकबर ने इस पर अधिकार कर लिया। इसके पश्चात् 200 वर्षों तक इस दुर्ग पर मुगलों का आधिपत्य रहा। 1750 ई. में मुगल सम्राट् अहमदशाह ने इस दुर्ग को जयपुर के शासक माधोसिंह को भेट में दिया। तदनन्तर स्वतन्त्रता प्राप्ति तक यह जयपुर के अधिकार में ही रहा। विभिन्न राजनीतिक शक्तियों के अधीन रहने के कारण इस दुर्ग का स्थापत्य वैभिन्नता से ओत–प्रोत है। चौहान और गुहिल शासकों ने दुर्ग में अनेक देवालयों, जलाशयों, दोनों ओर भवनों का निर्माण करवाया था।

कालान्तर में मुस्लिम विजेताओं ने उनका ध्वंस करके नये भवन बनवाये। तदनन्तर कछवाहा शासकों के काल में भी इसमें अनेक भवन निर्मित हुये। सात मील की परिधि में विस्तृत ररणथम्भौर के दुर्ग में अनेक जलाशय, देवालय, राजप्रासाद, छतरियां, मस्जिदें, चरागाह, हवेलियां आदि बनी है। दुर्ग का प्रवेशद्वार नौलखा दरवाजा कहलाता है। इस द्वार के जीर्णोद्धार का श्रेय जयपुर के महाराजा जगतसिंह को है। इस द्वार के आगे अनेक त्रिकौनी द्वार बने है जिन्हें क्रमशः तोरणद्वार, अन्धेरी दरवाजा ओर त्रिपोलिया कहा जाता था। इन्हीं द्वारों के ऊपर सैनिकों के आवास बने है जहां से सम्पूर्ण दुर्ग ओर घाटियों की निगरानी की जाती थी। इसके आगे चौहान शासक हम्मीर द्वारा अपने पिता जयसिंह की स्मृति में बनवाई गई 50 फीट ऊँची छतरी के गर्भ गृह में काले स्लेटी रंग के पाषण से बना शिवलिंग स्थापित है तथा छतरी के गुम्बरद पर मूर्तियो और चित्र अंकित है। इसी के निकट लाल पत्थर से बनी अधूरी छतरी है जिसे अधुरा स्वप्न कहा जाता है। कहा जाता है कि इसे उदयसिंह की हाड़ी रानी कर्मवती ने बनवाया था। दुर्ग के मध्य भाग में दुमंजिला सात खण्डीय राजप्रासाद बना है जो अब जीर्ण–शीर्ण हो गया हे। किन्तु इसके अवशेष तात्कालीन स्थापत्य कला के वैभव के प्रतीक है। राजप्रासाद के पीछे 'पद्मल सरोवर' नामक पुष्प वाटिका है। इसी के निकट अलाउद्दीन खिलजी द्वारा निर्मित मस्जिद के अवशेष है। राजप्रासाद के आगे चौहानयुगीन गणेश मंदिर है। इसके पूर्व में गुप्त गंगा के नाम से प्रख्यात जलस्रोत है। इससे थोड़ा आगे जंवरा–भवरा नामक खाद्य सामग्री के गोदाम बने है। गणेश मंदिर के पीछे की ओर एक शिव मंदिर, बादल महल और सामन्तों की हवेलियां हैं। बादल महल नृत्यशाला और आमोद–प्रमोद का केन्द्र था। यहां से एक किलोमीटर आगे विशाल स्तम्भों, बरामदों और कक्षों से युक्त 'हम्मीर कचहरी' है। कहा जाता है कि चौहान शासक यहां बैठकर प्रजा को न्याय प्रदान करते थे इसके आगे दिल्ली दरवाजा है। दुर्ग के प्रवेशद्वार के बायी ओर 'जोगी महल' है। ऐतिहासिक स्रोत इस भवन के विषय में मौन है। कहा जाता है कि इस महल का निर्माण एक ऋषि के निवास के लिये करवाया गया था। कालान्तर में यह साधु–सन्तों का आश्रय स्थल बन गया और 'जोगी महल' कहा जाने लगा। कतिपय विद्वानों की मान्यता है कि दुर्ग की सुरक्षा के निमित्त इस भवन का निर्माण सुर्जन हाड़ा ने करवाया था। वर्तमान में यह भवन वन विभाग द्वारा 'बाघ परियोजना' के अन्तर्गत पर्यटकों के लिये विश्राम गृह के रूप में प्रयुक्त हो रहा है।

8.5. आमेर के राजप्रासाद :

आमेर का सबसे रोचक और विस्तारित भाग कहां के राजप्रासाद है जो स्थानीय शिल्प को आधार बनाकर मुगल अलंकरण से सजे हुए है। इन राजप्रासादों पर पहुंचने के लिए पुराने जमाने में एक पगडण्डी बनी हुई थी जिसको विस्तारित कर आने–जाने योग्य मार्ग के रूप में बना दिया गया दूसरा कम चढ़ाई वाला भी रास्ता इसी के पास होकर जाता है, जो मुगल काल में बनाया गया था, जबकि यहां के नरेशों के पास हाथी, घोड़े, रथ, आदि का बड़ा लवाजिमा रहता ऊपरी पहाड़ी पर दक्षिण से पूर्व तक फैले हुए राजप्रासाद है। जिनकों चारों और से बड़ी सुदृढ़ दीवारों से सुरक्षित कर दिया गया है। इस किले के दोनों और लगी पहाड़ियों की कतार आ जाने से इसकी सुरक्षा सहज में ही हो जाती है। ऊपर से इसे चारों ओर से बन्द कर नीचे आने वाले शत्रुओं को बड़ी सरलता से मारा जा सकता है, परन्तु नीचे वाले शत्रु तंग भाग में आ जाने के कारण ऊपर तक अस्त्रों का प्रयोग ऊपर तक बुर्जो पर बार करने के लिए आसानी से नहीं पहुंचा जा सकता। पूर्वी भाग में सरोवर प्राकृतिक खाई का काम करता है। इसी के पास दलाराम बाग है जो फब्बारों, तिवारों, छतरियों और बंगलों से सुसज्जित है। इसकी बनावट और भवनों की सजावट मुगल शैली पर है। भवनों की मेहराबें व छज्जे बंगाली काट के है, जो काट सम्भवतः मानसिंह के काल से यहां प्रयोग में आने लगा हो। दक्षिणी तिबारे के पास बाहर खुले कुछ सतियों के स्मारक हें पास में ही हम्मम के कमरे फिर से मुगल जीवन की गतिविधि का स्मरण कराते हैं।

परन्तु जब हम आमेर दुर्ग पर जाते है तो उसका सम्पूर्ण ढांचा हिन्दू राजभवन की शैली पर है। मुख्य द्वार से आने वाला आंगन, जो जलेब चौक कहलाता है, घोड़े, हाथी, फौज, सैनिक, आदि के निरीक्षण का स्थान है, जिन्हें यहां के नरेश प्रतिदिन किसी न किसी रूप में देख लिया करते थे। घोड़े की दौड़ का स्थान हांने से इसे जलेब चौक की संज्ञा दी गयी है। ऊपर के दालान में बैठकर नीचे आयोजित घोड़े, हाथी की दौड़ और उनकी चाल का निरीक्षण किया जा सकता था और दशहरा, होली आदि, पर्वों पर इनका पूजन भी किया जाता था। उदयपुर के चौक का भी ढांचा इसी प्रकार का बना हुआ है, जो राजपूत शैली के अनुकूल है।

फिर सीढ़ियां चढ़कर हम दूसरे मुख्य द्वार पर जाते है जो सिंहपोल कहलाता है। द्वार का निर्माण हिन्दू प्रणाली के अनुरूप है, परन्तु बाहर उत्तर मुगलकालीन ढंग की चित्रकला के अवशेष दिखायी देते हैं। इसके प्रवेश के बाद एक चौक और आता है जिसमें विशेष अधिकार के लोग पहुंचा करते थे ओर उत्सव पर यहां जमा होते थे। पीछे से इस चौक के एक कोने पर लाल खम्भों का एक खुला भवन बना दिया गया जिसे 'दीवाने आम' कहते है। इसमें पुराने व नये खम्भों का सम्मिश्रमण

है तथा छत भी पट्टियों वाली और मेहराव वाली बनी हुई है। भवन के खम्भों को 'डीगरियों' से पाटा गया है और भारतीय पद्धति के अनुसार भवन की छत के भार का सन्तुलन किया गया है। छत को शरद पूर्णिमा के अवसर पर आम दरीखाना लगाने हेतु प्रयोग किया जाता था। भवन का बाहरी दिखाव मुगल शैली का है, परन्तु पत्थर के दोहरे खम्भे, हाथियों की आकृतियां तथा छज्जों का प्रयोग स्थानीय है। इसका निर्माणकाल जयसिंह प्रथम के समय का आंका जाता है। इससे लगा हुआ कमरा 'मजलिस विला' कहा जाता है जिसमें मुख्यमन्त्रियों या अधिकारियों की बैठक स्थानीय नरेश के साथ होती ही। इस सम्पूर्ण भवन में हर प्रकार की एकरूपता नहीं दिखायी देती, जिससे ऐसा प्रतीत होता है कि इसमें समय–समय पर जीर्णोद्धार और परिवर्तन किये गये हों और प्राचीनदुर्ग का सामान इस नवनिर्मित भवन के निर्माण में उपयोग में लाया गया हो।

इसके बाद मुख्य चौक से अन्दर जाने के लिए कुछ छोटा, परन्तु मुख्य द्वार आता है जिसे गणेश पोले कहते हैं। इस पोल का प्रवेश और आस–पास के भवन राजपूत शैली के हैं। पोल के ऊपर का दिखावा मेहराव वाला है, किन्तु इसमें प्रवेश करने के साधन और आस–पास की छोटी–छोटी कोठरियों की बनावट स्थानीय है। इसमें प्रवेश करने के बाद भीतर एक विशाल चौक आता है। चौक के एक ओर 'शीश महल' है जो आगरा फोर्ट के राजप्रासाद के ठीक अनुरूप दिखायी देता है। दूसरी ओर का सुख निवास राजपूत शैली का है। शीशमहल में चूने का बेल–बूटों का काम उभरे हुए ढंग से किया गया है। इसी के साथ शीशों का मेल भी बिठाया गया है। भवन की बाहरी और भीतरी दीवारों पर उभरे हुए फूलों के गुलदस्ते बने हुए है और फूलों पर तितलियां बनायी गयी हैं यह कला मुगल कला की सीयता बताती है और किसी कदर आगरा, दिल्ली या सीकरी की कारीगरी से कम नहीं है। नीचे के शीशमहल के ऊपर जिस मन्दिर है जिसमें भी शीशों की जड़ाई का काम है। ऊपर की छत भी शरद् पूर्णमा की चांदनी में खासा दरबार लगाने के काम में आती थी।

इसी तरह यहां दीवाने खास के दो बड़े कमरे ओर आस–पास दो छोटे कमरे है जिनमें छतों व दीवारों पर कांच का काम है। इसमें सुराहियां व बेल–पत्ती का काम बड़ा उत्कृष्ट है, जो फारस–कला के अनुरूप है। परन्तु शीशों पर राधाकृष्ण, गौएं, कदली, आदि की आकृतियां बनायी गयी है, जो विषय के चयन के विचार से सर्वथा भारतीय है।

गणेश पोल के ऊपर वाले भाग में सुहाग–मन्दिर तथा एक दालान और आस–पास दो छोटे कमरे है। दालान में इस प्रकार की जालियां लगी हुई है कि ऊपर से स्त्रियां बाहर होने वाले उत्सवों को भली–भांति देख सकती है, परन्तु बाहर के लोग उनको नहीं देख सकते। चौक के एक भाग में प्राचीन आमेर के राजभवनों के भग्नावशेषों को देखा जा सकता है, जहां बालाबाई की पुरानी शाल, आदि है। यही से आगे जाने पर जयगढ़ से लगे हुए भवन बने हुए है। इन भवनों की विशेषता यह है कि इनमें छोटे–छोटे द्वार, खुले हुए बितारे ओर उनके साथ दो–दो टोटे कमरे जुड़े हुए है। इन अलग–अलग भागों को संकरे बन्द रास्तों से जोड़ा गया है। इन भवनों की छतें नीची है, जिन्हें सुरक्षा की दृष्टि से बनाया गया था। किवाड़ों पर राजपूत शैली के चित्र बने हुए है जो प्राचीन जयपुर कलम का रूप कहा जा सकता है। नीचे वाली बारादरी के आस–पास अलग–अलग आवास बने हुए है जिन्हें रानियों के लिए बनाया गया था।

सुख निवास के पास भोजनशाला बतायी जाती है, जो ठीक नहीं। इसमें बरामदों के साथ छोटी–छोटी कोठरियां–सी बनी हुई है जो मर्दाना राजपरिवार के बैठने ओर मिलने के काम में लायी जाती थी। इनमें दीवारों पर पौराणिक गाथाओं के श्याम कलम के चित्र भी राजपूत शैली में बने हुए है। इसी के पास पानी की नाली लहरदार पत्थर के ऊपर बनी हुई है, जो ऐसा प्रतीत होता है कि यह आगरा फोर्ट के राजभवनों की लहर से उद्धृत की गयी हो।

यहां से फिर सिंहद्वार से उतरने पर दर्शक शीलादेवी के मन्दिर पर पहुंचता है। देवी की मूर्ति बंगाल के केदार राजा को युद्ध में परास्त कर मानसिंह यहां लाया था या शिला के रूप में पड़ी हुई मूर्ति को पूजनार्थ यहां ले आया।

आमेरगढ़ और राजभवनों के अतिरिक्त वहां के प्राचीन मन्दिर ओर अन्य स्मारक दर्शनीय है। यहां का सबसे प्राचीन मन्दिर अमरीश का है जिसे अम्केश्वर का मन्दिर कहते है। इसके साथ छः छोटै–छोटे मन्दिर है। इनमें स्थापित चार मूर्तियां विक्रम की है जिनमें से एक शीतला माता के नाम से पूंजी जाती हैं यहां के वैष्णव मन्दिरों में विशेष उल्लेखनीय कल्याण जी का मन्दिर है। जैन मन्दिरों में कई प्राचीन मन्दिर हैं, जो टूटी–फूटी हालत में है या ऐसे मन्दिर हैं जिन्हें शिव मन्दिरों में, जैन–हिन्दू वैमनस्य के समय परिवर्तित कर दिया गया था।

यहां के विशाल मन्दिरों में जगत शिरोमणिजी का मन्दिर है जो 17वीं शताब्दी की अच्छी कलाकृति है। यहां का तोरण उस समय की मूर्तिकला ओर तक्षणकला का सुन्दर उदाहरण है। यह मन्दिर मानसिंह के समय में जगतसिंह की स्मृति में उसकी विधवा पत्नी के द्वारा बनवाया गया था। मन्दिर में लगे हुए स्तम्भों पर देवी–देवताओं की आकृतियों से सजीवता टपकती

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

है। इसमें तक्षण–कला के द्वारा उस समय के जीन की झांकी उपस्थित की गयी है, जो सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण है। यहां के अन्य वैष्णव मन्दिरों में नरसिंहजी का मन्दिर भी उल्लेखनीय है।

आमेर के अन्य स्मारक प्रतीकों में पन्नमियां कुण्ड तथा अकबर कालीन मस्जिद है। शाहपुरा सड़क पर स्थित यहां के राजाओं की छतरियां और एक–दूसरे मार्ग पर विष्णु का मन्दिर तथा यज्ञ–स्तम्भ सवाई जयसिंह की धार्मिक प्रवृत्ति की स्मृति दिलाते है।

फर्ग्यूसन ने आमेर के राजभवनों का चित्रण करते हुए ठीक कहा है कि वे ऐसे दीख पड़ते है कि सहसा वे घाटी से निकल पड़े हों ओर उनके विविध भाग नीचे अपनी परछाई फेंक रहे हों। परन्तु वही विद्वान लेखक यह अनुभव करता है कि आमेर के राजभवन ग्वालियर दुर्ग के राजभवनों के कक्ष में तो देखे जा सकते है, परन्तु विशाल द्वारों, बुर्जो, दीवाने खास, दीवाने आम, बागान और फब्बारे से वे मुगल शैली के अधिक निकट है। ब्राउन भी जनाना भवनों को अकबरी कला में दक्ष कारीगरों द्वारा बनाया हुआ मानते हुए यह लिखता है कि वे आगरा फोर्ट के भवनों से मिलते है। परन्तु हमारी राय से इन कला के पारखियों ने इस बात की उपेक्षा की है कि आमेर के भवनों में आधारभूत भारतीय शैली के तत्त्व छिपे हुए है, जिनमें चौक, बरामदों के साथ दो कमरों का होना, छोटे द्वार, चित्रित किवाड़, तंग ड्यौढ़ियां, मयूर, हाथी, आदि की आकृतियां, रंगीन शीशों पर पौराणिक दृश्य आदि प्रमुख है। दुर्ग का सम्पूर्ण ढांचा मण्डन के राजबल्लभ में दिये गये ढांचे के अधिक निकट है। यदि इनमें मुगलपन है तो वह बाहरी दिखावे तक ही सीमित है।

8.6. सारांश :

उपर्युक्त दुर्गों के विवरण से स्पष्ट है कि दुर्गों की स्थापत्य परम्परागत है। कौटिल्य ने अपने अर्थशास्त्र में विभिन्न उद्देश्यों पर आधारित 6 प्रकार के किले बताये। अतः परम्परागत शैली पर निर्मित ये दुर्ग भी विभिन्न प्रकार के कार्य सम्पन्न करते थे। कुछ दुर्ग सीमा सुरक्षा की दृष्टि से निर्मित है तो कुछ राज्य की रक्षा के लिए। कुछ दुर्ग कठिनाई के समय राजा को शत्रु से आश्रय लेने की दृष्टि से बनाये गये थे। तेरहवीं सदी के आरम्भ से ही मुसलमानों के राजस्थान पर आक्रमण अधिक होने लगे तो दुर्ग उच्च पहाड़ियों पर बनाये जाने लगे। चित्तौड़ कुंभलगढ़ तथा माण्डलगढ़ के दुर्ग इसी प्रकार के हैं। मुस्लिम सम्पर्क में आने के बाद कुछ दुर्ग यदि ऊंची पहाड़ियों पर नहीं बनवाये जा सके तो उनके परकोटे ऊंचे बनवाये गये तथा उनके चारों ओर पानी की खाई की व्यवस्था की गई।

8.7 बोध प्रश्न :

प्रश्न 1 प्रसिद्ध कीर्तिस्तम्भ राजस्थान के किस दुर्ग में स्थापित है?

अ. चित्तौड़   ब. रणथम्भौर

स. आमेर   द. बीकानेर दुर्ग

उत्तर – ....

प्रश्न 2 मध्यकालीन राजस्थान में स्थापत्य कला के विकास पर टिप्पणी लिखिए।

उत्तर – ....

प्रश्न 3 रणथम्भौर दुर्ग की वास्तुकला या स्थापत्य कला पर निबन्धात्मक वर्णन करिये।

उत्तर – ....

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

संवर्ग–3

इकाई–9

राजपूत राज्यों की मुगल सम्राटों के साथ सहयोग एवं प्रतिरोध की नीति

संरचना

9.0 उद्देश्य
9.1 प्रस्तावना
9.2 मुगल राजपूत सहयोग की दिशा में सक्रिय प्रयास
    9.2.1 राजस्थान की भौगोलिक स्थिति
    9.2.2 राजपूतों का स्वामी भक्त होना
    9.2.3 राजपूतों का वचन पर अटल रहना
    9.2.4 राजपूतों में पारस्परिक प्रतिस्पर्धा
    9.2.5 अकबर स्थानीय लोगों से ही अपनी सेना का गठन करना चाहता था
    9.2.6 मुगल अमीरों का उच्छ्श्रृंखल होना
    9.2.7 अकबर का हिन्दुओं के प्रति स्नेह और सम्मान
9.3 1562 ई. का वर्ष मुगल राजपूत सहयोग में युगान्तकारी सिद्ध होना
9.4 वैवाहित सम्बन्धों के परिणाम
9.5 वैवाहिक सम्बन्धों के दुष्परिणाम
9.6 राजपूतों ने मुगलों का सहयोग किन कारणों से किया
    9.6.1 राजपूतों द्वारा अपनी निर्बलता का आभास होना
    9.6.2 राजस्थान में उत्तराधिकार के संघर्षों में वृद्धि
    9.6.3 राजपूत नरशों द्वारा अपने पुत्रों के लिये जीविका का साधन जुटाना
    9.6.4 अपने राज्यों की सुरक्षा मुगलों के आश्रय में ढंढना
    9.6.5 मुगलों के आक्रमणों से सुरक्षा
    9.6.6 राजपूत नरेशों के पास स्थायी सेना का अभाव
9.7 जहांगीर और राजपूत सहयोग
9.8 शाहजहां और राजपूत सहयोग
9.9 औरंगजेब और राजपूत सहयोग
9.10 असहयोग के परिणाम
9.11 मुगल राजपूत सहयोग की समीक्षा
9.12 औरंगजेब की मृत्यु के उपरानत मुगल–राजपूत सम्बन्ध
9.13 तत्कालीन परिस्थितियाँ
    9.13.1 औरंगजेब के निर्बल तथा अल्पकालीन उत्तराधिकारी
    9.13.2 मुगल दरबार में दलबन्दी
    9.13.3 मुगल सम्राटों का केवल साम्राज्य की सुरक्षा की चिन्ता करना
    9.13.4 मराठों का शक्तिशाली होना
    9.13.5 उत्तराधिकार के लिये संघर्ष

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

9.14 औरंगजेब के उत्तराधिकारी और राजपूत सहयोग
	9.14.1 बहादुरशाह और राजपूत सहयोग
	9.14.2 जहाँदारशाह (1712–13 ई.)
	9.14.3 फरूर्खसियर (1713–19 ई.)
	9.14.4 रफी–उद–दरजात (फरवरी 1719 से जून 1719 ई.)
	9.14.5 रफीउद्धौला (जून 1719 से सितम्बर 1719 ई.)
	9.14.6 मुहम्मदशाह (1719–48 ई.) और राजपूत सहयोग
9.15 सारांश
9.16 बोध प्रश्न

9.0 उद्देश्य :

इस इकाई का मुख्य उद्देश्य राजपूत राजाओं का मुगलों के साथ सहयोग व प्रतिरोध की क्या–क्या, कौनसी–कौनसी नीति थी का उल्लेख किया गया है साथ है उन परिस्थितियों का भी वर्णन है जिसके कारण ये प्रतिरोध व सहयोग की नीति हुई।

9.1 प्रस्तावना :

मुगल साम्राज्य की भारत में स्थापना अनेक विशेषताओं के साथ हुई। उनके शासनकाल में हिन्दूधर्म व समाज में कई परिवर्तन आये। उन परिवर्तनों में प्रमुख था मुगलों का राजपुतें के साथ व्यवहार में बदलाव। मुगलों के व्यवहार में परिवर्तन आने से राजपूत भी अपनें व्यवहार में बदलाव आये। इसके परिणामस्वरूप मुगलों ने राजपूतों के महत्व को समझते हए उन्हे प्रशासन तथा दरबार में यथोचित आदर देना आरम्भ किया। दिल्ली सल्तनत के तीन सौ बीस वर्षो (1206–1526) में दिल्ली के सुल्तानों ने राजपूत नरेशों का सम्मान न करके उनको हर प्रकार से तिरस्कृत करने का प्रयास किया। राजपूत राजाओं के राज्य पर तुर्को ने अधिकार कर लिया और उन्होनें उनकी कन्याओं व स्त्रियों से बलात विवाह किये। विवाह सम्पन्न हो जाने के उपरान्त भी सुल्तान राजपूत राजाओं के प्रति उदार नहीं बने और विवाहित राजपूत कन्याओं को हिन्दू धर्म का परित्याग कर इस्लाम अडंगीकार करने को विवश करते रहे। इसका परिणाम यह हुआ की राजपूतों ने चाहे दिल्ली के सुल्तानों को अपने से अधिक बलशाली मान लिया हो पर वे भी हृदय से उनका सम्मान नहीं करतें थे। अवसर पाकर वे उनसे स्वतंत्र होने का प्रयास करते रहते थे। परन्तु भारत में मुगल साम्राज्य की स्थापना के साथ ही इस दशा में महान बदलाव आया। राजपूत नरेश मुगल सम्राटों को अपना सहयोग देने लगे और मुगल सम्राट राजपूतो के सहयोग लेने के अवसर देखने लगे।

मुगल राजपूत सहयोग का श्रीगणेश–भारत में मुगल साम्राज्य का संस्थापक बाबर था। वह 1504 में काबुल का स्वामी बन गया था। 1507 में उसने अपने को बादशाह की उपाधि से विभूषित कर लिया था। इस उपाधि को सार्थक बनाने की दृष्टि से उसने कन्धार और हेरात विजित किये और तदुपरान्त उसने भारत पर दृष्टि डाली। काबुल में रहते हुए वह भारत की तत्कालीन राजनीतिक अवस्था की जानकारी प्राप्त करता रहा तथा भारत पर आक्रमण करने के सुअवसर की प्रतीक्षा करता रहा। इसी अन्तराल में उसे मेवाड़ के राणा सांगा का पत्र मिला जिसमें राणा ने भारत पर आक्रमण करनें में सहयोग देने का आश्वासन दिया था। परन्तु दोनों एक–दुसरे के प्रति अविश्वासी बने रहे। इसके अलावा दोनों की महत्वकांक्षाओं ने उन दोनों को एक दुसरे के विरुद्ध खानवा के युद्ध में आ खड़े होने को विवश कर दिया। अतः बाबर राणा सांगा का सहयोग प्राप्त नहीं कर सका और अपनी इस महत्वकांक्षा के कारण ही वह चन्देरी के राजा मेदिनी राय के सहयोग से भी वंचित हो गया। बाबर ने राजपूतों के साथ मैत्री स्थापित करने की दृष्टि से मेदिनी राय की पुत्री से हुमायु का विवाह भी रचा था। परन्तु बाबर की अपनी आकस्मिक मृत्यु तथा हुमायूँ की दूरदर्शिता के अभाव में मुगल इस विवाह का कोई राजनीतिक लाभ नहीं उठा सके।

बाबर का उत्तराधिकारी उसका ज्येष्ठ पुत्र हुमायूँ बना। पर वह अस्थिर बुद्धि तथा संकीर्ण विचारों का शासक था। इसी कारण वह गुजरात के सुल्तान बहादुरशाह के विरुद्ध मेवाड़ के राणा विक्रमादित्य की सहायता न करके राजपूतों के सहयोग से वंचित हो गया। उस अवसर पर राणा विक्रमादित्य की माता कर्मवती ने हुमायूँ को राखी भेजकर उससे सहायता चाही थी। पर धर्मान्ध अमीरों की बातों में आकर वह सहायता करने चितौड़ नहीं पहुँचा जबकि उसका शत्रु बहादुरशाह चितौड़ घेरे डाले पड़ा था। इस प्रकार 1541 में हुमायूँ को जोधपुर के शासक मालदेव के अमुल्य सहयोग से वंचित होना पड़ा। अदूरदर्शी

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

व अस्थिर –चित्त हुमायूँ 1541 में मालदेव के सहयोग निमन्त्रण की न चिन्ता करते हुये साल भर भक्खर में ही पड़ाव डाले रहा। वह थट्टा के शासक शाह हुसैन से सहायता की आस लगाये बैठा रहा। उधर से निराश हो जब वह 1542 में मारवाड़ की और मुड़ा तो एक साल के अन्तराल में स्थिति काफी बदल चुकी थी। शेरशाह ने एक वर्ष में अपनी स्थिति पर्याप्त सदृढ कर ली थी। अतः मालदेव हुमायूँ की सहायता करने की स्थिति में नही रहा था।

9.2 मुगल राजपूत सहयोग की दिशा में सकिय प्रयास :

जनवरी, 1556 ई. को अस्थिर बुद्धिवाला हुमायूँ अपनी जीवन लीला समाप्त कर जब इस लोक से चल बसा तो उसका चौदह वर्षीय पुत्र अकबर 14 फरवरी, 1556 ई. को गद्दी पर बैठा। सम्राट अकबर उच्च कोटि का राजनीतिज्ञ तथा दूरदर्शी शासक सिद्ध हुआ। उसने गद्दी पर बैठते ही यह जान लिया था कि हिन्दुओं के इस देश भारत में वह उनके सहयोग के बिना शान्तिपूर्वक तथा सफलता से राज्य नहीं कर सकता। हिन्दुओं में भी वह राजपूतों का सहयोग और भी आवश्यक समझता था। वह यह भली–भाँति जानता था कि वीर राजपूतों के विरुद्ध युद्ध और शत्रुता की नीति से मुगल साम्राज्य का भला नहीं हो सकता। इसके अलावा अकबर सम्पूर्ण भारत पर अपनी प्रभुता स्थापित करना चाहता था। अपनी इस मुराद को पुरी करने के लिए भी वह राजपूतों का सहयोग आवश्यक समझता था। अतः वह धार्मिक सहिष्णुता की नीति पर आचरण करके गैर मुसलमानों के प्रति उदारता प्रदर्शित करने लगा। अकबर का राजपूतों से सहयोग प्राप्ति का इच्छुक होने के और भी कई कारण थे, उनमें से कतिपय निम्नलिखित है–

9.2.1. राजस्थान की भौगोलिक स्थिति – जिस प्रकार राजस्थान की भौगोलिक स्थिति तथा उसके महत्व से अलाऊद्दीन खिलजी अवगत था, उसी प्रकार सम्राट अकबर ने भी शीघ्र ही राजस्थान के महत्व को समझ लिया था। वह जानता था की मालवा व गुजरात पर जहाँ की अफगान सुल्तान् शासन कर रहे थे, व वहाँ तब तक अधिकार नहीं जमा सकता था जब तक की राजस्थान उसके प्रभुत्व में न आ जावें। इसलिए वह राजपूतों से मैत्री करने का इच्छुक बन गया।

9.2.2. राजपूतों का स्वामी भक्त होना – अकबर यह भली–भांति जानता था की राजपूत स्वामी–भक्त होते है। वे एक बार जिसको अपना स्वामी स्वीकार कर लेते है, उसके प्रति वे आजन्म वफादार रहते हैं। वे अपने स्वामी से कभी विश्वासघात नहीं करते। वे सोना–चाँदी के टुकड़ों में बिकने वाले नहीं होते है। अपने प्राणों की बाजी लगाकर भी वे अपने स्वामी की रक्षा करते हैं।

9.2.3. राजपूतों का वचन पर अटल रहना– अकबर को अपने शासनकाल में यह भी स्पष्ट हो गया था की राजपूत अपने वचन के पक्के होते हैं। एक बार वे जिसे जो वचन दे देते है उस पर वे सदा अटल रहते हैं। अपने वचन निभाने हेतु वे अपने प्राणों से खेल जाते हैं। अतः अकबर जैसा दुरदर्शी सम्राट उनका सहयोग प्राप्त करने का प्रयास क्यों नहीं करता।

9.2.4. राजपूतों में पारस्परिक प्रतिस्पर्धा – अकबर को गद्दी पर बैठने के कुछ समय उपरान्त ही यह ज्ञात हो गया कि राजपूत नरेशों में मैत्री भाव नहीं है। वे एक–दूसरे के प्रतिद्वन्द्वी बने हुए है। उसके समक्ष यह दृष्टान्त प्रस्तुत था कि शेरखाँ सूर के गुलाम हाजीखाँ ने मेवाड़ के राजा उदयसिंह तथा मारवाड़ के नरेश मालदेव के बीच किस प्रकार युद्ध छिड़वा दिया था। वह उनकी इस प्रकृति से भी भली–भाँति परिचित हो गया था कि वे स्वाभिमानी होने के कारण अपने मान मर्यादा की रक्षा के लिए शीघ्र ही क्रोधित हो उठते हैं और आवेश में आकर वे आपस में ही लड़ बैठते हैं। वे एक–दूसरे से मिलकर नहीं वरन् स्वतंत्र रुप से शासन करना चाहते हैं। अतः कूटनीतिज्ञ अकबर ने सोचा कि राजपूतों की शक्ति को राजपूतों के सहयोग से ही क्यों न नष्ट किया जावे ?

9.2.5. अकबर स्थानीय लोगो से ही अपनी सेना का गठन करना चाहता था – मुगलों की सेना विदेशी अफगान सैनिको पर ही आधारित थी। उनकी सहायता से ही भारत में मुगल साम्राज्य की नींव डाली गई थी। परन्तु भारत में मुगल सम्राटों के निरन्तर युद्ध करने से उन्हे विदेशी सैनिक आसानी से मिलना दुर्लभ हो गया। इसके अलावा मुगल सम्राट अब युद्धों को धर्म– युद्धों का रुप नहीं देते थे। इस कारण मुगलों के शासन में विदेशी पठान सैनिकों को हिन्दुओं पर अत्याचार करने तथा उन्हे लुटने के अवसर भी कम मिलते थे। इसलिए वे भारत में आकर युद्ध करने को इच्छुक नहीं रहे थे। उधर अकबर को भारत में अपने साम्राज्य का विस्तार हेतु युद्ध लड़ने थे। अतः उसने अपने सैनिक बल को विदेशी सैनिको के सहारे शक्तिशाली न करके स्थानीय राजपूत सैनिकों के सहयोग से सुदृढ़ करने का निश्चय किया।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

9.2.6. मुगल अमीरों का उच्छश्रृंखल होना – मुगल साम्राज्य की स्थापना में बाबर ने की थी। बाबर ने कुल 4 वर्ष राज्य किया था। और वह इस अन्तराल में निरन्तर युद्ध ही करता रहा। उसका उत्तराधिकारी हुमायूँ निर्बल एवं अयोग्य शासक सिद्ध हुआ। इस कारण मुगल अमीर अधिक महत्वाकांक्षी तथा उच्छश्रृंखल हो गये थे। वे स्वाधीन हो अपनी मनमानी कर रहे थे। बैरमखाँ के विद्रोह ने अकबर की आँखें और खोल दी थी। अतः कूटनीतिज्ञ अकबर ने समझा कि राजपूत नरेशों को दरबार में महत्वपूर्ण स्थान देकर क्यों न इन उच्छश्रृंखल अमीरों को दबा कर रखा जाय। उसने समझ लिया की उनके सहयोग से दरबार में शक्ति का सन्तुलन बना रहेगा और मुस्लिम अमीर उसके सिर दर्द नहीं रहेंगे।

9.2.7. अकबर का हिन्दुओं के प्रति स्नेह और सम्मान – अकबर का 1542 में जन्म अमरकोट के राजपूत सरदार राणा बेरीसाल के राजमहल में हुआ था। अतः प्रारम्भ से ही अकबर के दिल में राजपूतों के प्रति सम्मान की भावना उत्पन्न हो गयी थी। इसके अलावा वह शिया विचारों से प्रभावित होनें के कारण हिन्दुओं के प्रति अनुदार नहीं रहा था। उसके शिक्षक अब्दुल लतीफ तथा संरक्षक बैरमखाँ शिया मुसलमान ही थे। उनके विचारों से प्रभावित होने के कारण अकबर ने सुन्नी मुसलमानों की धार्मिक कट्टरता का भी अभाव आ गया था। इसके अलावा वह शियामाता से ही जन्मा था।

अतः मुगल सम्राट अकबर राजपूतों का सहयोग पाने का प्रयास करने लगा। डॉ.ए.एल. श्रीवास्तव का कहना है कि अकबर जब बीस वर्ष का हुआ तो उसे अपने अन्दर एक अनुपम आध्यात्मिक परिवर्तन का आभास होने लगा, जिसका प्रजा के प्रति उसका व्यवहार और कर्त्तव्य पालन में बड़ा ही सुन्दर प्रभाव पड़ा। 1 इस परिवर्तन से उसके हृदय में धार्मिक कट्टरता के स्थान पर सहिष्णुता की उदार भावना जागृत हुई। इस सहिष्णुता के कारण वह स्वतः राजपूतों के सहयोग की और उन्मुख हो गया। इतिहासकार अबुल–फजल ने उसकी इस नीति को 'सुलह–कुल' की नीति बताई है। इस नीति के फलस्वरुप उसने राजपूत नरेशों को सम्मान के साथ–साथ अपने दरबार में उच्च स्थान भी दिए। अपने प्रभुत्व में लाकर भी उसने राजपूतों को पूर्ण धार्मिक स्वतंत्रता तथा सामाजिक समानता प्रदान की।

9.3. 1562 का वर्ष मुगल राजपूत सहयोग में युगान्तकारी सिद्ध होना :

अकबर की सुलह–कुल व राजपूतों से सहयोग करने की नीति 1562 से ही आरम्भ होती है। इस वर्ष जब वह अजमेर के ख्वाजा मुईनुद्दीन चिश्ती की दरगाह में जियारत करने आ रहा था तो उसकी आमेर नरेश भारमल कछवाहा से 20 जनवरी, 1562 को मुलाकात हुई। इस मुलाकात के परिणामस्वरुप अकबर ने राजा भारमल की पुत्री से साँभर में 6 फरवरी, 1562 को विवाह कर लिया। विवाह का कारण था आमेर का गृह–कलह तथा अजमेर के मुगल सुबेदार सर्फुद्दीन के आक्रमण का भय। अकबर के साथ विवाह करने के परिणाम स्वरुप आमेर कछवाहा नरेशों का भाग्योदय हो गया। वे राजस्थान में ही नही वरन् समस्त भारत में महत्त्वपूर्ण व्यक्ति बन गये। इस विवाह के समय ही अकबर भारमल के पुत्र राजा भगवन्तदास को तथा पौत्र मानसिंह को भी अपने साथ आगरा ले गया। दोनों ने ही अकबर की सेना के उच्च पदों को सुशोभित किया तथा मुगल साम्राज्य का विस्तार कर मुगल साम्राज्य के प्रमुख सिपहसालार बन गये। शीघ्र ही दोनों पिता और पुत्र सम्राट के इतने विश्वास पात्र बन गये की सम्राट जब कभी लम्बे समय के लिए राजधानी से बाहर जाता तो राजधानी की रक्षा का भार उन्हें ही सौंप कर जाता था।

यह वैवाहिक प्रभाव केवल आमेर व आगरे के बीच ही सीमित नहीं रहा वरन् समस्त राजस्थान पर पड़ा। आमेर के कछवाहा नरेशों को मुगल दरबार में सम्मानित देखकर राजस्थान के अन्य राजपूत नरेश भी सम्राट अकबर के साथ इसी प्रकार के सम्बन्ध स्थापित करने को उद्यत हो गये। अतः स्पष्ट है कि इस वैवाहिक सम्बन्ध ने राजस्थान के अन्य राजपूत नरेशों को भी अपनी पुत्रियों या पौत्रियों के विवाह अकबर व उसके पुत्रों के साथ करने का मार्ग प्रशस्त कर दिया। स्वाभिमानी व हिन्दुध र्म पर मर मिटने वाले राजपूतों द्वारा अपनी पुत्रियों के विवाह मुगलों के साथ करने की यह परम्परा प्रारम्भ में अटपटी प्रतीत हुई। मुगलों के आगमन से पूर्व राजपूत वीरांगनाये मुसलमानों से अपनी इज्जत बचाने हेतु हँसते–हँसते जौहर कर बैठती थी; पर इस विवाह के उपरान्त राजपूत महिलाओं की वह धारणा भी बदल गई। इन्हीं कारणों से 1562 का वर्ष भारत के इतिहास में एक युगान्तकारी वर्ष माना जाता है।

वैवाहिक सम्बन्ध की समीक्षा– राजा भारमल द्वारा अपनी पुत्री का विवाह मुगल सम्राट के साथ सहर्ष किया गया, इस सम्बन्ध में विभिन्न इतिहासकारों ने अपनी राय विभिन्न प्रकार से व्यक्त की है। डॉ. जदुनाथ सरकार का कहना है कि मुसमानों के साथ अपनी पुत्री का विवाह करने वाला भारमल ही प्रथम राजपूत नरेश नहीं था। इससे पूर्व 1176 में उच्च की रानी ने अपनी पुत्री का विवाह मुहम्मद गौरी के साथ कर दिया था तथा धौलपुर नरेश रणमल ने अपनी पुत्री नैला का विवाह सालार रजब

के साथ कर दिया था। फिरोज तुगलक नैला का ही पुत्र था परन्तु राजा भारमल द्वारा अकबर के साथ किया गया अपनी पुत्री का विवाह इन पुर्व के विवाहों से भिन्न व श्रेयस्कर था। अकबर ने आमेर की राजकुमारी को न तो इस्लाम स्वीकार करने को बाध्य किया और न उसे अपने परम्परागत धार्मिक क्रिया–काण्डो को छोड़ने के लिए ही विवश किया। अबुल फज़ल लिखता है कि फतेहपुर सीकरी के महलों में हिन्दु रानियों द्वारा प्रतिदिन होम का आयोजन किया जाता था। डॉ. रघुवीर सिंह का कहना है कि भारमल की पुत्री के साथ स्वयं विवाह करके अकबर ने राजपूत घरानों के साथ अत्यधिक निकट सम्बन्ध स्थापित करने की एक नवीन नीति सृजित की। डॉ. जे. एल. मेहता, डॉ. रघुवीर सिंह के कथन का समर्थन किया है। इसके उपरान्त अकबर ने अन्य राजपूत राजकुमारियों के साथ विवाह रचे। इस वैवाहिक प्रणाली को प्रचलित रखने हेतु अपने शाहजादों के विवाह भी राजपूत राजकुमारियों के साथ किये। जोधपुर, बीकानेर व जैसलमेर राजाओं ने भी राजा भारमल की नीति पर आचरण करना श्रेयस्कर समझा। डॉ. आर. त्रिपाठी ने लिखा है कि "अकबर ने अन्य राजपूत राजाओं के प्रति अपने व्यवहार से यह सिद्ध कर दिया कि न तो वह उनके राज्य पर अधिकार करना चाहता था और न ही उनके सामाजिक, आर्थिक व धार्मिक जीवन में हस्तक्षेप करना चाहता था। वह इतना ही चाहता था कि नवीन साम्राज्य संघ का प्रभुत्व मान लें।" डॉ. ईश्वरी प्रसाद ने भी इस विवाह का अनुमोदन किया है। धर्म के कट्टर होने का दावा करने वाले व संकीर्ण विचार वाले व्यक्तियों ने ही इस विवाह को निन्दनीय बनाया है। आलोचकों ने इसे राजपूतों के लिए कलंक बताया है।

9.4. वैवाहिक सम्बन्धों के परिणाम :

प्रथम तो इस वैवाहिक सम्बन्ध ने राजपूत मुगल सहयोग का द्वार खोल दिया। आमेर की गद्दी भारमल व उसके उत्तराधिकारियों के लिए सुरक्षित हो गयी। कछवाहा नरेशों का भाग्य चमक उठा तथा वे मुगल दरबार में सर्वाधिक सम्मानित बन गये। अकबर ने भारमल को **'राजा'** की उपाधि दी तथा 5000 का मनसब दे दिया। उनके राज्य में शान्ति रही। इस कारण उनका राज्य समृद्धि की और बढने लगा। अतः स्पष्ट है कि इस विवाह में राजा भारमल ने अपना ही हित नहीं देखा वरन् अपनी प्रजा का भी हित देखा था। इसी प्रकार अन्य राजपूत नरेशों के, जिन्होने इसी प्रकार के विवाह, अकबर उसके उत्तराधिकारियों के साथ सम्पन्न किए, का भी हित हुआ और उनके राज्यों में शान्ति रही। वहां व्यापार विकसित हुआ तथा वे भी मुगल दरबार में कुछ मनसब पद प्राप्त कर अपने भाग्य चमकाने लगे।

9.5. वैवाहिक सम्बन्धों के दुष्परिणाम :

निःसन्देह इन वैवाहिक सम्बन्धों से मुगल राजपूत सहयोग दिन पर दिन बढने लगे। इस सहयोग के बढने का परिणाम यह हुआ कि अकबर राजपूताने के लगभग सब राजपूत नरेशों को अपने प्रभुत्व में लाने में सफल हो गया। राजपूत नरेशों में पारस्परिक संघर्ष भी कम हुए, पर यदि किसी राजा का दूसरे राजा से संघर्ष या मनमुटाव हो भी जाता था तो वह मुगल सम्राट की मध्यस्थता से ही समाप्त हो जाता था। मनसब के पदों पर आसीन होने पर राजपूत नरेशों को बहुधा अपने राज्यों से बाहर रहना पड़ता था और गुगल राग्राट की नीति उन्हे उनके राज्यों रो दूर भेजने की रहती थी। इरारो राजा अपनी जनता रो रीधा सम्पर्क नही रख पाते थे। इसके फलस्वरुप वे अपनी जनता की पूर्ण स्वामी भक्ति से वंचित हो जाते थे। इसके अलावा उनके राज्यों की शासन व्यवस्था में भी शिथिलता आ गई। पिता की मृत्यु हो जाने पर ज्येष्ठ राजकुमार भी सम्राट की अनुमति से ही गद्दी पर बैठता था। इससे स्पष्ट है कि मुगल सम्राट राजपूत नरेशों के आन्तरिक मामलों में भी हस्तक्षेप करने लग गये थे। अपने कृपा–पात्र को राजा बनाने के प्रयास में वे उत्तराधिकारी के संघर्ष को भी प्रोत्साहन देते थे। उत्तराधिकारी के युद्ध में असफल राजकुमार मुगल सम्राट की सेवा में चले जाते थे। उन्हे वहाँ सहर्ष आश्रय मिलता था। इससे भाइयों में प्रतिद्वन्द्विता बढ़ती थी और मुगल सम्राट राजपूत राजकुमारों व राजाओं की प्रतिद्वन्द्विता में अपना उल्लू सीधा करते थे। इसीलिए कर्नल टॉड ने अकबर की राजपूत नीति का विश्लेषण करते लिखा है–"वही (अकबर) प्रथम विजेता था जिसने राजपूतों की स्वतंत्रता नष्ट कर दी। उसने लोगो को जंजीरो से जकड़ा, किन्तु उनके ऊपर सोने का मुलम्मा चढा दिया। इन जंजीरो की राजाओं को आदत पड़ गई, क्योंकि बादशाह ने अपनी शक्ति का उपयोग ऐसे ढंग से किया कि राजपूतों का जातीय अभिमान बना रहा....।" इससे यह स्पष्ट होता है कि अकबर की इस सहयोगपूर्ण तथा मैत्रीपूर्ण नीति का राजपूतों की शक्ति व प्रतिष्ठा पर बुरा असर भी पड़ा।

9.6. राजपूतों ने मुगलों का सहयोग किन कारणों से किया :

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि मुगल सम्राट अकबर ने भारत में अपना साम्राज्य विस्तृत एवं सुदृढ़ करने के लिए राजपूतों का सहयोग चाहा था और उसे अपने उद्देश्य में सफलता भी मिली। अब प्रश्न यह उठता है कि राजपूत नरेश गत

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

350 वर्षो से मुस्लिम आक्रमणकारियों व सल्तनत के सुल्तानों से तो कड़ा लोहा लेते रहे। उन्होने सब प्रकार के कष्ट उठाकर अपनी तथा अपने राज्यों की स्वतंत्रता बनाये रखने का प्रयास किया। क्षत्राणियों ने भी अपने अपूर्व बलिदान एवं त्याग से अपने वीर राजपूतों को क्षत्रिय धर्म की रक्षा में सहयोग प्रदान किया। परन्तु भारत में मुगल साम्राज्य की स्थापना होते ही वीर राजपूत व वीर क्षत्राणियों के विचारों में मुगलों से सहयोग करने की भावना उत्पन्न क्यों हुई ? इसके पीछे भी कुछ कारण थे। जिस प्रकार इस सहयोग की नीति से मुगल सम्राट अकबर ने अपनी सर्वोच्चता स्थापित करनी चाही थी उसी प्रकार राजपूतों ने भी मुगलों का सहयोग कर अपने कुछ स्वार्थ पूरे करने चाहे थे। अतः राजपूतों को जिन परिस्थियों में मुगलों से सहयोग करने को बाध्य होना पड़ा था उनमें से कतिपय निम्नलिखित थीं–

9.6.1. राजपूतों द्वारा अपनी निर्बलता का आभास होना – निःसन्देह राजपूत अपनी स्वतंत्रता व अपने जातीय अभिमान के लिए विश्व विख्यात रहे हैं। परन्तु मुसलमानों के हाथों उन्हे कुछ करारी हार खानी पड़ी, जिससे उनका मनोबल टूट गया तथा वे अपने को मुसलमानों से निर्बल समझने लगे थे। खानवाँ के युद्ध में राणा सांगा के नेतृत्व में उन्हे बाबर से हार खानी पड़ी। सुमेर के युद्ध में शेरशाह ने जोधपुर नरेश मालदेव को परास्त कर राजपूतों का मान मर्दन कर दिया। इन युद्धों में राजपूतों को अपनी हीनता का स्पष्ट आभास हुआ। इसके अलावा इन युद्धों में उन्हें जन–धन की भी अपार हानी उठानी पड़ी। अतः वे अब इस निष्कर्ष पर आ पहुँचे कि हमारा हित मुगलों से सहयोग करने में ही है। इसके साथ राजपूत इस निष्कर्ष पर भी आ पहुँचे थे कि मुगलों की तोपें व गोला–बारुद से वे अपने को अपने किलों में अब सुरक्षित नहीं समझ सकते।

9.6.2. राजस्थान में उत्तराधिकार के संघर्षो में वृद्धि – हालाँकि हिन्दू धर्म में उत्तराधिकार का नियम स्पष्ट है। ज्येष्ठ राजकुमार को ही पिता की गद्दी पर बैठने का अधिकार है। परन्तु इस समय तक राजपूत नरेशों में बहु–पत्नी का रोग भंयकर फैल गया था। अधिक रानियाँ रखना वे अपने गौरव की बात समझते थे। विलासी राजाओं का प्रेम भी एक रानी से दूसरी रानी में घटता–बढता रहता था। कभी–कभी वे प्रेमावेश में छोटी रानी के पुत्र को अपना उत्तराधिकारी घोषित कर देते थे। इसके परिणाम स्वरुप राज्यों में उत्तराधिकार के लिए संघर्ष होने लगे और उसमें अकबर मध्यस्था करने लगा। अकबर की इस मध्यस्था के कारण राणा प्रताप सिंह का भाई शक्ति सिंह तथा जगमाल भी अकबर की शरण में चले गये थे। जोधपुर के राव चन्द्रसेन का भाई राम मुगल–सम्राट की शरण में चला गया। अकबर ने सहर्ष उन्हे अपने यहाँ आश्रय दिया तथा उन्हे मनसब पद प्रदान किये। इन संकटों से बचने के उद्देश्य से भी राजपूत नरेश सम्राट अकबर का सहयोग लेने लगे थे।

9.6.3. राजपूत नरेशों द्वारा अपने पुत्रों के लिए जीविका का साधन जुटाना – राजपूत नरेशों के अनेक रानियाँ होने के कारण पुत्र भी अनेक होते थे। गद्दी केवल एक पुत्र को ही मिलती थी। अन्य पुत्रों के भविष्य की भी राजाओं को चिन्ता होती थी। अब बीका जैसे राजकुमारों की कमी आने लगी थी जिसने कि पिता जोधा से राज्य न मिलने पर बीकानेर राज्य की स्थापना कर ली थी। अतः राजपूत नरेश अब अपने पुत्रों का भविष्य भी मुगल सम्राट अकबर के दरबार में ही खोजने लगे।

9.6.4. अपने राज्यों की सुरक्षा मुगलों के आश्रय में ढूँढना – राजपूत नरेशों में पारस्परिक प्रतिद्वन्द्विता भी एक प्रकार से परम्परागत बन गई थी। एक राजा दूसरे राजा के राज्य पर आक्रमण करने का अभ्यस्थ था। राजाओं के पास स्थायी सेना तो होती नहीं थी। उन्हें अपने सामन्तों की सैनिक शक्ति पर अवलम्बित रहना पड़ता था। दिल्ली सल्तनत काल (1206–1525) में राजपूत नरेशों को निरन्तर मुस्लिम सुल्तानों से संघर्ष करना पड़ा था। निरन्तर युद्धों के कारण राजाओं को अपने सामन्तों पर निर्भर भी अधिक रहना पड़ा। इससे सामन्तों के हौसले बढ गये। वे अपने स्वामी नरेशों से समानता का दावा करने लगे थे। कई सामन्त सीधे अकबर से सम्पर्क स्थापित करने लगे थे। राजपूतों में वैमनस्य तथा प्रतिद्वन्द्विता बढाने की नियत से मुगल सम्राट भी सामन्तों को आश्रय देने व प्रेरणा देने लगा था। अतः अपने राज्यों की सुरक्षा तथा सामन्तों की सैनिक सहायता से मुक्ति पाने की दृष्टि से भी राजपूत नरेशों ने मुगल सम्राट का सहयोग करना ही उत्तम समझा।

9.6.5. मुगलों के आकमणों से सुरक्षा – ऐसा प्रतीत होता है कि बाबर से राणा साँगा परास्त होने पर राजपूत नरेशों के दिल बैठ गए। उनका कहना था कि जब राणा साँगा जैसा वीर सेनानायक मुगल सम्राट से परास्त हो गया तो उनकी तो सामर्थ्य ही क्या है ? उधर उन्हें मुगलों की उनके राज्यों पर हमलों की पुरी आशंका रहती थी। दिल्ली सल्तनत का इतिहास उनके सामने प्रस्तुत था। इसके अलावा राणा प्रताप व अकबर का 1576 से 1597 का दीर्घकालीन संघर्ष उनके सामने था। इसी प्रकार चन्द्रसेन द्वारा अकबर का प्रतिरोध व उसके परिणाम भी उनके समक्ष विद्यमान थे। अतः उनके निरन्तर आक्रमणों से राहत पाने की दृष्टि से भी उन्होनें मुगलों के शरणागत होना ही श्रेयस्कर समझा।

9.6.6. राजपूत नरेशों के पास स्थायी सेना का अभाव – इस अभाव के कारण वे मुगल आक्रमणों से अपनी रक्षा नहीं कर सकते थे। अतः मुगल सम्राट के संरक्षण में ही अपने को अर्पित करना राजपूत नरेशों ने श्रेयस्कर समझा। इस गहराई में न जाते हुए कि इस सहयोग की पहल प्रथम राजपूतों की तरफ से हुई या मुगल सम्राटों की ओर से, हम इस सहयोग नीति के परिणामों पर विचार करना चाहिए। उपर्यक्त विवरण व आगे के विवरण से यह स्पष्ट हो जायेगा कि इस सहयोग पूर्ण नीति से निश्चित रुप से भारत के इतिहास में एक नवीन युग का सृजन हुआ। हिन्दू व मुसलमानों में धार्मिक सहिष्णुता उत्तरोत्तर बढने लगी और मुगल सम्राट अकबर ने धर्म के नाम पर किसी राजपूत राजा के राज्य पर आक्रमण नहीं किया। यदि उसने किसी राजपूत राज्य पर हमला किया भी तो वह धार्मिक कट्टरता से नहीं वरन् केवल साम्राज्यवादी भावना से प्रेरित होकर किया था। आक्रमणों के समय दिल्ली के सुल्तानों व बाबर तथा हुमायूँ और औरंगजेब की भाँति हिन्दू देवालय न तो लूटे गये और न वे धरासायी किये गये। देव–प्रतिमाएँ देवालयों में सुरक्षित रहीं। इस सहिष्णुता के कारण दोनों सम्प्रदायों में सद्भावना बढी। समन्वयात्मक दृष्टिकोण जोर पकड़ने लग और इसके फलस्वरुप हिन्दू–मुस्लिम सांस्कृतिक विकास को प्रोत्साहन मिला। इस सांस्कृतिक विकास के कारण ही अकबर **''दीने–इलाही''** धर्म का प्रवर्तन कर सका। मुगल सम्राट अकबर सिवाय मेवाड़ के महाराणा के राजपूताना के अन्य राजपूत राजाओं का सहयोग प्राप्त करने में पूर्णतया सफल रहा।

9.7 जहांगीर और राजपूत सहयोग :

जहांगीर अकबर का सबसे बड़ा पुत्र था जिसका असली नाम सलीम था। वह अम्बर (जयपुर) के शासक बिहारीमल की बेटी, जिसे मलिका उजमानी कहा जाता था, की कोख से जन्मा था। अकबर की मृत्यु के कुछ ही दिन बाद सलीम आगरा में सिंहासनरूढ़ हुआ और उसने नुरूद्दीन मुहम्मद जहांगीर की उपाधि धारण की। उसने अपने पिता अकबर की उदार नीति का अनुसरण करने का परिचय दिया, पर दुर्भाग्यवश अपनी चारित्रिक कमियों तथा प्रशासक दुर्बलताओं के कारण उसे सफलता प्राप्त न हो सकी।

सम्राट् अकबर अपने जीवन–काल में मेवाड़ से संघर्ष करता रहा, लेकिन मेवाड़ को अपने कदमों में नहीं झुका सका। मेवाड़ जीतने का सपना लिए हुए ही वह इस दुनिया से कूच कर गया। जहांगीर ने अपने पिता के स्वप्न को पूरा करने के लिए मेवाड़ पर तीन जबरदस्त अभियान किये। 1614–15 के अन्तिम अभियान में उसे सफलता मिली और मेवाड़ के साथ सन्धि सम्पन्न हो सकी। कर्नल टॉड के अनुसार इस अभियान में शाहजादे खुर्रम ने "राणा की प्रजा और उसके प्रदेश पर निर्मम अत्याचार किये। गांवो और घरों को जला दिया गया तथा बागों व खेतों को नष्ट कर दिया गया। मन्दिरों का विनाश किया गया तथा राजपूत नारियों व बच्चों को कैद कर लिया गया।" मुगलों द्वारा मचाई गई तबाही ने राजपूत सरदारों को विवश कर दिया कि वे राणा पर मुगल सम्राट् के साथ सन्धि कर लेने की बाबत जोर डालें।

मेवाड़ के साथ सन्धि के अनुसार चित्तौड़ सहित मेवाड़ का सम्पूर्ण प्रदेश राणा को मिल गया और राणा पर मुगलों से वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित करने की विवशता भी नहीं लादी गई। राणा को मुगल दरबार में उपस्थित होने से भी मुक्त रखा गया। यह कार्य उसके पुत्र राजकुमार करणसिंह द्वारा निभाने का निश्चय हुआ। मेवाड़ के साथ सम्पन्न की गई इस सन्धि से मेवाड़ और मुगल सम्राट् के बीच चले आ रहे लम्बे संघर्ष का अन्त हो गया और मुगलों को एक दुर्दम्य अपराजेय शत्रु से छुटकारा मिला। जिस ढंग से सन्धि सम्पन्न हुई उससे मेवाड़ का गौरव बना रहा और सम्राट् तथा राणा के बीच मैत्री सम्बन्ध स्थापित हो गये। मुगल सम्राट् ने मेवाड़ का सहयोग जीत लिया। वास्तव में राणा के साथ उदार शर्तो पर सन्धि करके जहांगीर ने अपने विवेक का ही परिचय दिया। जहांगीर को अपने मेवाड़ अभियान में अनेक राजपूत सरदारों का सहयोग प्राप्त हुआ। उसमें मारवाड़ का शासक सूरसिंह उर्फ सूरजसिंह भी था। मेवाड़ के साथ सन्धि सम्पन्न होते समय भी सूरसिंह मौजूद था। मुगल सेना के सेनानायक खुर्रम ने मेवाड़ अभियान मे सूरसिंह के स्थानीय भौगोलिक ज्ञान का पूरा–पूरा लाभ उठाया। अतः जहांगीर ने प्रसन्न होकर अपने राज्यकाल के दसवें वर्ष मे सूरसिंह को 5000 जात तथा 3 हजार सवार का मनसबदार नियुक्त किया। खानेजहां लोदी के साथ दक्षिण में विद्रोहियों क दमन करने के एवज में सूरसिंह के मनसब में 3 हजार सवारों की वृद्धि की गई। उसके पुत्र गजसिंह ने भी जालौर पर अधिकार करने में अपूर्व वीरता का परिचय दिया। दक्षिण में रहकर गजसिंह तथा दराब खां (अब्दुलरहीम खानखाना का पुत्र) ने अहमदनगर के विद्रोही सरदारों का दमन किया। दक्षिण में मुगलों के साथ सहयोग करने और अद्भुत वीरता प्रदर्शित करने के पुरस्कार–स्वरूप मुगल सम्राट् ने गजसिंह को 4 हजार जात व 3000 सवार का मनसबदार बना दिया तथा जालौर और सांचोर के परगने भी प्रदान किये। शाहजादे खुर्रम का विद्रोह दबाने के लिए जहांगीर ने सेना भेजी उसमें भी गजसिंह का जबरदस्त सहयोग रहा। अक्टूबर, 1624 में हाजीपुर के युद्ध में शाही

सेना ने शाहजादा खुर्रम को पराजित किया। इस युद्ध में मेवाड़ का भीम सिसोदिया खुर्रम की सेना में था। इस युद्ध के बाद 5000 जात व 500 सवार का मनसब गजसिंह को प्रदान किया गया।

आमेर के राजपूतों का भी मुगलों को भारी सहयोग रहा। राजा मानसिंह ने सम्राट अकबर को जो सहयोग दिया, उसका वर्णन आगे यथास्थान किया गया है। मानसिंह के पुत्र भाऊसिंह ने भी मुगलों को सहयोग देने की परम्परा कायम रखी। सम्राट् जहांगीर द्वारा जून, 1615 में आमेर राज्य का टीका और मिर्जा राजा की उपाधि भाऊसिंह को प्रदान की गई। भाऊसिंह की मृत्यु के बाद आमेर के वकील राय मुकन्ददास ने नूरजहां बेगम की सहानुभूति प्राप्त करके आमेर राज्य का टीका सम्राट जहांगीर से जयसिंह को दिलवा दिया। दिसम्बर, 1621 में जयसिंह आमेर की गद्दी पर बैठा और मुगल साम्राज्य का भक्त बना रहा। फिर भी मानसिंह के इन सभी उत्तराधिकारियों को वह सम्मान और गौरव प्राप्त नहीं हो सका जो मानसिंह को मिला हुआ था। राजा जयसिंह ने मुगल प्रशासन में अपने राजघराने की प्रतिष्ठा पुनः स्थापित करने के लिए नूरजहां बेगम ने जिन राजपूत राजाओं को निमन्त्रित किया था उनमें राजा जयसिंह भी थे। हाजीपुर के युद्ध में राजा जयसिंह शाही सेना के आरक्षित (Reserve) भाग में था। युद्ध में उसने जिस योग्यता व साहस का परिचय दिया, उसका समुचित इनाम भी उसे मिला। इसके बाद जयसिंह ने खानेजहां लोदी के नेतृत्व में अहमदनगर के मलिक अम्बर का दमन करने में हाथ बंटाया।

स्पष्ट है कि जहांगीर के शासन–काल में अनेक राजपूत शासकों ने मुगल साम्राज्य की प्रशंसनीय सेवा की।

9.8 शाहजहां और राजपूत सहयोग :

शाहजहां के शासन–काल में राजपूत राज्यों के प्रति कठोर नीति का अनुसरण किया जाने लगा। शाहजहां ने चित्तौड़ के किले की मरम्मत को अनुचित मानते हुए मेवाड़ के तत्कालीन महाराणा करणसिंह को आदेश दिया कि वह किले की मरम्मत का कार्य बन्द कर दे। इस आदेश के प्रसारित होने से मुगल सम्राटों की राजपूतों के प्रति नीति में परिवर्तन का स्पष्ट संकेत होने लगा। फिर भी मुगल सम्राट् शाहजहां को राजपूतों का सहयोग मिलता रहा। यह सहयोग औरंगजेब के समय शिथिल और समाप्त प्राय हो गया।

सूरसिंह को जिस तरह जहांगीर मिला था, उसी तरह शाहजहां को भी मिला। जहांगीर के हुक्म से सूरसिंह बागी शाहजादे खुर्रम का दमन करने गया था। जिसने सम्राट् बनने के बाद सूरसिंह का मनसब बढ़ा कर 4000 जात और 2500 सवार कर दिये। 1628 में सूरसिंह को काबुल भेजा गया जहां से लौटने के बाद उसने जुझारसिंह बुन्देला के विद्रोह का दमन करने में हाथ बंटाया। इन सेवाओं के कारण सूरसिंह की मुगल साम्राज्य में प्रतिष्ठा बढ़ गई। सूरसिंह की मृत्यु के बाद उसका पुत्र करणसिंह बीकानेर का शासक बना। मुगल सम्राट् शाहजहां ने राज्याभिषेक के समय उसे 2 हजार जात तथा 1500 सवार का मनसब प्रदान किया। करणसिंह ने मलिक अम्बर के पुत्र फतेहखां के खिलाफ दक्षिण के अभियान में मुगल सम्राट् को सहयोग दिया। दक्षिण में रहते हुए भी करणसिंह ने परेडे की पढ़ाई में भी 1632 में भाग लिया। सन् 1636 में शाहजी पर चढ़ाई करने के लिए फिर से उसे ही भेजा गया। शाहजहां ने करणसिंह की सेवाओं से प्रसन्न होकर उसे 2500 जात और 2000 सवार का मनसब दिया तथा दौलताबाद का किलेदार नियुक्त किया। 1652 में करणसिंह, मुगल साम्राज्य की सेवाओं के कारण 3000 जात और 2000 सवार का मनसबदार हो गया।

चौहान राजपूतों का भी मुगल सम्राट् शाहजहां को सहयोग मिला। इनमें कोटा के शासक माधोसिंह का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। माधोसिंह के शासन काल में कोटा राज्य की सीमाओं का जो विस्तार हुआ, उसका मूल कारण मुगल प्रशासन में उसकी अपूर्व सेवा थी। खानेजहां लोदी के विद्रोह का दमन करने के लिए मुगल सम्राट् ने जो सेना दक्षिण में भेजी उसके अग्रिम भाग का सेनापति माधोसिंह ही था। माधोसिंह के सैनिकों ने ही खानेजहां लोदी और उसके दो पुत्रों के कटे हुए सिर बादशाह को नजर किये थे और बदले में चार परगने तथा पांच हजारी मनसब इनाम में प्राप्त किये थे। जुझारसिंह बुन्देला के विद्रोह का दमन करने में भी 1635 में माधोसिंह ने भरसक प्रयत्न किया। इसी प्रकार 1637 में जो मुगल सेना कन्धार पर अधिकार करने के लिए आक्रमण करने वाली मुगल सेना के हरावल में भी माधोसिंह था। अब्दुलहमीद लाहौरी ने लिखा है कि बल्ख–प्रदेश में स्थित कमरू और कन्द्रज के किलों पर राजपूतों के अद्भुत शौर्य के कारण ही मुगलों का अधिकार हो सका था। बल्ख में रहते हुए माधोसिंह ने वहां के निर्वासित शासक नजर मुहम्मद और उसके मददगार तूरान के शासक अब्दुल अजीत की संयुक्त सेनाओं का इस बहादुरी से मुकाबला किया कि वे लोग बल्ख से मुगलों को हटाने के प्रयत्नों में बुरी तरह असफल रहे। बल्ख अभियान की समाप्ति के उपरान्त मुगल सम्राट् का उचित सम्मान करते हुए बारां और मऊ के परगने बूंदी नरेश से जीत कर माधोसिंह को दे दिये। डॉ. मथुरालाल शर्मा ने लिखा है कि ''निरन्तर जान हथेली पर रखे हुए पहले

जहांगीर की और फिर शाहजहां की सेवा करने के कारण ही माधोसिंह 43 परगनों के राजा बने थे। उनको बादशाह से पंचहजारी मनसब के अतिरिक्त नक्कार और निशान मिला था और राजा की पदवी प्राप्त हुई थी। उनके जीवन–काल में उन्होंने कभी बादशाह की अप्रसन्नता का अनुभव नहीं किया।''

माधोसिंह की मृत्यु के बाद उसके पुत्र मुकुन्दसिंह ने मुगल मनसबदार की हैसियत से धर्मत के युद्ध में भाग लिया और विद्रोही शहजादों, औरंगजेब तथा मुराद के विरूद्ध सैनिक अभियानों में भी हिस्सा बंटाया उस युद्ध में अन्य राजपूतों के साथ मुकुन्दसिंह भी मुगल साम्राज्य के लिए लड़ते हुए मारा गया। मुकुन्दसिंह की मृत्यु के बाद जगतसिंह मुगल सम्राट् की सेवा में उपस्थित हुआ।

मारवाड़ के राजा गजसिंह ने जहांगीर के समान ही शाहजहां को अपनी सेवाएं अर्पित की। आगरा के निकट भोमियों का उत्पात दबाने में गजसिंह ने महत्वपूर्ण भाग लिया। दक्षिण में खानेजहां लोदी के विद्रोह का दमन करने में भी गजसिंह ने बड़ी वीरता का परिचय दिया। दक्षिण के अभियानों में मुगल साम्राज्य के लिए अपनी शूरवीरता दिखाने की एवम् अक्तूबर, 1630 में गजसिंह को महाराजा की उपाधि तथा मारोठ का परगना प्रदान किया गया। अगले वर्ष आसफ खां के साथ बीजापुर अभियान में भी गजसिंह ने भाग लिया। वास्तव में मारवाड़ का लगभग एक शताब्दी तक मुगलों के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध बना रहा। अतः मारवाड़ के प्रशासन पर मुगल शासन का काफी प्रभाव पड़ा। मोटा राजा उदयसिंह के राज्य से मारवाड़ के राजाओं ने अपने सरदारों से पेशकश वसूल करना शुरू कर दिया और सूरसिंह के शासन–काल में सरदारों को विभिन्न श्रेणियों में विभक्त कर दिया। मुगल सम्राटों के बढ़ते हुए प्रभावों के कारण मारवाड़ के राजा वास्तविक अर्थ में जमींदार बन गए। मुगल सेवा में मनसबदार होने के कारण उन्हें मुगल सम्राटों के इज्जतदार सेवकों की स्थिति में रहना पड़ा।

गजसिंह के बाद मारवाड के महाराजा जसवन्तसिंह ने भी मुगल साम्राज्य को पूरा सहयोग दिया। शहजादा दारा के साथ कन्धार अभियान में जसवन्तसिंह ने भाग लिया। 1645 ई. में उसे आगरे का सूबेदार नियुक्त किया गया और दो वर्ष बाद हिन्डौन का परगना भी प्रदान किया गया। 1649 ई. में शहजादा औरंगजेब के साथ जसवंतसिंह को दुबारा कन्धार भेजा गया। खरोड़ा के युद्ध में रामचन्द्र को पराजित करके (अक्तूबर, 1650) जसवंतसिंह ने सबलसिंह को जैसमेर की गद्दी दिलवाई। 1657 में जब मुगल सम्राट शाहजहां ने उत्तराधिकार का संघर्ष किया उस वक्त महाराजा जसवन्तसिंह को हिन्दुस्तान के राजाओं में श्रेष्ठ और फौजी सम्मान तथा रौबदोव में प्रथम समझा जाता था। विद्रोही औरंगजेब और मुराद के विरूद्ध सैनिक अभियान का भारी भार जसवन्तसिंह पर ही डाला गया था। अप्रैल, 1658 ई. में धर्मत के युद्ध में औरंगजेब और मुराद की विजय तथा जसवन्तसिंह की पराजय इसीलिए हुई क्योंकि मुसलमान सैनिकों ने राजपूत राजा जसवन्तसिंह की अपेक्षा सहायक सेनापति कासिम खां के प्रति अधिक भक्ति रखते हुए साजिश करके तोपखाने का कुछ भाग युद्ध की रात को रेत में दबा दिया। यदि जसवन्तसिंह को शाही सेना का पूरा समर्थन मिलता तो सम्भवतः युद्ध का नतीजा दूसरा ही निकलता। जसवन्तसिंह की कुछ सैनिक भूलें भी उसकी हार का कारण बनी।

आमेर के राजपूतों का भी सहयोग शाहजहां को मिलता रहा। मिजा राजा जयसिंह ने शाहजहां के पक्ष में खानेजहां लोदी के विरूद्ध अभियान में भाग लिया और अपूर्व साहस तथा योग्यता का परिचय दिया। 1638 ई. शहजादा शुजा के साथ कन्धार के दुर्ग को विजय करने के लिए भी जयसिंह को ही भेजा गया 1641 ई. में शहजादा मुराद के साथ जयसिंह काबुल गया और मार्ग में उसने नूरपूर, कानड़ा के राजा जगतसिंह को पराजित किया। 1644 ई. में कन्धार के दुर्ग को विजय करने के लिए भी जयसिंह को ही भेजा गया। 1641 ई. में शहजादा मुराद के साथ जयसिंह काबुल गया और मार्ग में उसने नूरपूर, कानड़ा के राजा जगतसिंह को पराजित किया। 1644 ई. में मिर्जा राजा जयसिंह ने मुगलों के लिए दक्षिण की सूबेदारी की और अपने योग्य सेनानायकत्व तथा उत्तम प्रशासन का परिचय दिया। 1648 ई. में कन्धार की सुरक्षा के लिए शहजादा औरंगजेब और सादुल्लाखां के साथ जयसिंह को भी नियुक्त किया गया। इस शूरवीर राजा ने मेवातियों को दमन करके मुगल सम्राट को एक बड़ी परेशानी से मुक्त किया। मेवात के फौजदार के रूप में उसने बयाना के किलेदार गैरतखां को शान्ति और व्यवस्था स्थापित करने में सहायता दी। 1651 ई. में मिर्जा राजा को पुनः कन्धार की सुरक्षा के लिए नियुक्त किया गया। अपने 10,000 सवारों के साथ वह जनवरी, 1652 में जमींदार के किले को जीतने के लिए पहुंच गया। शाही सेना द्वारा मध्य एशिया में कूच के समय मिर्जा राजा जयसिंह को हरावल में रखा गया। अभियान के असफल हो जाने के उपरान्त भी मिर्जा राजा को दारा के पुत्र सुलेमान शिकोह को साथ काबुल की सुरक्षा के लिए नियुक्त किया गया था। उत्तराधिकार के युद्ध में भी मिर्जा राजा जयसिंह ने महत्वपूर्ण भाग लिया। शहजादा शुजा को उसने बहादुरपुर के युद्ध में पराजित किया। ऐसा माना जाता है कि जयसिंह शहजादा औरंगजेब को मुगल सम्राट से सम्बन्धित सूचनाएं भिजवाता रहा फिर भी उसने खुले रूप से किसी

पक्ष का साथ नहीं दिया। जनवरी, 1659 में औरंगजेब ने मिर्जा राजा को लिखा कि वह जोधपुर नरेश महाराजा जसवन्तसिंह से भेंट करे ताकि जसवन्तसिंह दारा को किसी प्रकार की सहायता न दे। जयसिंह के पत्र लिखने पर ही जसवन्तसिंह ने दारा की देवराय के युद्ध में कोई सहायता नहीं की थी।

मेवाड़ और शाहजहां में सम्बन्ध यदि बहुत अधिक खराब नहीं रहे तो मधुर भी नहीं रह सके। जैसा कि कहा जा चुका है शाहजहां ने महाराणा करणसिंह को चित्तौड़ के किले की मरम्मत बन्द करने का आदेश देकर उनके प्रति अपने अविश्वास को सांकेतिक रूप में व्यक्त किया। मार्च, 1628 में करणसिंह की मृत्यु के बाद उसका ज्येष्ठ पुत्र जगतसिंह महाराणा बना। जगतसिंह ने मुगल सम्राट की अप्रसन्नता को दूर करने की कोशिश की। उसने पहले डूँगरपूर और बांसवाड़ा को (जिनके मेवाड़ के जूए को उतार दिया था) अपने अधिकार में रखने के लिए सेनाएं भेजीं और फिर मुगल सम्राट की नाराजगी दूर करने के लिए मेवाड़ की सेनाओं को दक्षिण के युद्ध में भाग लेने के लिए भेजा। इस तरह मुगल बादशाह को सन्तुष्ट करने का प्रयत्न किया गया पर जगतसिंह के कारनामों में शाहजहां सदैव चौकन्ना बना रहा। बांसवाड़ा के रावल समरसी ने मेवाड़ की अधीनता स्वीकार कर ली लेकिन डूँगरपुर को जगतसिंह अधीन करने में असफल रहा। उसने सिरोही पर भी अधिकार करने का असफल प्रयास किया। महाराणा की इन महत्वकांक्षा ने कूटनीति से काम लेते हुए 1615 ई. की सन्धि के अनुसार देलवाड़ा के कल्याण झाला के नेतृत्व में मेंवाड़ की सेना को दक्षिण के युद्धों में भाग लेने के लिए भेजा और साथ ही एक बहुत की विनम्र पत्र भी शाहजहां की सेवा में प्रस्तुत किया। अतः शाहजहां ने उसके विरूद्ध किसी प्रकार की कार्यवाही करना उचित नहीं समझा। दक्षिण के अभियान में व्यस्त रहने में शहजहां मेवाड़ के विरूद्ध जुझना नहीं चाहता था।

बाद में ज्यों ही शाहजहां को अवकाश मिला, वह 1643 ई. में अजमेर तक पहुंच गया। इनायतखां के अनुसार वह अजमेर से चलकर चित्तौड़ तक जा पहुंचाा। महाराणा जगतसिंह युद्ध के लिए तैयार नहीं था अतः उसने अपने पुत्र राजसिंह को सम्राट की सेवा में भेजकर तथा उसे बहुमूल्य भेंटे देकर इस संकट से मेवाड़ की रक्षा कर ली। 1643 ई. के बाद भी जगतसिंह शाहजहां की सेवा में उपहार आदि भेज कर खुला संघर्ष टालता रहा। 1648 ई. में बल्ख और बदख्शां के युद्धों में मुगल सेनाओं की सफलताओं पर बधाई देने के लिए महाराणा ने अपने पुत्र राजसिंह को आगरा भेजा। बाद में जब मुगल सम्राट 1649 ई. में कन्धार में झगड़ें में उलझ गया तो महाराणा 1615 ई. की सन्धि की अवहेलना करके चित्तौड़ के किले की दीवारें और दरवाजे बनवाने लग गया। 10 अप्रैल, 1652 में जगतसिंह की मृत्यु के बाद राजसिंह मेवाड़ की गद्दी पर बैठा। शाहजहां ने टीके का शाही दस्तूर कल्याण झाला और नरसमन गौड़ के हाथ भिजवाया। राजसिंह ने मुगल सम्राट की नाराजगी का ख्याल किए बिना चित्तौड़ के किले की मरम्मत और किलेबन्दी का कार्य जारी रखा। उसने गरीबदास को, जो महाराणा करणसिंह का छोटा बेटा और मुगल मनसबदार था, अपना मुख्य परामर्शदाता नियुक्त किया। राजसिंह की ये कार्यवाहियां मुगल सम्राट को भड़काने के लिए पर्याप्त थी। इस समय तक शाहजहां कन्धार के झगड़े से निवृत्त हो चुका था, अतः उसने अजमेर से वजीर सादुल्लाखां को तीस हजार सैनिकों के साथ चित्तौड़ की किलेबन्दी नष्ट करने के जिए भेजा। राजसिंह की ओर से रामसिंह झाला तथा मधुसूदन भट्ट वजीर से मिलने आए, किंतु उसने चित्तौड़ की किलेबन्दी को नष्ट करके ही दम लिया। राणा राजसिंह के प्रति शाहबाद के दाराशिकोह की पूरी सहानुभूति थी, अतः दारा की सिफारिश पर मुगल सम्राट ने चन्द्रभान ब्राह्मण को मुगल–मेवाड़ संघर्ष का अन्त करने के लिए उदयपुर भेजा। राणा के पास मुगलों को कठोर शर्तो को स्वीकार करने के अलावा और कोई रास्ता न था। उसे पुर और मण्डल के परगने छोड़ने के लिए राजी होना पड़ा। साथ ही अपने नाबालिग पुत्र को भी उसने मुगल दरबार में भेजा जिसका शाहजहां ने सौभाग्यसिंह नाम रखा। राजसिंह को पुर और मण्डल का हाथ से निकल जाना खटकता रहा और इसके लिए उसने औरंगजेब से शकंरभट्ट के माध्यम से सम्पर्क कायम किया। धर्मत के युद्ध में औरंगजेब ने महाराणा से सैनिक सहायता चाही, किन्तु महाराणा ने उत्तराधिकार के संघर्ष में कोई भाग न लेना ही मुनासिब समझा। उसने मौके का फायदा उठाते हुए, अर्थात् उत्तराधिकार के युद्धों में मुगल–शक्ति को फंसे देखकर दरीबा, माण्डल, बनेड़ा, शाहपुरा, खलवद, जहाजपुर, फूलिया आदि पर कब्जा कर लिया और अजमेर के निकट केकड़ी जाकर मुकाम किया। इस स्थान पर दारा की ओर से महाराणा से सहायता की याचना की गई, लेकिन कोई फल नहीं निकला। महाराणा ने अपने मन्त्री फतेहसिंह के नेतृत्व में सैनिक टुकड़ी टोडा–मालपुरा चाकसू और लालसोट को लूटने के लिए भेजी। इस तरह दारा अथवा औरंगजेब को सहायता देने के बजाय मुगल साम्राज्य की तत्कालीन अस्त–व्यस्त राजनीतिक स्थिति से फायदा उठाकर महाराणा राजसिंह ने मेवाड़ की सीमाओं का विस्तार किया।

9.9 औरंगजेब और राजपूत सहयोग :

औरंगजेब धर्म के मामलों में सर्वाधिक कट्टर सम्राट सिद्ध हुआ। इस धार्मिक कट्टरता में कोई भी मुगल सम्राट उसकी समता नहीं कर सका। हालाँकि उसमें भी हिन्दू रक्त उतना ही था जितना कि मुस्लिम रक्त था। उसकी एक बेगम नवाबबाई

भी हिन्दू थी। वह कश्मीर स्थित राजौरी के राजा राजू की पुत्री थी। तब भी राजपूतों के प्रति उसकी नीति शंकापूर्ण व असहिष्णुता की रही। परन्तु कट्टर होने के साथ–साथ वह एक महान कूटनीतिज्ञ भी था। अपनी कूटनीति के कारण ही वह राजपूत नरेशों का सहयोग लेने में सफल रहा था। उत्तराधिकार के युद्ध में आमेर नरेश मिर्जा राजा जयसिंह ने तथा जौधपुर नरेश जसवन्त सिंह ने औरंगजेब के विरुद्ध दारा का साथ दिया था। परन्तु औरंगजेब के दरबार में मिर्जा राजा जयसिंह ज्यों ही उपस्थित हुआ तो सम्राट औरंगजेब ने क्षमा कर उसे अपना मनसबदार बना लिया। इसके उपरान्त औरंगजेब ने उसे दक्षिण में शिवाजी का दमन करने भेजा। यह आमेर नरेश ही था जिसने शिवाजी को पुरन्दर (1665) की सन्धि करने के लिए बाध्य कर दिया था तथा उन्हे आगरा भिजवा दिया था। इसके अलावा मिर्जा जयसिंह ने ही जसवन्त सिंह को समझा कर औरंगजेब के दरबार में ला प्रस्तुत किया था। कूटनीतिज्ञ होने के कारण सम्राट ने विरोधी जसवन्त सिंह को भी जौधपुर का राजा बना दिया और उसका मनसब पद भी लौटा दिया। इसके उपरान्त सम्राट ने जसवन्त सिंह को पहले शिवाजी के विरुद्ध दक्षिण भेजा और इसके उपरान्त उत्तर–पश्चिम सीमा प्रान्त में भेजा। वहाँ जसवन्त सिंह ने पठानों का दमन किया। वहाँ स्थायी शान्ति स्थापित करने हेतु जसवन्त सिंह जमरुद में ही जमा रहा और 1578 में वहीं इस लोक से विदा हो गया। स्पष्ट है कि दोनों राजपूत नरेशों (मिर्जा राजा जयसिंह व जसवन्त सिंह) ने औरंगजेब की दिल से सेवा की, फिर भी उन दोनों को समान रुप से भयंकर दुर्भाग्य का सामना करना पड़ा। उन दोनों के प्रति औरंगजेब सदा ही सन्देह करता रहा। अतः उसने अन्त में उन दोनों से अपना पिण्ड छुड़वाया, एक को विष देकर तथा दुसरे को 'अटक के उस पार मरने के लिए भेजकर।'

जसवन्त सिंह की मृत्यु मुगल–राजपूत सम्बन्धों में एक युगान्तकारी घटना सिद्ध हुई– कट्टर औरंगजेब ने धरमत के युद्ध में उसके विरुद्ध लड़ने वाले जसवन्त सिंह को दिल से क्षमा नहीं किया था। उसे सीमा प्रान्त भेजने के पीछे उसका यही उद्देश्य था कि वह पठानों से युद्ध करता मारा जावे और जोधपुर मुगल–साम्राज्य का अंग बन जावे। यह उसकी 1678 से 1705 के अन्तराल में जौधपुर के प्रति अपनाई गयी नीति से स्पष्ट हो जाता है; परन्तु 1678 का वर्ष मुगल–राजपुतों के सम्बन्धों में सर्वथा परिवर्तनकारी सिद्ध हुआ। 1678 के उपरान्त औरंगजेब ने राजपूतों से सहयोग लेना बन्द कर दिया। उसने राजपूत मनसबों में कमी कर दी। 7 फरवरी, 1779 को खान–ए–जहाँ बहादुर को सेना की एक टुकड़ी के साथ जौधपुर पर अधिकार करने भेजा। जौधपुर पर अधिकार कर लिया गया और वहाँ के देवालयों को धराशायी करवा दिया गया। जजिया फिर से लगाने के कारण मेवाड़ के राजा राज सिंह से भी उसके सम्बन्ध बिगड़ गये थे। परिणाम यह हुआ कि राजपूतों ने 1678 के उपरान्त औरंगजेब को सहयोग देना बन्द कर दिया।

9.10 असहयोग के परिणाम :

औरंगजेब ने राजपूत नरेशों से सहयोग अवश्य लिया परन्तु उनके प्रति वह शंकालु आवश्यकता से अधिक बना रहा। वह राजपूतों को सैनिक अभियानों पर अवश्य भेजता पर स्वतन्त्र रुप से नहीं। अब राजपूत नरेश सैनिक अभियानों पर मुगल सेनापतियों व सम्राट के शाहजादों के नेतृत्व में जाने लगे। बीकानेर के राजा की औरंगजेब से नहीं पटी। सम्राट ने कर्ण सिंह के स्थान पर उसके पुत्र अनुपसिंह को बीकानेर का राजा बना दिया। इस प्रकार की नीति से औरंगजेब ने राजपूत नरेशों को नाराज करना आरम्भ कर दिया। शिवाजी के आगरे से भाग जाने के कारण औरंगजेब आमेर नरेश मिर्जा राजा जयसिंह तथा उसके पुत्र रामसिंह से भी नाराज हो गया। इसके फलस्वरुप मिर्जा राजा से दक्षिण से सूबेदारी छिन ली। जसवन्त सिंह की मृत्यु के उपरान्त सम्राट के सम्बन्ध जौधपुर के राठौड़ों से बिगड़ गये। परिणामतः राठौड़ राजपूतों के साथ दीर्घकालीन संघर्ष से मुगल राज्य को न केवल जान–मान की हानि उठानी पड़ी, वरन् साम्राज्य पर इसके अन्य दुरगामी प्रभाव भी पड़े।

इस प्रकार औरंगजेब ने अपनी कूटनीति से एक और राजपूत नरेशों का सहयोग भी प्राप्त किया तो दूसरी और उनकी शक्ति को नष्ट करने का भी प्रयास किया। परन्तु औरंगजेब राजपूत नरेशों की शक्ति का दमन तो कर नहीं सका। इसके विपरीत उसने उनको अपना तथा मुगल साम्राज्य का शत्रु जरुर बना लिया।

9.11 मुगल–राजपूत सहयोग की समीक्षा :

मुगल–राजपूत सहयोग का श्रीगणेश आमेर नरेश भारमल की पुत्री का विवाह मुगल सम्राट अकबर के साथ हो जाने से हुआ। जब तक मुगल सम्राट राजपूत राजकुमारियों से विवाह करते रहे, मुगल–राजपूत सहयोग चलता रहा। उधर मुगल सम्राट भी राजपूत व हिन्दुओं के प्रति उदार बने रहे। इसके परिणामस्वरुप राजपूत, नरेश मुगल दरबार में उच्च पद तथा उच्च सम्मान पाते रहे। नरेशों में आपसी झगड़े कम हो गए। इससे राजपूत राज्यों में चिर शान्ति स्थापित हुई। शान्ति के फलस्वरुप राज्यों का व्यापार विकसित हुआ। लोगो की सम्पन्नता बढी। राजपूत नरेशों के पुत्रों को भी मुगल दरबार में जीविका

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

उपलब्ध होने लगी। परन्तु अपनी तथा अपने राज्यों की इस समृद्धि के लिए राजपूत नरेशों को अपनी मान–मर्यादा बेचनी पड़ी। उनका स्वाभिमान चूर–चूर हो गया। उन्हे मुगल दरबार में उपस्थित होना पड़ता था। इसके साथ ही समय–समय पर मुगल सम्राट को संतुष्ट बनाये रखने हेतु अपनी पुत्रियों व पौत्रियों को मुगल सम्राट के भेंट चढानी पड़ती थीं। इसके अलावा राजपूत नरेशों को मुगल सेवा में रहते हुए अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ता था। मुगल सम्राट उन्हें सैनिक अभियान पर देश में कही भी भेज सकता था। उन्हे सैनिक मोर्चो पर अधिक रहना पड़ता था। इससे राजपूत नरेश अपने राज्यों के प्रशासन की और ध्यान नहीं दे पाते थे। उनके मुसायब ही प्रशासन का संचालन करते थे और वह जनता के लिए कष्टप्रद सिद्ध होता था। अवसर आने पर वे अपने स्वामी के विरुद्ध सम्राट से सांठ–गांठ भी कर लिया करते थे। कभी–कभी राज्यों के कामदार सम्राट द्वारा ही नियुक्त कर दिये जाते थे। इसके फलस्वरुप राजपूत राज्यों का प्रशासन भी अप्रत्यक्ष रुप से मुगलों के प्रभाव में आने लग गया था। यह सही है कि अपने राज्यों से दूर रहने पर राजपूतों को देश के विभिन्न भाग देखने को मिले। वहाँ के अनुभवों के साथ–साथ वहाँ से उन्होने धन भी खूब बटोरा। परन्तु इससे राजाओं का घरेलू जीवन तथा राज्यों की शासन–व्यवस्था अस्त–व्यस्त हो गई। वे मुगलों की दासता में जकड़ गये।

इसके विपरीत इस मुगल–राजपूत सहयोग से मुगल सम्राटों का बड़ा हित हुआ। उनका प्रभुत्व राजस्थान में जम गया तथा राजपूत नरेशों के सहयोग से साम्राज्य भी विस्तृत एवं सदृढ हो गया। राजपूत नरेश उनके साम्राज्य के दृढ़ स्तम्भ सिद्ध हुए। उनके सहयोग से मुगल सम्राट अपने घमण्डी व धन–लोलुप अमीरों के प्रभाव से मुक्त हो गए। मुगल कलाएँ हिन्दू कलाकारों के सहयोग से पर्याप्त मात्रा में विकसित हुईं। मुगल दरबार का वातावरण उदार तथा समन्वयात्मक बना। पर इसके साथ ही उन्होनें कट्टर मुसलमानों से दुश्मनी मोल ले ली। मुल्ला व उलेमा उनके विरोधी बन गये। वे अपने सम्राट को ही काफिर समझने लगे। इससे मुगल दरबार में दल–बन्दी आरम्भ हो गई और मुगल सम्राटों को अपने मुसलमान अमीरों के सहयोग से कुछ सीमा तक वंचित भी होना पड़ा। मुगल सम्राट अब अधिक राजपूत शक्ति पर निर्भर रहने लगे। इसके दूरगामी परिणाम निकले। पर यह सब होते हुए भी हम संक्षेप में कह सकते हैं कि यह पारस्परिक सहयोग तत्कालिन परिस्थितियों में देश व समाज के लिए हितकर ही सिद्ध हुआ।

9.12 औरंगजेब की मृत्यु के उपरान्त मुगल–राजपूत सम्बन्ध :

1678 के उपरान्त औरंगजेब ने राजपूतों के विरुद्ध जो कार्य किये या जो नीति अपनाई– वह राजपूतों के विनाश के लिए थी। परन्तु कहा गया है कि इन्सान सोचता क्या है और होता क्या है? राजपूतों का विनाश देखने वाला स्वयं तो विनाश के गर्त (1707) में समा गया और राजपूत प्रबल विद्रोहियों के रुप में उभर कर आये। औरंगजेब अपने अदूरदर्शी कार्यो से राजपूतों को मुगल–साम्राज्य का प्रबल शत्रु बना जिसके कटु फल उसके निर्बल उत्तराधिकारियों को चखने पड़े।

धार्मिक कट्टरता औरंगजेब के उत्तराधिकारियों मे भी विद्यमान रही। ह्रदय से वे भी राजपूत विरोधी रहे परन्तु तत्कालीन परिस्थितियाँ ही ऐसी उत्पन्न हो गयी थी कि न चाहते हुए भी मुगल सम्राटों को राजपूतों के सहयोग पर आश्रित रहना पड़ा।

9.13 तत्कालीन परिस्थितियाँ :

9.13.1. औरंगजेब के निर्बल तथा अल्पकालीन उत्तराधिकारी – औरंगजेब ने निःसन्देह 50 वर्ष (1658–1707) राज्य किया; परन्तु अपने पिछे वह ऐसे निकम्मे, निर्बल एवं वृद्ध उत्तराधिकारी छोड़ गया जो गद्दी के लिए संघर्ष अवश्य कर सकते थे, पर साम्राज्य की सुरक्षा नहीं कर सकते थे। इसी कारण उनका शासन स्थायी सिद्ध नहीं हुआ। 1707 से 1857 के अन्तराल में 11 सम्राट हुए। सिवाय मुहम्मद शाह (1719–48) और बहादुर शाह द्वितीय (1837–57) के उनमें कोई भी सम्राट 5 या 7 वर्ष से अधिक शासन नहीं कर सका।

9.13.2. मुगल दरबार में दलबन्दी – यह सही है कि मुगल दरबार में दलबन्दी औरंगजेब के पूर्व भी थी परन्तु वह प्रबल रुप से नहीं थी। वह दलबन्दी औरंगजेब के पूर्वजों की नीति को इतनी प्रभावित नहीं कर सकी, जितनी की उसके उत्तराधिकारियों की नीति को यह प्रभावित कर सकी। औरंगजेब की मृत्यु के उपरान्त तो यह दलबन्दी इतनी उग्र हो गई थी कि मुगल सम्राट अपने अमीरों के हाथ की कठपुतली बन कर रह गये। कभी सैयद–बन्धु प्रभावशाली रहे तो कभी निजाम शक्ति में रहा। सैयद–बन्धु तो मुगल दरबार में 'सम्राट निर्माताओं' (King Makers) के रुप में जाने जाने लगे थे। उन्होने जिसको चाहा सम्राट बनाया और जिसको चाहा गद्दी से च्युत कर दिया। अतः राजपूत सहयोग सम्राट की इच्छा पर अवलम्बित न रह कर इन शक्तिशाली अमीरों की स्वार्थी इच्छाओं पर निर्भर करने लगा था।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

9.13.3. मुगल सम्राट केवल साम्राज्य की सुरक्षा की चिन्ता करने लगे – औरंगजेब के उपरान्त मुगल सम्राट साम्राज्यवादी नहीं रहे। अब उन्हे केवल अपने सिमटते साम्राज्य की चिन्ता रहने लगी; पर उसकी सुरक्षा के लिए भी निर्बल मुगल सम्राटों को राजपूतों का सहयोग लेना पड़ा।

9.13.4. मराठों का शक्तिशाली होना – औरंगजेब अपने शासन के 25 वर्ष मराठों के दमन में ही लगा गया। पर वह उसका दमन नहीं कर सका। औरंगजेब की दमन नीति का परिणाम उलटा रहा। मराठा इतने शक्तिशाली हो गये कि वे विशाल मुगल साम्राज्य को राहू–केतु की तरह ग्रसने लगे। उनका आतंक दक्षिण भारत तक ही सीमित नहीं रहा वरन् उत्तरी भारत पर भी वे मंडराने लगे। मुगल सम्राटों को मराठों का इतना भय लगने लगा कि उन्हे राजपूतों का सहयोग लेने को विवश होना पड़ा।

9.13.5. उत्तराधिकार के लिए संघर्ष – हालाँकि उत्तराधिकार का नियम लड़ाकू मुसलमानों में कभी नही रहा। सदा तलवार ही इस ताकत का फैसला करती थी कि गद्दी पर कौन बैठे? परन्तु मुगल सम्राटों में शाहजहाँ का ज्येष्ठ पुत्र दारा मुगल सम्राट नहीं बन सका और उसका छोटा पुत्र औरंगजेब विजेता होने के कारण सम्राट बना। औरंगजेब की मृत्यु के उपरान्त तो तलवार ही उत्तराधिकारी का निर्णय करने लगी। तख्तनशीन हो जाने पर भी उनके स्थायित्व का कोई निश्चय नहीं था। फरुर्खसियर की मृत्यु (1719) के उपरान्त तो गद्दी के प्रत्याशियों की जेलखानें में तलाश होने लगी थी। मुगल सम्राटों का इतनी शीघ्रता एवं निर्ममता से वध होने लगा कि कोई सम्राट बनने को तैयार ही नहीं होता था। इस भयातुर वातावरण में भी मुगल सम्राटों को राजपूतों का सहयोग लेना पड़ा।

9.14 औरंगजेब के उत्तराधिकारी और राजपूत सहयोग :

9.14.1. बहादुरशाह (1702–12 ई.) और राजपूत सहयोग – 7 मार्च, 1707 को औरंगजेब ने इस लोक से अलविदा ली और उसके शाहजादे मुअज्जम और आजम आगरा से बीस मील जाजव के स्थान पर आ टकराये। इस उत्तराधिकार के युद्ध में अनेक राजपूत नरेशों ने आजम का पक्ष लिया परन्तु आमेर नरेश जयसिंह ने अन्त में मुअज्ज का पक्ष ग्रहण किया। युद्ध में मुअज्जम विजयी रहा और 1707 में बहादुरशाह के नाम से वह मुगल सम्राट बना।

इस प्रकार जाजव के युद्ध ने मुगल साम्राज्य के उत्तराधिकार का प्रश्न तो हल कर दिया परन्तु इससे राजपूताने में कई समस्याएँ उत्पन्न हो गई। कोटा–बून्दी के हाड़ा राजघराने में पारस्परिक वैमनस्य यहीं से आरम्भ हो गया। आमेर नरेश जयसिंह ने प्रथम सहायता आजम की थी पर युद्ध का पासा पलटता देख वह मुअज्जम का सहायक बन गया था। परन्तु कट्टर बहादुरशाह जयसिंह के प्राथमिक सहयोग को नहीं भूला। अतः उसने आमेर को खालसा कर दिया। उसका नाम मोमिनाबाद रख दिया तथा बाद में विजयसिंह को आमेर का राजा बना कर आमेर में गृह–युद्ध आरम्भ कर दिया। जयसिंह मुगल विरोधि बन गया। वह अपने पैतृक राज्य की प्राप्ति के लिए मुगल विरोधि नरेशों का एक संघ निर्माण करने लगा। मेवाड़ के महाराणा अमरसिंह को मुगल–विरोधि संघ में सम्मिलित करने के लिए सवाई जयसिंह ने मेवाड़ी राजकुमारी से विवाह किया। इस विवाह के भी आगे चलकर कई दूरगामी परिणाम निकले। जोधपुर नरेश अजीत सिंह भी मुगल–सम्राट का कोप भाजन बन जाने के कारण जयसिंह का सहायक बन गया।

अजीत सिंह ने न तो अभी तक बहादुरशाह की अधीनता स्वीकार की थी और न ही उसके दरबार में ही वह उपस्थित हुआ था। इस कारण क्रूद्ध बहादुरशाह ने जौधपुर पर आक्रमण कर दिया। जौधपुर पर अधिकार कर उसे भी खालसा घोषित कर दिया। इस प्रकार अजीत सिंह भी शतरंज का बादशाह बन कर जयसिंह की तरह भटकने लगा।

औरंगजेब की मृत्यु के समय राजपूतानें में छोटे–बड़े 15 राजपूत राज्य थे। परन्तु उनमें उल्लेखनीय आमेर, जौधपुर, मेवाड़ व कोटा–बून्दी ही थे। उत्तराधिकार के युद्ध में मेवाड़ का महाराणा अमर सिंह द्वितीय तटस्थ रहा था। परन्तु बहादुशाह के बादशाह बनते ही उसने अपने भ्राता बख्तसिंह के माध्यम से मुगल सम्राट के पास अच्छी भेंट भिजवा दी थी। मुगल सम्राट ने भेंट स्वीकार कर तसल्ली के रुप में एक हाथी राणा के पास भिजवा दिया था। अतः स्पष्ट है कि प्रारम्भ में मुगल सम्राट व राणा के मध्य सम्बन्ध मधुर रहे। परन्तु महाराणा ने ज्यों ही जयसिंह व अजीत सिंह को उनके राज्य वापिस दिलाने के प्रयास किये कि ये सम्बन्ध कटु हो गये। इय प्रकार जसवन्त सिंह की मृत्यु के उपरान्त राजस्थान में सर्वत्र मुगल–सत्ता को राजपूतों की चुनौती का सामना करना पड़ रहा था। महाराणा के सहयोग से 1708 में ही जयसिंह ने आमेर प्राप्त कर लिया तथा अजीत सिंह ने जोधपुर। परन्तु बहादुरशाह इनके राज्यों को पुनः अपने अधीनस्थ करने का प्रयास करता रहा। बहादुरशाह और दोनो राजपूत नरेशों का यह संघर्ष जून, 1710 तक चला। अन्त में 11 जून, 1710 को

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

बहादुरशाह ने जयसिंह का आमेर पर तथा अजीत सिंह का जोधपुर पर अधिकार स्वीकार कर लिया। इसके परिणामस्वरुप मुगल सम्राट के विरुद्ध दोनों राजपूत नरेशों की बगावत की इतिश्री हुई। इस प्रकार बहादुरशाह अपने शासन के अन्तिम डेढ़ वर्ष के अलावा सम्पूर्ण शासनकाल में राजस्थान के राजपूत नरेशों से संघर्ष में उलझा रहा। परन्तु इस संघर्ष में मुगल साम्राज्य की निर्बलता स्पष्ट हो गई। राजपूत नरेशों को मुगल सम्राट का अब कोई भय नहीं रहा और वे मुगल नियन्त्रण से अपने को मुक्त करने का प्रयास करने लगे।

9.14.2. जहाँदारशाह (1712–13 ई.) और राजपूत सहयोग – स्पष्ट है कि जहाँदारशाह को शासन करने को 11 मास ही मिले और ये 11 मास भी उसने अपनी रंगरेलियों में बिता दिये। परन्तु इस विलासिता का राजनीतिक प्रभाव यह पड़ा कि उसने राजपूतों के साथ टकराव का रास्ता नहीं अपनाया। वह अकबर की 'सुलह–कुल' की नीति पर आचरण करते हुए राजपूतों का सहयोग ही लेता रहा।

जहाँदारशाह को दिल्ली का तख्त जल्फिकार के सहयोग से मिला था। उसके सहयोग से वह अपने भ्राताओं को परास्त कर सका था। इस उत्तराधिकार के संघर्ष में किसी राजपूत नरेश ने भाग नहीं लिया। वे तटस्थ रहते हुए भी परिणाम की प्रतीक्षा करते रहे और जहाँदारशाह के विजेता होते ही उन्होने उसे अपना सम्राट स्वीकार कर लिया।

सम्राट की भाँति वजीर जुल्फिकार भी राजपूतों से सहयोग लेने का समर्थक था। अतः सम्राट ने राजपूतों के सहयोग प्राप्त करने की दृष्टि से प्रथम **जजिया** हटाया। कहा जाता है कि महाराण प्रताप सिंह ने अपने वकील बिहारी दास के माध्यम से अब्दुल्ला खाँ को हिन्दू विरोधी कर जजिया को हटाने की सलाह दी थी। इसके उपरान्त मुगल सम्राट ने जयसिंह और अजीत सिंह को 7–7 हजार की मनसबी दे दी। उन्होने क्रमशः **मिर्जा** तथा **महाराजा** की उपाधियों से अलंकृत किया। इसके अलावा दोनों राजपूत नरेशों को तुष्ट करने हेतु जयसिंह को मालवा की तथा अजीत सिंह को गुजरात की सुबेदारी प्रदान कर दी। परन्तु इन राजपूत राजाओं का सहयोग प्राप्त करने पर भी सम्राट की आखिरी समस्या हल नहीं हुई। अब दरबार में सैयदखाँ बन्धुओं (अब्दुल्ला व हुसैन अली) का प्रभाव बढ़ रहा था। अजीमुश्शान का पुत्र है फरुर्खसियर सैयद–बन्धुओं के संयोग से सम्राट बनने का प्रयास करने लगा। सैयद–बन्धुओं ने फरवरी, 1733 में जहाँदरशाह और उसके वजीर जुल्फिकार का वध करके फरुर्खसियक को सम्राट बना दिया। वस्तुतः 1713 ई. से 1721 ई. तक का काल मुगल–इतिहास में सैयद–बन्धुओं का युग रहा।

9.14.3. फरुर्खसियर (1713–19 ई.) और राजपूत सहयोग – फरुर्खसियर सैयद–बन्धुओं की सहायता से बादशाह बना था। अतः मुगल दरबार में उनका महत्व बढना स्वभाविक था। इधर अजीत सिंह व जयसिंह ने मुगल दरबार में प्रमुखता पाने के लिए प्रतिद्वन्द्विता आरम्भ हो गयी। उधर सैयद–बन्धु व मुगल सम्राट दोनों राजपूत सहयोग के लिए आतुर थे। भाग्यवश अजीत सिंह सैयद–बन्धुओं के खेमें में चला गया और जयसिंह बून्दी नरेश बुधसिंह तथा दुर्गादास राठौर के साथ फरुर्खसियर के गुट में मिल गया। फरुर्खसियर ने अजीत सिंह की हत्या कराने का प्रयास किया सम्राट अपने प्रयास में असफल रहा और उधर अजीत सिंह ने सैयद–बन्धुओं के सहयोग से फरुर्खसियर को गद्दी से च्युत करा दिया क्योंकि वह 1714 के समझौते से प्रसन्न नहीं था। इस प्रकार अजीत सिंह **'बादशाह निर्माता'** बन गया।

राजपूत सहयोग के संदर्भ में फरुर्खसियर व सैयद–बन्धुओं में मतभेद था। सैयद–बन्धु राजपूतों के प्रति उदार थे जबकि मुगल सम्राट अनुदार था। व सैयद–बन्धु तथा राजपूत नरेशों में मतभेद उत्पन्न कराना चाहता था और सवाई जयसिंह व अजीत सिंह में भी एकता नहीं देखना चाहता था।

9.14.4. रफी–उद–दरजात (फरवरी, 1719 से जून, 1719 ई.) और राजपूत सहयोग – उसे तो राज्य करने को ही तीन मास मिले और यह तीन महीने भी उसने बीमारी से कुश्ती लड़ने में गुजार दी है। अतः उसके शासन काल में तो मुगल–राजपूत सहयोग का प्रश्न ही नहीं उठता।

9.14.5. रफीउद्दौला (जून, 1719 से सितम्बर, 1719 ई.) और राजपूत सहयोग – बीमार रहने के कारण रफी–उद–दरजात को गद्दी से हटाकर उसके ज्येष्ठ भ्राता रफीउद्दौला को मुगल सम्राट बनाया था परन्तु वह पैचिस की गिरफ्त में आ गया और सितम्बर, 1719 में ही इस दुनियाँ से चल बसा।

9.14.6. मुहम्मद शाह (1719–48 ई.) और राजपूत सहयोग– निःसन्देह मुहम्मद शाह को शासन करने को 30 वर्ष मिले। उसने अपना यह दीर्घकाल विलासिता में ही गुजार दिया, पर वह सैयद–बन्धुओं के प्रभाव को

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

सहन नहीं कर सका। अतः सैयद–बन्धुओं को समाप्त कराने हेतु उसे राजपूतों का सहयोग लेना आवश्यक हो गया। उधर दक्षिण में मराठा अब बहुत शक्तिशाली हो गये थे। बाजीराव के नेतृत्व में मराठा मालवा, गुजरात व बुन्देलखण्ड तक पर आक्रमण करने लग गये थे। अतः उत्तर की और बढ़ते मराठों के प्रसार को रोकने हेतु मुहम्मद शाह को अजीतसिंह व जयसिंह के सहयोग की आवश्यकता हुई। 1720 में जब सैयद–बन्धु ठिकाने लगा दिये गये तो मुहम्मद शाह ने अजीतसिंह और जयसिंह की ओर ध्यान दिया।

9.15 सारांश :

मुगल शासकों की निर्बलता के कारण राजस्थान के राजपूत नरेशों का दिल्ली दरबार में प्रस्तुत रहना अनिवार्य नहीं रहा था। उनसे सहयोग लेने के समय उन्हें दिल्ली बुला लिया जाता था। जयसिंह व अजीतसिंह को पुनः क्रमशः मालवा व गुजरात की सुबेदारी प्रदान की गई। परन्तु मुहम्मद शाह के सम्बंध अजीतसिंह के साथ अधिक दिन अच्छे नहीं रहे। 1723 की संधि के अन्तर्गत अजीतसिंह जौधपुर ही रहने लगा और उसका अभयसिंह दिल्ली दरबार में। ध ूर्त मुहम्मद शाह ने 23 जून, 1724 को एक नियोजित षड्यंत्र के अंतर्गत बख्त सिंह द्वारा अजीतसिंह को मरवा दिया। अजीतसिंह की मृत्यु के साथ दिल्ली दरबार में जोधपुर का महत्व घटने लगा और आमेर नरेश सवाई जयसिंह का प्रभाव बढ़ने लगा। 1729 ई. में वह मालवा का सूबेदार बनाया गया। उसने मुहम्मद शाह व मराठों के बीच संधि कराने के भारी प्रयास किये; परन्तु मुगल दरबाद की दलबंदी में उनके प्रयास सफल नहीं होने दिये। इसी प्रकार के वातावरण में 1739 में नादिरशाह का भारत पर आक्रमण हो गया। आक्रमण ने मुहम्मद शाह की शक्ति को जर्जर कर दिया। आक्रमण से राहत पाने के लिए मुगल सम्राट् ने राजपूत नरेशों को सहयोग देने को आमन्त्रित किया था परन्तु कोई भी राजपूत नरेश सहायता को नहीं आया। अतः स्पष्ट है कि 1739 से राजपूत सहयोग शिथिल हो गया।

सम्बन्ध शिथिल होने पर भी राजपूत नरेशों ने अपने राजनीति सम्बन्ध मुगल सम्राट् से पूर्ववत् बनाये रखे। वे मुगल दरबार में अपना प्रभाव बढ़ाने के लिए अवश्य प्रयत्नशील रहे। इनमें जयसिंह और अजीतसिंह ही प्रमुख थे। 23 जून, 1724 को अजीतसिंह को जब उसके पुत्र बख्तसिंह ने अपने भ्राता अभयसिंह को बहकाने पर मौत के घाट उतार दिया तो मुगल दरबार में सवाई जयसिंह का ही वर्चस्व रह गया। परन्तु मराठों के सम्बन्ध में जो नीति सवाई जयसिंह अपनाना चाहता था– उस पर निजाम–उल–मुल्क का भी विरोध रहा तो अन्य मुस्लिम अमीरो का भी रहा। इसी कारण कभी जयसिंह को मालवा की सूबेदारी से वंचित किया जाता तो कभी उसे पुनः नियुक्त किया जाता। मुगल सम्राटों की इस ढिलमिल नीति के कारण मराठा निरंतर अपनी शक्ति बढ़ाते रहे। मराठों के इस उत्कर्ष ने राजस्थान में भी कई समस्याऐं उत्पन्न कर दी तथा मुगल सम्राट के अस्तित्व के लिए संकट उत्पन्न कर दिया। राजस्थान के गृह–युद्धों ने राजपूतानें के राजपूत नरेशों को मुगल सम्राटों का सहयोग देने के समर्थ नहीं रखा। उधर मुगल सम्राट भी राजस्थान में मराठों के बढ़ते प्रभाव को रोकने में राजपूत नरशों को सैनिक सहायता देने की स्थिति में नहीं रहे। इसी प्रकार के वातावरण में 1747 में सवाई जयसिंह भी इस लोक से विदा हो गया। उसकी विदाई के साथ ही मुगल–राजपूत सहयोग भी समाप्त हो गया। इस प्रकार स्पष्ट है कि मुगल–राजपूत सहयोग आरम्भ भी आमेर के कछवाहा नरेशों ने ही किया था तो इसकी इतिश्री भी कछवाहा नरेश ने ही की।

9.16 बोध प्रश्न :

प्रश्न 1 अकबर ने आमेर नरेश भारमल कछवाहा की पुत्री से कब विवाह किया?

अ. 10 मार्च, 1564 ब. 6 फरवरी 1562

स. 11 जनवरी 1561 द. 2 जनवरी 1560

उत्तर – ....

प्रश्न 2 जहाँगीर और राजपूत नीति पर संक्षिप्त टिप्पणी कीजिए।

उत्तर – ....

प्रश्न 3 राजपूतों और मुगलों के साथ सहयोग और प्रतिरोध की नीति पर विस्तृत विवेचन कीजिए।

उत्तर – ....

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

इकाई – 10
आमेर का राजा मानसिंह

संरचना

10.0 उद्देश्य
10.1 भूमिका : आमेर, मुगल सन्धि
10.2 आरम्भिक जीवन
10.3 मानसिंह मुगल दरबार में
10.4 मुगल सेवा में मानसिंह
10.5 प्रथम काल
10.6 द्वितीय काल
    10.6.1 मेवाड़ और मानसिंह
    10.6.2 मानसिंह उत्तर–पश्चिम सीमा पर
    10.6.3 मानसिंह काबुल में
    10.6.4 राजा मानसिंह बंगाल के सूबेदार के रूप में
    10.6.5 मानसिंह का आगरा आना और सम्राट अकबर की मृत्यु
10.7 तृतीय काल
    10.7.1 बिहार की सूबेदारी
    10.7.2 उड़ीसा के विद्रोहियों का दमन
    10.7.3 बंगाल की सूबेदारी
10.8 मानसिंह और जहांगीर
    10.8.1 बिहार की सूबेदारी–सम्राट की नाराजगी और मेल–मिलाप
    10.8.2 मानसिंह दक्षिण में
10.9 मानसिंह का मूल्यांकन एवं सारांश
10.10 बोध प्रश्न

10.0 उद्देश्य :

इस इकाई में मानसिंह राज्य की मुगल सेवा को दो भागों में विभाजित कर स्पष्ट किया गया है –

–कुवर के रूप में

–आमेर के राजा के रूप में

10.1 भूमिका : आमेर–मुगल संधि :

जहाँ एक ओर राजस्थान के कतिपय शासकों एवं राजवंशों ने मुगल सत्ता को चुनौती दी तो दूसरी ओर ऐसे राजवंश भी थे जिन्होंने मुगलों से संधि करने में अपना हित समझा इसमें आमेर का कछवाहा राजवंश प्रमुख है। राजस्थान का यही पहला राज्य था जिसने मुगल सम्राट अकबर से 1562 ई. में संधि की तथा वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित किया। उस समय वहाँ का शासक भारमल था। अपनी आन्तरिक कठिनाइयों एवं बाह्य आक्रमणों के भय के कारण उसका ध्यान अकबर की ओर गया। जनवरी ,1562 ई. में जब अकबर फतेहपुर सीकरी से अजमेर हजरत ख्वाजा मुईनुद्दीन चिश्ती की दरगाह पर दर्शन करने हेतु जाते हुए सांगानेर ठहरा तब भारमल का दूत चगतईखाँ अकबर से मिला, दूत ने अपने शासक की रक्षार्थ अकबर से मदद चाही तथा भारमल की पुत्री से विवाह करने का प्रस्ताव रखा। अकबर ने इस प्रस्ताव को स्वीकार कर लिया और अजमेर से लौटते समय सांभर के पड़ाव पर 6 फरवरी को यह शादी सम्पन्न हुई। निःसंदेह यह वैवाहिक सम्बन्ध ऐतिहासिक दृष्टि से काफी महत्वपूर्ण था और मुगल साम्राज्य के लिए अत्यधिक लाभदायक सिद्ध हुआ क्योंकि उसे ऐसे योग्य सेनानायक एवं विश्वस्त उच्चाधिकारी प्राप्त हुए जिन्होंने मुगल साम्राज्य के प्रसार तथा उसकी उन्नति एवं समृद्धि में पूर्ण सहयोग दिया। मानसिंह इसका ज्वलंत उदाहरण है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

"राजा मानसिंह के शासनकाल में आमेर राज्य की बड़ी उन्नति हुई। मुगल दरबार में सम्मलित होकर मानसिंह ने अपने राज्य का विस्तार किया, और अनेक अवसरों पर अपने आपकों संकटों में डालकर मुगल शासन का हित किया। खोतान से लेकर कितने ही राज्यों को अपनी तलवार से जीतकर वहां पर उसने मुगल पताका फहराई। मानसिंह ने उड़ीसा और आसाम को जीत कर उनको अकबर बादशाह के अधीन बना दिया था, उससे भयभीत होकर काबुल ने भी अकबर की अधीनता स्वीकार कर ली थी। अपनी इन्हीं सफलताओं के फलस्वरूप मानसिंह बंगाल, दक्षिण व काबुल का शासक नियुक्त हुआ था।"

श्री ओझा कहते हैं कि– "अकबर ने राजपूतों से विवाह सम्बन्ध जोड़कर तथा आमेर के राजा भगवानदास के भतीजे मानसिंह को अपना विश्वाससूत्र बनाकर मुगल साम्राज्य की नींव सुदृढ़ कर ली। मानसिंह अकबर के विश्वासपात्र स्तम्भों में से एक था।"

श्री गहलोत के शब्दों में – "आमेर ने मानसिंह को 7 हजार जात व 6 हजार सवार का मनसब प्रदान किया गया था। जो अकबर के शासनकाल में किसी भी हिन्दु या मुसलमान सरदार को प्रदान किया जाने वाला ऊँचा से ऊँचा मनसब था।" स्पष्ट है कि अकबर ने राजपूतों को अपना कर अपने शासन को सुदृढ़ बनाने के लिये जो नीति अपनाई उसमें आमेर के राजा और विशेष तौर पर मानसिंह का सबसे अधिक योगदान था। राजपूत राजाओं में मानसिंह ही एक ऐसा राजा था जिसने मुगल सम्राट के साथ सबसे पहले मैत्रीपूर्ण व्यवहार को अपनाया और जीवन भर वह मुगल दरबार की वफादारी से सेवा करता रहा। मानसिंह के जीवन में निम्न महत्वपूर्ण बातें स्मरणीय है–

10.2. आरम्भिक जीवन :

मानसिंह का जन्म 1550 ई. में मौजमाबाद गांव में हुआ था। यह भगवन्तदास के भाई जगतसिंह का पुत्र था। किन्तु कुछ इतिहासकार इसे भगवन्तदास का ही पुत्र मान लेते है। जहांगीर ने अपनी आत्म–कथा में इसे भगवन्दास का भतीजा लिखा है। आमेर से प्राप्त शिलालेख व ख्यातों में इसे भगवतदास का पुत्र कहा गया है। जो भी हो 1589 ई. में इसे भगवन्तदास की मृत्यु के बाद आमेर का राजा बनाया गया। फिर भी एक उलझन उत्पन्न हो जाती है कि मानसिंह के पिता भगवन्तदास थे या जगतसिंह। यदि मुसलमान लेखकों को सच मान लिया जाये तो मानसिंह भगवन्तदास का ही पुत्र था। डॉ. गोपीनाथ शर्मा भी इसे भगवन्तदास का ही पुत्र मानते है क्योंकि निजामुद्दीन, बदायूनी व फरिश्ता जैसे विद्वान भगवन्तदास को ही इसका पुत्र मानते है।

टाड महोदय इस घटना के विरूद्ध मानसिंह को भगवन्तदास का गोद लिया हुआ पुत्र मानते है। भगवन्तदास को कई जगह भगवानदास भी लिखा गया है।

स्मिथ ने भी अपनी पुस्तक 'अकबर' में टाड के मत का समर्थन किया है। श्री ओझा राजपूताने का इतिहास में लिखते हैं कि– "मानसिंह भगवन्तदास का दूसरा पुत्र था और उसे आमेर के राजा भगवानदास ने गोद लिया था।"

इस प्रकार विभिन्न इतिहासकार मानसिंह के जन्म के बारे में अलग–अलग राय रखते है। हम निष्कर्ष पर पहुंच सकते है कि भारमल के बाद उसका पुत्र मानसिंह आमेर का शासक बना। मानसिंह ने 1589 से 1614 तक आर्थत् 26 वर्ष तक आमेर पर राज्य किया। उसके शासनकाल में आमेर जैसे छोटे से राज्य की प्रतिष्ठा बहुत बढ़ गयी। मुगल दरबार में आमेर का सम्मान बढ़ गया और अन्य राजपूत घरानों से कहीं अधिक समृद्धि व प्रतिष्ठा मानसिंह के समय आमेर की हुई।

10.3. मानसिंह मुगल दरबार में :

12 वर्ष की अवस्था में मानसिंह मुगल दरबार में आ गया था। अकबर के साथ रह कर ही उसने सैनिक शिक्षा में निपुणता प्राप्त की थी वह 13 फरवरी, 1565 को आगरा पहुंचा था और तब से लगातार 1574 ई. तक उर्थात् 12 वर्ष तक वह अपने दादा के शासनकाल में अकबर के दरबार में रहा उसके बाद वह अपने पिता के शासनकाल में 1574–89 तक कुंवर मानसिंह के रूप में अकबर की सेवा में रहा। इन दोनों कालों के बीच में अर्थात् भंवर मानसिंह ने अकबर की जो सेवाएं की वे भी सराहनीय है। रणथम्भौर के आक्रमण के समय मानस्हिं अपने पिता के समय अकबर के साथ था। अकबर ने जो सूरजहाड़ा पर विजय प्राप्त की थी उसमें भी मानसिंह का बहुत हाथ था। 1572 ई. में गुजरात में होने वाले ईडर के विद्रोह में मानसिंह ने विद्रोही शेर खां फौलादी के लड़कों को पराजित कर लूटा था। इसके अतिरिक्त गुजरात के अभियान में वह अकबर की सेना की अग्रिम पंक्तियों में था। गुजरात से लौटते समय मानसिंह ने डूंगरपुर विजय की थी और उदयपुर में प्रताप से भेंट की। इस प्रकार मानसिंह ने 24 वर्ष की अवस्था से पहले ही गुजरात, डूंगरपुर, हाड़ा, रणथम्भौर और ईडर के भयानक युद्धों में भाग लेकर सफलता प्राप्त कर ली थी। उसकी योग्यता से प्रभावित होकर जून 1573 में अकबर ने उसे अपना दूत बनाकर प्रताप के पास भेजा था। मानसिंह का स्वाभिमान हल्दीघाटी के युद्ध का एक कारण बन गया था।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

इन सभी बातों से यह पता चलता है कि मानसिंह वीर व योग्य राजपूत था अतः अकबर ने इसे हर अभियान में अपने साथ रखना शुरू कर दिया। अपने जीवन काल में मानसिंह इस प्रकार अकबर का विश्वासपात्र बनने में सफल हुआ।

10.4. मुगल सेवा में मानसिंह :

राजा मानसिंह का अधिकांश समय मुगल–साम्राज्य की सेवा में आमेर से बाहर ही बीता था। अतः इनका जीवन–काल तीन भागों में विभक्त किया जा सकता है –

1562 से 1574 ई. के बीच का समय जबकि मानसिंह ने भंवर (राजा भारमल के पौत्र) के रूप में मुगल–साम्राज्य की सेवा की।

1574 से 1589 ई. तक कुंवर के रूप में मानसिंह ने अकबर की सेवा की।

1589 से 1614 ई. तक आमेर के राजा के रूप में मानसिंह ने मुगल–साम्राज्य की सेवा की।

10.5. प्रथम काल :

10 फरवरी, 1562 ई. को मानसिंह का अकबर से परिचय कराया गया था। बादशाह के साथ ही वह अपने पिता भगवन्तदास सहित 13 फरवरी के दिन मुगल राजधानी आगरा पहुंचा था।

1569 ई. में अकबर के रणथम्भौर अभियान के समय मानसिंह अपने पिता भगवन्तदास सहित शाही सेना में मौजूद था। सुरजन हाड़ा ने इसके तथा भगवन्तदास के द्वारा ही सन्धि का पैगाम बादशाह तक भिजवाया था।

1572 ई. बादशाह अकबर के आदेश से मानसिंह विद्रोही फौलाद खां के पुत्रों को पकड़ने के लिए डर गया था। इसी वर्ष (दिसम्बर मास में) इन्हें इपने पिता के साथ सूरत पर अधिकार करने के लिए भेजा गया था। सूरत के मुकाम पर अकबर अपने चुने हुए सरदारों के साथ पुर्तगालियों द्वारा भेंट की गई शराब पी रहा था। उस समय अकबर और मानसिंह के बीच बात ही बात में तलवारें खिंच गई थी, लेकिन सैयद मुजफ्फर तथा दूसरे सरदारों के बीच में पड़कर शीघ्र सम्राट् को शान्त करवा दिया।

1573 ई. में अकबर ने मानसिंह को राणा प्रताप के पास भेजा। मानसिंह ने जून, 1573 ई. में राणा प्रताप से उदयसागर की पाल पर भेंट की। मानसिंह चाहता था कि राणा उसके साथ शाही दरबार में चला जाए, लेकिन राणा प्रताप इसके लिए तैयार नहीं हुआ। राणा व मानसिंह की इस भेंट के साथ सुप्रसिद्ध किवदन्ती जुड़ी हुई है। जिसके अनुसार राणा प्रताप ने अपने निमन्त्रित अतिथि मानसिंह के साथ भोजन के समय अपमानजनक व्यवहार किया। अबुलफजल स्पष्ट रूप से लिखता है कि मानसिंह ने राणा प्रताप के साथ उसकी राजधानी उदयपुर में भेंट की थी। भेंट उदयपुर में नहीं, बल्कि उदयसागर के स्थान पर हुई थी, जो उदयपुर शहर से 6 मील की दूरी पर स्थित है। अबुल फजल भ्रम से उदयपुर और उदयसागर को एक ही समझ बैठा। आमेर की ख्यातों में इस भेंट का निम्न प्रकार वर्णन किया गया है–

"अर राणाजी भाबर पाय डेरे आया आपस में सुष समाचार हुवा जदि राणाजी भाई आपकी मिजमानी छै। महाराजा भाई भार घणी कराज्यो। सो राणाजी तैयारी करी अर जीमण की तयारी मंगाई। पुरसगारी हुई। अर राणाजी न भाई आप भी जीमण बैठो। राणाजी भाई आप जीमूं जदि हजूर भाई आप जीमवा बैठस्यों तो म्है जीमस्यां। जदि राणाजी भाई म्हारे गिरानी छे आप जीमों जदि आप उठ बैठया।"

अतः राणा प्रताप और मानसिंह की भेंट को केवल दन्तकथा कहकर अस्वीकार नहीं किया जा सकता। लेकिन इस भेंट के साथ मानसिंह का अपने 'फूफा' अकबर के साथ मेवाड़ आने की जो बात राणा प्रताप के मुख से परवर्ती चारण व भाटों के द्वारा कहलाई गई है वह अनेक युगों बाद प्रचलित होने वाली कल्पना का पुट दे दिया गया है। मानसिंह के असफल हो जाने के बाद ही बादशाह ने भगवन्तदास को प्रताप के पास भेजा था। तत्पश्चात् अकबर मानसिंह को उसके पिता के साथ बंगाल अभियान पर पटना तक ले गया था।

10.6 द्वितीय काल :

10.6.1. मेवाड़ और मानसिंह – मानसिंह के जीवन में मेवाड़ अभियान एक महत्वपूर्ण घटना थी। पहली बार मानसिंह को मुगल सेनापति बनाकर एक ऐसे शासक पर विजय करने भेजा गया था जो किसी भी तरह मुगलों की अधीनता स्वीकार करने को तैयार नहीं था। गुजरात से लौटने पर अकबर ने उसे 1576 ई. में 5 हजार घुड़सवार देकर मेवाड़ विजय के लिये रवाना किया। हल्दीघाटी के युद्ध में उसने प्रताप जैसे वीर को पराजिक कर पहाड़ों में शरण लेने के लिये बाध्य कर दिया। यद्यपि मानसिंह मेवाड़ के भूगोल से परिचित नहीं था और गोगुन्दा में मुगल सेना घिर गई थी, फिर भी मानसिंह

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

सफलतापूर्वक मेवाड़ से लौट गया था। मानसिंह अकबर की इच्छानुसार प्रताप को पकड़ कर दरबार में नहीं ले जा सका। हल्दीघाटी के अभियान में उसकी प्रतिष्ठा को कुछ चोट पहुंवी और कुछ समय तक अकबर भी उससे नाराज रहा किन्तु थोड़े ही समय में अकबर यह समझ गया कि मेवाड़ पर पूर्ण अधिकार पाना संभव नहीं है अतः उसने मानसिंह को अन्य महत्वपूर्ण स्थानों पर भेजना शुरू किया।

10.6.2. मानसिंह उत्तर–पश्चिम सीमा पर – प्रताप पर विजय पा लेने के बाद अकबर यह समझ गया था कि मानसिंह एक उपयोगी सेनापति है। अतः जब काबुल में विद्रोह हुआ तो अफगानों को दबाने के लिये अकबर ने मानसिंह को भेजा। अफगानों का सरदार स्वतंत्र होना चाहता था। साथ ही काश्मीर का शासक युसुफ खां उपद्रवियों से मिल गया था अतः मानसिंह को पंजाब भेजा गया। मानसिंह ने एक ही दौर में काश्मीर और काबुल के विद्रोहों का पूर्णतया दमन कर दिया। काबुल का शासक मिरजा हाकिम सिन्धु नदी के इस पार अपनी राज्यसत्ता बढ़ाना चाहता था अतः मानसिंह ने न केवल काश्मीर के विद्रोह का दमन किया वरन् काबुल के शासक मिरजा हाकिम को भी हराकर मुगल साम्राज्य में मिला लिया। इस प्रकार मानसिंह ने पश्चिमी सीमा की अव्यवस्था को दूर कर मुगल साम्राज्य को सुदृढ़ बनाया।

15 दिसम्बर, 1585 ई. को उसने काबुल पर विजय प्राप्त कर ली और मिरजा हाकिम के नाबालिक पुत्रों को बन्दी बनाकर अकबर के सामने प्रस्तुत किया। मानसिंह 1580–87 तक सीमा प्रदेशों में रहा किन्तु उसे यहां की जलवायु पसन्द नहीं आयी, अकबर ने उसकी सहायता के लिये अन्यु मुसलमान सूबेदार भी भेजे। मानसिंह को 1580 ई. में सिन्ध प्रदेश व पश्चिमी सीमा प्रदेशों का सूबेदार नियुक्त किया गया। पश्चिमी सीमा प्रदेश के सूबेदार के रूप में मानसिंह ने अपने प्रदेशों में पूर्ण शान्ति स्थापित की। मिरजा हाकिम ने मानसिंह को उखाड़ फेंकने के लिये विद्रोह किया किन्तु मानसिंह ने उसे लाहौर के किले में घेर लिया। इस प्रकार अपने 7 वर्ष के सीमा प्रदेशों की सूबेदारी के समय में मानसिंह ने विद्रोही मुसलमान सरदारों को दबाकर अपने अध ीन कर लिया और जो पठान सिन्ध नदी के उस पार विद्रोह कर रहे थे उनका पीछा कर नष्ट–भ्रष्ट कर दिया। अकबर इस प्राप्ति से बहुत प्रसन्न हुआ और उसने मानसिंह के मनसब की वृद्धि कर उसे 5 हजारी मनसबदार बना दिया। अतः अपने चौथे चरण में मानसिंह ने एक स्वतंत्र सेनापति की हैसियत से कार्य कर सीमा प्रदेशों के विद्रोह का पूर्णतया दमन किया।

10.6.3. मानसिंह काबुल में – जिस समय मानसिंह पंजाब, काश्मीर, सिंध में विद्रोह दबा रहा था उस समय काबुल के शासक मिरजा हाकिम ने लाहौर पर आक्रमण किया था और मानसिंह ने उसे पराजित कर भगा दिया था। अब अकबर ने यह आदेश दिया कि वह काबुल पर भी अपना अधिकार कर ले। मिरजा हाकिम को दबाने के लिये जुलाई 1581 ई. में शहजादा मुराद को काबुल भेजा गया। कुंवर मानसिंह भी उसके साथ था। दोनों ने मिलकर मिरजा को उत्तरी काबुल तक धकेल दिया और वापस पंजाब लौट आये। अकबर इस विजय से बहुज प्रसन्न हुआ और उसने मानसिंह को सिन्ध प्रदेश का सूबेदार बना दिया। थोड़े समय बाद 30 जुलाई, 1585 ई. में काबुल के शासक मिरजा की मृत्यु हो गयी तथा स्थानीय सामन्तों ने काबुल पर अधिकार कर लिया। अकबर ने इस स्थिति से लाभ उठाकर मानसिंह को काबुल विजय का आदेश दिया। मानसिंह ने आसानी से काबुल जीत लिया और मिरजा हाकिम के नाबालिग बच्चों को अच्छे ढंग से दरबार में प्रस्तुत किया। दीर्घकाल से काबुल, पंजाब, सिन्ध में रहने से मानसिंह का स्वास्थ्य खराब होने लगा साथ ही 6 वर्ष तक इन प्रदेशों में रहकर ऊब गया था अतः अकबर ने मानसिंह को काबुल से वापस बुला लिया।

10.6.4. राजा मानसिंह बंगाल के सूबेदार के रूप में – बिहार की सैनिक असफलताओं पर रिझ कर अकबर ने 1594 ई. में मानसिंह को सईद खाँ के स्थान पर बंगाल का सूबेदार बनाया। बंगाल में भी अफगान ही विद्रोह कर रहे थे। उनको दबाने हेतु मानसिंह ने योजनाबद्ध कार्य करना आंरम्भ किया। सर्वप्रथम, टाण्डा से हटाकर राजधानी राजमहल (अकबरपुर) बनाई। यहां की जलवायु उसको व उसकी सेना को अनुकूल पड़ती थी। इसके उपरान्त उसने ईसा खाँ सुलेमान का दमन किया। परन्तु अफगानों के विद्रोह पूर्वी बंगाल में यत्र–तत्र होते रहे। मानसिंह ने उनके दमन हेतु अपनी सैन्य–शक्ति को अपर्याप्त समझ अफगानों की बस्तियों को अग्नि–देवता के भेंट चढ़ाना आरम्भ कर दिया। उधर मानसिंह के पुत्र दुर्जन सिंह ने काकरूआ का दुर्ग विजित कर लिया। इसी समय कूंच बिहार में गृह–कलह आरंभ हो गया। वहां के राजा लक्ष्मण नारायण ने अपने भ्राता राघव के विरूद्ध मानसिंह से सहायता मांगी। उधर राघव ने ईसा खाँ से सहायता मांगी लक्ष्मण नारायण ने मानसिंह के साथ एक संधि (1596) करके मुगल प्रभुत्व स्वीकार कर लिया तथा अपनी बहिन अबला देवी का विवाह मानसिंह के साथ कर दिया। इस विवाह से मानसिंह को बंगाल के अन्य भागों पर अधिकार करने में बड़ी सहायता मिली। ईसा खाँ सहायता से राघव ने जब युद्ध छेड़ दिया तो मानसिंह ने 1597 में फतेह खाँ सूर के नेतृत्व में सैना भेजकर उन्हें परास्त कर दिया। इस प्रकार कूंच बिहार मुगल प्रभाव में आ गया। इस अभियान के उपरान्त मानसिंह बीमार पड़ गया। उसकी बीमारी का फायदा उठाते हुये। ईसा खाँ तथा मासूम खाँ काबूली ने विद्रोह किया। राजा मानसिंह ने हिम्मत सिंह के नेतृत्व में सेना

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

भेजी अफगान भयभीत हो जंगलों में भाग गये। मानसिंह की सेना ने अफगानों के प्रदेश को लूटा वहां बलबन के आंतकवादी नीति पर आचरण कर मानसिंह शांति स्थापना में सफल हो गया। इन सैनिक सफलताओं से मानसिंह ने यह धारणा बना ली थी कि वह बंगाल में शांति स्थापित करने में सफल हो गया है परन्तु उसकी यह धारणा गलत सिद्ध हुई वह बंगाल के जिस भाग में शांति स्थापित कर दूसरे भाग में जाता तो उसी भाग में पुनः विद्रोह हो जाता था। इसके साथ ही इन विद्रोंहो को दबाने में उसके दो पुत्र (दुर्जनसिंह व हिम्मतसिंह) भी काम आ गये। वह स्वयं भी भंयकर रुप से बीमार पड़ चुका था। इसी कारण वह अब बंगाल से दूर रहना चाहता था। इसलिए 1598 ई. में उसने सम्राट अकबर से प्राथना की कि वह उसे अजमेर रहने की अनुमति प्रदान कर दे। वह अजमेर में रहता हुआ भी बंगाल की देखभाल कर लेगा। सम्राट ने उसे अजमेर आने की अनुमति दे दी। अकबर भी मानसिंह को अजमेर रखना चाहता था क्योंकि शाहजादा सलीम का व्यवहार दिन पर दिन उसके विरुद्ध होता जा रहा था। सम्राट की आज्ञा मिलते ही मानसिंह अजमेर आ गया और बंगाल की देख–रेख का कार्य वह अपने पुत्र जगतसिंह को सौंप आया। परन्तु 1599 ई. में जगतसिंह की आकस्मिक मृत्यु हो गई। इस मृत्यु से मानसिंह को महान धक्का लगा।

मानसिंह का बंगाल पुनः जाना– 1600 में अकबर दक्षिण में असीरगढ़ दुर्ग लेने मे व्यस्त था। उधर इलाहाबाद में सलीम ने बगावत का झण्डा खड़ा कर दिया था। मुगल–साम्राज्य को इस प्रकार संकटग्रस्त देख बंगाल के बागियों ने पुनः विद्रोह करना आरम्भ कर दिया और सम्राट के बख्शी अब्दुल रज्जाक को उन्होंने बन्दी बना लिया। इस प्रकार के वातावरण में मानसिंह को पुनः बंगाल भेजा गया। 12 फरवरी, 1601 को बागियों को शेरपुर के समीप परास्त कर उसने बख्शी रज्जाक को मुक्त कराया। इसके उपरान्त वह अफगान विद्रोहियों पर टूट पड़ा। उसने मासूम खॉं के पुत्र शुजा को आत्म–समर्पण करने को बाध्य किया। इसके पश्चात उसने ढाका के राजा केदार राय के विक्रमपुर के समीप परास्त कर मुगल सम्राट की अधीनता स्वीकार करने को बाध्य किया। इसके उपरान्त उसने विक्रमपुर के अफगानों के विद्रोह को दबाया।

10.6.5. मानसिंह का आगरा आना और सम्राट अकबर की मृत्यु – अकबर के अन्तिम दिन अत्यन्त चिन्ता तथा निराशा में व्यतीत हुए। सम्राट अकबर की माता 24 अगस्त, 1604 ई. को इस लोक से चल बसी। इसका सम्राट को अत्यधिक दुःख हुआ। उधर शाहजादा सलीम दिन पर दिन सम्राट की आज्ञाओं की अवज्ञा कर रहा था। सम्राट सलीम की बगावत दबाने के लिए स्वयं इलाहाबाद के लिए रवाना हुआ । परन्तु मार्ग में ही उसे राजकुमार दानियाल की मृत्यु (11 मार्च, 1605) की खबर लगी। अतः वह आगरे लौट आया। सलीम ने आगरा आकर क्षमा जरूर मांग ली, पर वह अपनी आदत से बाज नहीं आया। इस प्रकार के निराशाजनक वातावरण में अकबर सितम्बर, 1605 में गम्भीर रुप से बीमार पड़ गया। अपना अन्तिम समय समीप देखकर सम्राट ने मानसिंह को बंगाल से आगरा बुला लिया। मानसिंह को आगरा बुलाकर अकबर ने पौत्र खुसरो का उसे संरक्षक बना दिया। इसके साथ ही उसे अपना स्वामीभक्त बनाये रखने के लिए 7000 का मनसब भी बना दिया। यह मानसिंह के उत्कर्ष का चरमकाल था। 7000 का मनसब केवल शहजादा ही बन सकता था। किसी भी हिन्दू का सम्मान इतना नहीं हुआ जितना कि मानसिंह का मुगल दरबार में हुआ। 15 अक्टूबर, 1605 ई. को सम्राट अकबर महान इस दुनिया से चल बसा। उसकी मृत्यु के साथ ही मानसिंह की मुगल–सेवा का दूसरा काल भी समाप्त हो गया। उसके जीवन में भी अब उतार–चढ़ाव दृष्टिगत होने लगे।

10.7 तृतीय काल :

10.7.1. बिहार की सूबेदारी –1589 ई के पश्चात् मानसिंह ने आमेर के शासक के रूप मे मुगल साम्राज्य को अपनी अमूल्य सेवाएँ प्रदान की। वस्तुतः यहाँ से मानसिंह की उपलब्धियों का गौरवपूर्ण इकाई आरम्भ होता है। राज्याभिषेक के पश्चात् आमेर से वापस लौटकर मानसिंह ने बिहार के विद्राही सरदारों का सफलतापूर्वक दमन किया। इस समय बिहार में गिधौर, हाजीपुर तथा खड़गपुर के विद्रोही सरदार मुगलों की सत्ता को चुनौती दे रहे थे।अतः मानसिंह न सर्वप्रथम गिधौर पर आक्रमण करके वहाँ के शासक पूरणमल को पराजित कर दिया। पूरणमल ने अकबर की अधीनता स्वीकार कर ली तथा उसने अपनी पुत्री का विवाह मानसिंह के भाई चन्द्र–भान से कर दिया। इसके बाद मार्च, 1590 ई. में मानसिंह ने खड़गपुर के राजा संग्रामसिंह को पराजित किया और उसे मुगलों की अधीनता स्वीकार करने पर बाध्य किया। इसके अतिरिक्त मानसिंह ने हाजीपुर के शासक गणपत को भी पराजित किया और हाजीपुर की मुगल–साम्राज्य में सम्मिलित कर लिया। इसके पश्चात् मानसिंह ने दक्षिण विहार की ओर ध्यान दिया। इस समय इस क्षेत्र में गया जिले के अनन्तचेरु और शम्भूपुरी के शासकों ने अव्यवस्था फैला रखी थी। अतः मानसिंह ने इन प्रदेशों पर आक्रमण करके वहां के शासकों को पराजित किया। मानसिंह की दक्षिण विहार में व्यवस्तता का लाभ उठाकर बंगाल के दो विद्रोहियों–कुली और कचेर ने पूर्वी विहार पर आक्रमण करके पूर्निया और ताजपुर में आकर लूटमार की और दरभंगा पर आक्रमण कर दिया। इसके पश्चात् ये विद्रोही हाजीपुर की ओर बढ़े जिससे

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

पटना की सुरक्षा संकटग्रस्त हो गई। किन्तु पटना के कार्यवाहक शासक मानसिंह के पुत्र जगतसिंह ने विद्रोहियों को मार भगाया। कुछ समय बाद मानसिंह भी हाजीपुर की ओर आ गया। इस प्रकार मानसिंह ने अपनी वीरता और योग्यता से बिहार में शान्ति और सुव्यवस्था स्थापित करने में सफल रहा इन विजयो में मानसिह को अपार धन और बहुमूल्य वस्तुएँ प्राप्त हुई थी जिन्हें उसने अकबर को भंट स्वरूप भेज दिया। अबुल फजल ने 'अकबरनामा' में मानसिंह की बिहार की उपलब्धियों की भूरि–भूरि प्रशंसा की है।

10.7.2. उड़ीसा के विद्रोहियों का दमन — बिहार में शान्ति और व्यवस्था स्थापित करने क बाद मानसिंह ने उड़ीसा की ओर ध्यान दिया। 1583 ई. में अफगान कतलुखाँ उड़ीसा का शासक बन बैठा था और इस समय अफगान मुगल सत्ता को चुनौती देते हुये वहाँ अराजकता फैला रहे थे। अतः अप्रैल 1589 ई. में मानसिंह उड़ीसा विजय के लिये पटना से रवाना हुआ। अकबर ने बंगाल का तोपखाना भी मानसिंह की सहायतार्थ भेज दिया। मानसिंह आगे बढ़कर जहाना पहुँच गया। दूसरी ओर कतलुखाँ ने रामपुर दुर्ग पर आक्रमण के लिये एक सेना भेज दी। इस पर मानसिंह ने अपने पुत्र जगतसिंह कतलुखां के विरूद्ध भेजा, किन्तु अनुभव और कूटनीतिज्ञता के अभाव में जगतसिंह कतनुखाँ से पराजित होकर बुरी तरह घायल हो गया। अतः मानसिंह ने स्वयं कतलुखाँ पर आक्रमण करने का निश्चय किया, किन्तु मानसिंह क आक्रमण के पूर्व ही कतलुखां की मृत्यु हो गई और उसका पुत्र नासिर खाँ उड़ीसा का शासक बना। नासिरखाँ ने मुगलों की अधीनता स्वीकार कर ली और उसने 150 हाथी तथा अनेक कीमती उपहार मानसिंह को भेंट किया और अकबर के नाम का खुतवा पड़वाना स्वीकार कर लिया तथा पुरी का जिला और वहाँ का प्रसिद्ध जगन्नाथ मन्दिर मानसिंह को सौंप दिये। इस सफलता के पश्चात् मानसिंह बिहार लौट आया।

किन्तु नासिरखाँ की अधीनता अल्पकालीन सिद्ध हुई। वस्तुतः नासिरखाँ को मुगल आधिपत्य में लाने में उसके वजीर ख्वाजा ईसा का महत्वपूण योगदान था अन्यथा नासिरखाँ ने मुगल आधिपत्य को हृदय से स्वीकार नहीं किया था। अतः ईसा की मृत्यु होते ही अफगानो ने पुनः विद्रोह कर दिया और जगन्नाथ के मन्दिर को नष्ट–भ्रष्ट कर डाला। यहीं नहीं उन्होंने घायल जगतसिंह को आश्रय देने वाले विष्णुपुर के राज्य पर भी आक्रमण कर दिया। मानसिंह अफगानों के इस कृत्य से क्रोधित हो उठा और उसने अकबर से अनुमति लेकर 1591 ई. में पुनः उड़ीसा पर आक्रमण कर दिया। इस बार बंगाल के सूबेदार सईदखाँ ने भी मानसिंह को सहयोग, दिया। अफगानों ने मानसिंह से पुनः सन्धि वार्ता आरम्भ करने का प्रयत्न किया, किन्तु मानसिंह इस बार उनकी चाल में नहीं फँसा। अप्रैल, 1592 ई. करे जलेसर से 20 किलोमीटर दूर बीनापुर (मलनापुर) के युद्ध में उसने अफगानो को बुरी तरह पराजित किया। इसी समय सईदखाँ मानसिंह का साथ छोड़कर बंगाल लौट गया, किन्तु मानसिंह ने आगे बढ़कर अफगानो का पीछा किया और अन्य स्थानीय जमींदारों को भी मुगल अधीनता स्वीकार करने के लिये बाध्य किया। उसने आगे बढ़कर कटक पर अधिकार कर लिया। इस समय अफगान सारनगढ़ में अपनी शक्ति संगठित करने का प्रयत्न कर रहे थे।अतः मानसिंह ने 30 मई को सारनगढ़ पर भी अधिकार कर लिया।इसके पश्चात् वह खुर्दा की ओर बढ़ा किन्तु अकबर की ओर से खुर्दा के प्रति उदारता अपनाने के निर्देश मिलने के कारण मानसिंह की प्रगति अवरूद्ध हो गई। किन्तु खुर्दा के शासक रामचन्द्र देव नेस्वयं मानसिंह के समक्ष उपस्थित होकर मुगल अधीनता स्वीकार कर ली और अपनी पुत्री अक्षय देवी का विवाह मानसिहं के साथ कर दिया। इसके साथ ही मानसिंह की उड़ीसा विजय पूर्ण हो गई। कुछ समय बाद उसने उड़ीसा और तेलगांना के मध्य में स्थित मानपुर के दुर्ग पर भी अधिकार कर लिया। इस बीच कुछ अफगान विद्रोहियों और जमींदारों ने सतगाँव के आस–पास विद्रोह कर लिया। किन्तु मानसिंह ने उनका दमन कर दिया। इसके पश्चात् वह बिहार और उड़ीसा में शान्ति और व्यवस्था स्थापित करने में व्यस्त हो गया। इसी समय 1594 ई. में अकबर ने उसे नववर्ष के समारोह के सम्मिलित होने के लिये लाहौर बुला भेजा। तद्नरूप 23 फरवरी, 1594 ई. को मानसिंह लाहौर में अकबर के समक्ष उपस्थित हुआ जहाँ उसका भव्य स्वागत किया गया।

10.7.3. बंगाल की सूबेदारी — बिहार के सूबेदारी के रूप में मानसिंह की सेवाओं से प्रसन्न होकर अकबर ने 17 मार्च, 1594 ई.को सईदखाँ के स्थान पर मानसिंह को बंगाल का सूबेदार बना दिया। बंगाल में भी इस समय विद्रोही अफगान सरदार मुगल सत्ता को चुनौती दे रहे थे। उनसे प्रोत्साहन पाकर स्थानीय जमींदार भी मुगलों की सत्ता की अवहेलना करने लग गये थे। मई, 1594 ई.को मानसिंह बंगाल के लिये रवाना हुआ। वहाँ पहुँचकर उसने विद्रोहियों के दमन की निश्चित योजना बनाई। सर्वप्रथम उसने टांडा के स्थान पर राजमहल (अकबरपुर) को बंगाल की राजधानी बनाया। इसके पश्चात् उसने अपने पुत्र हिम्मतसिंह को अफगान विद्रोही ईसाखाँ सुलेमान के विरूद्ध भेजा जिसने अफगानों से बुस्ना का दुर्ग छीन लिया। किन्तु अफगान इसके बाद भी बंगाल में यत्र–तत्र विद्रोह करते रहे। अतः मानसिंह ने उनके प्रति कठोर नीति अपनाई और उनके अफगान बस्तियों को अग्निदेव की भेंट चढ़ा दिया। इसी समय कूचबिहार में उत्तराधिकार संघर्ष आरम्भ हो गया और वहाँ के शासक लक्ष्मीनारायण ने अपने चचेरे भाई राघवदेव (पतकुँवर) के विरूद्ध मानसिंह से सहायता की याचना की। दूसरी ओर

Jain Vishva Bharati Institute Deemed University Ladnun

राघवदेव ने विद्रोही सरदार ईसाखाँ से सहायता माँगी। लक्ष्मीनारायण ने मानसिंह से एक सन्धि करके मुगल आधिपत्य स्वीकार कर लिया और अपनी बहिन का विवाह मानसिंह के साथ कर दिया। इस संधि से राघवदेव से अत्यन्त क्रुद्ध हुआ और उसने ईसाखाँ की सहायता से लक्ष्मी नारायण पर आक्रमण कर दिया। इस पर मानसिंह ने फतेहखाँ सूर के नेतृत्व में एक सेना लक्ष्मीनारायण की सहायता के लिये भेजी जिसने 3 मई, 1597 ई. को राघवदेव को पराजित कर दिया। राघवदेव भागकर ईसाखाँ की शरण में चला गया। इस प्रकार कूचबिहार पूर्णतया मुगलों के प्रभाव में आ गया। इस बीच मार्च, 1597 ई. में मानसिंह के पुत्र हिम्मतसिंह की मृत्यु हो गई। मानसिंह इस आघात से बीमार पड़ गया। उसकी अस्वस्थता का लाभ उठाकर ईसाखाँ और मासूमखाँ काबुली ने व्रिदोह करके कूचबिहार के बड़े भाग पर अधिकार कर लिया। इस पर मानसिंह ने अपने पुत्र दुर्जनसिंह को एक सेना सहित इस विद्रोह का दमन करने भेजा। किन्तु दुर्जनसिंह पराजित होकर मारा गया। इस पर मानसिंह का क्रोध ा भड़क उठा और उसने अफमानों को समूल नष्ट करने का निश्चय कर लिया। किन्तु इस बार ईसाखों ने भयभीत होकर मानसिंह के साथ सन्धि कर ली।

बंगाल की सूबेदारी मानसिंह के लिये अशुभ और दुर्भाग्यपूर्ण सिद्ध हुई। बंगाल के विद्रोही सूखे मृग चर्म के समान थे जो एक स्थान में दबाने पर दूसरी जगह से उठ जाता है। मानसिंह एक स्थान पर विद्रोह का दमन करता तो दूसरे स्थान पर विद्रोह हो जाता था। अतः अथक प्रयासों के बाद भी वहां पूर्ण शांति स्थापित नहीं कर पाया। यही नहीं बंगाल की सूबेदारी के मध्य उसके दो पुत्रों–मानसिंह और दुर्जनसिंह की भी मृत्यु हो गयी थी। प्रतिकूल जलवायु के कारण मानसिंह स्वयं निरन्तर अस्वस्थ रहता था। अतः वह बंगाल की सूबेदारी के दायित्व से मुक्त होने का इच्छुक था। अतः उसने सम्राट अकबर से आमेर रहने की अनुमति माँगी। संयाग से मई, 1597 ई. में मासूम खाँ काबुली की मृत्यु हो जाने से मानसिंह की एक प्रमुख विद्रोही से स्वतः ही मुक्ति मिल गई। जून, 1599 ई. में वह अवकाश लेकर आगरा आ गया। सितम्बर, 1599 ई. में ईसाखां की भी मृत्यु हो गई। अतः 1599 ई. मे मानसिंह को आमेर में रहने की अनुमति मिल गई।

मानसिंह की अनुपस्थिति मे अकबर ने उसके पुत्र जगतसिंह को बंगाल का दायित्व सौंपा। किन्तु अक्टूबर 1599 ई. को जगतसिंह की आगरा में मृत्यु हो गई। इस पर जगतसिंह के पुत्र महासिंह को उसके चाचा संग्रामसिंह के संरक्षण में बंगाल भेजा गया। मानसिंह की अनुपस्थिति में बंगाल में अफगानों की गतिविधियाँ पुनः तेज हो गई और उन्होनें बंगाल के अनेक प्रदेशों पर अधिकार कर लिया। संग्रामसिंह इनके दमन में असफल रहा। अतः अकबर के आदेश से मानसिंह को पुनः बंगाल जाना पड़ा। फरवरी,1601 ई. में उसने विद्रोहियों को पराजित करके रज्जाक को मुक्त करवाया। उसके पश्चात् वह मासूमखाँ के पुत्र शुजा और लचीन ककशाल के पुत्र सैयद के आत्मसमर्पण करने तक निरन्तर अफगानों से युद्ध करता रहा। इसके बाद उसने ढाका के शासक केदारराय को मुगल अधीनता स्वीकार करने के लिये बाध्य किया। इसके पश्चात् उसने विक्रमपुर, सरहानपुर व अफगानों के विद्रोहों का दमन किया।

सितम्बर, 1605ई. में अकबर आगरा में गम्भीर रूप से बीमार पड़ गया। अपना अन्तिम समय निकट जानकर अकबर ने मानसिंह को बंगाल से आगरा बुला भेजा। अकबर के आदेश पर मानसिंह अगस्त, 1605 ई. में आगरा पहुँचा और सम्राट से भेंट की। अकबर मानसिंह के सेवाओं से अत्यन्त प्रसन्न था। अतः उसने उसे 7000 जात और 6000 सवार मनसब प्रदान किया। यह पहला अवसर था जब किसी हिन्दू सेनानायक को इतना उच्च पद दिया गया था। प्रायः 5000 से अधिक का मनसब केवल मुगल राजकुमारों तथा शाही घराने के लोगों को ही दिया जाता था। यही नहीं अकबर ने मानसिंह को सलीम (जाहँगीर) के पुत्र खुसरों का संरक्षक बना दिया और उसके पौत्र महासिंह के मनसब में भी वृद्धि कर दी। **डॉ. राजीव नयन प्रसाद** का कथन है कि "मानसिंह अपनी शक्ति और यश की चरम सीमा पर पहुँच चुका था। सात हजारी मनसब प्राप्त करके वह मुगल–दरबार का अत्यन्त प्रभावशाली सरदार बन गया था।वह मुगल–साम्राज्य का श्रेष्ठ सेनानायक था।" वस्तुतः 1605 ई. में मानसिंह अपनी शक्ति और प्रतिष्ठा के सर्वोच्च शिखर पर था।

अक्टूबर, 1605 ई. में अकबर की मृत्यु हो गई। कतिपय विद्धानों की मान्यता है कि अकबर की मृत्यु के पश्चात् मानसिंह ने शहजादे सलीम को बन्दी बनाने और उसके पुत्र खुसरो (जो मानसिंह का भान्जा भी था) को मुगल सिंहासन पर बिठाने का षड़यन्त्र रचा था। किन्तु इसके निश्चित प्रमाण नहीं मिलते। फिर भी यदि ऐसा हुआ था तो यह कार्य मानसिंह के साहस और मुगल दरबार में उसकी महत्ता का ही परिचायक था।

10.8. मानसिंह और जहाँगीर :

अकबर की मृत्यु के पश्चात् उसका पुत्र सलीम जहाँगीर के नाम से मुगल सम्राट बना। अकबर के जीवनकाल में ही मानसिंह और जहाँगीर (सलीम) के मध्य मनमुटाव हो गया था। सम्भवतः मानसिंह ने जहाँगीर के राज्यारोहण के विरूद्ध षड़यन्त्र

भी किया था। किन्तु गद्दी पर बैठने के बाद उसने अपने पुत्र खुसरो और उसके सहयोगियों को क्षमा कर दिया, फिर भी जहाँगीर के मन में मानसिंह के प्रति सन्देह बना रहा।

बंगाल की तीसरी सूबेदारी – वस्तुतः राजधानी में मानसिंह की उपस्थिति जहाँगीर के लिये असह्य थी। अतः राज्यारोहण के कुछ दिनो बाद ही 10 नवम्बर, 1605 ई. को जहाँगीर ने अनेक बहुमुल्य उपहारों के साथ मानसिंह को पुनः बंगाल का सूबेदार बनाकर भेज दिया। बंगाल में मानसिंह की यह तीसरी सूबेदारी थी। किन्तु जहाँगीर को मानसिंह पर पुरा विश्वास नहीं था। अतः उसने मानसिंह को बंगाल की निजामत (शान्ति और व्यवस्था) का दायित्व ही सौंपा और दीवानी (राजस्व) का कार्य अन्य अधिकारी वजीरखाँ के सुपुर्द किया गया। मानसिंह को बंगाल पहुँचते ही अफगान विद्रोहियों का सामना करना पड़ा। किन्तु मानसिंह इन विद्रोहों को दबाने में असफल रहा। कतिपय विद्धानों की मान्यता है कि मानसिंह की असफलताओं से क्षुब्ध होकर जहाँगीर ने उसे बिहार भेज दिया जबकि कुछ विद्धानों की मान्यता है कि मानसिंह बर्दवान के फौजदार शेर अफगन की पत्नी मेहरून्निमा को प्राप्त करने के लिये जहाँगीर द्धारा किये जा रहे षड्यन्त्र में सहयोगी नहीं बन रहा था, अतः जहाँगीर ने उसे बंगाल से बिहार स्थानान्तिरत कर दिया। चूँकि मानसिंह इससे पूर्व अफगानों के अनेक विद्रोहों का दमन कर चुका था, अतः दूसरा मत ही सत्य प्रतीत होता है।

10.8.1. बिहार की सूबेदारी–सम्राट् की नाराजगी और मेलमिलाप – बिहार आने के बाद मानसिंह अकबर द्धारा प्रदत्त रोहतास की जागीर में रहने लगा। कुछ समय बाद जहाँगीर ने मानसिंह को काबुल के दरबार में उपस्थित होने का आदेश दिया। किन्तु वृद्धावस्था और अस्वस्थता के कारण मानसिंह ने काबुल पहुँचने में जानबूझ कर विलम्ब कर दिया। इससे रूष्ट होकर जहाँगीर ने उससे रोहतास की जागीर छीन ली। अन्त में, फरवरी 1608 ई. मे मानसिंह आगरा के निकट शाही दरबार में उपस्थित हो गया। शीघ्र ही जहाँगीर की नाराजगी भी दूर हो गई जहाँगीर को प्रसन्न करने के लिये मानसिंह ने अपनी पौत्री (जगतसिंह की पुत्री) का विवाह जहाँगीर के साथ कर दिया। जहाँगीर ने भी अपने अस्तबल का सर्वश्रेष्ठ अरबी घोड़ा मानसिंह को भेंट में दिया और उसके पौत्र भावसिंह के मनसब में वृद्धि कर दी। इसके पश्चात् वह आगरा में रहने लगा।

10.8.2. मानसिंह दक्षिण में – अकबर की मृत्यु के पश्चात् दक्षिण भारत में मुगल सत्ता के विरूद्ध पुनः विद्रोह होने लगे थे। मानसिंह के आगरा आने के कुछ समय पूर्व ही जहाँगीर ने अब्दुर्ररहीम खानखाना को दक्षिण का सूबेदार नियुक्त किया था। किन्तु वह वहाँ के विद्रोह को दबाने में असफल रहा। अतः जहाँगीर ने अपने पुत्र परवेज और अन्य सेनानायकों के साथ मानसिंह को भी खानखाना की सहायतार्थ ससैन्य दक्षिण में जाने के आदेश दिये। यह आदेश मानसिंह का सीधा अपमान था क्योंकि मानसिंह 1586 ई. से स्वतन्त्र रूप से सेना का सेनापतित्व कर रहा था। किन्तु इस बार उसे उस खानखाना के अधीन कार्य करना था, जो उसे दादाजी कहकर बुलाता था। यह मानसिंह के स्वामिभान पर गहरी चोट थी। किन्तु मानसिंह ने विवशता वश इस अपमान का घूँट पी लिया। सैनिकों की भर्ति के बहाने वह कुछ समय के लिये आमेर आ गया, किन्तु अन्त में, 1609 ई. में उसे दक्षिण की ओर जाना पड़ा। मार्च, 1610ई. को अहमदनगर में मुगल सेना को मलिक अम्बर से युद्ध हुआ, किन्तु खाद्य सामग्री, मुगल सेनापतियों में समन्वय और कुशल नेतृत्व के अभाव में मुगल सेना इस युद्ध में बुरी तरह पराजित हुई। नेतृत्व न सौंपे जाने के कारण मानसिंह भी इस युद्ध में अपनी विशेष कुशलता का प्रदर्शन नहीं कर सका। तीन युवा पुत्रों की मृत्यु, जहाँगीर के उपेक्षापूर्ण व्यवहार और ढलती उम्र के कारण मानसिंह का ह्रदय और शरीर दोनों ही विदीर्ण हो गये थे। अंत में, 6 जुलाई, 1614 ई. में दक्षिण में एलिचपुर नामक स्थान पर वह इस लोक से बिदा हो गया।

10.9. मानसिंह का मूल्यांकन एवं सारांश :

राजा मानसिंह अपने समय का एक परिक्रमी सैनिक, साहसी कुशल सेनानायक, चतुर राजनीतिज्ञ तथा सुयोग्य प्रशासक था। वह अकबरी दरबार के नवरत्नों में से एक था। राजा भारमल ने राजपूत–मुगल सहयोग की जो आधारशिला रखी थी, मानसिंह ने उसको सुदृढ़ बनाया। उसने मुगल साम्राज्य के विस्तार एवं संगठन में अपनी बहुमूल्य सेवाएं प्रदार की। वास्तव में वह साम्राज्य का एक मुख्य स्तम्भ था। 1562 ई. में जब वह केवल 12 वर्ष का ही था, उसे शाही सेवा में ले लिया गया। 1569 ई. से उसे सैनिक अभियान में शामिल किया जाने लगा। रणथम्भौर अभियान में उसे विशेष काम नहीं सौंपा गया। सरनाल के युद्ध में उसे शाही सेना के हरावल का नेतृत्व दिया गया इसके बाद उसे कूटनीतिक काम सौंपा गया– राणा प्रताप से भेंट कर उसे मुगलों की अधीनता स्वीकार करने के लिए तैयार करने का। इसके बाद 1576 ई. में उसे राणा प्रताप के विरूद्ध सैनिक अभियान का नेतृत्व प्रदान किया गया और इसी अभियान के दौरान हल्दीघाटी का सुप्रसिद्ध युद्ध लड़ा गया। 1580 ई. में उसे पंजाब तथा काबुल भेजा गया और इसी वर्ष उसे सिन्धु नदी के प्रदेश का प्रशासक भी नियुक्त किया गया। इस पद पर रहते हुए उसने मिर्जा हकीम के सेनानायकों के विरूद्ध शानदार सफलताएं प्राप्त की जिससे प्रसन्न होकर अकबर

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

ने उसे काबुल का सूबेदार नियुक्त किया। इस पद पर रहते हुए उसने सरहदी जातियों– रौशनियों, यूसुफजाइयों आदि का दमन कर शान्ति और व्यवस्था कायम की।

दिसम्बर, 1857 ई. में बिहार जाने के बाद लगभग बीस वर्षो तक वह निरन्तर बिहार अथवा बंगाल सूबे का सूबेदार बना रहा तथा उड़ीसा प्रदेश को जीतने, पूर्वी बंगाल के विद्रोहियों का दमन कर, उस क्षेत्र में मुगल प्रभुत्व को सुदृढ़ बनाकर शान्ति एवं अव्यवस्था को स्थापित करने में उसने महत्वपूर्ण भूमिका अदा की। मानसिंह की इन महत्वपूर्ण सेवाओं से प्रसन्न होकर ही अकबर ने उसे 'फर्जन्द' और 'मिर्जा राजा' की उपाधियां प्रदान की थी। इसके अलावा अकबर ने उसे सात हजारी मनसब भी प्रदान किया। उस समय तक इतना ऊँचा मनसब केवल मुगल राजकुमारों तथा शाही घराने के व्यक्तियों के लिए ही सुरक्षित रखा जाता था। स्पष्ट है कि अकबर को राजा मानसिंह में कितना विश्वास था और मानसिंह ने भी उसके विश्वास का प्रतिफल निष्ठा से चुकाया। उसने अत्यधिक कठिन परिस्थितियों में भी उसके विश्वास का प्रतिफल निष्ठा से चुकाया। उसने अत्यधिक कठिन परिस्थितियों में भी साम्राज्य की सेवा की। इसी भावना से प्रेरित मानसिंह ने हल्दीघाटी में राजपूतों के विरूद्ध लड़ने में भी किसी प्रकार की हिचकिचाहट नहीं दिखाई। परन्तु राणा प्रताप जैसे शूरवीर एवं स्वतंत्रता प्रेमी का सम्मान करते हुए विजय के बाद न तो उसका और न उसके सैनिकों का पीछा किया और न ही मुगल सैनिकों को राणा के अधिकृत क्षेत्रों को उजाड़ने की स्वीकृति दी। इसके लिए उसे अकबर की प्रताड़ना भी सहन करनी पड़ी। फिर भी, मानसिंह को अपने कृत्य पर पश्चाताप नहीं हुआ। इस सम्पूर्ण प्रकरण में उसने एक आदर्श राजपूत की भूमिका अदा की थी।

यद्यपि राजकुमार खुसरो के प्रति मानसिंह के विशेष झुकाव के कारण जहांगीर उससे प्रसन्न नहीं था, फिर भी, उसके शासनकाल में मानसिंह का मनसब तथा उसकी पराकाष्ठा बनी रही, भले ही उसे सेना की स्वतंत्र कमान न सौंपी गई हो। मानसिंह के शासनकाल में आमेर के कछवाहा राज्य की सीमाओं में तो कोई उल्लेखनीय परिवर्तन नहीं हुआ, परन्तु काबुल, बिहार और बंगाल की दीर्घकालीन सूबेदारी के परिणामस्वरूप कछवाहा राजघराने की धन–सम्पत्ति एवं समृद्धि में अपार वृद्धि हुई और आर्थिक सम्पन्नता की दृष्टि से वह राजपूताना का प्रमुख राजघराना बन गया। वस्तुतः अकबर के साथ आमेर घराने का सहयोग कछवाहों के लिए वरदान सिद्ध हुआ। राजा भगवन्तदास और मानसिंह के अलावा उसके कई भाई–भतीजों एवं सम्बन्धियों को भी बड़े–बड़े मनसब तथा महत्वपूर्ण उच्च पद प्राप्त हुए जिसके परिणामस्वरूप कछवाहों की समृद्धि और प्रतिष्ठा में वृद्धि हुई।

मानसिंह एक धार्मिक व्यक्ति था। उसे अपने धर्म में गहरी आस्था थी। चारों तरफ इस्लाम का बोलबाला होने तथा कट्टर मुसलमानों के बीच रहते हुए भी हिन्दू धर्म के प्रति उसकी यह निष्ठा कभी नही डगमगाई। जनश्रुति के अनुसार जब वह बंगाल में था तो फकीर शाह दौलत ने उससे कहा था कि आप मुसलमान क्यों नहीं जो जाते। इस पर उसने मुस्कराते हुए उत्तर दिया, ''अल्लाह ने जब दिल पर मोहर कर दी है (हिन्दू धर्म की) तब मैं उसको तोड़ने की गुस्ताखी क्यों करूँ?'' अकबर ने जब 'दीन–ए–इलाही' का प्रतिपादन किया, तब अकबर ने अपने स्वामिभक्त मानसिंह से भी इसका अनुयायी अनने का आग्रह किया था। लेकिन मानसिंह ने कहा ''यदि अनुयायी (दीन–ए–एलाही) होने का अर्थ उसके लिए जीवन का बलिदान करना है तो मैं अपनी जान पहले ही हथेली पर लिए घूम रहा हूं, इससे अधिक और क्या प्रमाण चाहिये? यदि इसका अर्थ निष्ठा से है, तो मैं निश्चित रूप से हिन्दू हूं।'' इससे स्पष्ट है कि मानसिंह राजनैतिक मामलों में अपने सम्राट अकबर का आज्ञाकारी था, लेकिन धार्मिक मामलों में उसका अपना स्वतंत्र दृष्टिकोण था।

10.10. बोध प्रश्न :

प्रश्न 1 मानसिंह का जन्म कहां हुआ?

अ. मगरासर ब. मौजमाबाद

स. नागौर द. चित्तौड़गढ़

उत्तर – ....

प्रश्न 2 आमेर के मानसिंह के चरित्र का मूल्यांकन करिये।

उत्तर – ....

प्रश्न 3 मानसिंह की प्रमुख उपलब्धियों पर विस्तृत विवेचन कीजिए।

उत्तर – ....

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

इकाई – 11
बीकानेर का रायसिंह

संरचना

11.0 उद्देश्य
11.1 बीकानेर की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि
    11.2.1 राव कल्याणमल द्वारा बीकानेर पर पुनः अधिकार करना
    11.2.2 कल्याणमल का अकबर से सम्पर्क में आना तथा रायसिंह की मुगल सेवा का मार्ग प्रशस्त होना
11.3 रायसिंह का गद्दी पर बैठना
    11.11.1 मुगल सेवा के लिये बाध्य करने वाली परिस्थितियां
11.4 रायसिंह की मुगल सेवाएँ
11.5 प्रथम काल – कुँवर के रूप में रायसिंह की सेवाए (1570–1574 ई.)
    11.5.1 जोधपुर के प्रशासक के रूप में
    11.5.2 मिर्जा बन्धुओं का दमन
11.6 द्वितीय काल (1574–1605 ई.)
    11.6.1 चन्द्रसेन के विरूद्ध अभियान
    11.6.2 रायसिंह और देवड़ा सुरताण
    11.6.3 उत्तर–पश्चिम सीमान्त प्रदेश जाना
    11.6.4 दक्षिण भारत में मुगल–सेवा
    11.6.5 अकबर के अन्तिम दिनों में रायसिंह
    11.6.6 शहजादा सलीम का विद्रोह ओर मुगल दरबार की राजनीति
    11.6.7 रायसिंह और जहाँगीर
11.7 रायसिंह का व्यक्तित्व और सारांश
    11.7.1 स्वामीभक्त वीर
    11.7.2 कुशल प्रशासक
    11.7.3 निर्माता रायसिंह
    11.7.4 साहित्यकार रायसिंह
    11.7.5 उदार व दानी रायसिंह
11.8 बोध प्रश्न

11.0 उद्देश्य :

रायसिंह की मुगलों के साथ की गई सहयोग की नीति को तथा उसके विभिन्न विजय अभियानों को इस इकाई में विस्तारपूर्वक विवेचित किया गया है।

11.1. बीकानेर की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि :

राठौड़ों के प्रभुत्व में आने से पूर्व बीकानेर राज्य का प्रदेश 'जांगल' प्रदेश कहलाता था। यह मारवाड़ के उत्तर में स्थित है। महाभारत काल में यह 'कुरु प्रदेश' के अन्तर्गत था। मारवाड़ के राजा जोधा जी के 6 रानियाँ व 17 पुत्र थे। बीकानेर का संस्थापक राव बीका राव जोधा का दुसरा पुत्र था। राव जोध का ज्येष्ठ पुत्र नीबा उसके जीवन–काल में ही इस लोक से चल बसा था। अतः हिन्दू परम्परा के अनुसार जोधपुर का अब उत्तराधिकारी बीका ही था। परन्तु जोधा जी अपनी रानी जसमादे से अधिक प्रेम करते थे। इस कारण वे बीका के अधिकार का अपहरण कर रानी जसमादे के पुत्र सँतल को मारवाड़ का राजा

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

बनाना चाहते थे। इसलिए वे बीका से अप्रसन्न रहते थे। एक दिन पिता के ताना मारने पर बीका अपने चाचा कांधल, भाई जौगा एवं 100 सवार और 500 प्यादों को लेकर जाँगल प्रदेश की विजय के लिए चल पड़ा। मार्ग में आये देशनोक में उसने चारण परिवार की करणी माता से आशीर्वाद लिया। आशीर्वाद में करणी माता ने कहा, "तेरा प्रताप जोधा से सवाया बढ़ेगा और बहुत से भुपति तेरे चाकर होंगे।" इसके पश्चात वे कोड़मदे सर गये और वहाँ अपने को राजा घोषित किया। 1485 ई. में उन्होनें रातिघाटी नामक स्थान पर एक किले की नींव डाली। इसके तीन वर्ष उपरान्त ही 12 अप्रेल, 1488 ई. को किले के समीप अपने नाम पर बीकानेर नगर बसाया और उसे अपने राज्य की राजधानी बनाई। उन्होनें इस समय तक 84 गांवों पर अधिकार कर लिया था। इस प्रकार राजस्थान में राठौड़ों की सत्ता का दूसरा केन्द्र बीकानेर बन गया।

बीका को अपना राज्य विस्तार करने हेतु जाटों व मोहिल्लों से युद्ध करना पड़ा। जब वह अपने चाचा कांधल का वध करने वाले सारंग खाँ को युद्ध में समाप्त कर अपने पिता जोधा के साथ लौट रहा था तो उसने अपने पिता को बचन दिया कि वह जोधपुर लेने का प्रयास कभी नहीं करेगा। यह उसका अपूर्व त्याग था। 11 सितम्बर, 1504 को राव बीका की मृत्यु हो गई। वे महान वीर तथा उदार नरेश थे। उनके साहस के सन्दर्भ में अनेक घटनाएँ विख्यात हैं। उनका सारा जीवन संघर्ष में ही व्यतीत हुआ। उनकी मृत्यु पर उनका ज्येष्ट पुत्र नरा गद्दी पर बैठा। परन्तु 1505 ई. में ही बिना किसी सन्तान के वह भी चल बसा। उसकी मृत्यु पर बीका जी का कनिष्ठ भ्राता लूणकरण बीकानेर की गद्दी पर बैठा और 1526 ई. तक वह राज्य करता रहा। लूणकरण ने भी राज्य विस्तार किया और उसने डीडवाना, बांगड व सिंघाना को अपने राज्य में मिला लिया। परन्तु नारनौल के सन्दर्भ में उसका वहाँ के नवाब से संघर्ष हुआ। इस संघर्ष में वह तीन पुत्रों सहित वीर गति को प्राप्त हुआ। वह अपने पिता की भाँति ही वीर, साहसी एवं प्रजापालक था। दानशीलता में उसकी उपमा कर्ण से दी गयी है। प्रसिद्ध बीठू सूजा ने भी अपने 'जैतसी रो छन्द' में राव लूणकरण द्वारा चारणों, कवियों आदि गुणिजनों को हाथी, आदि दान में दिये जाने का उल्लेख किया जाता है। स्वयं कवि न होते हुए भी वे कवियों का आदर करता था।

लूणकरण की मृत्यु पर उसका ज्येष्ठ पुत्र जेतसिंह (जेतसी) गद्दी पर बैठा और वह 1542 ई. तक राज्य करता रहा। इस पर बाबर के पुत्र कामरान ने बटनेर (बीकानेर) पर आक्रमण कर दिया था– परन्तु जैतसी ने उसे परास्त कर लौटने को बाध्य कर दिया। उधर 1534 ई. में अपने पिता राव गंगा का वध कर मालदेव मारवाड़ का स्वामी बन बैठा था। वह महान महत्वाकांक्षी तथा साम्राज्यवादी था। इसीलिए उसने जेतसी को 26 फरवरी, 1542 ई. को सौहुए के युद्ध में परास्त कर आधे बीकानेर पर भी अधिकार कर लिया। जैतसिंह इस युद्ध में मारा गया। कूंपा वहा का प्रबन्धक नियुक्त हुआ।

11.1.1. राव कल्याणमल द्वारा बीकानेर पर पुनः अधिकार करना – मालदेव के आक्रमण के समय जेतसी का पुत्र कल्याणमल सिरसा में निवास कर रहा था। अधिकांश जोधपुर पर मालदेव का अधिकार होने के कारण कल्याणमल का राज्यभिषेक ठाकुरियासर में हुआ। सिरसा में रहते हुए ही उसने अपने पैतृक राज्य को प्राप्त करने का प्रयास किया। शेरशाह की सहायता से कल्याणमल ने बीकानेर का राज्य पुनः प्राप्त कर लिया। खोये राज्य को दिलाने में राज्य के मंत्री नागराज की भी काफी भूमिका रही। शेरशाह से सहायता नगराज की मदद से ही मिली थी। केन्द्रिय शक्ति के सम्पर्क में राव कल्याणमल शेरशाह के समय में ही आ गये थे। अतः अकबर के सम्पर्क में आने में उन्हे कोई कठिनाई नहीं हुई और वे निरन्तर केन्द्रिय शक्ति से प्रत्यक्ष कूटनीतिक सम्पर्क बनाये रहे। मालदेव ने शेरशाह की मृत्यु हो जाने (1545) पर बीकानेर को पुनः हथियाने का प्रयास किया– परन्तु उसे मुँह की खानी पड़ी।

11.1.2. कल्याणमल का अकबर से सम्पर्क में आना तथा रायसिंह को मुगल सेवा का मार्ग प्रशस्त होना – राव कल्याणमल ने मालदेव को परास्त कर अपनी सैन्य–शक्ति पर्याप्त रुप से बढा ली थी, परन्तु इसी समय आगरे का स्वामी अकबर बन गया था। वह महान कूटनीतिज्ञ था। उसने कल्याणमल की बढती सैनिक–शक्ति को मुगल–साम्राज्य के विस्तार में बाधक समझा। इस कारण अकबर ने भटनेर के दुर्ग को कल्याणमल के भ्राता ठाकुरसी से छीन लिया। ठाकुरसी के वीर गति को प्राप्त हो जाने के कुछ दिन उपरान्त ही उसने भटनेर (हनुमानगढ़) के दुर्ग का प्रबन्ध ठाकुरसी के पुत्र बाघा को दे दिया। बाघा अपने पिता के मरने से पूर्व ही अकबर की सेवा में जा चुका था। राव कल्याणमल अकबर की कूटनीतिज्ञता को समझ गया और राजस्थान की तत्कालीन राजनीतिक अवस्था की समीक्षा करते हुए उसने भी अकबर की दासता स्वीकार करना ही श्रेयस्कर समझा। अतः 1570 ई. में जब सम्राट अकबर नागौर में कैम्प लगाये हुए था उस समय राव कल्याणमल नागौर पहुँचा और उसने अकबर की दासता स्वीकार कर ली। राव कल्याणमल का पुत्र रायसिंह भी अकबर के सम्पर्क में उसी प्रकार आ गया जिस प्रकार साँभर की मुलाकात (1562) में मानसिंह कछवाहा अपने पितामह भारमल के

माध्यम से अकबर के सम्पर्क में आया था। राव कल्याणमल ने भी अकबर के साथ मैत्री स्थापित करने की वही नीति अपनाई जो आमेर नरेश भारमल ने अपनाई थी। फरिश्ता का कहना है कि राव कल्याणमल ने भी अपनी पुत्री का विवाह अकबर के साथ कर दिया था। परन्तु अबुल फजल लिखता है कि राव ने अपने भ्राता कान्हा की पुत्री का विवाह अकबर के साथ किया था। डॉ. रघुवीर सिंह व डॉ. कर्णसिंह दोनों इस दिशा में मौन हैं। परन्तु यह प्रमाणित है कि राव कल्याणमल ने भी अपने राज्य को मारवाड़ के राठौड़ भाईयों व मुगलों के आक्रमण से बचाने कि नियत से अकबर के साथ वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित किये थे। डॉ. ओझा ने उन परिस्थितियों को देखते हुए राव कल्याणमल का यह कार्य दूरदर्शितापूर्ण बताया है। डॉ. गोपीनाथ शर्मा ने भी डॉ. ओझा के कथन का ही समर्थन किया है। डिंगल साहित्य के विख्यात कवि पृथ्वीराज इन्ही के पुत्र थे। 'बेली क्रिसन रुक्मणीरी' के रचियता पृथ्वीराज ही थे। उन्होनें अपनी मृत्यु का समय व स्थान सम्राट अकबर को 6 मास पूर्व ही बता दिया था। उनकी इस भविष्यवाणी को असत्य करने की दृष्टि से अकबर ने उनको अटक भेज दिया। परन्तु उनकी मृत्यु से 15 दिन पूर्व अकबर को उन्हें आगरा बुलाना पड़ा और पृथ्वीराज की मृत्यु आगरे में ही निर्धारित समय पर हुई।

11.2 रायसिंह का गद्दी पर बैठना :

25 सितम्बर, 1574 को राव कल्याणमल इस लोक में चल बसा और उसकी मृत्यु पर उसका ज्येष्ठ पुत्र रायसिंह बीकानेर की गद्दी पर बैठा। गद्दी पर बैठ कर उसने 'महाराजाधिराज' व 'महाराज' की उपाधि धारण की। बीकानेर के राठौड़ नरेशों में वह ही प्रथम नरेश था जिसने इन उपाधियों से अपने को अलंकृत किया था। उसका जन्म 20 जुलाई, 1541 ई. को हुआ था। रायसिंह अपने जीवन में एक महान योद्धा सिद्ध हुआ। जैसा कि हम मानसिंह कछवाहा के सन्दर्भ में ही देख चुके हैं कि सम्राट अकबर आदमियों का एक अच्छा पारखी था। अतः अकबर रायसिंह को 1570 ई. में ही अपने साथ आगरे ले आया और राव कल्याणमल को दो हजार का मनसब बना दिया।

11.2.1. रायसिंह को मुगल–सेवा के लिए बाध्य करने वाली परिस्थितियाँ – निःसन्देह रायसिंह एक वीर योद्धा था। वह मुगल साम्राज्य की सुरक्षा व उसके विस्तार में उसी प्रकार सहयोगी सिद्ध हुआ जिस प्रकार मानसिंह सिद्ध हुआ था। वीर होने के साथ–साथ उसमें देश–प्रेम अपने धर्म के प्रति भी अनुराग था। वह कूटनीतिज्ञ भी था। परन्तु फिर भी मुगल–सेवा में क्यों चला गया ? यह उसके जीवन की एक महान घटना थी। जिस प्रकार की परिस्थितियाँ भारमल के समक्ष थीं, ठीक वैसी ही परिस्थितियाँ उसके सामने भी थीं। प्रथम तो यह थी की रायसिंह का पिता कल्याणमल स्वयं अकबर की सेवाएँ स्वीकार कर चुका था और वह स्वयं ही अपने पुत्र रायसिंह को अकबर की सेवा में ले गया था। दूसरे, बीकानेर राज्य को इसके भाई मारवाड़ के नरेश मालदेव से भी संकट था। मालदेव ने बीकानेर पर अधिकार कर लिया था। उस कठिन समय में उसके राज्य की सुरक्षा मुगल–सम्राट की क्षत्र–छाया में ही हो सकती थी। तीसरी परिस्थिति यह थी कि यह काल मुगलों के उत्कर्ष का काल था। राजस्थान के विभिन्न राज्य मुगल साम्राज्य में इस प्रकार विलीन हो रहे थे जिस प्रकार की बरसाती नदियाँ शीघ्रता से समीप के बाँध व बड़ी नदी मे मिल जाती हैं। मेवाड़ के महाराणा प्रताप के अलावा लगभग सारे राजपूत नरेश मुगल सम्राट के शरणागत हो चुके थे। अतः रायसिंह ने अपने पिता की भाँति यह भली–भाँति जान लिया था कि बीकानेर पर अधिकार करना अकबर के लिए कोई कठिन कार्य नहीं होगा। मारवाड़ का प्रताप चन्द्रसेन भी मुगल सेना द्वारा जोधपुर से खदेड़ दिया गया था। यह मालदेव का तीसरा पुत्र था और वह 1562 में जोधपुर की गद्दी पर बैठा था। बीकानेर के चारो और मुगल सेनाएँ फैली हुई थी। वे जगह–जगह अपने थाने स्थापित कर रही थीं। भटनेर के निकल जाने से बीकानेर की सैनिक शिथिलता स्पष्ट हो गई थी। ऐसी परिस्थितियों में रायसिंह ने यही उचित समझा की वह अपने पिता की नीति का आचरण करें और अकबर के संरक्षण में अपने राज्य की रक्षा तथा उन्नति करें। अतः उसने हृदय से मुगल सेवा स्वीकार की और मृत्यु पर्यन्त मुगल सेवा करता रहा। उसे भी अपने पुर्वजों की भाँति युद्धों से विश्राम नहीं मिला। मुगल–सेवा में जाते ही उसे अपने स्वामी अकबर के राज्य विस्तार हेतु निरन्तर युद्ध करने पड़े। अपने विरोचित कार्यों तथा स्वामी–भक्ति के गुणों से वह शीघ्र अकबर का विश्वास भाजन बन गया और अकबर की मृत्यु (1605) के उपरान्त 1612 ई. तक वह जहांगीर का विश्वासपात्र बना रहा। मानसिंह के बाद सम्मान की दृष्टि से मुगल दरबार में रायसिंह ही आता था। वास्तव में यह उसकी जीवन की एक महान उपलब्धि थी।

11.3. रायसिंह की मुगल सेवाएँ :

मुलग साम्राज्य के लिये रायसिंह द्वारा की गई सेवाएँ आमेर के मानसिंह के समान ही थी। रायसिंह ने भी मानसिंह की भाँति कुँवर और शासक दोनों रूपों में मुगल साम्राज्य की अपूर्व सेवा की। उसकी सेवाओं को दो भागों में बांटा जा सकता

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

है–प्रथम, कुँवर रूप में की गई सेवाएँ (1570–1574ई .) और द्वितीय , बीकानेर के शासक के रूप में की गई सेवाए (1574–1612 ई.)–

11.4. प्रथमकाल–कुँवर क रूप में रायसिंह की सेवाएँ (1570–1574 ई.) :

11.4.1 जोधपुर के प्रशासक के रूप में – 1570 ई. में रायसिंह को अपनी सेवा में लेने के पश्चात् अकबर ने सर्वप्रथम 1572 ई. में उसे जौधपुर राज्य का प्रशासक नियुक्त किया। इस समय राव चन्द्रसेन ने अजमेर–अहमदाबाद के मार्ग में अव्यवस्था उत्पन्न कर रखी है। गुजरात विजय के लिये मार्ग का सुरक्षित होना आवश्यक था। अतः अकबर ने रायसिंह को जौधपुर का प्रशासक नियुक्त करके इस मार्ग की सुरक्षा का दायित्व प्रदान किया। यही नहीं इस समय आगरा और आस–पास के क्षेत्रों की सुरक्षा का दायित्व भी अकबर ने रायसिंह को ही सौंपा और एक आदेश जारी करके इस क्षेत्र के जमींदारों को रायसिंह की सहायता करने का आदेश दिया।रायसिंह को जोधपुर का शासक नियुक्त करने में कूटनीतिज्ञ अकबर की भेद नीति निहित थी। वस्तुतः वह राठौड़ों का दमन राठौड़ों से ही करवाना चाहता था, जिससे भविष्य में राठौड़ों में कभी एकता होने की सम्भानाएँ समाप्त हो गये। डॉ.गोपीनाथ शर्मा भी रायसिंह के राठौड़ होने तथा बीकानेर–मारवाड़ के वैमनस्य को ही इस नियुक्ति का कारण मानकर इसे 'अकबर की भेदनोति का परिष्कृत रूप' कहा है। जौधपुर के शासक के रूप में रायसिंह ने अपने प्रतिद्वंद्वी राठौड़ों का दमन कर वहाँ शान्ति और व्यवस्था स्थापित की। फारसी स्त्रोतों में जौधपुर के प्रशासक के रूप में रायसिंह के कार्यकाल का उल्लेख नहीं है। किन्तु दयालदास की ख्यात के अनुसार रायसिंह तीन वर्ष तक जोधपुर का प्रशासक रहा था।

11.4.2. मिर्जा बन्धुओं का दमन – गुजरात में इब्राहीम हुसैन मिर्जा मुगल सत्ता को चुनौती दे रहा था। उसने गुजरात में विद्रोहों का झण्डा ऊँचा कर रखा था। किन्तु शाही सेना द्वारा दिसम्बर, 1572 ई. में सरनाल के युद्ध में पराजित होने के बाद वह गुजरात से भाग कर नागौर पहुँचा और नागौर के दुर्ग का घेरा डाल दिया। इस पर रायसिंह ने तुरन्त एक बड़ी सेंना लेकर नागौर की ओर प्रस्थान किया। रायसिंह के आगमन का समाचार सुनकर इब्राहीम हुसैन मिर्जा को नागौर का घेरा उठाकर भागना पड़ा। रायसिंह ने इब्राहिम मिर्जा का पीछा किया और काठौली नामक स्थान पर पराजित किया। इब्राहीम हुसैन मिर्जा जान बचाकर पंजाब की ओर भाग गया।

गुजरात में मुहम्मद हुसैन मिर्जा मुगल सत्ता को चुनौती दे रहा था। अतः 1573 ई. में अकबर ने मुहम्मद हुसैन मिर्जा के विद्रोह का दमन करने के लिये गुजरात की ओर प्रस्थान किया। रायसिंह भी इस सैनिक अभियान में सम्मिलित था। 2सितम्बर, 1573 ई. को मुहम्मद हुसैन मिर्जा तथा शाही सेना के बीच घमासान युद्ध हुआ जिसमें मुहम्मद हुसैन मिर्जा पराजित हुआ और वह बंदी बना लिया गया। रायसिंह ने मुहम्मद हुसैन मिर्जा को पराजित करने में अद्भूत वीरता तथा साहस का परिचय दिया था, जिससे प्रसन्न होकर अकबर ने मुहम्मद हुसैन मिर्जा को उसके सुपुर्द कर दिया कि वह विद्रोही को जो चाहे सजा दे। अन्त में, भगवन्तदास की सलाह से रायसिंह ने मुहम्मद हुसैन मिर्जा का वध करवा दिया। अकबर ने उसके वीरतापूर्ण कार्यों की प्रशंसा की तथा अपने पुत्र सलीम का विवाह रायसिंह की पुत्री से कर दिया। इस विवाह के परिणामस्वरूप मुगल दरबार में रायसिंह की प्रतिष्ठा में वृद्धि हुई।

11.5. द्वितीय काल 1574–1605 ई. तक :

पिता की मृत्यु हो जाने पर 1574 ई. में रायसिंह बीकानेर की गद्दी पर बैठा और अपने को महाराजाधिराज की उपाधि से विभूषित किया। अब वह कुंवर न रहकर राजा बन गया था। अतः 1574 ई. के उपरान्त उसने मुगल सम्राट अकबर को अपनी जो सेवाएँ दी वे एक राजा के रुप में दी। इस दूसरे काल में भी उसने मुगल–सम्राट की कई उल्लेखनीय सेवायें की। उनमें कतिपय महत्वपूर्ण सेवायें निम्नलिखित थीं–

11.5.1. रायसिंह का चन्द्रसेन के विरुद्ध अभियान – जैसा की हम ऊपर बता आये हैं कि चन्द्रसेन ने भाद्राजुण दुर्ग से निकलकर सिवाना दुर्ग में अपनी सेना का पुनः गठन करना आरम्भ कर दिया था। वह अपनी शैन्य शक्ति बढा कर अपने खोये हुए मारवाड़ राज्य को पुनः प्राप्त करना चाहता था। उधर अकबर उसके सैनिक पुनर्गठन से चिन्तित था। वह चन्द्रसेन के भय से सदा के लिए मुक्त होना चाहता था। अतः उसने 1574 ई. में चन्द्रसेन के विरुद्ध एक सेना भेजी। उस सेना में रायसिंह भी एक अधिकारी के रूप में भेजा गया था। रायसिंह ने मारवाड़ पहुँचते ही सर्वप्रथम चन्द्रसेन के सहयोगियों को समाप्त करना आरम्भ किया। उसने सोजत पर आक्रमण किया और वहाँ चन्द्रसेन के भतीजे कल्ला को आत्म–समर्पण

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

करने को बाध्य किया। इसके उपरान्त उसने सिवाना–दुर्ग का घेरा डाला, परन्तु वह चन्द्रसेन को परास्त करने में सफल नहीं रहा। इस पर 1575 ई. में अकबर ने दुर्ग पर शाहबाज खाँ की सहायता से अधिकार कर लिया।

11.5.2 रायसिंह का देवड़ा सुरताण – देवड़ा सुरताण सिरोही का शासक था और वह 1572 ई. में गद्दी पर बैठा था। जे. बी. मैलीसन ने अपनी पुस्तक 'नेटिव स्टेट्स ऑफ इण्डिया' में सिरोही को राजस्थान का ऐसा प्रदेश बताया है जो कभी किसी के अधीन नहीं रहा है और उसने देवड़ा सुरताण की वीरता की भूरी–भूरी प्रशंसा की है। वह मुगल सम्राट अकबर के खिलाफ महाराणा प्रताप की सहायता कर रहा था। अतः सम्राट ने उसकी शक्ति को समाप्त करने हेतु सैयद हाशिम तथा रायसिंह को भेजा। देवड़ा का सहयोगी जालौर का सूबेदार ताजखाँ भी था। अतः रायसिंह ने प्रथम जालौर पर आक्रमण किया और ताजखाँ को सम्राट की अधीनता स्वीकार करने के बाध्य किया। इसके उपरान्त रायसिंह सिरोही की ओर बढ़ा। देवड़ा सुरताण ने अपनी सेना को मुगल सेना की तुलना में निर्बल समझा। उसने रायसिंह के माध्यम से मुगल सम्राट की सेवा में जाने का इरादा व्यक्त किया। वह रायसिंह के साथ अकबर की सेवा में उपस्थित भी हो गया। परन्तु स्वाभिमान की भावना से उत्पीड़ित वह अकबर से अनुमति लिए बिना ही वहाँ से सिरोही लौट आया। इस पर सम्राट अकबर सुरताण से नाराज हो गया और उसने रायसिंह को पुनः सुरताण को दबाने भेजा। रायसिंह ने सुरताण को फिर से चारों ओर से घेर लिया। अन्ततः सुरताण ने मुगल दासता स्वीकार कर ली। नाडोल का कार्य समाप्त कर रायसिंह सुरताण देवड़ा को मुगल दरबार में ले गया।

देवड़ा सुरताण का प्रशासन चलाने में बीजा देवड़ा भी सहयोगी बना हुआ था। रायसिंह ने सुरताण की शक्ति का दमन करने की दृष्टि से बीजा देवड़ा को सिरोही छोड़ने को बाध्य कर दिया और सुरताण का आधा सिरोही राणा प्रताप के विरोधी जगमाल को दे दिया। रायसिंह के इस कार्य से देवड़ा सुरतण पुनः क्रुद्ध हो गया। उसने 1583 में मुगलों के विरुद्ध दत्ताणी में युद्ध फिर छेड़ दिया। युद्ध में जगमाल मारा गया और सुरताण अपने समस्त सिरोही पर अधिकार करने में सफल हो गया। अकबर रायसिंह की इस सफलता पर भी अति प्रसन्न हुआ और उसे 52 परगने जागीर में दे दिए।

सिरोही राज्य के इतिहास में दत्ताणी के युद्ध को बड़ा महत्त्वपूर्ण बताया गया है। निःसन्देह इस युद्ध में देवड़ा सुरताण की विजय हुई, पर नैणसी की ख्यात तथा जोधपुर के कागजात तो इस युद्ध में रायसिंह का काम आना भी बताते हैं। डॉ. रघुवीर सिंह इसकी पुष्टि करते हैं। परन्तु यदि रायसिंह 1587 में ही काम आ गया होता तो जहांगीर के शासनकाल तक उसकी सेवाओं का सहयोग मुगलों को किस प्रकार मिल सकता था ? अतः डॉ. गोपीनाथ शर्मा ने दत्ताणी के युद्ध में केवल जगमाल का ही काम आना माना है। 1585 ई. में सुरताण ने पूर्णतः मुगलों की दासता स्वीकार कर ली।

11.5.3. रायसिंह का उत्तर–पश्चिम सीमान्त प्रदेश जाना – 1581 ई. में अकबर के भाई मिर्जा मुहम्मद मिर्जा हाकिम ने काबुल में विद्रोह कर दिया था। और उसने सम्राट का तख्त पलटने का प्रयास किया था। उस विद्रोह को दबाने हेतु सियालकोट से मानसिंह कछवाहा को तो अकबर ने भेज ही दिया था पर जब मानसिंह शीघ्रता से उस विद्रोह को नहीं दबा सका तो अकबर ने सैनिक कुमुक के साथ रायसिंह को भी काबुल भेजा। रायसिंह को इसमे सफलता मिली। मिर्जा हाकिम काबुल छोड़कर भाग गया और अकबर ने सगर्व दुर्ग में प्रवेश किया। 10 अगस्त, 1581 को मिर्जा हाकिम ने आत्म–समर्पण कर दिया और अकबर ने उसे क्षमा कर दिया। 1591 ई. में अकबर ने सिन्ध–विजय के अन्तर्गत कन्धार विजय को पुनः महत्त्व दिया। यह कार्य उसने बैरमखाँ के पुत्र अब्दुर्रहीम खानखाना को सौंपा। खानखाना उस समय मुल्तान का सूबेदार था। रायसिंह को खानखाना की सहायता के लिए कन्धार भी भेजा गया और वहाँ भी इसने सफलता प्राप्त की। इस समय राव रायसिंह 4000 की मनसबदारी प्राप्त कर चुका था।

11.5.4. रायसिंह की दक्षिण भारत में मुगल–सेवा – जब सम्राट अकबर कन्धार विजय में व्यस्त था उस समय दक्षिण भारत में अहमद नगर विद्रोह का मार्ग अपना रहा था। बुरहानुद्दीन को वहाँ का शासक अकबर ने ही बनाया था। परन्तु वह शीघ्र ही स्वतंत्र हो गया। उसने अपने को अहमदनगर का स्वतन्त्र शासक घोषित कर दिया और अपने को 'बुरहान–उल–मुल्क' की उपाधि से विभूषित किया। इस पर सम्राट अकबर ने 1593 ई. में शहजादा मुराद के नेतृत्व में बुरहान–उल–मुल्क का विद्रोह दबा दिया गया और उसने मुगल सम्राट की दासता स्वीकार कर ली। अतः दक्षिण भारत के अभियान में भी रायसिंह अकबर की प्रशंसा का भाजन ही बना। उसकी सेवाओं से प्रसन्न होकर अकबर ने रायसिंह को 1593 ई. में जूनागढ़ में जागीर दे दी। जूनागढ़ आजमखाँ द्वारा विजित कर मुगल साम्राज्य में मिलाया गया था।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

11.5.5. अकबर के अन्तिम दिनों में रायसिंह — निःसन्देह रायसिंह मुगल सम्राट अकबर की सेवा पूर्ण तत्परता तथा सच्चाई से कर रहा था। तथापि 1597 ई. मे सम्राट उससे अपने श्वसुर नासिरखाँ के बहकाने से नाराज हो गया। नाराज होने के कारण भटनेर की घटना बतायी जाती है। वहाँ रायसिंह और नासिरखाँ के बीच कहा—सुनी हो गई थी। इस घटना के परिणामस्वरुप सम्राट अकबर ने रायसिंह से भटनेर छिनकर उसके बागी पुत्र दलपत सिंह को दे दिया। दलपत सिंह ने भटनेर को आधार बनाकर बीकानेर पर आक्रमण की तैयारी कर दी। इस घटना से यह स्पष्ट होता है कि अकबर ने सदा राजपूत परिवारों में फूट डालकर ही उन पर अपना प्रभुत्व बनाये रखने का प्रयास किया। रायसिंह अकबर की कूटनीति को समझ गया। अतः वह शीघ्र ही आगरे गया और अकबर से गृह—कलह टालने की प्राथना की। अकबर ने क्रोध का परित्याग कर रायसिंह की प्राथना स्वीकार करली। वह उससे पुनः प्रसन्न हो गया और उसे सौरठ (सौराष्ट्र) जागीर में दे दिया। इस प्रकार रायसिंह पुनः अकबर का कृपा—भाजन बन गया और 6 जनवरी, 1597 को वह मुगल दरबार में उपस्थित हो गया।

1601 में नासिक में विद्रोह हो गया। उस विद्रोह को दबाने को अकबर ने अबुल फजल को भेजा। जब अबुल फजल ने विद्रोह दबाने में विलम्ब किया तो अकबर ने उसकी सहायता के लिए रायसिंह को भेजा। रायसिंह के जाते ही वहाँ अराजकता समाप्त हो गई शांति स्थापित होते ही रायसिंह ने अकबर से बीकानेर लौटने की अनुमति माँगी क्योंकि बीकानेर में उस समय अव्यवस्था फैल रही थी। रायसिंह की प्राथना सम्राट द्वारा स्वीकार कर ली गई और वह 23 अप्रेल, 1601 को बीकानेर चला गया।

1603 ई. में अकबर का ध्यान पुनः मेवाड़ की और गया। इस समय वहाँ राजा अमरसिंह राज्य कर रहा था। सम्राट ने शहजादा सलीम को मेवाड़ पर आक्रमण करने का आदेश दिया। इस अभियान में भी अकबर ने राव रायसिंह को सलीम के साथ जाने के आदेश दिए। परन्तु इस समय तक सलीम का मस्तिस्क फिर गया था। उसने अधिक सैनिक कुमुक भिजवाने का बहाना किया। वह मेवाड़ जाने की बजाय अपनी जागीर इलाहाबाद चला गया। वहाँ जाकर उसने सम्राट के विरुद्ध बगावत की तैयारी कर दी। इस पर रायसिंह को भी मेवाड़ की और नहीं जाना पड़ा। परन्तु वह अकबर से शम्साबाद व नूरपुर की जागीरे लेने में सफल हो गया। ये जागीरें लेकर वह 1604 में बीकानेर लौट आया।

11.5.6. शहजादा सलीम का विद्रोह और मुगल दरबार की राजनीति — अकबर शहजादा सलीम के मनसूबों को पहले ही भांप गया था और उससे प्रसन्न भी नहीं था। परन्तु शहजादों में अब केवल सलीम ही जीवित था अतः उत्तराधिकार का प्रश्न अकबर के दिमाक में चक्कर काट रहा था उसी समय 1604 ई. में सलीम ने पुनः इलाहाबाद में बगावत का झण्डा ऊँचा कर दिया और स्वयं को सम्राट घोषित कर दिया। इससे अकबर आग बबूला हो गया और उसने अपने पौत्र (सलीम का ज्येष्ठ पुत्र) खुसरों को अपना उत्तराधिकारी बनाने का मानस बनाया। इस प्रकार मानस बनाने में मानसिंह कछवाहा का भी हाथ था। वह भी अपने भानजे खुसरों को ही सम्राट के रुप में देखना चाहता था। खान आजम भी अपने दामाद खुसरों का ही समर्थन कर रहा था। परन्तु रायसिंह ने इस समय अपनी निर्भीकता का परिचय दिया और उसने खुसरों के स्थान पर सलीम के पक्ष का ही समर्थन किया। इसका एक कारण यह भी था कि रायसिंह अपनी पुत्री का विवाह सलीम (जहाँगीर) के साथ कर चुका था। 15 अक्टूबर, 1605 को जब अकबर इस प्रकार के अशान्त वातावरण में इस लोक से चल बसा तो सलीम ही जहांगीर के नाम से भारत का सम्राट बना।

11.5.7. रायसिंह और जहाँगीर — रायसिंह जहाँगीर का विश्वासपात्र था। अतः जहाँगीर ने अपने राज्यारोहण की प्रथम वर्षगाँठ के अवसर पर 1606 ई. में रायसिंह के मनसब में वृद्धि करके उसे 5000 का मनसबदार बना दिया। इससे मुगल दरबार में रायसिंह की प्रतिष्ठा में वृद्धि हुई। इसके कुछ समय पश्यात् जहाँगीर के पुत्र खुसरों ने अपने पिता के विरुद्ध विद्रोह कर दिया। जहाँगीर एक बड़ी लेकर दमन के लिये लाहौर की ओर रवाना हुआ। इस अवसर पर जहाँगीर ने आगरा और मुगल हरम की रक्षा का दायित्व रायसिंह को सौंपा। राजधानी की रक्षा का महत्वपूर्ण दायित्व सौंपना इस बात का परिचायक है कि रायसिंह जहाँगीर का अति विश्वसनीय व्यक्ति था। अकबर के समय में यह दायित्व आमेर के कछवाहों को सौंपा जाता था, किन्तु अब यह दायित्व राठौड़ों को मिलने लगा।

किन्तु इसी मध्य एक घटना ने रायसिंह और जहाँगीर के सम्बन्धों में दरार डाल दी। वस्तुतः रायसिंह एक जैन साधु की भविष्यवाणी पर विश्वास करके जहाँगीर के शासन को अल्पकालीन मानकर सम्राट की अवज्ञा करके बीकानेर चला गया। इससे जहाँगीर रायसिंह से नाराज हो गया। किन्तु कुछ ही समय बाद रायसिंह ने अपनी भूल स्वीकार करते हुये सम्राट से क्षमा मांगकर दक्षिण चला गया जहाँ वह आगामी चार वर्षों तक निष्ठापूर्वक मुगलों की सेवा करता रहा और अन्त में, 22 जनवरी, 1612 ई. को बुरहानपुर में ही रायसिंह की मृत्यु हो गई।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

11.6. रायसिंह का व्यक्तित्व और सारांश :

रायसिंह अपनी योग्यता और चरित्र के बल पर मुगल साम्राज्य का स्तम्भ माना जाता था। इस छोटे से जाँगल देश के राजा ने अपने व्यक्तिगत प्रभाव और योग्यता से भारत के बादशाहों को वशीभूत कर लिया था। अपने 38 वर्ष के शासनकाल में इसका अधिकार दूर देशों में ही रहा। फिर भी बीकानेर में उसका दबदबा इतना था कि सिर्फ एक असफल विद्रोह के और कभी उसके विरूद्ध किसी न सर नहीं उठाया। रायसिंह वीर और स्वामीभक्त तो था ही साथ ही साहित्यकार और कला प्रेमी भी था तथा जहां उसमें कुशल शासक के गुण विद्यमान थे वहां वह प्रजा पालक, दानी और धार्मिक सहिष्णुता का प्रतीक भी था। सामान्यतः ये सभी गुण एक राजा में नहीं होते। उसके इन्हीं व्यक्तिगत गुणों ने उसे मुगल दरबार में सम्मान और स्थान दिला दिया था। उसी के शासनकाल में बीकानेर राज घराने का मुगल बादशाहों से घनिष्ठ सम्बन्ध प्रारम्भ हुआ। उसके कार्यो से प्रभावित होकर अकबर और जहांगीर दोनों ने समय–समय पर उसका मनसब और जागीर बढ़ाये जो उसकी लोकप्रियता के प्रमाण है। अब हम उसके चरित्र की उन विशेषताओं को देखें जिन्होंने रायसिंह को बीकानेर का पहला विख्यात महाराजा बना दिया।

11.6.1. स्वामीभक्त वीर — अपनी कुंवर अवस्था से ही रायसिंह मुगल सेवा में था अतः स्वतंत्र रूप से युद्ध कर मैदान जीतने का अवसर तो उसे नहीं मिला किन्तु जितने भी अभियानों में उसने भाग लिया, पूर्णतया सफल रहा। साथ ही वह अपने मित्र मुगल शासकों के प्रति पूर्णतया वफादार बना रहा। उसने जौधपुर के चन्द्रसेन को जिस प्रकार पराजित कर दर–दर की ठोकरें खाने वाला बना दिया और सिरोही के देवड़ा, सोजत के कल्ला और मारवाड़ के चन्द्रसेन के विरूद्ध सफल अभियानों द्वारा अपने शौर्य की धाक जमा दी। इसी सफलता से प्रेरित होकर अकबर ने उसे विद्रोह दमनी सेनापति का रूप दे दिया और गुजरात, काबुल, कन्धार, बलोचिस्तान व दक्षिण भारत के विद्रोहों का दमन करने भेजा। जहां रायसिंह ने अपने सफल सेनापति होने का परिचय दिया। मानसिंह भी एक बार शहजादा सलीम का विरोधी हो गया था किन्तु रायसिंह सदा बादशाह का विश्वासपात्र बना रहा। उसकी सेवाओं से प्रसन्न होकर अकबर ने उसे 4000 का मनसब और जागीरें प्रदान की थी जिनमें जूनागढ़, नागौर, शमसाबाद आदि उल्लेखनीय है। जब कभी मुगल साम्राज्य के विरूद्ध कोई गड़बड़ होती, बादशाह रायसिंह की मदद से विद्रोहियों का सर कुचल देते थे। डॉ. गोपीनाथ शर्मा भी अपनी पुस्तक 'राजस्थान का इतिहास' में उसकी वीरता और स्वामीभक्ति का वर्णन करते हुए लिखते है कि "अपने वीरोचित तथा स्वामीभक्ति के गुणों के कारण वह अकबर और जहांगीर का विश्वासपात्र बना रहा।"

11.6.2. कुशल शासक — वैसे तो मुगल दरबार में रहने और दूर–दूर प्रान्तों के विद्रोहों का दमन करने में ही रायसिंह आजीवन व्यस्त रहा किन्तु उसने बीकानेर में कभी अराजकता नहीं फैलने दी। समय के अभाव से वह अपने राज्य की तरफ अधिक ध्यान नहीं दे सका फिर भी वह अपने लोकहित कार्यो के लिये बहुत प्रसिद्ध था। जब 1578 ई. में भीषण और व्यापक अकाल पड़ा तो रायसिंह ने अपने सारे राज्य में तेरह महीने तक मुफ्त अनाज बंटवाया। इसी प्रकार महामारी के प्रकोप पर वह प्रजा को मुफ्त दवा बंटवाता था। रायसिंह उपद्रवी सरदारों पर कड़ी नजर रखता था। उसके 38 वर्ष के शासनकाल में, सिर्फ एक बार, उसकी अनुपस्थिति से लाभ उठाकर उसके मंत्री कर्मचन्द ने रायसिंह के पुत्र दलपतसिंह को गद्दी पर बैठाने की चेष्टा की थी। रायसिंह ने समय पर पहुंच कर स्थिति पर काबू पा लिया और मंत्री कर्मचन्द जान बचाने को अकबर की शरण में भाग गया। इससे स्पष्ट है कि दूर रहते हुए भी वह अपने राज्य की गतिविधियों पर कड़ी नजर रखता था। दयालदास अपनी ख्यात के दूसरे भाग में कहते हैं कि– "प्रजा के कष्टों के निवारण की ओर भी उसने समय–समय पर ध्यान दिया। राज्य के उपद्रवी सरदारों पर वह कड़ी नजर रखता था।"

11.6.3. निर्माता रायसिंह — रायसिंह केवल योद्धा ही नहीं था। उसे भवन निर्माण में भी बहुत रूचि थी। बीकानेर का सुदृढ़ किला उसी ने बनवाया था। इस किले का निर्माण लगभग पांच साल में हुआ और 1594 में यह बनकर तैयार हुआ। रायसिंह की आज्ञा से उसके मंत्री कर्मचन्द ने इसे बनवाया था। किले में महल, बगीचे और सुदृढ़ दीवारों के चारों तरफ चौड़ी खाई भी है। किले के महलों में मध्यकालीन शिल्पकला का जो प्रदर्शन है वह आकर्षक ही नहीं चमत्कार से भरा है। किले के महलों का विवरण हमें रायसिंह की प्रशस्ति में बड़े रोचक ढंग से किया मिलता है। इस विशाल किले को देखकर रायसिंह के समय की समृद्धि का सरलता से अनुमान लगाया जा सकता है। किले के अतिरिक्त उसने अनेक मंदिरों का भी निर्माण किया। मंत्री कर्मचन्द मंदिरों के निर्माण में बहुत रूचि रखता था और उसके प्रयत्नों से रायसिंह के शासनकाल में अनैक जैन मंदिरों को फिर से बनवाया गया। इन मंदिरों में बीकानेर का जैन मंदिर उल्लेखनीय है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

11.6.4. साहित्यकार रायसिंह — सामान्यतः तलवार कलम का मेल कम देखने को मिलता है। किन्तु रायसिंह उन प्रबुद्ध शासकों में से था जो युद्ध भूमि के बाहर कलम के क्षेत्र में भी अपना अस्तित्व रखता था। उसे साहित्य से बड़ा स्नेह था। वह स्वयं एक अच्छा कवि था। उसे अपने देश से बहुत स्नेह था और जब दक्षिण में नियुक्ति के समय उसे 'फोग' का पौधा मिला तो उसका स्नेह और आश्चर्य उसने एक दोहे में व्यक्त किया जिसे ओझाजी ने बीकानेर राज्य का इतिहास के पहले भाग पर दिया है–

"तु सैदेशी रूँखड़ा, म्हें परदेशी लोग।

म्हाने अकबर तेड़िया, तूँ क्यों आयो फोग।।

उसने स्वयं बैठक के ऊपर 'रायसिंह महोत्सव' पुस्तक लिखी और 'ज्योतिष रत्नमाला' नामक पुस्तक की टीका लिखी। इन पुस्तकों को देखकर हम उसका भाषा पर अधिकार और संस्कृत के ज्ञान का अन्दाज लगा सकते हैं। उसने अपनी ज्योतिष की टीका का नाम 'बालबोधिनी' रखा था। उसके रायसिंह से प्रभावित होकर उसी पर एक पुस्तक लिख दी जिसमें रायसिंह पर 43 गीत है। इस पुस्तक कर नाम 'राजा रायसिंह री वेल' हे। इन गीतों में रायसिंह की वीरता और गुजरात विजय का वर्णन भी मिलता है। रायसिंह ने किले के अन्दर एक वृहत् प्रशस्ति लिखवाई जो ऐतिहासिक दृष्टि से बहुत महत्वपूर्ण है। वह साहित्यकारों का सरंक्षक भी था। राजस्थान में पहला वैद्यक ग्रन्थ उसी के समय में लिख गया। जैन साधुओं ने भी उसी के समय में अपने ग्रंथों का अनुवाद शुरू किया। प्रसिद्ध जैन ग्रन्थ 'शब्द भेद' की टीका ज्ञान विमल ने इसी समय की थी। संक्षेप में हम यह कह सकते है कि उसके समय में ज्योतिष, वैद्यक, इतिहास और धर्म पर पुस्तकों का महत्वपूर्ण अनुवाद हुआ।

11.6.5. उदार व दानी रायसिंह — रायसिंह साहित्यकारों का सरंक्षक तो था ही साथ ही दानी भी था। कवियों से प्रसन्न होकर वह उन्हें करोड़/सवा करोड़ पसाव भी देता था। ख्यात लिखने वालों ने भी इसकी दानशीलता की भारी प्रशंसा की है। मुंशी देवी प्रसाद ने तो उसे राजपूतों का 'कर्ण' कहा है। रायसिंह त्यौहार और विवाहों के समय ब्राह्मणों को खुले हाथ से दान देता था। धार्मिक उदारता के साथ उसमें सहिष्णुता भी थी। सिरोही विजय के समय जब उसका मुसलमान साथी तुरसम खां जैन मूर्तियों को नष्ट करने लगा तो अकबर की इजाजत से रायसिंह उन्हें बीकानेर ले गया और उन्हें संभाल कर रख लिया। ये मूर्तिया बीकानेर के जैन मंदिर में आज भी सुरक्षित है। स्पष्ट है कि वह क्षत्रीय होते हुए जैन धर्म का संरक्षक भी था। वास्तव में जांगल देश को 47 परगनों का सम्भावित व शक्तिशाली बीकानेर राज्य बनाने वाला रायसिंह ही था। उसे आधुनिक बीकानेर का संस्थापक कहा जाय तो अतिश्योक्ति नहीं होगी।

11.7. बोध प्रश्न :

प्रश्न 1 अकबर रायसिंह को अपने साथ आगरा कब लेकर गया?

अ. 1565 ई. ब. 1570 ई.

स. 1575 ई. द. 1580 ई.

उत्तर — ....

प्रश्न 2 रायसिंह के चरित्र का मूल्यांकन एक निर्माता के रूप में करिये।

उत्तर — ....

प्रश्न 3 मुगलों के साथ रायसिंह के सम्बन्धों को विवेचित कीजिए।

उत्तर — ....

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

इकाई–12
मारवाड़ का जसवन्तसिंह

संरचना

12.0 उद्देश्य
12.1 ऐतिहासिक पृष्ठभूमि
12.2 जसवन्त सिंह की मुगल सेवा
12.3 जसवन्त सिंह का आरम्भिक जीवन
12.4 जसवन्त सिंह की उत्तर पश्चमी सीमा में मुगल सेवाएं
12.5 जसवन्त सिंह व जौधपुर की शासन व्यवस्था
12.6 जसवन्त सिंह की उत्तर पश्चिम में यात्रा
12.7 जौधपुर लौटकर जसवन्त सिंह द्वारा स्थानीय राजनीति में रूचि लेना
12.8 जसवन्त सिंह और शाहजहाँ
12.9 जसवन्त सिंह उत्तराधिकारी संघर्ष
12.10 जसवन्त सिंह औरंगजेब की सेवा में
12.10.1 जसवन्त सिंह का गुजरात का सूबेदार होन
12.10.2 जसवन्त सिंह और मराठा
12.10.3 जसवन्त सिंह का मुगल दरबार में उपस्थित होना
12.10.4 जसवन्त सिंह को पुनः दक्षिण भेजना
12.11 व्यक्तित्व और सारांश
12.12 बोध प्रश्न

12.0 उद्देश्य :

इस इकाई में जसवन्तसिंह के द्वारा मुगलों के साथ सहयोग व प्रतिरोध को निम्नलिखित बिन्दुओं के माध्यम से समझाया गया है –

–विभिन्न मुगल सम्राटों से सम्बन्ध

–विजय अभियान

12.1 ऐतिहासिक पृष्ठभूमि :

11 जनवरी, 1581 ई. जो राव चन्द्रसेन की मृत्यु हो गई। उसकी मृत्यु के लगभग ढाई वर्ष बाद अकबर ने 4 अगस्त, 1583 ई. को उदयसिंह को मारवाड़ राज्य का अधिकार, खिलखत और खिताब के साथ प्रदान किया। परन्तु उसे मारवाड़ के ग्यारह परगनों में से केवल एक–सोजत का परगना ही दिया गया था। उदयसिंह ने भाद्राजूण और जालौर के परगनों के विद्रोही सरदारों को परास्त कर उन्हें अपने राज्य में सम्मिलित किया। उदयसिंह 'मोटा राजा' के नाम से पुकारा जाता था। 1586 ई. में उसने अपनी पुत्री जगत गुसाई का विवाह शहजादे सलीम के साथ कर दिया। इस वैवाहिक सम्बन्ध के कारण मुगलों और मारवाड़ के राठौड़ों के आपसी सम्बन्ध और भी सुदृढ़ हो गये। 10 जुलाई, 1595 ई. को लाहौर में उदयसिंह की मृत्यु हो गई।

उदयसिंह के पश्चात् अकबर ने उसके छठे पुत्र सूरसिंह को मारवाड़ राज्य का शासक बनाया। शाही सेवा में रहते हुए सूरसिंह ने अनेक युद्धों में भाग लिया तथा अपनी योग्यता और युद्ध–कौशल का अच्छा परिचय दिया जिसके परिणामस्वरूप उसकी निरन्तर पदोन्नति होती गई। अपने अन्तिम दिनों में वह 5000 जात और 3300 सवारों का मनसबदार बन गया था। 6 सितम्बर, 1619 ई. को दक्षिण में उसकी मृत्यु हो गई।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

सूरसिंह के बाद उसका लड़का गजसिंह जोधपुर राज्य का शासक बना। जहांगीर ने उसे 3300 जात और 2000 सवार का मनसब प्रदान किया। उसे जोधपुर, जैतारण, सोजत, सिवाणा, तेरवाड़ा, सातलमेर, पोकरण एवं मेरवाड़ा के परगने ही दिये गये। इनमें भी सालतमेर और पोकरण भाटियों के पास गिरवी पड़े थे। गजसिंह ने भी दक्षिण के युद्धों में अपूर्व पराक्रम का परिचय दिया तथा मुगल साम्राज्य के लिये अनेक युद्ध जीते। उसकी सेवाओं से प्रसन्न होकर जहांगीर ने 1621 ई. में उसको 'दलथंभन' की उपाधि प्रदान की। 1623 में उसके मनसब में बढ़ोतरी की गई तथा जालौर, फलौदी और मेड़ता के परगने भी उसको प्रदान किये गये। खुर्रम के विद्रोह के समय गजसिंह ने जिस शूरवीरता एवं स्वामिभक्ति का प्रदर्शन किया उससे प्रसन्न होकर जहांगीर ने उसके मनसब में वृद्धि कर 5000 जात और 5000 सवार कर दिया।

जहांगीर की मृत्यु के बाद शाहजहां मुगल सिंहासन पर बैठा। शाहजहां ने अपने विद्रोह के दौरान गजसिंह की भूमिका को भुलाते हुये उसका पूरा सम्मान किया और उसके मनस्ब को कायम रखा। गजसिंह ने भी भविष्य में शाहजहां की निष्ठापूर्वक सेवा की। 1633 ई. में जब वह शाहजहां के साथ लाहौर में था, उसने अपने बड़े पुत्र अमरसिंह के स्थान पर अपने दूसरे पुत्र जसवन्तसिंह को अपना उत्तराधिकारी घोषित किया। गजसिंह ने अपने अन्तिम वर्ष दक्षिण और कन्धार की लड़ाइयों में व्यतीत किये। कन्धार से वह आगरा लौट आया। यहीं वह बीमार पड़ गया और 6 मई, 1638 ई. को उसकी मृत्यु हो गई। उस पर जहांगीर और शाहजहां–दोनों की विशेष कृपा रही। मुगल दरबार में राठौड़ों के प्रतिद्वन्द्वी आमेर के कछवाहों को इतना ऊँचा मनसब नहीं मिल पाया था।

12.2. जसवन्त सिंह (1638–1678 ई.) की मुगल सेवा :

इतिहासकार निर्मलचन्द्रराय ने लिखा है कि गजसिंह की मृत्यु से जोधपुर राज्य के इतिहास में एक इकाई का अन्त हो गया और उसके पुत्र जसवन्त सिंह के राज्यारोहण से एक नवीन युग का सूत्रपात हुआ। गजसिंह की मृत्यु आगरा में होने के कारण जसवन्त सिंह सीधा आगरा आया और वहीं से उसने सम्राट शाहजहाँ से टीका स्वीकार किया। सम्राट ने उसे जोधपुर, सोजत, फलौदी, मेड़ता और सिवाना का स्वामी बनाया। इस रस्म के पूरा होने पर जसवन्त सिंह जौधपुर लौटा और 30 अप्रेल, 1640 को वहाँ अपना विधिपूर्वक राज्याभिषेक करवाया।

12.3. जसवन्तसिंह का आरम्भिक जीवन :

मारवाड़ के इस उल्लेखनीय नरेश का जन्म मंगलवार 24 दिसम्बर, 1626 ई. को बुरहानपुर में हुआ था। वह गजसिंह का दुसरा पुत्र था। इसकी माता का नाम 'सीसोदणी प्रताप दे' अथवा 'रुक्मावती' था। जसवन्तसिंह के जन्म के समय गजसिंह दक्षिण में मलिक अम्बर के विद्रोह को दबाने में व्यस्त था। इसके ज्येष्ठ भ्राता का नाम अमरसिंह था जो पिता की मृत्यु के समय 25 वर्ष का था। उसके एक छोटा भाई भी था। उसका नाम अचलसिंह था। परन्तु अचलसिंह की मृत्यु अल्पावस्था में ही हो गई थी। गद्दी के लिए अमरसिंह व जसवन्तसिंह में संघर्ष हो सकता था। परन्तु जब मुगल सम्राट ने उसे 'राजा' की पदवी से अलंकृत कर जौधपुर का स्वामी बना दिया तो उत्तराधिकार के संघर्ष की सम्भावना कम हो गई। इसके अलावा गजसिंह ने भी (1633) अपने जीवनकाल में ही जसवन्तसिंह को अपना उत्तराधिकारी घोषित कर दिया था। डॉ. ओझा, गहलोत अपने विवरण में बताते हैं कि 1632 ई. में जब गजसिंह दक्षिण में खानजहां लोदी का विद्रोह दबाकर मुगल सम्राट शाहजहाँ से लाहौर मिलने गया, उसी अन्तराल में उसने अपने तीन वर्षीय पुत्र जसवन्तसिंह को अपना उत्तराधिकारी घोषित कर दिया था। गद्दी पर बैठते ही सम्राट ने जसवन्तसिंह को 4000 जात व 4000 सवार का मनसब बनाया। ज्येष्ठ भ्राता अमरसिंह को उसके उग्र स्वभाव तथा स्वेच्छाचारी होने के कारण जौधपुर का राजा नहीं बनाया गया था। इसका कारण अमरसिंह का उग्र स्वभाव तथा उसका स्वेच्छाचारी होना था। स्वेच्छाचारी होने के कारण वह बहुधा पिता की आज्ञा का उल्लघंन कर मनमानी करता था। उद्धत स्वभाव उसका इतना था कि उसने तनिक से व्यंग पर अपने जीजा, बंधूगढ़ (रीवां) कें युवराज अमरसिंह का भोजन पर ही वध कर दिया था। जसवन्तसिंह की राज्यरोहण के समय आयु केवल 12 वर्ष की ही थी। राज्यारोहण 25 मई, 1638 ई. को आगरे में हुआ। अतः उसकी रक्षा के लिए सम्राट ने आसोप के ठाकुर राजसिंह कूँपावत को जसवन्तसिंह का प्रधान संरक्षक नियुक्त कर दिया था। इस नियुक्ति के समय सम्राट ने उसे 1,000 जात व 400 सवार का मनसब भी नियुक्त कर दिया था। राज्यारोहण के समय शाहजहां द्वारा प्रेषित अमुल्य भेंट के बदले जसवन्तसिंह ने भी सम्राट को एक हजार मोहरे, बारह हाथी तथा कुछ जड़ाउ शस्त्र भेंट किये। वाजिब उत्तराधिकारी अमरसिंह को शान्त व सन्तुष्ट बनाये रखने की दृष्टि से शाहजहाँ ने उसे 3000 जात व 3000 सवारों का मनसब नियुक्त कर दिया। गजसिंह स्वयं एक अच्छा

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

विद्वान था। अतः उसने जसवन्तसिंह की शिक्षा की व्यवस्था उत्तम कर दी थी। दस वर्ष की आयु (17 मई, 1636 ई) में इसका विवाह जैसलमेर के रावल मनोहरदास की पुत्री के साथ कर दिया था। इस विवाह के लगभग डेढ़ वर्ष के उपरान्त ही जसवन्तसिंह का दूसरा विवाह बून्दी के राव शत्रुशाल की पुत्री कर्मावती के साथ हो गया।

12.4. जसवन्त की उत्तर–पश्चिमी सीमा में मुगल सेवाएँ :

राज्याभिषेक करवाने के उपरान्त जसवन्त सिंह जौधपुर में एक साल ही ठहरा। इसके उपरान्त सम्राट ने उसे ईरान के शाह के विरुद्ध सैनिक अभियान में भिजवा दिया। इस अभियान का नेतृत्व दारा शिकोह ने किया था। भाग्यवश 2 मई, 1642 में ईरान शाह (शाह सफी) ही इस दुनियां से कूच कर गया। इस प्रकार काबुल–कन्धार में शान्ति स्थापित हो गई और सम्राट ने सेना को वापिस आने के आदेश दे दिये। आदेशानुसार 1642 में ही जसवन्तसिंह लाहौर लौट आया। परन्तु अब्दुल हमीद लाहौरी का कहना है कि इस अल्प–कालिक अभियान में भी सम्राट जसवन्तसिंह की वीरता से प्रसन्न हुआ और जून 1643 को राजा को इस खुशी में एक विशेष खिल्लत भेंट में दी।

12.5. जसवन्त सिंह व जौधपुर की शासन व्यवस्था :

जौधपुर से दो वर्ष अनुपस्थित रहने के कारण वहाँ के प्रशासन में कुछ शिथिलता आ गई थी। इसी कारण जसवन्तसिंह ने महेशदान के स्थान पर मेड़तिया गोपालदास को अपना प्रधान मन्त्री बनाया। महेशदास को हटाने का यह कारण था कि वह शाही मनसब था। उसे जालौर की जागीर प्राप्त थी। इस कारण वह जौधपुर के प्रशासन की और समुचित ध्यान नहीं दे पाता था। नवीन प्रधानमंत्री की सहायता से जसवन्तसिंह ने शीघ्र ही राज्य की आन्तरिक अवस्था में सुधार कर लिया। परन्तु इसी अन्तराल (25 जुलाई, 1644 ई.) में जसवन्तसिंह को अपने भाई अमरसिंह के मृत्यु के समाचार मिले। इससे उसका दिल हिल गया। अमरसिंह का वध मुगल दरबार में ही मुगल अमीरों ने कर दिया था। क्योंकि उसने आवेश में मुगल सम्राट के सम्बन्धी मीर बख्शी सलावत खाँ की हत्या कर दी थी। सलाबत खाँ की हत्या का कारण यह था कि उसने सम्राट शाहजहां को बहका दिया कि राठौड़ अमरसिंह ने उनका अपमान किया है।

12.6. सम्राट की उत्तर–पश्चिम में यात्रा :

अमर सिंह के वध के उपरान्त शाहजहां ने कश्मीर जाने से पूर्व जसवन्तसिंह को आगरा दरबार में उपस्थित होने के आदेश भिजवाये। आदेशानुसार वह 1645 ई. में रुपबास स्थान पर सम्राट से मिला। कश्मीर जाते समय शाहजहां जसवन्तसिंह को भी अपने साथ ले जाना चाहता था, परन्तु शेख फरीद के न होने के कारण जसवन्तसिंह को आगरे की सुरक्षा का भार सौंपा गया। शेख फरीद के आ जाने पर जसवन्तसिंह लाहौर के लिए रवाना हो गया, और 10 अप्रेल, 1646 को पेशावर के समीप सम्राट के समक्ष उपस्थित हो गया। सम्राट ने जसवन्तसिंह को एक जड़ाऊ जमधर, एक फूलकटार व एक अरबी घोड़ा भेंट किया। 14 मई को पेशावर पहुँचने पर वह पुनः पुरस्कृत किया गया और 5000 जात व 5000 सवार का मनसब बना दिया गया। शाहजहां द्वारा जसवन्तसिंह की मनसबदारी में निरन्तर वृद्धि इस बात की परिचायक थी की सम्राट जसवन्तसिंह की सेवाओ से सन्तुष्ट था। जनवरी 1648 में दोनों साथ–साथ आगरा लौट आये। आगरा आने पर जसवन्तसिंह ने जोधपुर जाने की अनुमति मांगी, वह स्वीकार कर ली गई।

12.7. जौधपुर लौटकर जसवन्त सिंह द्वारा स्थानीय राजनीति में रुचि लेना :

1650 में जब जसवन्त सिंह जोधपुर लौटा तो देखा कि जैसलमेर के शासक मनोहरदास की मृत्यु हो जाने के कारण वहाँ गृह–कलह चल रहा है। जसवन्त सिंह ने सबल सिंह का पक्ष लेकर उसे रामचन्द्र के स्थान पर राजा बना दिया। इसके उपरान्त उसने पोकरण पर अधिकार कर लिया। इस समस्या से उसे फुर्सत मिली ही थी कि शाहजहाँ से राजधानी में उपस्थित होने का फरमान मिल गया। वह आगरा तो 1651 में चला गया पर अब तक कोई पुत्र उत्पन्न न होने से वह खिन्न–चित्त रहता था। भाग्यवश 1652 में उसे पुत्र रत्न प्राप्त हुआ और वह खुशी मनाने जोधपुर आया। खुशी के उपरान्त वह पुनः आगरा लौट गया। सम्राट ने उसके मनसब पद में वृद्धि कर 6000 जात व 6000 सवार का मनसब बना दिया और 'महाराजा' की पदवी से अलंकृत और कर दिया। इस पदोन्नति के प्रति कृतज्ञता व्यक्त करने हेतु जसवन्त सिंह ने अपने ज्येष्ट भ्राता अमरसिंह की पुत्री का विवाह सम्राट ज्येष्ठ पुत्र दारा के साथ कर दिया। सम्राट भी इस वैवाहिक सम्बन्ध से संतुष्ट हुआ और राजा को मरुका तथा बदनौर के प्रदेश दे दिए। 1655 व 1656 में सम्राट की और से राजा को सम्मान में दो खिल्लतें और प्राप्त हुई। जसवन्त सिंह के अनवरत पदोन्नति के डा. एन. सी. राय ने दो कारण बताये हैं–

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

(1) जसवन्त सिंह शाहजहाँ के ममेरे भाई गजसिंह का पुत्र था।

(2) सम्राट आमेर नरेश व मारवाड़ नरेश में प्रतिस्पर्धा रखना चाहता था।

12.8. जसवन्तसिंह और शाहजहाँ :

सम्राट् से राज्य का टीका प्राप्त करने के बाद जसवन्तसिंह कुछ दिनों तक सम्राट की सेवा में ही रहा। इसी मध्य अपनी वर्ष गाँठ के अवसर पर शाहजहाँ ने जसवन्तसिंह का मनसब बढ़कर 5000 जात व सवार का कर दिया और जैतारण का परगना भी उसे सौंप दिया। इसके पश्चात् उसने जोधपुर लौटकर अपना विधिवत् राज्याभिषेक करवाया और कुछ दिनों के बाद पुनः सम्म्रट् की सेवा में उपस्थित हो गया। 1641 में शाहजहाँ ने पुनः उसके मनसब में वृद्धि की 1642 ई. दारशिकोह के नेतृत्व में ईरान के शाह के विरूद्ध भेजे गये अभियान में सम्मिलित था। किन्तु शाह की मृत्यु हो जाने के कारण यह सेना मार्ग से ही वापस लौट आई। इसके पश्चात् 1643 ई. में उसने मारवाड़ लौटकर वहाँ की शासन व्यवस्था को ठीक किया। इसी मध्य उसके ज्येष्ठ भ्राता अमरसिंह की मुगल दरबार में हत्या कर दी गई क्योंकि उसने आवेश में आकर सम्राट के सम्बन्धी और मीरबक्शी सलावतखाँ को मार डाला था। जसवन्तसिंह को इस घटना से गहरा आघात हुआ, किन्तु वह विचलित नहीं हुआ। 1645 ई. में सम्म्रट के आदेश से वह पुनः शाही दरबार में उपस्थित हो गया। इस बार सम्राट ने अपने कश्मीर भ्रमण के समय राजधानी की सुरक्षा का दायित्व जसवन्तसिंह को सौंपा जिसे उसने कुशलता से निभाया। तदनन्तर वह अक्टूबर, 1645 ई. में शाहजहाँ की सेवा में लाहौर पहुँच गया। 1646 ई. में वह सम्राट के साथ काबुल गया जहाँ मई माह में शाहजहाँ ने उसके मनसब में वृद्धि करके उसे प्रथम श्रेणी का मनसबदार बना दिया। 1648 और 1649 ई. में उसके मनसब में पुनः वृद्धि कर दी गई और हिण्डौन का परगना भी उसे जागीर में दिया गया। जसवन्तसिंह की अनवरत् पदोन्नति सम्राट के साथ उसके मधुर सम्बन्धों की परिचायक है। इसके पश्चात् वह सम्राट के साथ आगरा लौट आया। 1649 ई. जसवन्तसिंह को शहजादा औरंगजेब के साथ काबुल भेजा गया। शहजादे का यह अभियान असफल रहा। किन्तु इससे सम्राट जसवन्तसिंह से नाराज नहीं हुआ। इसके पश्चात् वह जोधपुर लौट आया। जोधपुर प्रवास के दौरान ही सम्राट ने जसवन्तसिंह को सातलमेर का परगना जागीर में देकर आदेश दिया कि वह सबलसिंह को जैसलमेर का राज्य दिलाने में सहायता करे। फलतः जसवन्तसिंह ने मारवाड की सेना की सहायता से सबलसिंह को जैसलमेर की गद्दी पर बैठा दिया। इसके पश्चात् शाही आदेश से वह पुनः शाहजहाँ की सेवा में उपस्थित हो गया। 1652 ई. में जसवन्तसिंह के प्रथम पुत्र का जन्म हुआ। अतः वह पुनः जोधपुर लौट आया। तदतन्तर 1653 ई. में वह पुनः शाही दरबार की सेवा में उपस्थित हो गया जहाँ फरवरी और दिसम्बर माह में शाहजहाँ ने उसे 6000 जात व 6000 सवार का मनसब और 'महाराजा' की पदवी प्रदान की। उसका यह मनसब आमेर के कछवाहा शासक मिर्जा राजा जयसिंह से भी अधिक था। बिना किसी महत्वपूर्ण उपलब्धि के जसवन्तसिंह की अनवरत् पदोन्नति और सम्मान निश्चय ही विस्मयकारी है। डॉ. एन. सी. राय में इन अप्रत्याशित पदोन्नति के दो कारण माने है– प्रथम, जसवन्तसिंह शाहजहाँ के ममेरे भाई गजसिंह का पुत्र था ,अतः सम्राट उससे विशेष स्नेह रखता था। द्वितीय , शाहजहाँ जौधपुर और आमेर के राजघरानों के मध्य प्रतिस्पर्धा उत्पन्न करके उन्हें साम्राज्य की अधिकाधिक सेवा के लिये प्रेरित करना चाहता था। सम्राट इन उद्देश्यों में सफल भी रहा। 1645 में जसवन्तसिंह ने अपनी भतीजी (अमरसिंह की पुत्री) का विवाह दारा के ज्येष्ठ पुत्र सुलेमान शिकोह के साथ कर दिया।

12.9. जसवन्तसिंह और उत्तराधिकार संघर्ष :

सितम्बर, 1657 ई. में सम्राट शाहजहाँ गम्भीर रूप से बीमार पड़ गया और उसके जीने की आशाएँ क्षीण हो गई। ऐसी स्थिति में मुगल शाहजहाँ में सिंहासन प्राप्ति के लिये परम्परागत उत्तराधिकार संघर्ष आरम्भ हो गया। सर्वप्रथम बंगाल के सूबेदार शहजादा शुजा ने विद्रोह का झण्डा ऊँचा किया, किन्तु दारा के पुत्र सुलेमान शिकोह तथा जयसिंह ने बनारस के निकट बहादुरपुर नामक स्थान पर पराजित कर उसे वपिस लौटने पर बाध्य कर दिया। इसके पश्चात् औरंगजेब ने मुराद को अपनी ओर मिला लिया और दोनों की सम्मिलित सेनाएँ आगरा की ओर बढ़ने लगी और धरमत नामक स्थान पर पहुँच गई। शाहजहाँ ने जसवन्तसिंह को 7000 जात तथा 7000 सवार का मनसब देकर मुराद और औरंगजेब का मार्ग अवरूद्ध करने का दायित्व सौंपा। जसवन्तसिंह के साथ मुकन्दसिंह हाड़ा , सुजानसिंह , देवीसिंह , कासिमखाँ आदि को भी भेजा गया। अप्रैल, 1658 ई. में जसवन्तसिंह ने धरमत नामक स्थान पर पहुँचकर औरंगजेब

से समझौता करने का प्रयास किया, किन्तु उसे सफलता नहीं मिली। अतः दोनों पक्षों में युद्ध की तैयारियाँ आरम्भ कर दीं। 16 अप्रैल , 1658 ई. को राजपूतों ने शत्रु के तोपखाने पर धावा बोल दिया और तोपखाने के नेता मुर्शिदकुलीखाँ को मार डाला। किन्तु मुराद और औरंगजेब की सेनाओं ने शीघ्र ही राजपूतों को चारों ओर से घेर लिया। मुकन्दसिंह हाड़ा , सुल्तानसिंह, दयासिंह, अर्जुन गौड़ आदि राजपूत सरदार लड़ते हुए मारे गए। जसवन्तसिंह स्वयं भी लड़ता हुआ घायल हो गया, फिर भी वह अपने सैनिकों को प्रोत्साहित करता रहा। किन्तु उसके सहायक कासिमखाँ युद्ध में कोई भाग नहीं लिया और निष्क्रिय बना रहा। अन्त में, मेहरादास गौड़ आदि स्वामिभक्त सरदारों ने जसवन्तसिंह के घोड़े की लगाम पकड़कर उसे युद्ध–क्षेत्र से बाहर ले गये और कुछ राठौड़ सैनिकों के साथ उसे जोधपुर रवाना कर दिया। इस प्रकार धरमत के युद्ध में औरंगजेब विजयी हुआ। कुछ इतिहासकारों का कथन है कि जौधपुर पहुँचने पर महारानी ने जसवन्तसिंह को युद्ध क्षेत्र छोड़कर कायरता पूर्वक भाग आने पर उसे अपमानित किया और दुर्ग के द्वार खोलने से इन्कार कर दिया। किन्तु अधिकांश इतिहासकार इसे कपोलकल्पित मानते हैं।

12.10 जसवन्तसिंह औरंगजेब की सेवा में :

12.10.1. जसवन्त सिंह का गुजरात का सूबेदार होना (1659–61) – दारा के पलायन करने के दूसरे ही दिन (15 जनवरी, 1659) जसवन्त सिंह को औरंगजेब ने एक खिलअत भेजी और साथ में ही 7000 जात व 7000 सवार के मनसब की हैसियत से उसे गुजरात का सूबेदार बना दिया। नियुक्ति के फरमान के साथ ही सम्राट ने जसवन्त सिंह को गुजरात में दारा का पीछा करने का भी आदेश भिजवाया। अतः उसको उस समय ही गुजरात के लिए रवाना होना पड़ा। इस प्रकार इस नियुक्ति के साथ ही औरंगजेब ने जसवन्त सिंह के सारे अपराध क्षमा कर दिये और उसका 'महाराज' का खिताब उसे लौटा दिया।

इस प्रकार जसवन्त सिंह तो सम्राट औरंगजेब से तो पुरस्कृत हो गया परन्तु कतिपय इतिहासकरों ने उस पर दारा के साथ विश्वासघात करने का दोषारोपण किया है। परन्तु यदि हम तत्कालीन परिस्थितियों का कूटनीति से विश्लेषण करें तो हम इस निष्कर्ष पर पहुचेंगे कि उन परिस्थितियों में जसवन्त सिंह ने यह सही ही किया था।

गुजरात की सूबेदारी मिलते ही जसवन्त सिंह ने प्रथम अपने पुत्र पृथ्वीसिंह को मुगल दरबार में उपस्थित होने भेजा और वह स्वयं सिरोही की और रवाना हो गया। गुजरात पहुँचकर उसने अकाल समस्या का समाधान किया। गुजरात राज्य का दौरा कर उसने वहाँ शान्ति स्थापित की। उपद्रवी जमींदारों को उसने दबा दिया। जसवन्त सिंह की इस व्यवस्था से सम्राट प्रसन्न हुआ और उसने जसवन्त सिंह को एक खिलअत और भेजी। गुजरात में जसवन्त सिंह द्वारा स्थापित व्यवस्था से औरंगजेब प्रसन्न अवश्य हुआ पर फिर भी वह राजा के चरित्र के प्रति शंकालु बना रहा।

12.10.2. जसवन्त सिंह व मराठा – दक्षिण में मराठें औरंगजेब के सम्राट बनने से पूर्व ही शक्ति में आ गये थे। शिवाजी बीजापुर के प्रदेशों पर धावा बोलने लग गया था। अतः औरंगजेब ने अपने मामा शाइस्ताखाँ को शिवाजी के विरुद्ध भेजा। उसके असफल रहने पर औरंगजेब ने 1661 ई. में जसवन्त सिंह को भेजा। सम्राट के आदेशानुसार जसवन्त सिंह 11 अप्रेल, 1662 को पूना पहुँच गया। जसवन्त सिंह को वहाँ की परिस्थितियों से पूर्व परिचित था। उसने सिंहगढ़ का मार्ग सम्भाला। उधर शाइस्ताखाँ 'लाल महल' में रुका। रात्रि को शिवाजी ने उस पर धावा बोल दिया। उसे प्राण बचा कर भागना पड़ा। इस आक्रमण को शाइस्ताखाँ ने दोषारोपण जसवन्त सिंह पर ही किया। खफी खाँ ने तो यहाँ तक लिखा है कि जसवन्त सिंह और शिवाजी के मध्य सन्धि हो गई थी। मई 1663 ई. में जब औरंगजेब को इसकी सूचना मिली तो उसने अपने मामा शाइस्तखाँ को बंगाल का सूबेदार बना दिया और जसवन्त सिंह को दक्षिण में ही शाहजादा मुअज्जम के नेतृत्व में रहने दिया। उसकी सेवा में कुछ भी शंका न करते हुए दिसम्बर, 1663 मे खिलअत भेजकर उसे पुरस्कृत किया।

12.10.3. जसवन्त सिंह का मुगल दरबार में उपस्थित होना (1665–66 ई.) – मुगल सेना की निर्बलता का आभास कर शिवाजी ने जब सूरत को लूट लिया तो 30 सितम्बर, 1664 को जसवन्त सिंह को आगरा लौटने के आदेश मिला। उसके स्थान पर मिर्जा राजा जयसिंह को भेजा गया। वे 13 मई, 1665 को आगरे आ पहुँचे। परन्तु इस बार भी औरंगजेब ने अप्रसन्नता व्यक्त न कर जसवन्त सिंह को खिलअत और उनके पुत्र पृथ्वी सिंह को 2000 जात और 1000 सवार का मनसब पद देकर पुरस्कृत किया। दक्षिण से लौटकर जसवन्त सिंह सम्राट की सेवा में दिल्ली ही रहने लगा। दिल्ली के इस प्रवास काल में उसे 31 जनवरी, 1666 को शाहजहां की मृत्यु के समाचार मिले। 14 फरवरी को वह अपने पुत्र पृथ्वी सिंह सहित सम्राट औरंगजेब के साथ आगरा पहुँच गया।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

12.10.4. जसवन्त सिंह को पुनः दक्षिण भेजना (1666–71 ई.) – शिवाजी के आगरा से भाग जाने पर औरंगजेब को महान धक्का लगा और वह रामसिंह कछवाहा पर कुपित हो गया। शिवाजी के दक्षिण में पहुँच जाने पर औरंगजेब ने दक्षिण समस्या कि भंयकरता भांपते हुए जसवन्त सिंह को मुअज्जम के साथ पहले दक्षिण भेजा। मई, 1667 में जसवन्त सिंह औरंगाबाद पहुँच गया और अपने ज्येष्ठ भ्राता पृथ्वीसिह की मृत्यु हो जाने पर भी दक्षिण में टिका रहा। उनके जाने से दक्षिण की स्थिति में कुछ सुधार अवश्य हुआ। 1667 के अन्तिम महिनों में जसवन्तसिंह ने औरंगजेब और शिवाजी के मध्य एक सम्मानजनक समझौता करवाने का प्रयास किया। इस समझौते से प्रसन्न होकर औरंगजेब ने उन्हे गुजरात का शिराद और रथणपुर के परगने जागीर में और दे दिए।

एक तरफ तो औरंगजेब जसवन्त सिंह को सतत पुरस्कृत कर अपनी प्रसन्नता व्यक्त करता रहा और दूसरी तरफ उन पर निगाह रखने के लिए दक्षिण से दिलेरखाँ को भेज दिया। दिलेरखाँ जसवन्त सिंह से पहले ही नाराज था। अतः उसने सम्राट को इस सन्धि के विरोध में भड़का दिया। सम्राट अपने पुत्र मुअज्जम पर ही बागी होने का सन्देह कर बैठा। परिणामतः शाहजादा को आगरा बुला लिया और जसवन्त सिंह को बुरहानपुर रहने का आदेश दिया। जनवरी, 1671 में जसवन्त सिंह को गुजरात का सूबेदार बना दिया। यहाँ वह छोटे–मोटे झगड़ों को निपटाकर शान्ति स्थापित करने का प्रयास कर ही रहा था कि सम्राट ने उसे काबुल जाने के आदेश भिजवा दिए।

12.11. जसवन्त सिंह की पश्चिमोत्तर भाग में नियुक्त और मृत्यु :

राव जसवन्त सिंह को उत्तर–पश्चिमोत्तर भाग का भी अच्छा ज्ञान था क्योंकि वह समय–समय पर उधर सैनिक अभियानों में जाता रहा था। जब 1672 ई. में अफ्रीदी तथा खटक अफगानों ने मुहम्मद अमीन को परास्त कर काबुल को संकट ग्रस्त बना दिया तो औरंगजेब ने 17 नवम्बर, 1673 को सुजात खाँ के सहयोगी के रुप में जसवन्त सिंह को काबुल भेजा। पेशावर में सुजात खाँ तथा जसवन्त सिंह अफगानों पर आक्रमण करने की योजना बना रहे थे तो कुछ नेता समझौते का प्रस्ताव लेकर सुजात खाँ के पास आये और उससे काबुल चलने का अनुरोध करने लगे। जसवन्त सिंह यौद्धा होने के साथ आदमियों का अच्छा पारखी भी था। उसे शान्ति का प्रस्ताव लेकर आने वाले अफगानों पर सन्देह हो गया। अतः उसने सुजात खाँ को काबुल न जाने की सलाह दी। परन्तु अदुरदर्शी सुजात खाँ काबुल के लिए रवाना हो गया। 21 फरवरी, 1674 को सुजात खाँ ज्यों ही कड़ापा के दर्रे में पहुँचा कि अफगानों ने अचानक उस पर धावा बोल दिया। वह युद्ध में काम आ गया। जसवन्त सिंह कर नवीन कुमुक के साथ समय पर पहुँचना भी उसे नहीं बचा सका। सुजात खाँ की मृत्यु से क्रोधित जसवन्त सिंह ने अफगानों को घेर लिया। और हजारों को मौत के घाट उतार दिया। बचे अफगान भाग खड़े हुए। विजयी जसवन्त पेशावर लौट आया परन्तु औरंगजेब को जब सुजात खाँ की मृत्यु की खबर लगी तो उसने जसवन्त सिंह को जमरुद रहकर अफगानों के दमन के आदेश दिए। राजा ने अफगानों के दमन के लिए व मुगल सेना की सुरक्षा के लिए इस पहाड़ी इलाके मे कई सैनिक चौकियाँ स्थापित कीं, परन्तु अफगान पुर्णतः दबे नहीं। वे रात्रि के अंधेरे में जसवन्त सिंह के सैनिको पर धावा बोलते और मुगल सैना को नुकसान पहुँचाते। इस कारण जसवन्तस सिंह काबुल में पूर्ण शान्ति स्थापित नहीं कर सका।

औरंगजेब ने काबुल समस्या को अपनी प्रतिष्ठा का प्रश्न बना लिया और 7 अप्रेल, 1674 ई. को वह स्वयं काबुल के लिए रवाना हो गया। सम्राट ज्यों ही राउलपिण्डी पहुँचा कि जसवन्त सिंह जमरुद से आकर मुगल सम्राट की सेवा मे उपस्थित हुआ। इस अवसर पर भी सम्राट ने उसकी वीरता की प्रशंसा की और उसे एक विशेष खिलअत तथा बीस हजार का हाथी दिया। पुरस्कृत करने के उपरान्त उसे जमरुद ही वापिस जाने के आदेश दे दिए। राजा जमरुद लौट आया। उधर औरंगजेब अफगानों पर आक्रमण करने की योजना बनाने लगा। जसवन्त सिह अपने स्वामी की सेवा दिल से कर रहा था पर परमात्मा उसे दुःखी बनाने में कसर नहीं छोड़ रहा था। 22 फरवरी, 1676 ई. को उसका एक मात्र बचा हुआ पुत्र जगतसिंह भी उसका साथ छोड़ गया। अपने पुत्र की मृत्यु के दुःख को वह सहन नहीं कर सका। जोधपुर के उत्तराधिकारी का प्रश्न उसे दिन–रात सताने लगा। इसी दारुण–दुःख के कारण वह भी 28 नवम्बर, 1678 को इस दुनियाँ से चल बसा।

12.12. व्यक्तित्व और सारांश :

मआसिर–उल–उमारा के लेखक ने कहा है कि "अपनी सम्पति और अनुयायियों की संख्या के कारण वह भारत के

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

राजाओं में शिरोमणि था।'' राजा जसवंतसिंह साहसी थे। उन्होंने अपने जीवन में अनेक युद्ध लड़े किन्तु धरमत को छोड़कर और किसी में नहीं हारे। शाहजहां के समय उसने बीस वर्ष तक घूम–घूम कर विद्रोहों का दमन किया। शाहजहां ने आगरा का सूबेदार तक बनाया था। इससे उसका विश्वास तथा स्नेह साफ दिखता है।

जसवंतसिंह की अधीनता में मारवाड़ का राज्य विस्तार सबसे अधिक था और किसी हिन्दू राजा का राज्य इतना बड़ा नहीं था। जोधपुर, सोजत, मेड़ता, सिवाना, जैतारण, पोकरण, फलौदी, जालौर और भीनमाल जो उसके राज्य के अंग थे ही। इनके अतिरिक्त उसके पास 22 अन्य परगने भी थे जिनमें बदनौर, केकड़ी, नारनौल, रोहतक आदि उल्लेखनीय है। उसकी अधीनता में जोधपुर भारत का एक महत्वपूर्ण राज्य था। शाहजहां के समय तो वह अकेला और औरंगजेब के समय में जसवन्तसिंह और आमेर का राजा जयसिंह सिर्फ ये ही दो हिन्दू राजा दरबार में सबसे बड़ी मनसब और जागीर सम्मान पाते थे। जसवंत के पास सात हजारी मनसब थी। ख्यातों से ज्ञान होता है कि जसवंतसिंह एक योग्य सेनापति और कुशल व्यवस्थापक था। अपनी रियासत से दूर रहने पर भी वह कुशल व अनुभवी प्रशासकों को रखकर राज्य में सुव्यवस्था बनाये रखता था।

राजा विद्या और कला का भी प्रेमी था। वह सवयं अच्छा कवि था तथा जीवन ओर मानव चरित्र को भली प्रकार समझता था। राजस्थान के अबुल फजल नैणसी को उसी ने खोजा और संवारा था। वह विद्वानों का आदर करता और उन्हें सहायता व संरक्षण देता था। उसने खुद ने दो नाटक लिखे थे– ''प्रबोध चन्द्रोदय'' और ''सिद्धांत सार''। उसके समय में रचित ग्रन्थों में ''भाषा भूषण'' सबसे अच्छा है। सरत मिश्र, नरहिदास, बनारसीदास और नवीन कवि आदि उसके समय में विद्वान थे। जौधपुर की ख्यातों का प्रसिद्ध लेखक मुहिणोत नेणसी उसका ही मंत्री था। ओझाजी का कहना है कि ''उसकी ख्यात तथा'' जौधपुर रा परगणा री ख्यात'', राजस्थान के ऐतिहासिक, सामाजिक और आर्थिक स्थिति के अध्ययन के अनुपम ग्रन्थ है।''

वह हिन्दू धर्म का रक्षक था। औरंगजेब जैसा कट्टर मुसलमान उसके रहते भारत के हिन्दुओं पर अत्याचार नहीं कर सका। जब वह दूर सीमा पर था तब बादशाह ने थोड़ा बहुत दमन कर लिया। वह अपने पीछे ऐसे देश भक्तों का समूह छोड़ गया जिसने मुगल बादशाह को नाकों चने चबा दिये पर मारवाड़ को पराधीन नहीं होते हुए भी उसने अपनी स्वतंत्र प्रवृत्ति का परिचय दे राठौड़ वंश के गौरव और पद की प्रतिष्ठा बनाये रखी।'' ''जब तक वह जीवित रहा औरंगजेब भी अपने कई सपनों को चरितार्थ नहीं कर सका।

12.13. बोध प्रश्न :

प्रश्न 1 जसवन्तसिंह के पिता का नाम क्या था?

अ. कल्याणमल   ब. गजसिंह

स. रामचन्द्र   द. प्रताप सिंह

उत्तर – ....

प्रश्न 2 जसवन्त सिंह की जीवनी बताइये।

उत्तर – ....

प्रश्न 3 जनवन्तसिंह का मुगलों से सम्बन्ध को विवेचित कीजिए?

उत्तर – ....

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

इकाई – 13
वीर दुर्गादास

संरचना

13.0 उद्देश्य
13.1 प्रारम्भिक जीवन
13.1.1 अजीत की रक्षा
13.1.2 औरंगजेब की मारवाड़ नीति
13.1.3 राठौड़ सीसोदिया संधि
13.1.4 मारवाड़ में युद्ध की घटनाएँ
13.2 दुर्गादास की कूटनीति : अकबर का विद्रोह
13.3 दुर्गादास की दक्षिण यात्रा
13.4 दक्षिण से लौटने के बाद पुनः संघर्ष
13.5 मारवाड़ मुगल संघर्ष का अंतिम चरण
13.6 दुर्गादास का स्वैच्छिक निर्वाचन
13.7 दुर्गादास का अंतिम दिन व मूल्यांकन
13.8 बोध प्रश्न

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

13.0. उद्देश्य :

प्रस्तुत इकाई में मारवाड़ के राजपूत शासक अजीत (अल्पव्यस्क) की रक्षा, औरंगजेब के साथ सम्बन्ध, युद्ध आदि को दुर्गादास के सन्दर्भ में समझाया गया।

13.1. प्रारंभिक जीवन :

दुर्गादास का जन्म सोमवार 13 अगस्त , 1638 ई. में हुआ था। उसका पिता आसकरण जौधपुर के महाराजा जसवंत सिंह का मंत्री था। अपनी पत्नी से अप्रसन्न होने के कारण आसकरण से उसे तथा उसके पुत्र दुर्गादास के प्रति उपेक्षा की भावना ही रखी। पिता द्वारा उपेक्षित दुर्गादास के जीवन में 1655 ई. में एक ऐसा अवसर आया कि मारवाड़ के शासक जसवन्त सिंह को उसमें अटूट स्वामीभक्ति की झलक दिखाई दी और उसने कहा कि दुर्गादास एक सपूत है और कभी काम पड़ा तो डगमगाते हुये मारवाड़ की रक्षा में इसका अथक योगदान होगा। जसवन्त सिंह का यह कथन वास्तव में भविष्यवाणी ही सिद्ध हुई।

13.1.1. अजीत की रक्षा – जसवन्तसिंह को दुर्गादास पर इतना अधिक विश्वास हो गया कि युद्धकाल में उसे सदैव अपने पास रखा , परन्तु स्वामीभक्ति की परीक्षा की घड़ी तो जसवन्त सिंह की जमरूद में 28 नवम्बर , 1678 ई. में मृत्यु होने पर आयी। जसवन्त सिंह की मृत्यु के साथ ही मारवाड़ पर संकट के बादल घिर आये। निस्सन्तान मृत्यु के समाचार ज्ञात होते ही औरंगजेब ने मारवाड़ को मुगल साम्राज्य का अंग बना दिया,फिर भी दुर्गादास विचलित नहीं हुआ। उसने महाराजा की विधवा रानियों एवं मरणोपरान्त उत्पन्न अजीत सिंह की सुरक्षा का दायित्व निभाते हुए औरंगजेब के चंगुल से बचाकर , मार्ग में मुगल सेनाओं से निरन्तर संघर्ष करता हुआ उन्हें मारवाड़ तक पहुँचाने में सफल हुआ। उसके बाद उसने अपना पूरा प्रयास अजीत सिंह को उसका पैतृक राज्य दिलाने में लगाया।

13.1.2. औरंगजेब की मारवाड़ नीति – अजीत सिंह का हाथ से निकल जाना औरंगजेब मुगल साम्राज्य के लिये खतरे का सूचक समझा। मारवाड़ में मुगल विरोधी संघर्ष को कुचलने के लिये अगस्त , 1679 ई. में सरबुलन्द खाँ के नेतृत्व में मुगल सेनायें मारवाड़ की ओर भेजीं और स्वयं भी सितम्बर, 1679 ई. में अजमेर पहुँचा। युद्ध क्षेत्र के पास रहते

हुये उसने अपने आपको युद्ध की गति से परिचित रखा। परिणामतः नवम्बर, 1679 ई. तक समस्त मारवाड़ पर मुगलों का अधिकार हो गया। यों औरंगजेब ने मारवाड़ को खालसा कर लिया और उसके विभिन्न विभागों पर मुगल अधिकारियों की नियुक्ति कर दी। यदुनाथ सरकार के अनुसार, जहां भी शत्रु सेनायें पहुंची वहां निर्दोष जनता को मौत के घाट उतारा गया और मन्दिरों को ढहोर मस्जिदें बनाई गईं। इस भांति मुगलों की मारवाड़–विजय से दुर्गादास अन्य राठौड़ सरदारों के सामने अजीत सिंह की सुरक्षा का प्रश्न आया।

13.1.3. राठौड़ सीसोदिया संधि – मारवाड़ में जब अजीत सिंह की सुरक्षा के कोई आसार नजर नहीं आये तो दुर्गादास उसे लेकर मेवाड़ आ गया। जहां महाराणा राजसिंह ने उसे शरण देते हुये 12 गांवों सहित केलवा का पट्टा दे दिया और दुर्गादास को कहा कि "आप चिन्ता न करें, बादशाह सीसोदिया व राठौड़ों की संयुक्त सेना का सामना नहीं कर सकता है।" तब राठौड़–सीसोदिया संधि भी हो गई थी और दोनों की संयुक्त शक्ति ने मुगलों के दांत खट्टे कर दिये।

13.1.4. मारवाड़ में युद्ध की घटनायें – औरंगजेब जब मेवाड़ में व्यस्त था तब शाही शक्ति को विभाजित करने के उद्देश्य से दुर्गादास और अन्य राठौड़ सामन्त जालोर, सोजत, सिवाना, जैतारण आदि स्थलों का उपद्रव कर मुगल व्यवस्था को छिन्न–भिन्न कर रहे थे। इसलिये मेवाड़ से वापस अजमेर लौटने के पश्चात् अप्रैल, 1680 ई. में उसने मुकर्रम खां को जालोर की ओर जाने का आदेश दिया। इन्द्रसिंह भी अपनी प्रतिष्ठा स्थापित करने में लगा हुआ था, ताकि उसे जोधपुर का राज्य मिल जाय। परन्तु जून 1680 ई. में खतेसर के युद्ध में इसकी करारी हार हुई एवं राठौड़ वंश राज–परिवार का होते हुये भी वह अपनी ओर अन्य स्वामीभक्त सामन्तों को मिलाने में सफल नहीं हो सका। जोधपुर का खतरा दिन–प्रतिदिन बढ़ता ही जा रहा था। दक्षिण में जालौर से सिवाना, उत्तर में डीडवाना और उत्तर–पूर्व में सांभर आदि स्थानों पर राठौड़ विद्रोह उग्र रूप धारण करता जा रहा था। सर यदुनाथ सरकार के अनुसार, मारवाड़ में कहीं पर भी उसका युद्ध नहीं हुआ, परन्तु छापामार और रसद लूटने की चालों को वहां इतनी निपुणता से अपनाया गया था कि मुगल सैनिक तथा अधिकारी किंकर्त्तव्यविमूढ़ थे।

13.2. दुर्गादास की कूटनीति : अकबर का विद्रोह :

राजपूत–मुगल संघर्ष में अभी तक किसी भी पक्ष को अपेक्षित सफलता नहीं मिल पाई थी। अतः दुर्गादास ने कूटनीति से काम लेने का निश्चय किया क्योंकि राजपूतों के लिए लम्बे समय तक युद्ध जारी रखना सम्भव न था। सर्वप्रथम, राजपूतों को सफलता न मिली तो उन्होंने शहजादे अकबर को उकसाया कि वह राठौड़ों तथा सिसोदियों के सहयोग से दिल्ली का सिंहासन हस्तगत कर मुगल वंश को सर्वनाश से बचा लिया। शहजादा अकबर उनके बहकावे में आ गया। दुर्गादास राठौड़ तथा अन्य राजपूत सरदार उसे नाड़ौल ले आये जहां 1 जनवरी, 1681 को उसे सम्राट घोषित कर दिया गया। इस प्रकार, अकबर ने अपने पिता औरंगजेब के विरूद्ध विद्रोह कर ध्वज फहरा दिया। इस घटना के पूर्व 22 अक्टूबर, 1680 को मेवाड़ के महाराणा राजसिंह का देहान्त हो गया था, परन्तु नये महाराणा जयसिंह ने संघर्ष को जारी रखा।

शहजादे अकबर के विद्रोह होने की सूचना से औरंगजेब स्तम्भित रह गया, क्योंकि इस समय अजमेर में उसके पास दस हजार सैनिक भी नहीं थे। किन्तु अकबर की विलासिता, अकर्मण्यता और अनावश्यक विलम्ब ने औरंगजेब को अपनी स्थिति संगठित एवं सुदृढ़ बनाने का पर्याप्त अवसर दे दिया। अकबर की इस प्रकृति के कारण उसके अनेक सहयोगी भी धीरे–धीरे उसके शिविर से खिसक कर सम्राट की सेवा में जा पहुंचे। अकबर अपनी तथा राजपूतों की सेना के साथ अजमेर की तरफ बढ़ा और अजमेर के निकट दोराई नामक गांव पहुंचा, जहां औरगजेब अपनी सेना के साथ पहले से ही पड़ाव डाले हुए था। जब दोनों पक्षों की सेनाएं आमने–सामने पड़ी हुई थीं, औरंगजेब ने अपनी कूटनीतिक चाल चली। उसने राजपूतों को धोखा देने के लिए अकबर के नाम एक पात्र की सत्यता की जांच के लिए तत्काल अकबर के डेरे पर गया तो अकबर के सेवकों ने कह दिया कि वह सो रहा है। तब दुर्गादास अकबर के मुख्य सेनानायक तहब्बरखां के डेरे पर गया तो उसे मालूम हुआ कि तहब्बरखां गुप्त रूप से औरंगजेब के शिविर में गया हुआ है। इससे दुर्गादास और राजपूत सरदारों को विश्वास हो गया कि अकबर ने राजपूतों को नष्ट करने का षड्यंत्र रचा है। अतः राजपूत अकबर के शिविर का बहुत–सा सामान आदि लेकर युद्ध–क्षेत्र छोड़कर चले गये। दूसरे दिन प्रातः अकबर को जागने पर मालूम हुआ कि उसके पास केवल 350 अश्वारोही और कुछ सेवक मात्र रह गये है। अतः वह अपने परिवार व खजाने को लेकर राजपूतों के पीछे–पीछे रवाना हो गया। औरंगजेब की चाल कामयाब रही और बिना युद्ध लड़े ही वह विजयी रहा। अकबर का विद्रोह तिनके की भांति उड़ गया।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

13.3. दुर्गादास की दक्षिण यात्रा :

शहजादा अकबर दो दिन पैदल चल कर जनवरी, 1681 में राठौड़ों की शरण में चला गया, तब राजपूतों को औरंगजेब के छल का पूरा पता लगा। दुर्गादास ने शहजादे को अपनी शरण में ले लिया और अकबर को साथ लिए इध ार–उधर भटकने लगे। शहजादा मुअज्जम उनका निरन्तर पीछा कर रहा था। दुर्गादास को यह स्पष्ट हो गया कि राजपूतानें में अब अकबर की सुरक्षा सम्भव नहीं है और अकबर की उपस्थिति के कारण बालक अजीतसिंह ने भी खतरे में पड़ने की सम्भावना थी। अतः दुर्गादास ने अकबर को दक्षिण की और ले जाने का निश्चय किया। फलतः दुर्गादास ने मारवाड़ की देखरेख का समस्त भार राठौड़ सोनग को तथा अकबर के पुत्र व पुत्री की सुरक्षा का भार राठौड़ रघुनाथ पुरावत तथा जगन्नाथ रामचन्दोल को सौंपकर एवं उन्हें बाड़मेर क्षेत्र में रखने का आदेश देकर दुर्गादास स्वयं अकबर को लेकर दक्षिण के लिए रवाना हो गया। यद्यपि शाही सेना ने उनका पीछा किया, किन्तु उसे कोई सफलता नहीं मिली। दुर्गादास, अकबर को लेकर शिवाजी के पुत्र शम्भाजी के पास जा पहुंचा (जून, 1681 ई.)।

इधर मारवाड़ में राठौड़ सरदार अपने महाराजा अजीतसिंह को देखना चाहते थे। उन्होंने मुकुन्ददास खींची से पूछताछ की। मुकुन्ददास खींची ने दुर्गादास के दक्षिण से लौट आने तक धैर्य रखने की सलाह दी और दुर्गादास को भी पत्र लिखकर जल्दी आने को कहा। परन्तु राठौड़ सरदारों को भारी दबाव के फलस्वरूप मार्च, 1687 ई. में मुकुन्ददास ने बालक महाराजा को लाकर सबके सामने उपस्थित कर दिया। सभी सरदारों ने अपने 8 वर्षीय महाराजा का अभिनन्दन किया।

मुकुन्ददास खींची का पत्र पाकर दुर्गादास ने मारवाड़ लौटने का निश्चय किया और अकबर से जाने की अनुमति मांगी। शहजादे ने उसकी प्रार्थना स्वीकार कर ली और विदा करते समय उसके पुत्र व पुत्री (जो राठौड़ सरदारों के आश्रय में थे) का विशेष ध्यान रखने का अनुरोध किया। जनवरी, 1687 में दुर्गादास ने मारवाड़ के लिए प्रस्थान किया। शाहजादे को भी औरंगजेब के विरूद्ध सफलता मिलने की आशा नही थी, अतः वह ईरान की ओर चला गया।

दुर्गादास ने दक्षिण से लौटते समय मार्ग में खुब लूटमार की और कई स्थानों से धन वसूल किया। अजीतसिंह के प्रकट होने के कई महीने बाद 8 अगस्त, 1687 को वह अपने गांव भीमरलाई पहुंचा। इसके बाद वह अकबर के बच्चों को देखने बाड़मेर गया।

अप्रैल, 1687 मे जब दुर्गादास मेवाड़ पहुंचा था तो उसे यह जानकर बड़ा दुःख हुआ कि अजीतसिंह को सार्वजनिक रूप से प्रगट कर दिया गया है। दुर्गादास नहीं चाहता था कि, उद्देश्यों में आंशिक सफलता पाये बिना ही अजीतसिंह को प्रगट कर दिया जाय, क्योंकि इससे शाही सेनाओं का दबाव बढ़ सकता था और उनका एकमात्र लक्ष्य अजीतसिंह हो जायेगा। लेकिन मारवाड़ के कुछ राठौड़ सरदार नहीं चाहते थे कि मारवाड़ के सारे बातों की जानकारी मिल गई थी। अतः दक्षिण से लौटकर जब दुर्गादास मारवाड़ में आया तब वह अजीतसिंह के पास न जाकर अपने गांव भीमरलाइ आ गया और पत्र द्वारा अजीतसिंह को अपने आने की सूचना भेज दी। अजीतसिंह स्वयं भीमरलाई गया और दुर्गादास से मिला। दुर्गादास ने उसका राजसी सम्मान किया। उसकी सलाह पर अजीतसिंह गूघरोट के पहाड़ों में चला गया।

दुर्गादास के दक्षिण जाने के बाद राजपूत–मुगल संघर्ष की एक महत्वपूर्ण घटना मेवाड़–मुगल सन्धि रही। मेवाड़ का नया महाराणा जयसिंह अपने पिता के समान पराक्रमी एवं योग्य नहीं था। इसके अलावा मुगलों के निरन्तर आक्रमणों से मेवाड़ को अत्यधिक जन–धन की हानि उठानी पड़ रही थी। अतः महाराणा जयसिंह मुगलों से सन्धि करना चाहता था। दूसरी औरंगजेब भी यथाशीघ्र दक्षिण की तरफ जाना चाहता था, क्योंकि शहजादे अकबर और शम्भाजी के मिलन से मुगल साम्राज्य को गम्भीर खतरा उत्पन्न हो सकता था। अतः 24 जून, 1681 को मेवाड़–मुगल सन्धि सम्पन्न हो गई। इस सन्धि के अनुसार महाराणा ने अब मारवाड़ के राठौड़ों की सहायता न करने का वचन दिया। बदले में औरंगजेब ने मेवाड़ के सभी क्षेत्र लौटा देने का वायदा किया। जब दुर्गादास को इसकी सूचना मिली तो उस`दुःख हुआ। परन्तु दुर्गादास ने दक्षिण से राठौड़ सरदारों को सन्देश भिजवाया कि वे मुगलों के विरूद्ध छापामार युद्ध जारी रखें। फलस्वरूप 1681–87 (जब दुर्गादास दक्षिण में था) के मध्य मारवाड़ के राठौड़ सोनग, अजयसिंह, उदयसिंह आदि के नेतृत्व में छापामार पद्धति से मुगलों को परेशान करते रहे।

13.4. दक्षिण से लौटने के बाद पुनः संघर्ष :

दक्षिण से लौटने के बाद दुर्गादास ने अन्य सरदारों की सहायता से सोजत पर आक्रमण किया परन्तु उन्हें निराश होकर

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

लौटना पड़ा। इसके बाद दुर्गादास सिन्ध की ओर होता हुआ पुर–मांडल गया और वहां से पेशकश वसूल की। इसके बाद उसने मेवात, मोहम, रोहत तथा रेवाड़ी के परगनों को लूटा। जौधपुर का फौजदार इनायतखां तो राठौड़ों के आक्रमण से इतना अधिक परेशान हो गया कि उसने बादशाह से आज्ञा लिये बिना ही राठौड़ों से सुलह कर ली। दुर्गादास ने लूटमार बन्द करने तथा शान्ति बनाये रखने का वचन दिया और इनायतखां ने सिवाणा परगने पर अजीतसिंह के शासन को मान्यता दे दी। इस समझौते के बाद अजीतसिंह सिवाणा चला गया। 1688 ई. के शुरू में इनायतखां की मृत्यु हो गई। राठौड़ों ने स्थिति का लाभ उठाने के लिए जोधपुर पर आक्रमण किया, परन्तु उन्हे सफलता नहीं मिली। उल्टे सिवाणा भी अजीतसिंह के हाथ से निकल गया।

औरंगजेब ने अपने कई सेनानायकों को मारवाड़ भेजा. लेकिन राठौड़ सरदार इतने उत्साहित थे कि मुगलों की एक न चली। तब मुगलों ने कूटनीति का सहारा लिया। अजमेर के सूबेदार सफीखां ने अजीतसिंह को पत्र लिखकर अजमेर आने के लिए आमंत्रित किया और उसे जोधपुर का राज्य दिलवाने का आश्वासन दिया। दुर्गादास को सफीखां में विश्वास नहीं था, अतः उसने अजीतसिंह को अजमेर न जाने की सलाह दी। परन्तु अजीतसिंह उसकी बात को न मानकर ससैन्य अजमेर के लिए चल पड़ा। उधर मुगलों ने सिवाणा पर अधिकार कर लिया। अब अजीतसिंह को पता चला कि उसके साथ धोखा किया गया है। अतः वह वापस लौट आया और सारण–सिरियाटी नामक गांव में अपना डेरा लगाया। यहां से अजीतसिंह दुर्गादास को मनाने भीमरलाई गया और अपनी भूल स्वीकार करते हुए उसने दुर्गादास से राठौड़ों का नेतृत्व संभालने का अनुरोध किया। काफी दिनों बाद दुर्गादास अजीतसिंह के पास लौट आया (दिसम्बर, 1693 ई. में)।

दक्षिण की गम्भीर स्थिति के कारण औरंगजेब मारवाड़ की ओर विशेष ध्यान नहीं दे पा रहा था। उसे अपने पौत्र–पौत्री (अकबर के लड़का–लड़की) को अपने पास बुलाने की चिन्ता भी सता रही थी। उसने दो बार (1692–93 और 1694 ई.) दुर्गादास को मनसब देने का वचन देकर अकबर के बच्चों को वापस लेने का प्रयत्न किया, परन्तु दुर्गादास ने अजीतसिंह से पहले मनसब लेना स्वीकार न किया। उधर औरंगजेब अजीतसिंह को मनसब देना नही चाहता था, क्योंकि इसका अर्थ था– उसे जसवंतसिंह का उत्तराधिकारी स्वीकार करना।

1695–96 ई. में औरंगजेब के आदेशानुसार शुजात खां ने अमीन ईश्वरदास नागर की मध्यस्थता से दुर्गादास से बातचीत कर अकबर की पुत्री सफियतुन्निसा को वापस भिजवाने का अनुरोध किया। दुर्गादास ने शहजादी को भिजवाना उचित समझ कर स्वीकृति प्रदान कर दी। तद्नुसार ईश्वरदास नागर आदर सम्मान के साथ शाहजादी को औरंगजेब के पास छोड़ आया। औरंगजेब ने जब अपनी पौत्री को कुरान पढ़ाने के लिए एक शिक्षिका को नियुक्त करा चाहा तो सफियतुन्निसा ने बताया कि दुर्गादास ने उसकी शिक्षा का पूर्ण प्रबन्ध किया था और कुरान उसे कण्डस्थ है। बादशाह दुर्गादास के इस कार्य से अत्यधिक प्रसन्न हुआ और उसने शुजात खां को दुर्गादास को यात्रा–व्यय के लिए एक लाख रूपया देने तथा मेड़ता का परगना दिये जाने का आदेश भी जारी किया गया। 1697–98 में दुर्गादास की जागीर में धांधुका भी सम्मिलित कर दिया गया। 20 मई, 1698 को दुर्गादास, बुलन्दअख्तर के साथ औरंगजेब की सेवा में उपस्थित हुआ। औरंगजेब ने उसका पर्याप्त सम्मान किया और उसे 3,000 जात व 2,500 सवार का मनसब प्रदान किया तथा मनसब के अनुरूप मेड़ता, जैतारण व सिवाणा प्रदान किये। अजीतसिंह को 1,500 जात व 500 सवार का मनसब तथा जालौर व सांचोर की जागीरदारी व फौजदारी दी। एक सप्ताह बाद दुर्गादास को वापस स्वदेश लौटने की अनुमति दे दी गई। चूंकि दुर्गादास को अजीतसिंह से ऊँची मनसब दी गई, अतः अजीसिंह दुर्गादास से नाराज रहने लगा।

13.5. मारवाड़–मुगल संघर्ष का अन्तिम चरण :

औरंगजेब ने शुजात खां के स्थान पर शहजादे आजम को गुजरात का सूबेदार नियुक्त किया। उन दिनों मारवाड़ गुजरात सूबे में सम्मिलित था। शाहजादे आजम ने दुर्गादास को मेड़ता के स्थान पर पाटन का फौजदारी नियुक्त किया। वस्तुतः आजम दुर्गादास को मारवाड़ से बाहर रखना चाहता था। दुर्गादास सभी आजम की चाल को भलीभांति समझता था, लेकिन तात्कालिक परिस्थितियों में आजम ने दुर्गादास को अपने अहमदाबाद दरबार में बुलाकर मारना चाहा, लेकिन दुर्गादास को सन्देह हो जाने से वह बचकर निकल गया। यद्यपि आजमखां की आज्ञा से शाही सेना ने उसका पीछा किया, लेकिन दुर्गादास के पौत्र अनूपसिंह ने चुने हुए राठौड़ सैनिकों के साथ शाही सेना को रोक लिया। इस संघर्ष में अनूपसिंह वीरतापूर्वक लड़ता हुआ मारा गया। दुर्गादास पाटन पहुंच गया और वहां से अपने परिवार को लेकर थिराद होता हुआ अजीतसिंह के पास चला गया (1703 ई.) इसके बाद मारवाड़ में पुनः विरोध आरम्भ हो गया और राठौड़ सेनाओं ने स्थान–स्थान पर शाही अधिकारियों पर

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

आक्रमण करना तथा शाही चौकियों को लूटना आरम्भ कर दिया। परन्तु 1705 ई. में अजीतसिंह और दुर्गादास में पुनः मनमुटाव हो गया और दुर्गादास अप्रसन्न होकर पुनः औरंगजेब की सेवा में चला गया। अक्टूबर मास में औरंगजेब ने उसे 3,000 जात और 2,000 सवार का मनसब देकर गुजरात में ही नियुक्त करने की आज्ञा दी। जदुनाथ सरकार ने लिखा है कि, ''शाही क्षेत्र में दुर्गादास के प्रभाव तथा स्वाजातियों में उसकी प्रसिद्धि के कारण वह (अजीतसिंह) उससे ईर्ष्या भी करता था।'' शायद मनमुटाव का एक कारण यह भी रहा हो।

1706 ई. के आरम्भ में दुर्गादास मेवाड़ गया, जहां महाराणा ने उसे गोडवाड़ में सादड़ी का गांव जागीर में दिया। इन दिनों गुजरात में मराठों ने अव्यवस्था उत्पन्न कर रखी थी। अतः स्थिति का लाभ उठाते हुए दुर्गादास ने भील और कोलियों को एकत्र कर मुगल क्षेत्रों में लूटमार आरम्भ कर दी। यद्यपि इन उपद्रवों को दबाने के लिए बेदारबख्त को ससैन्य भेजा गया, लेकिन राठौड़ों के विरूद्ध उसे कोई विशेष सफलला नहीं मिली। 1707 ई. में अजीसिंह ने प्रधान का पद चांपावत मुकुन्ददास को दिया था।

13.6. दुर्गादास का स्वैच्छिक निर्वासन :

जौधपुर के राजसिंहासन पर असीन होने के बाद अजोतसिंह के व्यवहार में परिवर्तन आने लगा। वह दुर्गादास और उसके सहयोगियों को सन्देह की दृष्टि से देखने लगा। दुर्गादास ने स्थिति की गम्भीरता को देखते हुए स्वेच्छा से मारवाड़ छोड़कर मेवाड़ जाना तय कर लिया जहां सादड़ी का गांव उसके पास था।

अजीतसिंह और दुर्गादास में यह विरोध किस कारण हुआ, इस विषय में कई मत मिलते है। ख्यातों के अनुसार सांभर की विजय के उपरान्त दुर्गादास ने अपनी सेना सहित अलग डेरा किया। जब अजीतसिंह ने उसे मिसाल (सरदारों की पंक्ति) में डेरा करने के लिए कहा तो प्रार्थना की कि मैं बूढ़ा हो गया हूं, अतएव मुझे इस सेवा से मुक्त कर दिया जाय। उसने यह भी कहा कि मेरे वंशज अन्य सरदारों के साथ ही डेरा किया करेंगे।'' इससे अजीतसिंह अप्रसन्न हो गया। दुर्गादास भी इस बात को ताड़ गया और वह उदयपुर चला गया। वीर विनोद में लिखा है कि दुर्गादास को यह गर्व हो गया था कि मैंने अजीतसिंह को राज्य दिलवाया है और मैं बादशाह का मनसबदार हूं। इसी बात पर विरोध हुआ और अजीतसिंह ने दुर्गादास को मारवाड़ से निष्कासित कर दिया।

मेवाड़ के महाराणा ने दुर्गादास का उचित मान–सम्मान किया और उसे विजयपुर का परगना जागीर में दिया तथा 15,000 रूपये मासिक भत्ता स्वीकृत किया।

दक्षिण में कामबख्श का दमन कर बादशाह बहादुरशाह जब मई, 1707 ई. में राजस्थान में आया तो उसने दुर्गादास को 2,000 जात व 2,000 सवार का मनसब प्रदान किया, जो शहजादे आजम ने दुर्गादास से छीन लिया था। स्पष्ट है कि सादड़ी में शान्तिपूर्वक रहने के बावजूद राजस्थान ही नहीं बल्कि मुगल राजनीति में भी दुर्गादास का महत्व बना रहा। अब मुगल दरबार में जो दलबन्दी आरम्भ हुई, उसमें प्रत्येक पक्ष दुर्गादास का समर्थन प्राप्त करने का प्रयास करने लगा था।

महाराणा संग्रामसिंह ने मालवा से मराठों को निकालने और रामपुरा पर मेवाड़ का प्रभुत्व स्थापित करने हेतु दुर्गादास को भेजा। दुर्गादास ने मेवाड़ की ओर से रामपुरा पर अधिकार कर लिया। महाराणा ने रामपुरा का प्रबन्ध दुर्गादास को सौंप दिया। महाराणा ने चम्बल के दक्षिण के कुछ और गांव दुर्गादास को जागीर में दिये। कुछ समय की शान्ति के बाद जब मालवा में पुनः मराठों के उपद्रव शुरू हो गये तब महाराणा में पंचोली बिहारीदास को रामपुरा की ओर भेजा। दुर्गादास ने रामपुरा का कार्यभार सौंप दिया और 1717 ई. में उज्जैन जाकर निवास किया।

13.7. दुर्गादास के अन्तिम दिन एवं मूल्यांकन :

यों दुर्गादास की वीरता, स्वामीभक्ति, राजनैतिक योग्यता तथा निर्लोभी व्यक्तित्व के कारण उसकी प्रतिष्ठा काफी बढ़ गई थी, जिसे अजीतसिंह सहन नहीं कर सका और अपने मुंह लगे ईर्ष्यालु लोगों के बहकावे में आकर महाराजा ने दुर्गादास के सब कार्यों को भूलकर मारवाड़ से निकाल दिया। दुर्गादास भी अत्यधिक स्वाभिमानी था तथा किसी की दया पर आश्रित रहने वाला नहीं था। इस तरह अन्तिम समय में मन–मुटाव होने पर दुर्गादास मे मारवाड़ में रहकर अजीतसिंह का विरोध करने के बाजय अपनी प्रिय मातृभूमि को छोड़ मेवाड़ के महाराणा संग्रामसिंह द्वितीय के पास जाना अधिक उपयुक्त समझा। महाराणा ने उसे केलवा की जागीर देकर अपने पास रखा तथा 500 रुपये दैनिक खर्च के दिये। बाद में उसे रामपुरा का हाकिम भी

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

बना दिया था। इस पद पर रहते हुये दुर्गादास ने सिद्ध कर दिया कि वह एक योग्य प्रशासक भी है। वहां पर उसने आन्तरिक अशान्ति को समाप्त कर परगने की बहुमुखी प्रगति की, किन्तु 1717 ई. के अन्तिम महीनों में मालवा की ओर मराठा उपद्रव बढ़ने लगी, अतः नवम्बर में दुर्गादास मेवाड़ के महाराणा संग्रामसिंह के दीवान बिहारीदास पंचोली को रामपुरा सौंपकर अपना अन्तिम जीवनकाल प्रार्थना व पूजा में व्यतीत करने के लिये सीधा उज्जैन चला गया, जहां क्षिप्रा नदी के पवित्र तट पर शनिवार नवम्बर 22, 1718 ई. को 80 वर्ष 3 माह और 28 दिन पूण रूप करके मृत्यु की गोद में सो गया। आज भी क्षिप्रा के उत्तरी किनारे पर लाल पत्थर की सुन्दर छोटी सुदृढ़ छत्री बनी हुई है, जो उस यशस्वी पुरुष का गुणगान करती हुई उसके त्याग, स्वामीभक्ति, साहस का स्मरण करा देती है।

दुर्गादास एक साधारण सरदार था, किन्तु उसने विश्व को दिखा दिया कि एक साधारण मनुष्य भी धैर्य, बुद्धि, साहस और उचित नीति का अवलम्बन कर बहुत कुछ कर सकता है। इसीलिये दुर्गादास महाराणा प्रताप के समान राजस्थान ही नहीं अपितु सम्पूर्ण भारतवर्ष में स्वतन्त्रता का प्रतीक है। इतिहास उसका नाम स्वतन्त्रता सेनानी एवं स्वामीभक्त के रूप में सदैव सम्मान करेगा। वह एक कूटनीतिज्ञ, शूरवीर व एक महान् योद्धा था। राज्य तथा देश की स्वतन्त्रता के लिये आत्मोत्सर्ग करने वाले दुर्गादास जैसे वीर विरले ही होते हैं।

13.8. बोध प्रश्न :

प्रश्न 1 वीर दुर्गादास की मृत्यु कहां हुई?

अ. उज्जैन   ब. जैसलमेर   स. मारवाड़   द. बीकानेर

उत्तर – ....

प्रश्न 2 राठौड़ सिसोदिया संधि पर टिप्पणी लिखिए।

उत्तर – ....

प्रश्न 3 मारवाड़ मुगल संघर्ष में वीर दुर्गादास का क्या योगदान रहा? विवेचन कीजिए।

उत्तर ....

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

इकाई – 14
महाराणा कुम्भा

संरचना

14.0 उद्देश्य
14.1 प्रस्तावना
14.2 पृष्ठभूमि
14.3 कुम्भा की जानकारी के स्रोत
- 14.3.1 एकलिंग महात्मय
- 14.3.2 रसिकप्रिया
- 14.3.3 कुम्भलगढ़ प्रशस्ति

14.4 उपाधियाँ
14.5 राणा कुम्भा की प्रारम्भिक कठिनाइयाँ
14.6 राव रणमल का मेवाड़ आना
14.7 राणा कुम्भा व खेमकरण
14.8 कुम्भा की सैनिक उपलब्धियाँ
- 14.8.1 सिरोही और आबू विजय
- 14.8.2 हाडौती विजय
- 14.8.3 गागरोण विजय
- 14.8.4 उत्तरी पूर्वी राजस्थान की विजय
- 14.8.5 मण्डौर और सोजत विजय
- 14.8.6 डूंगरपुर विजय
- 14.8.7 पूर्वी राजस्थान की विजय
- 14.8.8 मेरो का दमन
- 14.8.9 अन्य विजय
- 14.8.10 कुम्भा के मालवा के साथ सम्बन्ध
- 14.8.11 गागरौण पर विजय
- 14.8.12 माण्डलगढ़ पर विजय
- 14.8.13 माण्डलगढ़ पर तीसरा आक्रमण
- 14.8.14 अजमेर पर आक्रमण
- 14.8.15 राणा कुम्भा और गुजरात
- 14.8.16 नागौर विजय
- 14.8.17 कुम्भलगढ़ अभियान
- 14.8.18 मेहमूद बेगड़ा का आक्रमण

14.9 कुम्भा का व्यक्तित्व एवं सारांश
- 14.9.1 अपार साहसी
- 14.9.2 महान् वीर
- 14.9.3 कुशल राजनीतिज्ञ
- 14.9.4 प्रजा पालक
- 14.9.5 साहित्य का संरक्षक

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

14.9.6 निर्माता कुम्भा
14.9.7 धर्म रक्षक
14.10 बोध प्रश्न

14.0. उद्देश्य :

इस इकाई में महाराणा कुम्भा की उपलब्धियाँ, योगदान, विजय अभियान तथा व्यक्तित्व का सविस्तार विवेचित किया गया है।

14.1 प्रस्तावना :

महाराणा हम्मीर, उसके पुत्र क्षेत्रसिंह तथा पोते (क्षेत्रसिंह) लाख ने अपने–अपने समय में मेवाड़ की शान बढ़ाई। महाराणा लाखा की मृत्यु के बाद उसका उत्तराधिकारी मोकल केवल 13 वर्ष ही राज्य कर सका और तब मोकल के पुत्र कुम्भा के हाथ में 1433 ई. में मेवाड़ का शासन आया। यहां हम राणा कुम्भा के शासन काल के वर्णन करने से पूर्व उस पृष्ठभूमि का कुछ विस्तार से उल्लेख करेंगे जिसमें राणा कुम्भा गद्दी पर बैठने में सफल हुआ।

14.2. पृष्ठभूमि :

मेवाड़ पर अलाउद्दीन खिलजी का अधिकार हो गया था। उस समय मेवाड़ के सामन्तों ने सीसोदिया वंश के सामन्त हम्मीर को चित्तौड़ के अतिरिक्त मेवाड़ के शेष राज्य का भी राणा चुन लिया। संभवतः हम्मीर पर यह उत्तरदायित्व आ पड़ा कि वह मेवाड़ की राजधानी चित्तौड़ को मुस्लिम अधिकार से मुक्त कराए। उस उद्देश्य की पूर्ति के लिए हम्मीर को निरन्तर युद्ध करने पड़े। सौभाग्यवश परिस्थितियां उनके अनुकूल होती गई। अलाउद्दीन 2 जनवरी, 1316 ई. को इस संसार से विदा हो गया। उसके बाद गयासुद्दीन तुगलक ने दिल्ली साम्राज्य की गद्दी सुशोभित की। 1320 से 1325 तक गयासुद्दीन ने शासन किया। पिता की मृत्यु के बाद मोहम्मद तुगलक सुल्तान बना। वह अपनी ही समस्याओं में उलझा रहा। उसने राजधानी परिवर्तन किया और दौलताबाद चला गया। इस बीच परिस्थितियों से लाभ उठाकर हम्मीर ने 1340 ई. में चित्तौड़ पर अपना अधिकार जमा लिया। तत्पश्चात् मेवाड़ के राणा अपने प्रभुत्व का विस्तार करने में लग गऐ क्योंकि उन्हें परिस्थितियां अनुकूल मिलती गई। रायबहादुर गौरीशंकर ओझा के अनुसार –मोहम्मद तुगलक ने मेवाड़ नरेश हम्मीर पर आक्रमण किया, किन्तु उसे पराजित होना पड़ा।'' श्री ओझा के विपरीत प्रो. ब्राउन आदि इतिहासकरों का विचार है कि ''मोहम्मद तुगलक ने राजपूताने के मामले में किसी प्रकार का हस्तक्षेप न करने की नीति अपनाई। फलस्वरूप राणा हम्मीर ने बड़े शक्तिशाली राजा के रूप में मेवाड़ को स्वतंत्र राज्य बना लिया और सुल्तान ने भी उससे उलझना ठीक नहीं समझा।''

मुहम्मद तुगलक के बाद फीरोज तुगलक गद्दी पर बैठा जिसकी नसों में हिन्दू–मुस्लिम खून का सम्मिश्रण था। 1388 ई. में फीरोज की मृत्यु के बाद तुगलक राजवंश एकदम लड़खड़ा गया और 1398 ई. में तैमूरी हमलावरों ने इस राजवंश को आखिरी धक्का दे दिया। ऐसे समय मेवाड़ के महाराणा को विस्तार का अच्छा अवसर मिला था। 1413 ई. में तैमूर के प्रतिनिधि सैय्यद खिज्रखां के भारत में सैय्यद सुल्तानों के समय ही 1433 ई. में कुम्भा मेवाड़ का महाराणा बना। 1451 ई. तक महाराणा के समकालीन सैय्यद सुल्तान रहे और 1451 में 1489 ई. के बीच लोदी राजवंश का संस्थापक बहलोत लोदी दिल्ली का सुल्तान बना। ये शासक अपनी ही समस्याओं में बुरी तरह उलझे रहे। अतः कुम्भा (1433–1469 ई.) को राज्य विस्तार का स्वर्ण–अवसर प्राप्त हो सका।

14.3. कुम्भा की जानकारी के स्रोत :

शान्ति व युद्ध में कुम्भा की उपलब्धियों का वर्णन जानने के लिए हमें उन सब शिलालेखों व साहित्यिक कृतियों पर निर्भर रहना पड़ेगा जो समकालीन स्रोतों के रूप में उपलब्ध है। कुम्भा के शासन–काल के लगभग 60 शिलालेख प्राप्त हो चुके है। इनके अलावा कुम्भा द्वारा लिखित साहित्यिक ग्रन्थ व उसके समकालीन लेखों द्वारा लिखे ग्रन्थ भी हमें उसके राज्य काल के बारे में जानकारी प्रदान करते है। जब तक इनका अध्ययन न कर लिया जाये तब तक कुम्भा की उपलब्धियों का मूल्यांकन नहीं किया जा सकता।

14.3.1. एकलिंग महात्मय – यह मेवाड़ में स्थित एकलिंग मन्दिर से प्राप्त हुआ था। इसका प्रथम भाग, जो राजवर्णन के इकाई के नाम में प्रसिद्ध है, उसे महाराणा कुंभा ने स्वयं लिखा था, व शेष भाग उसके निर्देशन में ही रचा था अतः कुम्भा के शासन काल के रूप में यह एक महत्वपूर्ण साधन है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

14.3.2. रसिकप्रिया — इसे जयदेव के गीत गोविन्द की टीका के रूप में महाराणा कुम्भा ने स्वयं ने लिखा था। इसमें कुम्भा की उपाधियों का वर्णन मिलता है, जिससे उसकी उपलब्धियों पर प्रकाशन पड़ता है।

14.3.3. कुम्भलगढ़ प्रशस्ति (मार्गशीर्ष 5 वि. सं. 1517 ई. सन् 1460) — इस प्रशस्ति में महाराणा कुम्भा के शासनकाल की विविध उपलब्धियों का वर्णन हुआ है। यह पत्थर की बड़ी–बड़ी पांच चट्टानों पर खुदवाई गई थी। जिसमें से दो चट्टानें नष्ट हो चुकी है व शेष तीन चट्टाने कुम्भलगढ़ दुर्ग में स्थित नामदेव के मन्दिर से प्राप्त हुई हैं इस प्रशस्ति को पढ़ने से निम्नलिखित जानकारी प्राप्त होती है–

(i) राणा कुम्भा का मालवा व गुजरात के शासकों के विरूद्ध संघर्ष, उन पर उसकी विजय तथा अन्य पड़ौसी राज्यों के विरूद्ध उसका संघर्ष,

(ii) कुम्भा के शासनकाल में वास्तु–कला का संरक्षण,

(iii) कुम्भा के द्वारा धर्म व संस्कृति की रक्षा के लिए किए गए प्रयत्नों का विवरण, एवं

(iv) कुम्भा के काल में मेवाड़ के सामन्तों की स्थिति तथा उनके द्वारा शक्ति ग्रहण करने के प्रयत्न।

14.4. उपाधियां :

उपर्युक्त दोनों महत्वपूर्ण शिखालेखों से हमें राणा कुम्भा की उन उपाधियों के सम्बन्ध में भी जानकारी प्राप्त होती है जो उसने धारणा की थी। कुम्भलगढ़ की प्रशस्ति के श्लोक 232 को पढ़ने से ज्ञात होता है कि कुम्भा ने 'महाराजाधिराज', 'राजरायन', राणोसरासो' (साहित्यकारों का आश्रयदाता) 'महाराण' की उपाधि धारण की थी।

कीतिस्तम्भ शिलालेखों के श्लोक 148 में भी हमें उसकी उपाधियों के सम्बन्ध में जानकारी प्राप्त होती है। एक शिलालेख में लिखा हुआ है कि कुम्भा ने 'राजगुरू', 'दीनगुरू', 'हालगुरू' व 'परमगुरू' की उपाधियां धारण की थी। राजगुरू से तात्पर्य यह था कि उसने राजनीति के सिद्धांतों को सिद्धहस्त कर लिया था। दीनगुरू से तात्पर्य यह था कि वह दान देने में अपना सानी नहीं रखता था। हालगुरू से तात्पर्य यह था कि वह कई पहाड़ी दुर्गो का स्वामी था आर परमगुरू से तात्पर्य यह था कि वह अपने शासनकाल का सर्वोच्च शासक था।

रसिकप्रिया नामक ग्रन्थ तो महाराणा कुम्भा द्वारा स्वय लिखा गया था। इसमे भी राणा द्वारा धारण की गई उपाधियो का वर्णन पढ़ने को मिलता है। उसने 'छापगुरू', 'नरपति', 'अखपति', 'गैनपति' की उपाधियां धारण कर रखी थी, अर्थात् कुम्भा छापामार युद्ध–नीति में निपुण था। वह एक शक्तिशाली विजेता और प्रशासक था। अपनी प्रजा के लिए पिता के समान था। उसकी सेना में सैंकड़ों घोड़े थे और हाथी भी।

शिलालेखों, कृतियों आदि से हमें कुम्भा के बारे में जो जानकारी मिलती है, उसके आधार पर हम कुम्भा की उपलब्धियों और उसके कारनामों का बहुत–कुछ वर्णन कर सकते है। पर इससे पूर्व यह उचित होगा कि हम कुम्भा की प्रारम्भिक कठिनाइयों को भी जान लें।

14.5. राणा कुम्भा की प्रारम्भिक कठिनाइयाँ :

महाराणा मोकल की मृत्यु के बाद उसका बड़ा पुत्र कुम्भा 1433 ई. में मेवाड़ का राणा बना। शिलालेखों में कुम्भा की माता का नाम सौभाग्यदेवी मिलता है। मोकल की हत्या के समय कुम्भा भी वहाँ विद्यमान था। षड़यन्त्रकारी कुम्भा को भी मारना चाहते थे। किन्तु कुम्भा वहाँ से सावधानी से भाग निकला तथा वह चितौड़ पहुँचने में सफल हो गया। मोकल के स्वामी–भक्त सामन्तों ने उसे राणा घोषित किया। राजकुमार कुम्भा ने राणा बनते ही अपने आपको चारों और से कठिनाईयों से घिरा पाया।

सबसे बड़ी कठिनाई उसे अपने पितामाह के पुत्रों चाचा व मेरा से थी। इन दोनों ने अन्य सामन्तों के साथ मिलकर उसके पिता मोकल की हत्या की थी। वे इससे भी सन्तुष्ट नहीं हुए थे। वे किसी भी प्रकार मेवाड़ राज्य पर अपना अधिकार जमाना चाहते थे। अपने उद्देश्य की प्राप्ति के लिए उन्होने महपा पंवार को अपने पक्ष में कर लिया था। तथा मोकल की हत्या के बाद वे दक्षिण के पट्टी–कोटरा के पर्वतीय क्षेत्र में छिपकर स्थानीय भीलों की सहायता से अपनी शक्ति को सुदृढ़ व संगठित करने का प्रयास कर रहे थे। कुम्भा के लिए इन पितृ–हन्तों से बदला लेना आवश्यक था। इसके अलावा उसके बढते प्रभाव से वंश–परम्परा से सम्मानित पुराने सामन्त भी प्रसन्न नहीं थे पर वह चाचा व मेरा का खुलकर विरोध नहीं कर रहे थे। उसे उनका भी मुकाबला करना था। मालवा व गुजरात के मुस्लिम शासक मोकल के शासनकाल में ही मेवाड़ के समीप के प्रदेशों

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

पर अपना अधिकार करने का प्रयास करने लग गए थे। पड़ौसी राजपूत शासक भी इस स्थिति का लाभ उठाते हुए मेवाड़ के क्षेत्रों को हड़पने का प्रयास करने लगे। इन परिस्थितियों में प्रबल सहारे की आवश्यकता थी और वह आवश्यकता उसने अपने मामा रणमल को मण्डोर से बुलाकर पूरी की।

14.6. राव रणमल का मेवाड़ आना :

महाराणा मोकल के मारे जाने का समाचार सुनकर मंडौर के राव ने अपने सिर से पगड़ी उतार कर 'फैंटा' बांध लिया और प्रतिज्ञा की जब तक चाचा और मेरा मारे न जावेंगे, तब तक में सिर पर पगड़ी धारण नहीं करुँगा। राणा कुम्भा को भी ऐसे दृढ–प्रतिज्ञा सहायक की ही आवश्यकता थी। मेवाड़ आकर रणमल ने महाराणा से भेंट की और महाराणा को विश्वस्त किया कि वह उनके मन्तव्य को पूर्ण कराने में पूर्ण सहयोग देगा। रणमल के आने पर कुम्भा ने उसके साथ मिलकर पिता के हत्यारों के विरुद्ध कदम उठाने की योजना बनाई। राठौड़ सैना तथा सिसोदिया सैना को संयुक्त रुप से उसने चाचा व मेरा के विरुद्ध भेजा। सेना ने भीलो को अपनी और मिलाकर जिस पहाड़ी भाग में वे दोनों छिपे थे, उसे घेर लिया। चाचा व मेरा मारे गये व उनके समर्थक भागकर मांडू के सुल्तान की शरण में चले गये। भागकर जाने वालों मे चाचा का पुत्र एक्का और महपा पंवार भी थे। भविष्य में वे मांडू के शासक को मेवाड़ पर आक्रमण करने को उकसाने का प्रयत्न करते रहे, लेकिन मेवाड़ को जो उनसे उस समय भय था, वह अब समाप्त हो गया था। इस प्रकार राणा ने तीन पीढ़ियों से चली आ रही समस्याओं को समाप्त कर दिया तथा मेवाड़ को दल–बन्दी में विभाजित होने से बचा लिया और अपने पिता को मारने वालो मे से बदला लेकर अपनी क्रोधाग्नि को शान्त किया।

राणा कुम्भा ने रणमल की सहायता से अपने पिता के हत्यारों का दमन किया जिसके फलस्वरुप मेवाड़ की राजनीति में रणमल का प्रभाव फिर से बढने लगा। रणमल ने अपनी स्थिति सुदृढ़ करने के लिए चितौड़ के महत्वपूर्ण प्रशासनिक पदों पर अपने विश्वास–पात्रों को नियुक्त करना प्रारम्भ किया। उसे यह विश्वास था की मेवाड़ की समृद्धि से वह अपनी शक्ति मजबूत कर सकता है। इसमें सन्देह नहीं कि रणमल ने राणा कुम्भा की महत्वपूर्ण सेवा की । रणमल ने राणा कुम्भा के विरोधी नरेशों को दबाने में भी सहायता दी थी; परन्तु फिर भी राणा कुम्भा रणमल के बढतें प्रभाव से चिन्तित था। विशेषकर जब रणमल ने चूण्डा के भाई राघवदेव को, जो स्थानीय सरदारों का नेता था, षड़यन्त्र से मरवा दिया, तब राणा उसके प्रति अत्यधिक सशंकित हो उठा। राघवदेव को मरवाने का कारण यह था कि चाचा और मेरा के विरुद्ध सैनिक कार्यवाही करते समय उनके पक्षधरों राजपूतों की लड़कियों को रणमल अपने डेरे में ले गया, और अपने राठौड़ सामन्तों से कहा कि इन लड़कियों को वे अपने अन्तःपुर में डाल दे। जब राघवदेव को रणमल के इस कुकृत्य का पता चला तो वह रणमल के डेरे में गया और उन लड़कियों को अपने डेरे में ले आया। इस घटना से रणमल राघवदेव परस्पर विरोधी हो गये। उसने राघवदेव के विरुद्ध महाराणा के कान भरना आरम्भ किया। राणा उसके प्रभाव मे आ गया और एक दिन अंगरखा पहनते समय राघवदेव को महाराणा कुम्भा के सामने ही दो राजपूतों द्वारा रणमल ने मरवा दिया। इसके अलावा जब रणमल ने राठौड़ सैनिको में वृद्धि करना आरम्भ कर दिया तो राणा कुम्भा उसकी शक्ति से और भी भयभीत हो गया। उसे डर था कि वह रणमल की शक्ति को कम नहीं करेगा तो स्थानीय सरदारों में असन्तोष बढ़ जायेगा। ऐसी स्थिती में राणा को अपने राज्य में उनसे कोई सहयोग नहीं मिल सकेगा। अतः कुम्भा ने रणमल के विरुद्ध सिसोदिया गुट का समर्थन करना शुरु कर दिया। उसने अपने विरोधी चाचा के पुत्र अक्का व महपा पंवार को क्षमादान देकर उन्हे मांडू से चितौड़ लौटने कि अनुमति दे दी। डॉ. ओझा का कहना है कि मेवाड़ में रणमल के बढ़ते प्रभाव से दुःखी होकर महपा और एक्का स्वयं मालवा से आकर महाराणा के चरणों में आ गिरे और अपने अपराध की क्षमा माँगी। महाराणा ने उन्हे क्षमा कर दिया। उनका मेवाड़ आना रणमल को अच्छा नहीं लगा। जब इस विषय में रणमल ने महाराणा से अर्ज किया तो प्रत्युत्तर में उन्होने कहा– हम 'शरणागत' के रक्षक कहलाते है। ये हमारी शरण में आ गये हैं और हमनें इनको क्षमा कर दिया है। इसके बाद चूण्डा भी मेवाड़ लौट आया। अन्तः में स्थानीय सरदारों ने रणमल की प्रेमिका भारमली की सहायता से ही 1438 ई. में उसकी हत्या करवा दी। कहा जाता है कि भारमली ने शराब पिलाकर प्रथम अपने प्रेमी रणमल को बेसुध कर दिया। तत्पश्चात उसे पंलग से बंधवा कर वध करवा दिया। महाराणा रणमल ने प्रत्यक्ष रुप से तो कोई विरोध नहीं किया किन्तु सरदारों द्वारा कि जाने वाली दलबन्दी का समय–समय पर वह समर्थन करता रहा। बिना कुम्भा की आज्ञा के अक्का व चूण्डा का मेवाड़ लौटना सम्भव नहीं था। अपनी दूरदर्शिता के परिणाम स्वरुप वह दो पीढ़ियों से मेंवाड़ राज्य में बढ़ते हुए राठौड़ो के प्राबल्य को चूण्डा की सहायता से समाप्त करने में सफल हुआ।

रणमल की हत्या का समाचार दुर्ग से एक डोम द्वारा रणमल के पुत्र जोधा तथा अरावली की तलहटी में रहने वाले अन्य राठौड़ों को दे दिया गया। इस समाचार को मिलते ही राठौड़ अपने परिवार को लेकर मेवाड़ से भाग निकले मेवाड़ की सेना ने जोधा तथा उसके साथियों का पीछा किया। अनेक राठौड़ सरदार मारे गये; परन्तु जोधा अपने सैनिको सहित मेवाड़

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

से भागकर मारवाड़ पहुचने में सफल हो गया। चूण्डा उसका पीछा करते हुए मण्डोर तक गया व उसके मण्डोर पर अधिकार भी कर लिया। इस समय कुम्भा तथा चूण्डा की नीति राठौड़ों को पूर्ण रुप से समाप्त करने की नहीं थी क्योंकि उनकी शत्रुता रणमल तथा उनके समर्थकों से थी, न की सम्पूर्ण राठौड़ राजपूतों से। अतः हम देखते है कि राणा ने कुछ राठौड़ सरदारों को अपनी और मिलाने की नीति अपनाई। इसी उद्देश्य से कुम्भा ने राघवदेव व चूण्डावत को सोजत का प्रदेश दिया तथा नारबड़ (छंतइंक) का अधिकार केलना(ज्ञंलसंद) की जागीर पर स्वीकार कर लिया।

14.7. राणा कुम्भा व खेमकरण :

रणमल का मेवाड़ की राजनीति पर प्रभाव समाप्त होने से सिसोदिया राजपूतों की स्थिति अवश्य सुदृढ़ हो गई, परन्तु कुम्भा अपने पारिवारिक झगड़ों को समाप्त नहीं कर सका। कुम्भा तथा उसके सौतेले भाई खेमकरण के सम्बन्ध अब भी तनावपूर्ण थे। खेमकरण को अपनी इच्छानुसार जागीर नहीं मिल सकी थी। अतः उसने अपने कुछ समर्थकों के साथ बड़ी सादड़ी पर बलपूर्वक अधिकार कर लिया। उस समय कुम्भा सारंगपुर के युद्ध में व्यस्त था। युद्ध से निवृत होने के बाद कुम्भा ने सेना भेजकर बड़ी सादड़ी पर पुनः अधिकार कर लिया। पराजित खेमकरण सादड़ी से भागकर मेवाड़ के शत्रु मालवा के शासक महमूद खिलजी की शरण में चला गया तथा वहाँ वह जीवनपर्यन्त कुम्भा के विरुद्ध कार्य करता रहा। मालवा के सुल्तान के साथ मिलकर उसने मेवाड़ को बहुत क्षति पहुँचाई।

14.8. कुम्भा की सैनिक उपलब्धियाँ :

चाचा और मेरा की समस्या के समाधान के बाद कुम्भा ने मेवाड़ राज्य की सुरक्षा और प्रभाव के विस्तार की ओर ध्यान दिया। कुम्भा को दिल्ली सल्तनत की अपेक्षा मालवा और गुजरात से अधिक भय था क्योंकि दिल्ली सल्तनत इस समय तक काफी निर्बल हो चुकी थी। किन्तु मालवा और गुजरात के विरूद्ध कोई कार्यवाही करने से पूर्व मेवाड़ के शत्रु पड़ौसी राजपूत राज्यों को अपने प्रभाव में लाना आवश्यक था।अतः प्रारम्भिक वर्षों में उसने पडौसी राजपूत राज्यों को मेवाड़ में मिलाने की नीति अपनाई। इस सम्बन्ध में डॉ. गोपीनाथ शर्मा ने लिखा है कि ''उसने (कुम्भा) अपने प्रारम्भिक सात वर्षों में स्थानीय और पड़ौसी राज्यों की विजय के द्वारा अपनी शक्ति को बढ़ाया और राजस्थान में अपना नेतृत्व स्थापित किया। ऐसा करना इसलिये भी आवश्यक था कि उसे इन प्रारम्भिक विजयों द्वारा अपने राज्य को विस्तारित करना था तथा भविष्य में होने वाले आक्रमणों की सम्भावनां का मुकाबला करना था।''कुम्भा द्वारा मेवाड़ की सुरक्षा और साम्राज्य विस्तार के लिये की गई विजयें अधोलिखित थीं–

14.8.1. सिरोही और आबू विजय – 14वीं शताब्दी के प्रारम्भिक वर्षों में लगभग 1311 ई. के आस–पास राजस्थान के अबुदाचल के पहाड़ी में महाराव लुम्बा के नेतृत्व में देवड़ा चौहानों ने अपना राज्य स्थापित किया था। इसके लगभग एक शताब्दी पश्चात् 1405 ई. में महाराव शिवभान देवड़ा ने शिवपुरी का निर्माण करवाकर उसे अपनी राजधानी बनाया। इसके पश्चात् उसके पुत्र सहसमल ने 1425 में आधुनिक सिरोही नगर बसाकर 1451 ई. में उसे अपनी राजधानी बनाया। सहसमल की मृत्यु के पश्चात् उसका पुत्र लाखा सिरोही का शासक बना। सहसमल और लाखा कुम्भा के समकालीन थे। कुम्भा के राज्यारोहण के समय सिरोही की गद्दी पर सहसमल आसीन था जो अत्यन्त महत्वाकांक्षी होने के साथ अवसरवादी भी था। मोकल की हत्या से उत्पन्न अव्यवस्था का लाभ उठाकर उसने मेवाड़ राज्य के पिण्डावाड़ा औरउसके आस–पास के कुछ गाँवों (सम्भवतः गोगुन्दा और कोटडा तहसील) पर अधिकार कर लिया था। कुम्भा के लिये देवड़ाओं की इस शत्रुतापूर्ण कार्यवाही का बदला लेना और इन क्षेत्रों को पुनः जीतना आवश्यक था। अतः कुम्भा ने सिरोही पर आक्रमण करने का निश्चय किया। किन्तु ये तो आक्रमण के बहाने मात्र थे, आक्रमण के वास्तविक कारण और उद्देश्य तो दूसरे ही थे। वस्तुतः आक्रमण का प्रमुख कारण सिरोही की भौगिलिक स्थिति थी। गुजरात और दक्षिण जाने वाले मार्ग सिरोही होकर गुजरते थे, गुजरात की ओर से मेवाड़ पर आक्रमण भी इसी ओर से सम्भव था तथा मारवाड़ और नागौर पर आक्रमण के समय यह क्षेत्र मेवाड़ के लिये प्रमुख सैनिक केन्द्र सिद्ध हो सकता था। अतः गुजरात की ओर से होने वाले आक्रमण के मार्ग को अवरूद्ध करने व उत्तर–पूर्व की ओर भावी विस्तार की योजनाओं के लिये सिरोही पर मेवाड़ का आधिपत्य होना आवश्यक था। इन्हीं कारणों और उद्दश्यों को दृष्टिकोण रखते हुये कुम्भा ने 1437 ई. में डोडिया सरदार नरसिंह को सिरोही पर आक्रमण करने भेजा। सहसमल मेवाड़ी सेना के हाथों पराजित हुआ। उसे मेवाड़ की अधीनता स्वीकार करनी पड़ी और बसवन्तगढ़, भूला तथा पूर्वी सिरोही के आस–पास का क्षेत्र कुम्भा को देना पड़ा। इस प्रकार कुम्भा ने न केवल अपने राज्य के खोये हुये क्षेत्र को पुनः हस्तगत किया वरन् सिरोही के पूर्वी भाग पर अधिकार करके गुजरात के आक्रमण के विरुद्ध गोड़वाड़ की रक्षा का महत्वपूर्ण कार्य भी कर लिया।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

डॉ. ओझा और हरबिलास शारदा का मत है कि इसी समय कुम्भा ने आबू पर भी अधिकार कर लिया था। किन्तु यह उचित नहीं है क्योंकि आबू से प्राप्त शिलालेखों से ज्ञात होता है कि 1440 ई. तक आबू और उसके आस–पास का क्षेत्र देवड़ा चौहानों की एक छोटी शाखा के अधिकार में था। श्री रामवल्लभ सोमाणी का मत है कि कुम्भा ने 1443 ई. में आबू पर अधिकार किया था। वस्तुतः सहसमल ने विपरीत परिस्थितियों में बाध्य होकर कुम्भा की अधीनता स्वीकार कर ली थीं, किन्तु ह्रदय से वह उसके प्रति स्वामिभक्त नहीं था। फिर भी वह स्वयं कुछ कर पाने में समर्थ था। अतः उसने अपने अधीनस्थ सामन्तों को कुम्भा के अधिकारियों को खदेड़ने की प्रेरणा दी। इससे प्रेरित होकर आबू के देवड़ा चौहानों ने कुम्भा के अधिकारियों के लिये परेशानियाँ खड़ी कर दीं। इस पर कुम्भा ने आबू पर आक्रमण ळर दिया जिसमें देवड़ा चौहान पराजित हुये और आबू पर कुम्भा का अधिकार हो गया।

14.8.2. हाड़ौती विजय – सिरोही के बाद कुम्भा ने हाड़ौती पर आक्रमण किया। दिल्ली, मालवा और मेवाड़ के राज्यों के मध्य स्थित हाड़ौती क्षेत्र की भौगोलिक स्थिति सामरिक दृष्टि से अत्यन्त महत्वपूर्ण थी। इसीलिये उसे अनवरत् दिल्ली, मालवा और मेवाड़ के आक्रमणों का सामना करना पड़ता था। हाड़ौती का भू–भाग चौहान राजपूतों की हाड़ा शाखा का प्रभाव क्षेत्र था। हाड़ा राजपूतों के कारण ही यह क्षेत्र हाड़ौती कहलाता था। यहाँ के शासक नाडौल के चौहान शासक आसराज के छोटे पुत्र माणिकराय के वंशज थे। चौहानों की यह छोटी शाखा हाड़ा नाम से प्रसिद्ध थी। तीन ओर के दबाव और अपनी सीमित शक्ति और साधनों के उपरान्त भी हाड़ा शासक अपनी स्वतन्त्रता और प्रतिष्ठा को बनाये रखने के प्रति काफी जागरूक थे। इस ओर उनकी नीति अवसरवादी थी। शत्रु को शक्तिशाली पाकर वे उसकी अधीनता स्वीकार कर लेते थे और उसकी निर्बलता का लाभ उठाकर अधीनता के जुये को उतार फेंकते थे। मेवाड़ की ख्यातों के अनुसार हाड़ौती के शासक पहले मेवाड के सामन्त थे। किन्तु अवसर पाकर उन्होंने स्वतन्त्रमा प्राप्त कर ली थी। मोकल के समय में हाड़ौती और मेवाड़ के सम्बन्ध काफी तनावपूर्ण हो गये थे क्योंकि 1423 ई. में मालवा के सुल्तान होशगंशाह द्वारा मेवाड़ के गारगरोण प्रदेश पर किये गये, आक्रमण के समय हाड़ौती के शासक बैरीसाल के मेवाड़ के विरूद्ध सुल्तान को सहायता देकर मेवाड़ की प्रभुता को चुनौती दी थी। यही नहीं मोकल के अन्तिम दिनों में मेवाड़ की अव्यवस्था का लाभ उछाकर बैरीसाल ने मेवाड़ के माण्डलगढ़ और जहाजपुर के क्षेत्रों पर भी अधिकार कर लिया था। हाड़ौती के ये कृत्य कुम्भा के लिये असहनीय थे क्योंकि मालवा के भावी आक्रमणों के मार्ग को अवरूद्ध करने व मेवाड को सीधे आक्रमण से बचाने के लिये मध्य राज्य के रूप में हाडैाती के शासकों का मित्र होना या उसके अधीनस्थ होना, मेवाड़ की महती आवश्यकता थी। साथ ही बैरीसाल द्वारा अधिकृत माण्डलगढ़ और जहाजपुर भी सामरिक दृष्टि से मेवाड़ के लिये अत्यन्त महत्वपूर्ण थे क्योंकि मेवाड़ की पूर्वी सीमा की सुरक्षा इन्हीं के माध्यम से सम्भव थी। यही नहीं मालवा के सुल्तान और हाड़ौती की मैत्री भी मेवाड़ के लिये हानिप्रद सिद्ध हो सकती थी। अतः मेवाड़ की सुरक्षा व मोकल के समय में खोये हुये प्रदेशों को पुनः हस्तगत करने के निमित्त कुम्भा ने अपने शासनकाल के प्रारम्भिक वर्षों में रणमल राठौड़ को हाडौती पर आक्रमण करने भेजा जिसमें हाडा शासक बैरीसाल पराजित हुआ और उसने माण्डलगढ़ का क्षेत्र मेवाड़ को वापस लौटा दिया। यही नहीं बैरीसाल ने नेवाड़ की अधीनता स्वीकार करके वार्षिक कर चुकाने का भी वचन दिया। डॉ. गोपीनाथ शर्मा का मत है कि "हाड़ौती के शसक की अधीन और कर दाता बनाकर अपने राज्य का स्वामी बना रहने देकर तथा सीमान्त क्षेत्र से मित्र राज्य बनाकर, कुम्भा ने अपनी विचारशील नीति का परिचय दिया।" किन्तु परवर्ती इतिहास यह बताता है कि कुम्भा की यह विजय अस्थायी सिद्ध हुई और हाड़ौती के शासक कभी भी मेवाड़ के प्रति निष्ठावान नहीं रहे।

14.8.3. गागरोण विजय – मेवाड़ के दक्षिण–पूर्व में स्थित गागरोण का क्षेत्र भी भौगोलिक और सामरिक दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण था। मेवाड़ का पूर्वी प्रवेशद्वार होने के कारण यहां का दुर्ग मेवाड़ की पूर्वी सीमा का सजग प्रहरी था। मोकल के समय यह क्षेत्र मेवाड़ के अधीन था। किन्तु मालवा के सुल्तन होशंगवाह के 1423 ई. में हाड़ा शासक वैरीसाल के सहयोग से इस क्षेत्र को मोकल से छीनकर गजनी खां को यहां का सूबेदार नियुक्त किया था। तब से यह क्षेत्र मालवा के अधीन ही था। किन्तु इस क्षेत्र की सामयिक महत्ता को दृष्टिगत रखते हुये कुम्भा ने 1437 ई. में गागरोण को मालवा के सुल्तान से वापस जीतकर उसे पालहनसिंह खींची को सौंप दिया। कतिपय विद्वानों को मान्यता है कि गागरीण को पालहनसिंह ने मेवाड़ की सहायता से गागरोण जीता था। जो भी हो यह निश्चित है कि 1437 ई. में यह क्षेत्र पुनः मेवाड़ के अधीन हो गया था। किन्तु कुम्भा की यह विजय भी स्थायी सिद्ध नहीं हुई और 6 वर्ष बाद, 1443 ई. में मालवा के सुल्तान महमूद खिलजी ने पालहनसिंह को पराजित करके गागरोण को सदा के लिये मेवाड़ से छीन लिया।

14.8.4. उत्तरी–पूर्वी राजस्थान की विजय – मेवाड़ की उत्तरी–पूर्वी सीमा पर स्थित सपादलक्ष के प्रदेश, जिसमें अजमेर से लेकर नागौर डीडवाना तक का भू–भाग सम्मिलित था तथा अन्य क्षेत्रों को भी कुम्भा ने जीता था। कुम्भलगढ़ प्रशस्ति व अन्य साक्ष्यों के अनुसार सपादलक्ष का प्रदेश मोहल ने विजित किया था। किन्तु फारसी स्रोतों में इस संघर्ष में मोकल की पराजय का उल्लेख मिलता है। जो भी हो यह निश्चित है कि मोकल के अन्तिम दिनों में यह भू–भाग मेवाड़ के अधीन न होकर नागौर के सुल्तान फिरोजखां के अधिकार में था। अतः कुम्भा ने राज्य विस्तार के लिये इस ओर सैनिक अभियान किया। 1439 ई. के रणकपूर लेख में कुम्भा की अजमेर, नरायणा, खाटू आदि की विजय का उल्लेख है। स्पष्ट है कि कुम्भा ने इन लेख के अंकन के पूर्व से अजमेर और वहां से मेड़ता या डेगाना होता हुआ नागौर पहुंचा और वहां के सुल्तान फिरोजखां को परास्त किया। इस विजय के पश्चात् उसने साम्भर, अजमेर आदि भू–भाग को अपने राज्य में मिला लिये, किन्तु फिरोजखां को कर दाता बनाकर उसका राज्य वापस लौटा दिया। इस विजय के पश्चात् वह खाटू की ओर बढ़ा। किन्तु इसके आगे उत्तर–पूर्व में बढ़ने के पहले उसे कायमखानियों से संघर्ष करना पड़ा। इस संघर्ष के परिणाम अज्ञात है। किन्तु इसके पश्चात् कुम्भा साम्भर, नरेना, चाकसू आदि जीतता हुआ मेवाड़ लौट गया। दयालदास की ख्यात में कुम्भा की इन विजयों का श्रेय रणमल राठौर को दिया गया है। इस ख्यात में रणमल के हाथों 1428 ई. फिरोजखां की हत्या का उल्लेख है जो असत्य है क्योंकि उसकी मृत्यु तो 1456 ई. में हुई थी।

14.8.5 मण्डौर और सोजत विजय – रणमल की हत्या की सूचना मिलते ही चितौड़ की तलहटी स्थित उसका पुत्र जोधा अपने विश्वस्त साथियों के साथ मारवाड़ की ओर भाग निकला। किन्तु चूँडा तो राठौड़ों से प्रतिशोध लेने के लिये आबद्ध था। अतः मारवाड़ के राठौड़ों की शक्ति को पुनः संगठित होने से रोकने के लिये उसने भागते हुये राठौड़ों पर चितौड़ के निकट आक्रमण कर दिया। इस युद्ध में अनेक राठौड़ मारे गये और शेष भाग गये। किन्तु चूँड़ा लगातार उनका पीछा करता रहा। अर्बली के पास पुनः युद्ध हुआ जिसमें जोधा पराजित होकर भाग गया। उसके बाद चूँड़ा ने आगे बढ़कर मण्डोर और सोजत पर अधिकार कर लिया। विजयी चूँडा मारवाड़ का प्रबन्ध अपने पुत्र कुन्तल और सोजत की जागीर राघवदेव चूँड़ावत को सौंपकर जौधपुर लौट आया।

14.8.6. डूँगरपुर विजय – मोकल के समय में डूँगरपुर का क्षेत्र मेवाड़ की अधीनता में था, किन्तु मोकल के अन्तिम दिनों में यह स्वतन्त्र हो गया था तथा यहाँ के शासक रावल गोपाल या गोपीनाथ ने मेवाड़ के दक्षिणी भाग के कुछ गाँवों पर अधिकार कर लिया था। कुम्भा ने इस प्रदेश पर आक्रमण करके उसे पुनः मेवाड़ के राज्य में मिला लिया।

14.8.7. पूर्वी राजस्थान की विजय – चौहानों के पतन के बाद पूर्वी राजस्थान–आधुनिक सवाई माधोपुर ,टोंक, जयपुर और अलवर आदि प्रदेशों पर मुसलमानों का प्रभाव स्थापित हो गया था। इस क्षेत्र की विशिष्ट सामरिक स्थिति के कारण मेवाड़ मालवा और ग्वालियर के शासक इस क्षेत्र को अपने प्रभाव में लाने के लिये प्रयत्नशील रहते थे। आमेर के कछवाहा शासक भी इस क्षेत्र में अपना स्वतन्त्र सत्ता बनाये रखने के लिये प्रयत्नशील थे। कुम्भा भी दिल्ली सल्तनत के सम्भावित आक्रमण से मेवाड़ की रक्षा के लिये इस प्रदेश को अपने प्रभव में लाने का इच्छुक था। अतः 1439 ई. में उसने चाकसू के आस–पास का क्षेत्र और 1442 ई. में मालवा के सुल्तान के प्रतिनिधि से रणथम्भौर छीन लिया। इसके अतिरिक्त उसने कायमखानी मुसलमानों से आमेर छीन कर वहाँ कछवाह शासक उद्धरण को पुनः स्थापित किया। इसी के साथ उसने अलवर और टोंक में भी अपना प्रभाव स्थापित किया।

14.8.8. मेरों का दमन – मेवाड़ की उत्तरी सीमा पर स्थित बदनौर और उसके आस–पास के क्षेत्रों में मेर जाति के लोग रहते थे। ये सदा विद्रोह करते रहते थे। राणा लाखा ने इस पर आक्रमण करके उन्हें अपनी अधीनता स्वीकार करने को बाध्य कर दिया था। कुम्भा के समय मेर मेवाड़ की प्रजा थे। किन्तु अपनी विद्रोही प्रवृत्ति के कारण कुम्भा के शासन के प्रारम्भिक वर्षों में उन्होंने मुनीर खाँ के नेतृत्व में मेवाड़ की प्रभुता विरूद्ध कर दिया। मेरों को इस विद्रोह में गुजरात व मालवा के सुल्तानों की ओर से सैनिक और आर्थिक सहायता मिलने की आशा थी।यद्यपि दिल्ली सल्तनत की निर्बलता के कारण कुम्भा अपने राज्य की उत्तरी सीमा की ओर से निश्चित था। किन्तु मेरों के विद्रोह की सूचना मिलते ही उसने टोडा के राव सुरताण को इस विद्रोह को दबाने भेजा। सुरताण ने बलपूर्वक मेरों के विद्रोह को कुचल दिया और मेरों ने पुनः मेवाड़ की अधीनता स्वीकार कर ली। किन्तु मेर मेवाड़ के प्रति सदैव निष्ठावान नहीं रही फिर भी कुम्भा की यह विजय उत्तरी सीमा को सुदृढ़ करने और इस ओर से होने वाले किसी भी आक्रमण की सम्भावनाओं को समाप्त करने की दिशा में महत्त्वपूर्ण कदम था।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

14.8.9. अन्य विजयों – कुम्भलगढ़ प्रशस्ति के अनुसार भू–भाग में राजस्थान के कुछ अन्य प्रदेशों को भी विजयी किया था। प्रशस्ति में इन नगरों के नाम संस्कृत भाषा में शोध्यानुरी, नारदीयनगर, हमीरपुर, वायसपुर, धान्यनगर, वीसलपुर और सिंहपुरी बताये गये हैं। डॉ. दशरथ शर्मा के अनुसार शोध्यापुरी सोजत का संस्कृत रूपान्तर है। श्री रामवल्लभ सोमाणी के अनुसार नारदीयनगर, हमीरपुर तथा वायसुपर, क्रमशः सिरोही के निकट के नान्दिया, मीरपुर और वासागांव थे। सिंहपुरी की उन्होंने आधुनिक सिंहोद माना है। अन्य नगरों के बारे में कोई जानकारी प्राप्त नहीं है।

14.8.10 कुम्भा के मालवा के साथ सम्बन्ध – महाराणा कुम्भा एक महत्वाकांक्षी शासक था। जिसने मेवाड़ का प्रभुत्व बढ़ाने की हरचन्द कोशिश की। उसने जीवन–भर अनेक युद्ध किये और मालवा तथा गुजरात के सुल्तानों की विस्तारवादी नीति पर अंकुश लगाया। यहां सर्वप्रथम हम कुम्भा और मालवा के सम्बन्धों पर प्रकाश डालेंगे और तत्पश्चात् कुम्भा और गुजरात के सम्बन्धों को लेंगे। सबसे अन्त में समकालीन शासकों के साथ कुम्भा के जो सम्बन्ध रहे, उसकी चर्चा की जायेगी।

कुम्भा और मालवा–सुल्तान के बीच मतभेद के कारण – महाराणा कुम्भा और मालवा–सुल्तान के बीच मतभेद में कुछ ऐसे प्रारम्भिक और आधारभूत कारण थे जिनमें दोनों में संघर्ष अनिवार्य हो गया। ये कारण संक्षेप में निम्न थे–

1. सर्वप्रथम तो दिल्ली की दुर्बलता ने दोनों को युद्ध के निकट ला दिया। डॉ. ए. एल. श्रीवास्तव के अनुसार, "दिल्ली–सल्तनत तेजी से लड़खड़ा रही थी, अतः इस तुर्क विजेता को उसकी दुर्बलता का लाभ उठाकर महत्वाकांक्षा पूरी करने का अवसर मिल गया।" मालवा का शासक महमूद दिल्ली के नियंत्रण से मुक्त होकर, अपने राज्य का विस्तार करने लगा और दूसरी ओर महाराणा कुम्भा को भी उपयुक्त अवसर मिल गया कि वह छोटे पड़ौसी राज्यों पर विजय प्राप्त करके मेवाड़–साम्राज्य को सुदृढ़ बना ले। वास्तव मे कमजोर दिल्ली ने इन दोनों महत्वाकांक्षी शासकों को खुली छूट दे दी। यदि तैमूर का आक्रमण और फलस्वरूप दिल्ली सल्तनत का पतन नहीं होता तो सम्भवतः ये दो सांड (कुम्भा और महमूद) कभी नहीं टकरा पाते।

2. राणा कुम्भा और मालवा के सुल्तान महमूद खिलजी दोनों ही विस्तारवादी नीति में विश्वास करते थे। कुम्भा भी अपनी सीमाओं के विस्तार का उतना ही आकांक्षी था जितना महमूद खिलजी। राज्य–विस्तार के सन्दर्भ में दोनों के बीच जो होड़ चली, उससे संघर्ष होना अनिवार्य था। मांडलगढ़, जहाजपुर, बीजोलिया, डूंगरपुर, बदनौर राजस्थान के अन्य कुछ ऐसे भाग थे जिन पर दोनों ही अधिकार करना चाहते थे। कई बार तो परिस्थितियां ऐसी उत्पन्न हो गई कि को जीतकर लौटा ही था कि कुम्भा ने उसे वापस जीत लिया और कुछ समय बाद ही महमूद ने उस पर फिर से अधिकार जमा लिया। वास्तव में भूमि की भूख दोनों पक्ष को बहुत अधिक थी। दोनों के बीच संघर्ष चित्तौड़ के प्रश्न पर अधिक हुआ। दोनों ही उस पर अपना अधिकार रखना चाहते थे। चित्तौड़ मेवाड़ की राजधानी थी और कुम्भा के जीते जी यह सम्भव नहीं था कि महमूद खिलजी मेवाड़ पर अधिकार कर लेता।

3. दोनों के बीच संघर्ष का तीसरा कारण यह भी था कि होशंगशाह की मृत्यु के बाद उसके पुत्र उमरखां को कुम्भा ने सहायता दी थी, किन्तु मंत्री महमूद खिलजी ने मालवा के तख्त पर अपना कब्जा जमा लिया। फलस्वरूप कुम्भा और नये सुल्तान महमूद के बीच मनमुटाव पैदा हो गया।

4. मेवाड़ और मालवा के बीच कटुता इसलिए भी बढ़ गई कि मालवा सुल्तान ने मेवाड़ के असन्तुष्ट सरदारों को मालवा में शरण प्रदान की। हम पढ चुके है चूण्डा ने मालवा में शरण ली। राणमल के हत्यारे अज्जा को वहां शरण दी गई और अन्त में कुम्भा के छोटे भाई खेमकरण को भी वहां शरण मिली जबकि उसने कुम्भा की इच्छा के विरूद्ध बड़ी सादड़ी को अपने अधिकार में करके कुम्भा के प्रति अपने विद्रोह का परिचय दिया। कुम्भा द्वारा बड़ी सादड़ी से निकाल दिये जाने के कारण खेमकरण को मालवा सुल्तान द्वारा शरण दी जाना ऐसी घटना थी जिससे राणा कुम्भा का काफी रूष्ट हो जाना स्वाभाविक था। महत्वपूर्ण विद्रोहियों को शरण देकर महमूद ने किस प्रकार कुम्भा को अपना शत्रु बना लिया और क्यों दोनो पक्षों में लड़ाई ठन गई–इसका एक रोचक वर्णन हमें 'वीर विनोद' में मिलता है। श्री श्यामदास ने लिखा है कि "1439 ई. में महाराणा कुम्भा ने राव रणमल से कहा कि उस हरामखोर महपा पंवार को उसके अपराध का दण्ड नही मिला जिसने हमारे पिता को मारा था। तब रणमल ने अर्ज किया कि एक खत बादशाह महमूद मालवी को लिखिये, यदि वह महपा पंवार को सुपुर्द कर दे तो ठीक है, वरन् लड़ाई करके लेंगे। महाराणा ने बादशाह को खत भेजा, लेकिन उसने खत का सख्त जवाब दिया और कहा

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

कि क्या कभी ऐसा हुआ है कि अपनी पनाह में आये हुए आदमी को बहादुर गिरफ्तार कर देवे, अगर आपको लड़ाई करना मंजूर है तो आइये मैं भी तैयार हूं। इस पत्र को देखते ही महाराणा कुम्भा ने फौजकशी का हुकम दे दिया और उधर से बादशाह महमूद भी फौज लेकर चढ़ा।''

यद्यपि राणा कुम्भा और महमूद खिलजी दोनों ही एक–दूसरे से असन्तुष्ट थे तथापि 1438–39 में अन्यत्र व्यस्त होने के कारण दोनों ही आपसी संघर्ष से बचते रहे। जब एक बार खुले संघर्ष की नौबत आ गई तो महमूद ने मेवाड़ के विद्रोही सरदार महपा पंवार को महाराणा को लौटा दिया। कुम्भा इस विद्रोही सरदार को वापिस चाहता था। इस तथ्य को डॉ. उपेन्द्रनाथ–डे ने अपने शोध–प्रबन्ध 'मिडाइबल मालवा' में स्पष्ट किया है। कहने का तात्पर्य यह है कि 1439 तक मेवाड़ और मालवा संघर्ष–रत नहीं हो सके।

इस संदर्भ में कुछ और भी विवेचन आवश्यक है क्योंकि आधुनिक इतिहासकारों ने यह सिद्ध करने की कोशिश की है कि महमूद और कुम्भा के बीच संघर्ष 1437 में ही हो गया था जिसमें कुम्भा ने मालवा सुल्तान को न केवल पराजित किया था वरन् बन्दी भी बना लिया था। इतिहासकारों की मान्यता है कि अपने इसी विजय के उपलक्ष्य में राणा कुम्भा ने चित्तौड़ के दुर्ग में 'कीर्ति–स्तम्भ' का निर्माण करवाया। वास्तव में इस प्रकार का विचार भ्रान्तिपूर्ण प्रतीत होता है। डॉ. उपेन्द्रनाथ–डे ने अपने शोध ग्रंथ में समकालीन पारसी के ग्रन्थ 'तारीख–ए–महमूदशाही' को उद्धृत करते हुए लिखा है कि ''महमूद 1440 ई. तक दूसरी ही बातों में अत्यधिक व्यस्त था अतः मेवाड़ के साथ उसका संघर्षरत होना सम्भव नहीं था। उन्होंने लिखा है कि महाराणा कुम्भा तथा महमूद खिलजी के बीच 1440 ई. तक दूसरी ही बातों में अत्यधिक व्यस्त था अतः मेवाड़ के साथ उसका संघर्षरत होना सम्भव नहीं है। उन्होंने लिखा है कि महाराणा कुम्भा तथा महमूद खिलजी के बीच 1440 ई. से पहले युद्ध हुए थे और प्रत्येक युद्ध में विजयश्री कुम्भा के हाथ लगी थी। इन्हीं पराजयों के फलस्वरूप 1440 ई. में महमूद ने गुजरात के सुल्तान को अपनी तरफ मिलाकर मेवाड़ के विरूद्ध संगठन बनाया था।

निष्कर्ष यह है कि 1440 तक तो मेवाड़ के महाराणा और मालवा के सुल्तान आपसी संघर्ष को किसी प्रकार टालते रहे, लेकिन इसके बाद उनमें युद्ध अनिवार्य हो गया।

14.8.11. गागरोण की विजय – कुम्भलगढ़ तथा चितौड़ में निराश होकर महमूद ने पहले सीमा प्रदेशों पर अधिकार करने का निश्चय किया। इस उद्देश्य से 1444 ई. में उसने गागरोण पर आक्रमण कर उसे विजित किया। गागरोण उस समय खींची राजपूतों के ही अधिकार में था। यह क्षेत्र मेवाड़ राज्य का भाग नहीं था परन्तु यह राणा कुम्भा का आश्रित राज्य अवश्य था और मेवाड़ की पूर्वी सीमा का प्रहरी था। गागरोण का शासक इस समय अचल सिंह था जो राणा का बहनोई था। इस दुर्ग के चले जाने से मेवाड़ पर शत्रु का आसानी से आक्रमण हो सकता था। गागरोण मालवा के सुल्तान की सीमान्त चौकी बन गई ।

14.8.12. माण्डलगढ़ पर विजय – मेवाड़ का पूर्वी भाग, जिसमें माण्डलगढ़, बिजोलिया तथा मेनाल के प्रदेश हैं, ऊपरमाल कहलाता है। हाड़ौती से लगा होने के कारण यह क्षेत्र सामरिक दृष्टि से बहुत महत्वपूर्ण समझा जाता था। इस दुर्ग पर प्रथम बार वि. स. 1503 (1446 ई.) आक्रमण करने के लिए सुल्तान महमूद को बनास नदी पार करनी पड़ी तथा जंगली भागों से अपना मार्ग तय करना पड़ा। इतनी कठिनाईयाँ झेलने के बाद भी वह इस दुर्ग पर अधिकार नहीं कर सका क्योंकि अन्य दुर्गो की भाँति राणा ने यहाँ भी अच्छी मोर्चेबन्दी कर रखी थी। संघर्ष लगभग तीन दिन तक चला लेकिन कोई निर्णय नहीं हो सका और शीघ्र ही दोनों पक्षों में संधि–वार्ता आरम्भ हो गयी। सन्धि–वार्ता में क्या तय हुआ यह कहना कठिन है। सम्भवतः कुम्भा को भी इस युद्ध में कोई सफलता नहीं मिली क्योंकि मेवाड़ राज्य के किसी भी ऐतिहासिक स्त्रोत में इस विजय का उल्लेख नहीं मिलता है। यह युद्ध सम्भवतः अनिर्णित ही रहा होगा। इस युद्ध के सन्दर्भ में डॉ. ओझा लिखते है कि राणा ने सुल्तान को बहुत से रुपये तथा रत्न देकर माण्डू को रवाना किया।

अक्टूबर 1446 ई. में महमूद खलजी ने माण्डलगढ़ पर दूसरी बार आक्रमण किया। इस बार वह रणथम्भौर के मार्ग से होकर गया, क्योंकि उसका उद्देश्य रणथम्भौर व उसके आस–पास के प्रदेशों पर भी अधिकार करना था। अपने अधीनस्थ रणथम्मौर में सुव्यवस्थीत करके उसने माण्डलगढ़ की ओर प्रस्थान किया। माण्डलगढ के कुछ दूर बनास नदी के किनारे 'त्रिवेणी' स्थान पर उसने डेरा डाला। राजपूतों ने बनास नदी पार कर सुल्तान की सेना पर आक्रमण कर उसे परास्त किया। फारसी तवारिखों में फिर सुल्तान को सोना देकर लौटाने की बात कही गई है जो अतिशयोक्तिपूर्ण प्रतीत होती है। निष्कर्ष यह है कि सुल्तान माण्डलगढ़ पर अधिकार नहीं कर सका।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

14.8.13. माण्डलगढ़ पर तीसरा आक्रमण – 4 दिसम्बर, 1456 ई. को महमूद ने तीसरी बार माण्डलगढ़ पर आक्रमण किया। परन्तु इस बार भी उसे निराश लौटना पडा। डॉ. ओझा का कहना है कि सुल्तान ने दुर्ग के कुछ निचले भाग पर अधिकार कर लिया और कई राजपूतों को भी मौत के घाट उतार दिया। इस पर महाराणा विचलित नहीं हुआ। परन्तु जब तोप के गोलों से तालाब का पानी सूख गया तब राणा ने सुल्तान को धन का प्रलोभन देकर विदा किया। डॉ. ओझा ने लौटने की तिथि 4 दिसम्बर, 1457 बतायी है और धन की राशि 10 लाख टके (रुपये) बताई है। परन्तु यह निश्चित है कि इस आक्रमण में सुल्तान अपनी पहली हार का बदला नहीं ले सका। फरिश्ता के अनुसार राणा ने महमूद को पर्याप्त सोना तथा दस लाख टका देकर विदा किया। फरिश्ता के अनुसार नहमूद ने पॉच बार मेवाड़ पर आक्रमण किया और प्रत्येक बार राणा ने सोना तथा टका देकर उससे छुटकारा पाया। राणा द्वारा प्रत्येक बार सुल्तान को सोना देने की बात सत्य प्रतीत नहीं होती। सम्भवतः युद्ध से लौटती हुई सेना को आस–पास के क्षेत्र में लूटमार करने से थोड़ा धन प्राप्त हो जाता होगा जिसे फरिश्ता ने बढ़ा–चढ़ा कर राणा से स्वर्ण मिलने के रुप में बताया है।

14.8.14. अजमेर पर आक्रमण – 1455 ई. में महमूद ने अजमेर पर आक्रमण किया। उसका कहना था कि अजमेर मुसलमानों का तीर्थ स्थान है और राजपूत सूबेदार मुसलमानों के धार्मिक कार्यो में बाधा डालते है। अतः वह अपने धर्म स्थान को विर्धमियों से मुक्त कराना चाहता था। इसके अतिरिक्त अजमेर के कुछ मुस्लिम नागरिकों ने भी सुल्तान से प्रार्थना की थी कि वह अजमेर पर आक्रमण कर उन्हें राजपूतों के प्रशासन से मुक्त करावें। अतः सुल्तान ने अजमेर की ओर प्रस्थान किया। उस समय वहाँ का किलेदार गजाधर सिंह था। महमूद खलजी ने अजमेर पर धावा बोल दिया। और वहाँ का सूबेदार चार दिनों के घोर संघर्ष के उपरान्त पांचवे दिन वह युद्ध में लड़तें हुए मारा गया। इससे राजपूत सेना में खलबली मच गई ओर मालवा की सेना दुर्ग में प्रवेश कर गई। अजमेर पर सुल्तान का अधिकार हो गया। ख्वाजा नियामतुल्ला को सैफखॉं की उपाधि देकर उसे किले का अधिकारी नियुक्त कर दिया गया और सुल्तान वापिस मालवा चला गया। परन्तु कुछ ही महिने बाद सुल्तान बहमनी राज्य के शासक के साथ युद्ध कर रहा था कि राणा ने अजमेर जीत कर उसे पुनः अपने राज्य में मिला लिया।

14.8.15. राणा कुम्भा और गुजरात – गुजरात पश्चिमी भारत का एक महत्वपूर्ण प्रान्त था जिसकी एक सीमा मालवा राज्य के साथ लगती थी व दूसरी मेवाड़ के साथ। गुजरात 1295 ई. में सबसे पहले अलाउद्दीन खलजी ने वहाँ के बघेला शासक कर्ण को पराजित कर वहाँ पर अपना अधिकार स्थापित किया था। तब से 1401 ई. तक गुजरात दिल्ली सल्तनत का एक अंग बना रहा। फिरोजशाह तुगलक के अयोग्य उत्तराधिकारियों के समय गुजरात के सूबेदार जफर खॉं ने दिल्ली सल्तनत से सम्बन्ध विच्छेद कर अपना एक स्वतन्त्र राज्य स्थापित कर लिया।

महाराणा कुम्भा के शासन काल में 1433 ई. से 1468 ई. के बीच गुजरात पर पॉंच सुल्तानों ने शासन किया। इनमें अहमदशाह सबसे योग्य सिद्ध हुआ। गुजरात–मेवाड़ के सम्बन्ध 1442 ई. तक शान्तिपूर्ण बने रहे। इसका कारण यह था कि उस समय गुजरात की आन्तरीक दशा सन्तोषजनक नहीं थी तथा उधर मालवा व मेवाड़ में आपसी संघर्ष चल रहा था। जैसे ही धीरे–धीरे गुजरात में व्यवस्था ठीक हुई की वहां के सुल्तान ने अपना राजनीतिक प्रभाव बढ़ाने के उद्देश्य से राज्य–विस्तार की नीति अपनाई। राज्य विस्तार की नीति अपनाते ही उसकी दृष्टि मेवाड़ पर पड़ना स्वाभाविक थी। इसी कारण 1451 ई. के बाद कुम्भा को गुजरात से लगभग 15 वर्ष तक निरन्तर संघर्ष करना पड़ा। इस समय गुजरात का सुल्तान कुतुबुद्दीन अहमदशाह था। इसने अपने आठ साल के शासन में महाराणा कुम्भा से तीन बार युद्ध किया। उसका यही अल्पकालीन शासन इसलिए महत्वपूर्ण माना जाता है कि मेवाड़ को विजित करने का प्रयास करने वाला यह गुजरात का प्रथम सुल्तान था।

संघर्ष के कारण :

1. साम्राज्य विस्तार की नीति– राज्य विस्तार की नीति महाराणा कुम्भा तथा गुजरात के सुल्तानों में युद्ध का प्रमुख कारण थी। गुजरात का सुल्तान फतेह खॉं जो इतिहास में महमूद बेगड़ा के नाम से प्रसिद्ध हुआ, विशेषकर अत्यधिक महत्वाकांक्षी तथा विस्तारवादी था। दाउदशाह की मृत्यु हो जाने पर 1459 ई. में महमूद बेगड़ा गुजरात का शासक बना। अपने 53 वर्ष के शासनकाल में उसके द्वारा अनेक युद्ध लड़े गये। मेवाड़ को वह अपनी विस्तारवारदी नीति में प्रमुख बाधक समझता था। मेवाड़ व मालवा के निरन्तर युद्धों ने उसे ओर भी इस ओर आकर्षित कर दिया। मेवाड़ को नीचा दिखाने के लिए उसने अपनी सैनिक शक्ति को सुदृढ़ किया तथा मेवाड़ से भागे हुए लोगो को अपने यहाँ शरण दी ताकि उसे उनसे मेवाड़ की आन्तरिक स्थिति तथा सेना कि ठीक जानकारी मिल सके। इधर राणा कुम्भा भी कम महत्वाकांक्षी नहीं था। वह अपने पड़ौसी

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

राज्य को अपने ऊपर हावी होते नहीं देख सकता था। परिणामतः इन दोनों राज्यों में संघर्ष होना स्वाभाविक था।

2. नागौर के उत्तराधिकार का प्रश्न– नागौर के उत्तराधिकार के प्रश्न को लेकर भी गुजरात तथा मेवाड़ के आपसी सम्बन्ध बिगड़ गये थे। नागौर के शासक फिरोज खाँ की मृत्यु (1454 ई.) के पश्चात उसके पुत्र शम्सखाँ तथा उसके छोटे भाई मुजाहिदखाँ में नागौर की गद्दी के लिए संघर्ष आरम्भ हो गया। फिरोज खाँ के पिता ने अपने भ्राता मुज्जफरशाह से, जो गुजरात का प्रथम मुस्लिम शासक था, नागौर प्राप्त किया था। मुजाहिदखाँ ने शम्सखाँ को हटाकर नागौर पर अपना अधिकार कर लिया। इस पर शम्सखाँ भागकर महाराणा कुम्भा के ही शरण में चला गया व उनसे सहायता मांगी। महाराणा कुम्भा नागौर में अपना प्रभुत्व स्थापित करने हेतु पहले से ही आतुर था। उसने इसे सुनहरा अवसर समझकर शम्सखाँ को सहायता देने का वायदा कर लिया। परन्तु इसके लिए उसने शम्सखाँ के सामने दो शर्ते रखीं–प्रथम वह दुर्ग की किलेबन्दी नहीं करेगा तथा किले की तीन बुर्जियों को तुड़वा देगा, दुसरे वह उन समस्त प्रतीको को हटा देगा जो राणा मोकल की पराजय के प्रतीक हैं। शम्सखाँ ने महाराणा की दोनों शर्ते स्वीकार कर ली। कुम्भा की सहायता से शम्सखाँ नागौर पर अधिकार करने में सफल हुआ।

नागौर पर अधिकार करते ही शम्सखाँ कृतघ्न निकला। उसने स्वीकृत दोनों शर्तो का उल्लंघन कर दुर्ग की मरम्मत करवाना आरम्भ कर दिया। जब राणा कुम्भा को इसका पता लगा तो उसने नागौर पर आक्रमण करके उस पर अधिकार कर लिया। शम्सखाँ असहाय होकर कुतुबुद्दीन के पास अहमदाबाद चला गया। वहाँ जाकर गुजरात के सुल्तान से सहायता देने को कहा। सुल्तान से सम्बन्ध सुदृढ़ बनाने की दृष्टि से उसने अपनी पुत्री का विवाह भी कुतुबुद्दीन के साथ कर दिया । इस पर गुजरात के सुल्तान ने मलिक गदाई और राय रामचन्द्र (अमीचन्द) की अधीनता में शम्सखाँ की सहायतार्थ नागौर सेना भेजी। परन्तु सुल्तान की सेना को महाराणा ने आसानी से परास्त कर लौटा दिया।

फारसी तवारीखों में तो नागौर के इस सैनिक अभियान का इतना ही वर्णन उपलब्ध है। परन्तु कीर्तीस्तम्भ की प्रशस्ति में लिखा है कि 'कुम्भकर्ण (कुम्भा) ने गुजरात के सुल्तान की विडम्बना (उपहास) करते हुए नागपुर (नागौर) लिया, पेरोज (फिरोज) द्वारा निर्मित ऊँची मस्जिद को अग्निदेव को भेंट चढ़ा दिया, किले को तोड़ा, खाई को पाट दिया, हाथी छिन लिए, यवनीयों को बन्दी बनाया और असंख्य यवनों को दण्डित किया शम्सखाँ के खजाने से विपुल रत्न संचय किया।

उधर जब कुतुबुद्दीन ने अपनी सेना के पराजय के हाल सुने तो वह चित्तौड़ की ओर रवाना हुआ। इस अभियान के समय सिरोही का महाराव कन्थादेव देवड़ा कुतुबुद्दीन से मिला क्योंकि उसके आबू पर भी महाराणा कुम्भा ने अधिकार कर लिया था। देवड़ा ने गुजरात के सुल्तान से आबू वापिस दिलाने कि प्रार्थना की। इस पर सुल्तान ने अपने सेनापति मलिक शहबान (इमादुल्मुल्क) को आबू लेकर देवड़ा के सुपुर्द करने को भेजा और स्वयं कुम्भलमेर (कुम्भलगढ़) की तरफ चला गया। परन्तु इमादुल्मुल्क को राणा ने बुरी तरह परास्त कर दिया। पराजय का कारण बताया गया है कि इमादुल्मुल्क पहाड़ी भाग में लड़ने का अभ्यस्त नही था। सुल्तान के सेनापति को संघर्ष में भारी क्षति उठानी पड़ी।

कुम्भगढ़ का कुम्भा सुल्तान कुतुबुद्दीन से पूर्व पहुँच गया और परास्त इमादुल्मुल्क भी सुल्तान की सहायता के लिए वहा जा पहुँचा। महाराणा ने उन दोनों की संयुक्त सेना को पुनः परास्त कर दिया। इस पर सुल्तान राणा से सन्धि करके गुजरात लौट आया। परन्तु फरिश्ता लिखता है कि सुल्तान विजेता के रुप में राणा से सन्धि करके लौटा।

मालवा व गुजरात के सुल्तानों के मध्य समझौता

महाराणा कुम्भा से मुँह की खाकर जब सुल्तान लौट रहा था तो मार्ग में मालवा के सुल्तान महमूद खलजी का सन्देश लेकर ताजखाँ उसके पास पहुँचा। इस मुलाकात के परिणामस्वरुप मालवा व गुजरात के सुल्तानों के मध्य एक समझौता हुआ। दोनों सुल्तान महाराणा कुम्भा से कई युद्ध कर चुके थे और करीब–करीब हर युद्ध में उन्हें मुँह की खानी पड़ी। अतः अब उन दोनों ने संयुक्त रुप से राणा से लोहा लेने की सोची। यह भी तय किया गया की दोनों सुल्तानों की सेना एक साथ प्रस्थान करेगी, परन्तु युद्ध अलग–अलग स्थानों पर करेगी। इस समझौते में डॉ. उपेन्द्रनाथ डे के मतानुसार निम्न शर्ते स्वीकार की गईं–

1. मेवाड़ राज्य की पराजय के बाद अजमेर, मेवाड़ और मालवा के आस–पास का क्षेत्र मालवा को मिलें।

2. गुजरात का सुल्तान जब भी आवश्यकता पड़े, मेवाड़ पर आक्रमण करेगा।

इन शर्तों के सम्बन्ध में डॉ. दशरथ शर्मा का कहना है कि यह एक पक्षीय समझौता लगता है और गुजरात का सुल्तान

कुतुबुद्दीन इतना भोला और निस्वार्थी नहीं था कि बिना किसी प्रलोभन के वह सैनिक अभियान की बात मान लेता। दोनों सुल्तानों का यह समझौता इतिहास में चम्पानेर की सन्धि (1453 ई.) के नाम से विख्यात है।

कुछ समय तक दोनों सुल्तानों ने चम्पानेर की सन्धि के अनुकूल कार्य किया। कुतुबुद्दीन ने आबू को विजित कर कन्थादेव को लौटा दिया। इसके उपरान्त दोनों सुल्तान अपनी पूर्व पराजयों का बदला लेने की दृष्टि से मेवाड़ पर संयुक्त आक्रमण करने की योजना बनाने लगे।

मालवा तथा गुजरात का संयुक्त आक्रमण

1457 ई. में कुम्भा को मालवा तथा गुजरात के सुल्तानों की संगठित शक्ति से संघर्ष करना पड़ा। एक सेना कुतुबशाह के नेतृत्व में आबू के मार्ग से चितौड़ पर अधिकार करने के लिए आई तथा दूसरी महमूद की अधीनता में मेवाड़ के अन्य भाग को लेने के लिए मालवा की ओर से मेवाड़ में प्रविष्ट हुई। इस संकट का सामना करने के लिए कुम्भा ने प्रथम मालवा की सेना से युद्ध करने की ठानी। परन्तु जब कुतुबशाह को शीघ्रता से आगे बढ़ते देखा तो राणा को प्रथम सिरोही में उससे युद्ध करना पड़ा और युद्ध में वह परास्त हो गया। कुतुबशाह आगे बढा और राणा ने प्रतिरोध करने का प्रयास किया। अभाग्यवश कुम्भा को फिर मुँह की खानी पड़ी। इन पराजयों के मिलने पर उसने कूटनीति से काम लिया। उसने गुजरात के सुल्तान को धन (14 मन सोना व दो हाथी) देकर वापस लौटा दिया। इसी प्रकार धन देकर महमूद को मालवा लौटा दिया। पर यह वर्णन फरिश्ता द्वारा वर्णित है। इस विवरण पर टिप्पणी करते डॉ. ओझा कहते है कि फरिश्ता का यह वर्णन ठीक वैसा ही है, जैसा की मुसलमानों के हिन्दुओं से हारने पर मुसलमान इतिहास लेखक किया करते हैं। कीर्ति–स्तम्भ–प्रशस्ति तथा रसिक प्रिया की टीका के अनुसार दोनों सुल्तानों की सेनाओं को परास्त होकर भागना पड़ा था। डॉ. गोपीनाथ शर्मा के अनुसार हो सकता है कि चम्पानेर सन्धि के अन्तर्गत बंटवारे के प्रश्न को लेकर मालवा तथा गुजरात के सुल्तानों को एक–दूसरें पर सन्देह हो गया हो। अतः वे आक्रमण के समय एकता से काम न कर सके हों। इस आशंका की पुष्टि दोनों सुल्तानों द्वारा राणा से अलग–अलग सन्धि करने तथा उनके अलग–अलग लौटने की घटनाओं से होती हैं।

14.8.16. नागौर–विजयः –

कुंभा ने 1458 ई. में नागौर पर आक्रमण किया जिसका कारण श्यामलदास के अनुसार

1. नागौर का हाकिम शम्सखां और मुसलमानों द्वारा गो–वध बहुत होने लगा था।
2. मालवा के सुल्तान के मेवाड़ आक्रमण के समय शम्सखां ने उसकी महाराणा के विरूद्व सहायता की थी।
3. शम्सखां ने किले की मरम्मत शुरू कर दी थी। अतः महाराणा ने नागौर पर आक्रमण कर उसे जीत लिया।

14.8.17. कुंभलगढ़ – अभियान – कुतुबुद्दीन का 1458 ई. में कुंभलगढ़ पर अंतिम आक्रमण हुआ जिसमें उसे कुंभा से पराजित होकर लौटना पड़ा। तभी 25 मई, 1458 ई. को उसका देहान्त हो गया।

6 8.18. महमूद बेगड़ा का आक्रमण – कुतुबुद्दीन के बाद महमूद बेगड़ा गुजरात का सुल्तान बना। उसने 1459 ई. में जूनागढ़ पर आक्रमण किया। वहाँ का शासक कुंभा का दामाद था। अतः महाराणा उसकी सहायतार्थ जूनागढ़ गया और सुल्तान को पराजित कर भगा दिया।

इस प्रकार से कुंभा ने अपनी सैनिक शक्ति द्वारा सम्पूर्ण राजपूताना पर अपना अधिकार ही स्थापित नहीं किया बल्कि मेवाड़ की राज्य सीमा का विस्तार कर अपनी कीर्ति में चार चाँद लगाये जिसका प्रमाण चितौड़ की धरती पर खड़ा कीर्ति–स्तम्भ है। कुंभा ने अपने रणचातुर्य एवं कूटनीति से मेवाड़ में आंतरिक शांति व समृद्धि की स्थापना ही नहीं की अपितु मेवाड़ की बाह्य शत्रुओं से रक्षा भी की।

14.9. कुम्भा का व्यक्तित्व एवं सारांश :

श्री गहलोत अपनी पुस्तक 'राजपूताने का इतिहास' के पृष्ठ 211–212 पर कुम्भा के व्यक्तित्व की प्रशंसा करते हुए लिखते है कि– "कुम्भाजी बड़े वीर और साहसी थे। उन्होंने मुलसलमानों से देश की रक्षा करने के लिए कुम्भलगढ़ आदि कई किले बनाये। कुम्भलगढ़ के शिलालेख में उन्हें धर्म और पवित्रता का अवतार और उन्हें विद्वान और दानी राजा भोज व कर्ण से भी बढ़कर लिखा है। वे प्रजापालक और सब धर्मो को एक दृष्टि से देखने वाले नरेश थे। उन्होंने आबू पर जाने वाले जैन यात्रियों पर जो कर लिया जाता था उसे हटा दिया था।"

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

टाड महोदय ने 'राजस्थान के इतिहास' लिखा हैं कि– "राणा कुम्भा में लोकप्रियता का गुण था। मेवाड़ की प्रजा उस पर बहुत श्रद्धा रखती थी। राणा ने प्रजा की सुविधाओं और राज्य के हितों के लिये बहुत से अच्छे कार्य किये थे और उन्हीं कारणों से सम्पूर्ण राजस्थान में उसे बहुत ख्याति मिली।"

टाड महोदय आगे कहते हैं कि– कुम्भा ने अपनी की जाति के शत्रुओं पर विजय प्राप्त की। उसने अपने राज्य को सुदृढ़ दुर्गों द्वारा सम्पन्न बनाया और ख्याति अर्जित करके अपने नाम को चिरस्थायी बना लिया।"

यह स्पष्ट है कि महाराणा कुम्भा केवल वीर ही नहीं था। विजय श्री सदा उसके कवच में निवास करती थी। मृत्यु से भयंकर कठोरता रखते हुए भी उसके दिल में कवियों सी सरत्तता और शासकों का संरक्षण निवास करते थे। वह कलाकारों का संरक्षक, विद्वानों का आश्रयदाता और संगीत, नाट्य, वास्तुकला आदि कलाओं का महान् प्रेमी था। उसके व्यक्तित्व के बारे में हमें संक्षेप में इन बातों का उल्लेख करेंगे–

14.9.1. अपार साहसी – कुम्भा तो साहस की कसौटी पर शुरू से ही खरा पाया जाता है। वह जब छोटा सा था तो उसके पिता मेवाड़ पर चारों तरफ से मंडराते विपदा के बादल छोड़ गये थे। अपने अपार धैर्य और साहस के साथ आन्तरिक विद्रोहों का दमन किया। विदेशी मुसलमानों की चुनौती का उत्तर दिया और मेवाड़ पर राठौड़ों के बढ़ते प्रभाव को समाप्त किया। उसने साहस की पराकाष्ठा का प्रदर्शन मालवा और गुजरात के संयुक्त आक्रमण के समय किया। दोनों सुल्तानों की सेना और शक्ति कुम्भा के साहस ने उन्हें निराश कर लौटने पर बाध्य कर दिया। कुम्भा के स्थान पर उस समय कोई और शासक होता तो बूंदी और मेवाड़ दोनों पर मुसलमान राज्य स्थापित हो जाता। कुम्भा के अटूट साहस ने मेवाड के प्राण बचा लिये।

14.9.2. महान् वीर – कुम्भा महान् वीर था। उसने मेवाड़ भूमि के अतिरिक्त गोड़वाड़, अजमेर, मन्दसौर, आबू, मंडोर, नागौर, मांडलगढ़, बूंदी, सांभर, रणथम्भौर, डूंगरपुर, जावरा आदि प्रदेश जीते थे। उसने बूंदी के हाडा, सिरोही के देवड़ा, सोजत और मंडोवर के राठौड़ आदि बड़े राजपूत ठिकाणों को पराजित कर अधीनता मानने पर बाध्य किया था। यह कहना सत्य है कि सांगा के विशाल राज्य की नींव कुम्भा के हाथों से रखी गई थी।

14.9.3. कुशल राजनीतिज्ञ – कुम्भा अवसर से काम लेता था। वह अन्य राजपूतों की भांति केवल बहादुरी से मर जाने में विश्वास नहीं रखता था। आवश्यकता पड़ने पर पहाड़ों में छिपकर अचानक आक्रमण करता था। उसने अपने शुरू के समय में गुजरात और मालवा की शत्रुता का लाभ उठाकर गुजरात के सुल्तान अहमदशाह को मेवाड़ पर कभी आक्रमण नहीं करने दिया। उल्टा दिल्ली और गुजरात के सुल्तानों ने हिन्दू सुरत्ताण की उपाधि दी। गुजरात से उसे सम्बन्ध नागौर विजय के बाद ही बिगड़े थे। कुम्भा राज्य को आवश्कता से अधिक बढ़ाने में विश्वास नहीं रखता था। वह जीते हुए प्रदेशों से सालाना कर लेकर उन्हें राज्य वापस दे देता था। इस प्रकार के राज्य बूंदी, सिरोही, नागौर आदि थे। वह शत्रुओं में फूट डालकर भी उन पर शासन करता था। उसने राठौड़ों की सोजत आदि की जागीर देकर 15 वर्ष तक जोधपुर के राठौड़ों को अपने अधीन रखा। वह वीर सरदारों को जागीरें देकर उन्हें प्रसन्न रखता था। इस प्रकार जागीरें देना, फूट डालना, कर लेकर उत्तदायित्व से मुक्ति पा लेना, शत्रुओं को संगठित न होने देना और छापामार युद्ध का प्रयोग आदि उसकी कुशल राजनीतिज्ञता प्रमाणित करते है।

14.9.4. प्रजापालक – जहां कुम्भा राज्य की रक्षा के लिये सजग था वहां वह प्रजा का पालक भी था। इतने वर्षो तक निरंतर युद्ध में व्यस्त रहने के बाद भी कुम्भा अपनी प्रजा के हितों को नहीं भूला था। उसने चित्तौड़ कुम्भलगढ़, आबू, पिंछवाड़ा और बसन्तपुर में सड़के, तालाब, बावड़िया बनवाई। बसन्तपुर में सात बावडियां और एक सरोवर और चार बावड़ियां बनवाई। बसन्तपुर में सात बावडियां और एक बाग लगवाया। वह महान् दानी भी था। उसकी तुलना भोज और कर्ण जैसे दानवीरों से की गई है। यही कारण है कि कवियों ने उसे कुम्भगढ़ प्रशस्ति में प्रजा पालक व विख्यात दानी कहा है।

14.9.5. साहित्य का संरक्षक – इसमें तो कोई दो राय नहीं हो सकती कि कुम्भा विद्वान था। वह स्वयं अच्छी संस्कृत लिख और बोल सकता था। वह स्वयं विद्वान ही नहीं विद्वानों का आश्रयदाता भी था। परमार राजा भोज और चौहान राजा विसलदेव की तरह वह भी संस्कृत का विद्वान था। उसे अन्य भाषाओं का ज्ञान भी था जिनमें गुजराती, मराठी और कन्नड़ी उल्लेखनीय है। उसकी खुद की रचना 'रसिक प्रिया' इस बात की प्रमाण हे कि कुम्भा स्वयं साहित्यकार था जहां कुम्भा भवानी का उपासक था वहा वह सरस्वती का प्रिय पुत्र भी था। दोनों देवियों की उस पर समान कृपा थी। उसने 'संगीत राज नामक एक ग्रन्थ लिखवाया जिसमें 16,000 श्लोक थे। कीर्ति स्तम्भ में कुम्भा द्वारा रचित चार नाटकों का भी वर्णन मिलता है। अत्री और महेश मण्डन के द्वारा उसने कुम्भलगढ़ और कीर्ति स्तम्भ प्रशस्ति बनवाई थी। कुम्भा के दरबार में कई पंडित रहते थे।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

कह्ल्वास, अत्री, महेश, एकनाथ और कुम्भलगढ़ के भृगु परिवार को उसने राजकीय सम्मान दिया था। परिणामस्वरूप मेवाड़ में शिक्षण संस्थाओं का जाल बिछ गया और विद्या का विकास हुआ उसने खुद ने 'संगीत राज', संगीत मीमांसा', 'संगीतामृत' नामक ग्रंथ रचे थे। 'गीत गोविन्द' और 'चंडीशतक' की टीकाएं और चार नाटक लिखे थे। 'एकलिंग महात्म्य' का पिछला भाग सुन्दर व मधुर कविता में खुद ने रचा था। भवन निर्माण विद्या पर आठ पुस्तकें बनवाई थी। वह एक अच्छा कवि भी था।

14.9.6. निर्माता कुम्भा — कुम्भा के समय में जितना निर्माण कार्य हुआ उतना मेवाड़ के इतिहास में और किसी के समय में नहीं हुआ। उसने सिर्फ चित्तौड़ में ही कीर्ति स्तम्भ कुम्भस्वामी का मंदिर, वराह का मंदिर, श्रृंगार चंवरी, जैन कीर्ति स्तम्भ के पास महावीर जी का मंदिर आदि बनवाये थे। उसके बनवाये हुए मंदिरों में कुम्भलगढ़ में महादेवजी का मंदिर अचलेश्वर में जैन और कुम्भास्वामी के मंदिर विशेष आकर्षक और उल्लेखनीय है। उसे मूर्ति निर्माण का भी काफी शौक था। कीर्तिस्तम्भ तो आज भी हिन्दू पौराणिक देवी—देवताओं की मूर्तियों का संग्रहालय कहते है। उसे विष्णु की ही नहीं महावीर स्वामी की भी देलवाड़ा में विशालकाय मूर्ति बनवाई। श्री सोमानी का मत है कि "इस प्रकार कुम्भा के शासनकाल को वास्तुकला के क्षेत्र में मेवाड़ का स्वर्ण युग कहा जा सकता है। उसने रणकपुर और एकलिंगजी के मंदिरों को बनवाया। हरविलास शारदा का मत है कि "कुम्भलगढ़ और चित्तौड़ के कीर्ति स्तम्भ उन नमूनों में से है जो राणा कुम्भा की एक सेनानायक व महान् शासक के रूप में सदैव याद दिलाते रहेंगे।"

मंदिर और जनहित के निर्माणों के सिवा कुम्भा ने अनेक दुर्ग भी बनवाये। टाड महोदय का कहना है कि— "मेवाड़ राज्य में चौरासी दुर्ग है। उनमें 32 राणा कुम्भा ने बनवाये थे। इन 32 किलों में कुम्भलमेर का दुर्ग सबसे प्रसिद्ध है।" कुम्भलेश्वर का किला—एकलिंगजी के मंदिर का जीर्णोद्धार आदि मिलाकर 32 किले और बहुत से देवालय व इमारतें वगैरह इनकी बनवाई हुई है। जिनको देखकर आश्चर्य होता है कि एक मुश्त में इत्नी इमारतें कैसे तैयार हुई होगी।"

कुम्भलगढ़ का किला उसने अपनी पत्नी कुम्भलदेवी की स्मृति में बनवाया था। इस पहाड़ी दुर्ग में संकटकालीन स्थिति में 40 हजार व्यक्तियों को जल देने के लिये एक तालाब बना है। इस किले में बने मंदिरों की प्रशंसा पर कला पारखियों ने कुम्भा की महती प्रशंसा की है। कला पारखी फर्गुसन ने कुम्भा की इमारतों की प्रशंसा करते हुए लिखा है कि— "चित्तौड़ का कीर्ति स्तम्भ उसकी ख्याति कि चिर—स्थाई स्मारक के रूप में सदैव बना रहेगा।" फर्गुसन ने इस कीर्ति स्तम्भ को रोम के टावर से अधिक महत्वपूर्ण और कलापूर्ण बताया है। यह कीर्ति स्तम्भ राणा ने मालवा के सुल्तान महमूद को पराजित करने की खुशी में 1449 में चित्तौड़ में बनवाया था। जब तक यह कीर्ति स्तम्भ रहेगा, कुम्भा का गौरव नभ के सितारों की भांति हंसता चमकता रहेगा।

14.9.7. धर्म रक्षक — कुम्भा धार्मिक सहिष्णुता में भी विश्वास रखता था। उसने सभी धर्मो की रक्षा की। आबू जाने वाली जैनी यात्रियों से धार्मिक कर लेना बन्द कर दिया। वह बनारस, इलाहाबाद आदि धार्मिक स्थानों को भेंट भेजा करता था और इतने पर भी ब्राह्मणों के शत्रुओं का नाश करने वाला था और उसने जैन और वैष्णव मंदिरों का निर्माण भी किया। शैव मंदिर का जीर्णोद्धार भी करवाया। वह हिन्दू, जैन, शैव सभी मतों का संरक्षक था। इससे स्पष्ट है कि वह धर्म रक्षक था। उसने अपने अधीन मुसलमान प्रजा पर भी कभी कोई आतंकमय अत्याचार नहीं किया। नागौर में जब गौ वध अधिक होने लगा तब कुम्भा ने उन पर आक्रमण किया था अन्यथा धर्म उसकी राजनीति में कोई बाधक नहीं था।

14.10. बोध प्रश्न :

प्रश्न 1 'रसिक प्रिया' किसकी कृति है?

अ. राणा सांगा ब. राणा कुम्भा स. राणा प्रताप द. राणा सांगा

उत्तर — ....

प्रश्न 2 'कुम्भलगढ़ प्रशस्ति' पर टिप्पणी लिखिए?

उत्तर — ....

प्रश्न 3 राणा कुम्भा की प्रारम्भिक कठिनाइयां बताते हुए उसकी सैनिक उपलब्धियों को विवेचित कीजिए?

उत्तर — ....

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

इकाई – 15
महाराणा सांगा

संरचना

15.0 उद्देश्य
15.1 प्रस्तावना
15.2 जीवनी
15.3 सांगा की प्रारम्भिक कठिनाइयाँ
15.4 राणा सांगा की साम्राज्यवादी नीति
 15.4.1. मेवाड़ के अपहृत राज्यों को पुनः प्राप्त करन
 15.4.2. राणा सांगा और मालवा
 15.4.3 राणा सांगा और गुजरात
 15.4.4. राणा सांगा और दिल्ली सल्तनत
15.5 सांगा के अंतिम दिन
15.6 राणा सांगा का व्यक्तित्व तथा उसका मूल्यांकन
15.7 बोध प्रश्न

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

15.0 उद्देश्य :

इस इकाई में राणा सांगा की योग्यता, प्रारम्भिक कठिनाइयों, विजय अभियान के साथ–साथ मुगल सम्राट बाबर के साथ लड़े गये खानवा युद्ध का कारण, परिणाम, असफलता के कारणों को विस्तारपूर्वक पाठकों को समझाया गया है।

15.1. प्रस्तावना :

16वीं शताब्दी भारत के इतिहास में विशेष महत्व रखती है। इस शताब्दी के प्रारम्भ से ही मुगल साम्राज्य के संस्थापक बाबर ने भारत के द्वार खट्खटाना प्रारम्भ कर दिए थे। 1526 ई. में लोदी साम्राज्य को समाप्त करके, पानीपत के युद्ध की विजय के बाद बाबर ने भारत में मुगल साम्राज्य की नींव डाली थी। लेकिन राजस्थान के इतिहास में 16वीं शताब्दी का महत्व 1526 ई. से लगभग 17 वर्ष पहले प्रारम्भ हो जाता है, जब इस प्रदेश के इतिहास के रंगमंच पर प्रतिभाशाली विभूतियों का पदार्पण हुआ।

1509 ई. में दिल्ली के राज सिंहासन पर इब्राहीम लोदी सत्तारूढ़ हुआ। उसी वर्ग तत्कालीन राजस्थान के मेवाड़ राज्य में राणा सांगा सिंहासनारूढ़ हुआ। इब्राहीम लोदी शक्ति के केन्द्रीकरण में विश्वास रखता था। राणा सांगा अपने पूर्वज महाराणा कुम्भा से प्रेरणा लेकर मेवाड़ के राज्य को बढ़ाना चाहता था। सिंहासनारोहण के बाद राणा सांगा की विस्तारवादी योजनाएं प्रारम्भ हो गई। इस प्रकार भाग्य से मेवाड़ के इतिहास में सांगा का काल शक्ति की पराकाष्ठा का काल कहलाता है। राणा सांगा की विस्तारवादी योजनाओं को पूर्ण करने के दो तरीके थे–

1. आक्रामक युद्ध।
2. राजवंशी विवाहों के द्वारा राजनैतिक सम्बन्धों की स्थापना करना।

राणा सांगा ने दूसरे तरीके को अधिक महत्व दिया। जिसका परिणाम यह हुआ कि उसके सम्बन्ध राजस्थान और बाहर के राज्यों के साथ स्थापित हो गए। उदाहरण के लिए नारवाड़ के राव गांगा की बहिन जनसी का विवाह राणा सांगा के साथ हुआ था। आमेर के पृथ्वीराज की लड़की अथवा बहिन का विवाह राणा सांगा के साथ हुआ था। राजस्थान के बाहर ईडर के राणाओं के साथ वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित किए गए।

विस्तारवादी योजनाओं के परिणास्वरूप जो युद्ध राणा सांगा ने 1509 से 1521 ई. के बीच में लड़े उनके परिणामस्वरूप सांगा राजस्थान तथा भारत का हिन्दू शासक बन गया था। उसी के काल में महाराणा की उपाधि से प्रजा ने राजा को पुकारना प्रारम्भ कर दिया था। इस प्रकार सांगा का काल मेवाड़ के इतिहास में साम्राज्यवादी युग का पुनरावर्तन करता है।

15.2. जीवनी :

महाराणा सांगा का जन्म 1482 ई., राज्याभिषेक 4 मई, 1508 ई.को हुआ। सिसोदिया राजवंश के राणा सांगा के सिंहसनारोहण के समय मेवाड़ की आन्तरिक और बाह्य स्थिति विक्षिप्त थी। सांगा के भाई पृथ्वीराज के साथ उनका लम्बा संघर्ष चलता रहा था, जिसमें अन्तिम विजय सांगा की हुई थी। उनके पिता रायमल बहु–पत्नी प्रथा के अनुगामी थे। अतः आन्तरिक क्लेश का मूल कारण रायमल की विभिन्न पत्नियों से उत्पन्न सन्तानों की आकांक्षावादी प्रवृत्तियों थी। इस गृह–कलह में मेवाड़ के सरदारों ने दोनों पक्षों का खुलकर समर्थन किया था।

स्पष्ट है कि सांगा के राज्याभिषेक के समय आन्तरिक दृष्टि से मेवाड़ उतना सुव्यवस्थित नहीं था जितना राणा कुम्भा की मृत्यु के समय 1469 ई. में था। बाह्य दृष्टि से भी मेवाड़ उतना सुव्यवस्थित नहीं था जितना राणा कुम्भा की मृत्यु के समय 1469 ई. में था। बाह्य दृष्टि से भी मेवाड़ की अस्त–व्यस्त आन्तरिक स्थिति से इस राज्य के पड़ौसी अपनी शक्ति को संगठित करने में जुटे हुए थे। मारवाड़ के राठौड़ों ने केवल अपनी शक्ति का विस्तार ही नहीं किया वरन् कतिपय राठौड़ सरदारों ने राजघराने में घुसपैठ करके आन्तरिक कलह को शान्त करने के बहाने उल्टे उसे बढ़ावा दिया था। जिस प्रकार मारवाड़ ने लाभ उठाया ठीक उसी प्रकार आमेर के कछवाहों ने ढूँढार के प्रदेश पर अपना एकछत्र शासन स्थापित करके इस राज्य की गणना शक्तिशाली राज्यों में करवा दी थी। इसी प्रकार बूंदी में हाड़ा राजपूतों ने मेवाड़ के आधिपत्य में रहते हुए भी अपनी शक्ति को संगठित करने में किसी प्रकार की कसर काफी बाकी नहीं छोड़ी थी।

इस प्रकार लगभग सभी पड़ौसी शासक मेवाड़ की निर्बल स्थिति से लाभ उठाने को उत्सुक थे। राणा कुम्भा की मृत्यु के बाद हत्यारे उदयसिंह ने अपनी आन्तरिक और बाह्य स्थिति को सुदृढ़ करने के लिए आबू, सिरोही को देवड़ा शासक को सौंप कर तथा अजमेर में स्थित तारागढ़ का दुर्ग जोधा को स्थानान्तरित करके और मेड़ता के संस्थापक दूदा ने सांभर पर अपना अधिकार स्थापित करके मेवाड़ के प्रभुत्व को ठेस पहुंचाई थी। उदयसिंह द्वारा खोए हुए प्रदेश को पुनः प्राप्त करने का प्रयत्न रायमल की ओर से नहीं किया गया था। अतएव सांग को अपनी महत्वाकांक्षी पूरी करने के लिए यह आवश्यक था कि वह मेवाड़ के आधिपत्य को पुनः स्थापित करे।

यदि सांगा को कुम्भा के काल का ऐश्वर्य प्राप्त करना था तो उसे स्वाभाविक रूप से मालवा और गुजरात के मुस्लिम सुल्तानों से लोहा लेना जरूरी था। सौभाग्य से सांगा के समय दिल्ली की गद्दी पर इब्राहिम लोदी जैसा निर्बल सुल्तान विराजमान था, पर वह भी कोरा मिट्टी का पुतला नहीं था। उसे भी राणा सांगा की बढ़ती हुई शक्ति से चिन्ता हुई और उसने खतौली के युद्ध–क्षेत्र में दिल्ली सल्तनत की सेनाओं से शक्ति–परीक्षण किया। 1526 ई. में इब्राहिम लोदी की पराजय और मृत्यु के साथ बाबर ने भारत में मुगल साम्राज्य स्थापित कर लिया। उसके विरूद्ध भी राणा सांगा ने 1527 ई. में सशस्त्र युद्ध लड़ा। कहने का आशय यह हुआ कि महाराणा सांगा जीवन–पर्यन्त युद्ध करते रहे, उन्होंने अपने जीवन में जितने युद्ध लड़े उनके अधिकांशतः विजय प्राप्त की। अन्तिम पराजय बाबर के हाथों खानवा के युद्ध–क्षेत्र में हुई जिसके पश्चाताप का परिणाम एकान्तवास और अन्त में उनकी मृत्यु हुई। वास्तव में राणा सांगा का व्यक्तित्व एक प्रभावशाली योद्धा का व्यक्तित्व था। यद्यपि उनका कद मझौला था तथापि शारीरिक गठन हृष्ट–पुष्ट और वर्ण श्वेत था, उसकी एक आंख, एक टांग क्रमशः अपने भ्राता पृथ्वीराज और इब्राहिम लोदी के विरूद्ध संघर्ष में नष्ट हो चुकी थी और उसका शरीर विभिन्न घावों के निशानों से भरपूर था, फिर भी उसका आकर्षक व्यक्तित्व, यश और प्रभुत्व का प्रतीक था।

15.3. साँगा की प्रारम्भिक कठिनाइयाँ :

साँगा के सिंहासन पर बैठने के समय मेवाड़ आन्तरिक कलह व बाह्य आक्रमणों का शिकार बना हुआ था। कुम्भा की मृत्यु के बाद उदयसिंह ने अपनी स्थिति सुदृढ़ करने के लिए अपने पड़ौसी राज्यों से मेत्री करना आरम्भ किया था। इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिए उसने आबू, सिरोही को लौटा दिया और अजमेर का तारागढ़ का किला जोधपुर को दे दिया था। मेड़ता के सामन्त दूदा को साँभर पर अधिकार करने से उसने नहीं रोका। राजा उदयसिंह द्वारा खोये हुए उन प्रदेशों को रायमल ने प्राप्त करने का कोई प्रयत्न नहीं किया था। अतः सांगा के सामने बड़ी समस्या मेवाड़ के खोये हुए प्रदेशों को प्राप्त करने की थी।

इसके अतिरिक्त पड़ौसी राजपूत राज्य भी अपनी शक्ति में वृद्धि कर रहे थे। इस समय मारवाड़ के राठौड़, आमेर के कच्छवाहा तथा हाड़ौती के हाड़ा अपने–अपने राज्यों की सीमाएं बढ़ाने को आतुर थे। ये शासक मेवाड़ के प्रभाव से मुक्त होने से ही सन्तुष्ट नहीं थे अपितु वे मेवाड़ का अस्तित्व मिटाने का प्रयास भी कर रहे थे।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

राजपूत राजा ही नहीं अपितु पड़ौसी मुस्लिम सुल्तान भी मेवाड़ की आन्तरिक अव्यवस्था का लाभ उठाना चाहते थे। मालवा और गुजरात के सुल्तान मेवाड़ के घोर शत्रु पहले ही थे। साँगा के सिंहासनारोहण के समय गुजरात में महमूदशाह बेगड़ा तथा मालवा में नसीरुद्दीन राज्य करते थे। मेवाड़ के कुम्भा–कालीन ऐश्वर्य को पुनः प्राप्त करने के लिए इनसे टक्कर लेना राणा सांगा के लिए आवश्यक था।

दिल्ली के सुल्तान भी मेवाड़ के लिए भय का कारण बने हुए थे। दिल्ली में इस समय लोदी वंश राज्य कर रहा था। जब साँगा राणा बना तब सिकन्दर लोदी दिल्ली का सुल्तान था। यद्यपि दिल्ली का शासक अत्यधिक निर्बल था तथापि वह गुजरात तथा मालवा के मुस्लिम सुल्तानों के सहयोग से मेवाड़ पर धावा बोल सकता था। इन मुस्लिम राज्यों के अस्तित्व से मेवाड़ की उत्तर–पूर्वी व दक्षिण–पश्चिम सीमाओं की सुरक्षा संकटग्रस्त बनी हुई थी। अतः इनकी शक्ति को क्षीण करना भी सांगा को आवश्यक था।

सांगा ने सारी परिस्थितियों का उत्साहपूर्वक सामना किया। उसने सबसे पहले अपनी सीमा पंक्ति को सुदृढ करने का प्रयास किया। इसके लिए उसने कर्मचन्द के निर्बल शासन से राणा सांगा कुछ सीमा तक लोदी सुल्तान से निश्चिन्त हो गया। दक्षिण–पश्चिम सीमा के सम्बन्ध में भी उसने सतर्कता से काम लिया। उसने सिरोही, बागड़ तथा मारवाड़ के राजपूत राज्यों से मैत्री कर एक संगठन का निर्माण किया। इसका उद्देश्य सम्भवतः मुस्लिम आक्रमणों का सामना करने का तथा उनकों आगे बढ़ने से रोकने का था।

ईडर का राज्य रायमल को दिलाना– ईडर के रावभाण के दो पुत्र थे, सूर्यमल और भीम। राव भाण की मृत्यु हो जाने पर उसका ज्येष्ठ पुत्र सूर्यमल गद्दी पर बैठा। परन्तु 18 मास राज्य करके ही इस दुनिया से चल बसा। अतः उसका स्थान उसके पुत्र रायमल ने लिया। परन्तु रायमल उस समय अल्पवयस्क था। इसका लाभ उठाते हुए भीम ने उसे गद्दी से उतार दिया और स्वयं ईडर का मालिक बन बैठा। भाग्यवश अल्पकाल में ही वह भी चल बसा और उसका पुत्र भारमल गद्दी पर बैठा। इस पर सूर्यमल का पुत्र रायमल भागकर राणा की शरण में आ गया। राणा सांगा ने अपनी पुत्री का उसके साथ विवाह भी कर दिया और ईडर का स्वामी भी उसे बना दिया। इससे भी राजपूत संघ सुदृढ़ हुआ और महाराणा को अपने साम्राज्य विस्तार में सुविधा हुई।

15.4. राणा सांगा की साम्राज्यवादी नीति :

टॉड के मतानुसार राणा संग्रामसिंह के शासनकाल में मेवाड़ राज्य की सीमा बहुत दूर तक फैल गई थी। उत्तर में बीना, पूर्व में सिन्ध नदी, दक्षिण में मालवा और पश्चिम में मेवाड़ की दुर्गम शैलमाला उसकी सीमा बन गई थी। मेवाड़ राज्य का यह विस्तार राणा संग्रामसिंह की योग्यता, गम्भीरता तथा उसकी दूरदर्शिता का परिचय देता है। उसकी साम्राज्यवादी नीति का उद्देश्य विभिन्न राज्यों को जीतकर अपने राज्य में मिलाना ही नहीं था अपितु अन्य राज्यों को अपने साथ मिलाकर उनके साथ चलना भी था।

डॉ. गोपीनाथ शर्मा की मान्यता है कि राणा सांगा अपने पड़ौस के छोटे–मोटे राज्यों को हड़पने की नीति का समर्थक नहीं था, परन्तु इन राज्यों के आपसी झगड़ों मे मध्यस्थता कर वह उन पर अपना प्रभाव अवश्य स्थापित करना चाहता था। वह चाहता था कि पड़ौसी नरेश उसके आधिपत्य को स्वीकार कर सदा उसकी आज्ञा मानने को तैयार रहें। इस नीति से प्रेरित होकर राणा ने पड़ौसी बड़े राजवंशों से वैवाहिक सम्बन्ध भी स्थापित किये। मारवाड़, बून्दी तथा अन्य कई राजाओं से वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित कर उसने अपने साम्राज्य को अधिक सुदृढ़ बना लिया। इन सबके पीछे उसका मूल उद्देश्य उत्तरी भारत में अपनी राजनीतिक प्रभुता को सर्वोच्च बनाना था।

15.4.1. मेवाड़ के अपहृत राज्यों को पुनः प्राप्त करना – सिंहासन पर बैठते ही मेवाड़ के खोये हुए भागों को पुनः प्राप्त करने के लिए राणा सांगा ने प्रयत्न करना आरम्भ कर दिए। अतः सर्वप्रथम उसने अजमेर पर आक्रमण किया। राजस्थान के केन्द्र में स्थित होने के कारण अजमेर प्रारम्भ से ही मुस्लिम शासकों के अधीन रहा। परन्तु सैयदों के शासनकाल में अजमेर मुसलमानों के प्रभाव से निकल गया था राठौड़ नरेश रणमल ने इसे जीतकर मेवाड़ के राणा को लौटा दिया था। परन्तु अजमेर के मुसलमानों ने मालवा के शासक नहमूद खलजी की सहायता से अजमेर को मेवाड़ के प्रभाव से मुक्त करा लिया था। राणा सांगा जैसा महत्वाकांक्षी अजमेर को मुसलमानों के अधीन नहीं देख सकता था। अतः उसने अजमेर पर पुनः मेवाड़ का प्रभुत्व स्थापित कर दिया। इसके उपरान्त सांगा ने जयपुर के समीप स्थित चाटसू पर लोदी वंश के शासको का प्रभाव समाप्त कर वहाँ अपना अधिकार स्थापित किया। चाटसू निर्मित छतरियों से भी इसकी पुष्टी होती है। अहमद

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

यादगार ने लिखा है कि सांगा ने दिल्ली सुल्तान से चाटसू छीन लिया और वहाँ आबाद सैयद परिवारों पर भीषण अत्याचार किये। सांगा कि इस कार्यावाही से स्पष्ट है कि पूर्वी राजस्थान पर सिकन्दर लोदी का नियंत्रण शिथिल पड़ गया था।

15.4.2. मालवा और सांगा — डॉ. गोपीनाथ जी सांगा के हिन्दू राज्य के लिये कहा हैं कि— "सोलहवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में हिन्दू भारत का नेतृत्व उसके भाग्य में लिखा था" हिन्दू राज्य की कामना करने वाले को पड़ोसी मुलसलमानों से लड़ना स्वाभाविक ही था। सांगा का पहला प्रतिद्वन्द्वी मालवा का मुसलमान शासक महमूद खिलजी द्वितीय था। मालवा से सांगा के सम्बन्धों का अध्ययन करने से पहले हमें मालवा की दशा जान लेना आवश्यक है।

मालवा की दशा— 1401 ई. से मालवा के तुगलक सूबेदार स्वतंत्र हो गये थे। मालवा को महमूद तुगलक की अधीनता से मुक्ति दिलाने वाला दिवाकर खां था। उसके समय से 130 वर्ष तक अर्थात् 1530 ई. तक उसके उत्तराधिकारी पूर्ण स्वतंत्र रूप से मालवा का शासन करते रहे थे। इस बीच मेवाड़ से मालवा के सुल्तानों के सम्बन्ध कभी अच्छे नहीं रहे। राणा कुम्भा ने भी मालवा के सुल्तान को कई बार लड़ाई में हराया था और एक बार तो बन्दी बनाकर छह महीने तक चित्तौड़ की जेल में रखा था। मालवा में रहने वाले हिन्दुओं पर अनेक प्रकार के अत्याचार होते थे, जिन्हें रोकने के लिये मेवाड़ के हिन्दू राजाओं ने अनेक बार हस्तक्षेप कर धर्म रक्षा के लिये युद्ध किये थे।

फीरोज तुगलक की मृत्यु के बाद और तैमूर के आक्रमण ने दिल्ली की शक्ति को समाप्त कर दिया था। तभी कई मुलसमान स्वतंत्र हो गये थे जिनमें एक मालवा के सूबेदार भी था। ये लोग धीरे—धीरे अपनी शक्ति बढ़ाने में लगे और मालवा के सुल्तान मेवाड़ को अपने अधीन कर अपनी शक्ति को उत्तर में बढ़ाना चाहते थे। राणा सांगा के समय में भी इसी प्रकार की योजनाएं चल रही थी। मुलसमानों में साधारणतः उत्तराधिकार के लिये युद्ध चलते रहते थे। सांगा के समय में भी यही युद्ध हुआ और यहीं उत्तराधिकार का प्रश्न मेवाड़ और मालवा के युद्ध का प्रमुख कारण बन गया। मालवा हिन्दू विरोधी, साम्राज्यवादी भावनाओं से ओत—प्रोत था। फलस्वरूप दोनों में युद्ध हुए।

युद्ध के कारण —

1. मालवा और मेवाड़ की सदियों पुरानी शत्रुता थी। सन् 1401 ई. में अपने जन्म से लगाकर 1530 ई. में अपनी स्वाधीनता के अन्त तक मालवा धार्मिक भिन्नता के कारण मेवाड़ का शत्रु बना रहा। मेवाड़ के राणा भी हिन्दुओं की रक्षा के लिये सदा मालवा से लड़ते रहे। यह शत्रुता एक उत्तराधिकारी को विरासत में मिलती थी।

2. साम्राज्य बढ़ाने की भावना से दोनों एक दूसरे के शत्रु थे। मेवाड़ कील सीमावर्ती रियासतों को मालवा के सुल्तान हजम कर जाना चाहते थे। बूंदी, मांडलगढ़, जहाजपुर आदि क्षेत्रों पर अधिकार की अनेक चेष्टाएं की गई। मेवाड़ में कुम्भा और सांगा जैसे पराक्रमी राणा हुए तो मालवा में भी महमूद प्रथम व द्वितीय बड़े महत्वाकांक्षी और साम्राज्यवादी सुल्तान थे। दो बराबर की शक्तियां एक साथ कैसे रह सकती थी। अतः दोनों ही सदा एक दूसरे की दुर्बलता से ला भ उठाकर राज्य जीतने की चेष्टा करते रहे।

3. मालवा का उत्तराधिकार युद्ध इस लड़ाई का तत्कालीन कारण था। सन् 1511 ई. में मालवा के सुल्तान नासिरूद्दीन का देहान्त हो गया। उसका लड़का महमूद द्वितीय मालवा का सुल्तान बना किन्तु तभी महमूद के भाई साहिब खां ने सरदारों को अपनी तरफ मिलाकर षड्यंत्र रचा और महमूद को हटाकर खुद सुल्तान बन गया। उस समय राजपूत सरदार मैदनीराय ने महमूद को अपनी शक्ति के बल से वापस गद्दी पर बिठा दिया। महमूद ने प्रसन्न होकर मैदनीयराय को अपना सेनापति बना दिया। साथ ही उसे मालवा का वजीर भी नियुक्त किया। षड्यंत्रकारियों को अपनी असफलता का इतना अफसोस नहीं था जितना मैदनीराय के वजीर बनने का अतः उन्होंने मैदनीयराय को पद से हटाने के लिये महमूद के कान भरने शुरू कर दिये। उन्होंने गुजरात के सुल्तान से भी सहायता मांगी। जिस समय मैदनी राय विद्रोहियों का दमन करने ही वाला था तभी गुजरात के सुल्तान मुजफ्फरशाह ने मालवा का षड्यंत्र रचा किन्तु असफल रहा। षड्यंत्र में असफल रहने पर महमूद डरकर गुजरात के सुल्तान के पास सहायता के लिए भाग गया। गुजरात की सेना ने चन्देरी जीता और मालवा की राजधानी मांडू की तरफ बढ़ी। मैदनीराय राजपूत था अतः राणा सांगा के पास सहायता के लिए आया। सांगा ने मैदनीराय को अपनी सेना भी दी लेकिन उस समय तक महमूद गुजरात की सहायता से मांडू पर अपना अधिकार जमा चुका था अतः अभियान से कोई लाभ नहीं था। राणा सांगा ने मैदनीयराय को मेवाड़ में ही जागीर दे दी। इससे भी महमूद चिढ़ गया और उसे मेवाड़ पर आक्रमण करने का बहाना मिल गया। महमूद अपने योग्य मंत्री व सेनापति मैदनीराय को इसलिए सजा देना चाहता था कि उसने उसे षड्यंत्र से बचाकर सुल्तान बनाया था। जबकि राणा सांगा उसकी इसलिए रक्षा करना चाहता था क्योंकि वह हिन्दु था। मैदनीराय को लेकर दोनों में युद्ध हो गया।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

4. नत्थू का मारा जाना भी मेवाड़ द्वारा मालवा पर आक्रमण का एक कारण था। नत्थू मैदनीराय का लड़का था। वीर विनोद की पहली जिल्द के पृष्ठ 356 पर यह कारण दिया गया है कि जब महमूद गुजरात के सुल्तान की सहायता लेकर मांडू पर चढ़ आया। उसी समय महमूद ने मांडू को घेर लिया। नत्थू को मैदनीराय एक महीने में सहायता लेकर लौट आने की कह गया था। नत्थू ने महमूद को आत्मसमर्पण करने का आश्वासन दिया और एक महीने का समय मांगा किन्तु 20 दिन बाद ही महमूद ने मांडी का किला घेर लिया और चार दिन की लड़ाई के बाद रात्रि को उसके सैनिक किले पर चढ़ गये। रात्रि के युद्ध में 19,000 राजपूत और हजारों मुसलमान मारे गये। साथ में नत्थू भी मारा गया। मांडू पर महमूद का अधिकार हो गया। राणा की यह धारणा बन गई कि सहायता में विलंब हो जाने से शरणार्थी का पुत्र मारा गया। अतः उन्होंने इस हत्या का बदला लेने के लिए मालवा पर आक्रमण किया। गुजरात का सुल्तान इस समय वापस गुजरात चला गया था क्योंकि उसे खुद उस समय राणा सांगा के आक्रमण का भय था। नत्थू की मृत्यु ने युद्ध को और जल्दी शुरू करवा दिया।

युद्ध – इधर महमूद भी चुप नहीं था। जब उसने देख कि सांगा मैदनीराय की मदद को आते–आते रास्ते में से लौट गये तो उसकी हिम्मत बढ़ी और उसने अपनी पूरी शक्ति के साथ गागरौन पर आक्रमण कर दिया। गुजरात के सुल्तान ने उसे समझाया था कि आक्रमण करना हानिकारक सिद्ध होगा। किन्तु महमूद ने समझा राणा डर गया है जबकि राणा नत्थू की मृत्यु का हाल सुनकर लौट आये थे क्योंकि जिसकी मदद को जा रहे थे वही नहीं रहा तो जल्दी करने से लाभ। किन्तु महमूद ने एक के बजाय दूसरी विजय पाने को आक्रमण कर दिया। युद्ध में मुसलमानों की घातक पराजय हुई। इस लड़ाई में महमूद के 32 सेनापति और आसिफ खां आदि हजारों बहादुर माने गये। सुल्तान महमूद बड़ी वीरता से लड़ा, आखिरकार घायल होकर घोड़े से गिर पड़ा। राजपूतों ने उसे उठाकर महाराणा के पास पहुंचा दिया। महाराणा पालकी में बिठा उसको बड़ी इज्जत के साथ चित्तौड़ ले आये। वहां उसका इलाज करवाया और ठीक होने पर बहुत सा धन और एक जड़ाऊ ताज लेकर एक हजार राजपूतों के साथ उसे मांडू भेज दिया। महमूद के एक लड़के को अपने पास जाबते के लिए रख लिया कि फिर युद्ध न लड़े। निजामुद्दीन अहमद अपनी पुस्तक 'तबकाते अकबरी' में लिखता है कि– "लड़ाई में फतह पाने के बाद दुश्मन को गिरफ्तार करके पीछे उसको राज्य दे देना, यह काम आज तक मालूम नहीं कि किसी दूसरे ने किया हो।" वैसे सिकन्दर ने पोरस को बन्दी बनाकर राज्य वापस दे दिया था। जो भी हो राणा युद्ध में विजयी रहे और उन्होंने मालवा का आधा राज्य अपने राज्य में मिला लिया। हरविलास शारदा राणा सांगा के इस कार्य की कड़ी आलोचना करते है कि यह राजनीतिक अदूदरर्शिता का परिणाम था।

डॉ. गोपीनाथ शर्मा इस विजय पर टिप्पणी करते हुए लिखते है कि– 'सन् 1519 में उसने मांडु के सुल्तान महमूद को पराजित कर बन्दी बनाया और अपनी राजधानी ले आया और राजपूती शान–शौकत के साथ उसके घावों पर पट्टी बांधी, स्वयं उसकी देखभाल की और स्वस्थ होने पर एक हजार सैनिकों के साथ उसे मांडू भेज दिया।"

मालवा विजय का परिणाम अच्छा निकला। राणा को बहुत–सा उपजाऊ प्रदेश प्राप्त हुआ जो आर्थिक दृष्टि से बहुत लाभदायक था। इस लड़ाई और विजय से राणा सांगा का हिन्दू साम्राज्य और भी विस्तृत हो गया। राणा की ख्याति बहुत बढ़ गई और इतिहासकारों ने राणा की विजय का वर्णन बड़ी श्रद्धा से किया है। मेवाड़ और मालवा के बीच इस राजनीतिक प्रभुत्व के संघर्ष में राणा सांगा की विजय हुई।

15.4.3. राणा सांगा और गुजरात – जिस प्रकार तैमूर के आक्रमण ने मालवा के राज्य को स्वतंत्र होने में सक्रिय रूप से सहायता दी थी, ठीक उसी प्रकार महमूद तुगलक की निर्बलता से लाभ उठाकर गुजरात के धर्म परिवर्तित मुस्लिम सूबेदार जफ्फर खां ने गुजरात में स्वतंत्र राज्य स्थापित किया। जफ्फर खां अधिक समय तक शासन नहीं कर सका। उसके पुत्र तातार खां ने अपने चाचा शम्सखां की सहायता से जफ्फर खां मुजफ्फरशाह को पदच्युत कर दिया। तातार खां ने मारवाड़ में स्थित नागौर की जागीर शम्स खां को प्रदान की। नागौर के मुस्लिम शासक मेवाड़ अथवा मारवाड़ को वार्षिक कर देकर स्वतंत्र अस्तित्व को बनाए रखते रहे। 1455 ई. में महाराणा कुम्भा ने मेवाड़ पर अधिकार करके गुजरात के तत्कालीन सुल्तान कुतुबुद्दीन को मेवाड़ का शत्रु बना लिया। तदुपरान्त मेवाड़ के पड़ौसी राज्य गुजरात और मालवा, मेवाड़ के पड़ौसी दुश्मन बने रहे। 1535 ई. तक, जब बहादुरशाह की मृत्यु हुई और हुमायूं के द्वारा गुजरात पर अधिकार स्थापित कर लिया गया, गुजरात के स्वतंत्र राज्य का अन्त हुआ।

राणा सांगा के समय मेवाड़ और गुजरात के बीच संघर्ष ईडर के राठौड़ राज्य को लेकर 1520 ई. में प्रारम्भ हुआ। ईडर के राज्य पर गुजरात के सुल्तान अपना अधिकार करना चाहते थे। राणा सांगा ने ईडर की राजगद्दी के प्रतिपक्षी दावेदार

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

की सहायता के बहाने ईडर पर आक्रमण कर दिया। इस समय राजपूतों ने जिस वीरता का परिचय दिया उसका वर्णन रासमाला में उपलब्ध है। महाराणा की सहायता से ईडर का राठौड़ राज्य पुनर्स्थापित हो सका। जब राणा सांगा ईडर के प्रश्न पर गुजरात के साथ संघर्षरत था, उसी समय मालवा के सुल्तान महमूद खिलजी ने मेवाड़ पर आक्रमण कर दिया। ठीक तभी दिल्ली के सुल्तान इब्राहिम लोदी के साथ भी सांगा उलझ गया। अतएव सांगा ने पहले महमूद खिलजी को कूटनीति द्वारा गुजरात से पृथक् किया और फिर गुजरात के सुल्तान मुजफ्फरशाह के साथ सन्धि करके मेवाड़ और गुजरात की प्रतिस्पर्द्धा का अन्त किया। गुजरात के साथ ही मेवाड़ का संघर्ष ईडर के राजपूत राज्य को लेकर प्रारम्भ हुआ था, वै इन दोनों राज्यों के बीच मनमुटाव का असली कारण राजनीतिक विस्तार था।

15.4.4. राणा सांगा और दिल्ली सल्तनत : दिल्ली के सुल्तानों का प्रभाव कम करना भी सांगा की विस्तारवादी नीति का एक प्रमुख लक्ष्य था। तैमूर के आक्रमण के बाद दिल्ली सल्तनत अनवरत पतन की ओर अग्रसर थी। सांगा के राज्यारोहण के समय दिल्ली सल्तनत पर सिकन्दर लोदी का शासन था। डॉ. ओझा का कहना है कि सिकन्दर लोदी की निर्बलता का लाभ उठाकर सांगा ने मेवाड़ के समीप के दिल्ली के अधीनस्थ प्रदेशों को अपने राज्य में मिलाना आरम्भ कर दिया था। किन्तु सिकन्दर लोदी अपनी निर्बलता के कारण महाराणा का विरोध नहीं कर सका। किन्तु 1671 ई. में उसकी मृत्यु के पश्चात् उसका पुत्र इब्राहीम लोदी दिल्ली का सुल्तान बना और उसने तुरन्त मेवाड़ पर चढ़ाई कर दी। इस संघर्ष के प्रमुख कारण अधोलिखित थे–

(1) इब्राहीम लोदी तथा राणा सांगा की महत्त्वाकांक्षा–इब्राहीम लोदी तथा राणा सांगा दोनों ही महत्त्वाकांक्षी थे। दोनों ही अपने–अपने राज्यों की सीमाओं का विस्तार करना चाहते थे। राज्य विस्तार का सर्वाधिक उपयुक्त क्षेत्र पड़ौसी राज्य होते हैं और चूंकि सिकन्दर लोदी द्वारा चन्देरी और इब्राहीम लोदी द्वारा ग्वालियर जीत लेने से लोदी सल्तनत और मेवाड़ की सीमाएं आपस में जा टकराई थी। इस स्थिति में दोनों पक्षों में युद्ध होना स्वाभाविक था।

(2) राणा सांगा द्वारा अपने राज्य की सीमा का विस्तार करना–सिकन्दर लोदी अन्तिम दिनों में राणा सांगा ने दिल्ली सल्तनत के कुछ क्षेत्रों पर अधिकार कर लिया था। इसके अतिरिक्त राणा सांगा ने अपना राज्य बयाना तक बढ़ा लिया था। हरविलास शारदा के अनुसार जब इब्राहीम लोदी अपने भाई जलालखां के विद्रोह का दमन करने में व्यस्था कर रहा था. उस समय राणा सांगा से बयाना तक के प्रदेशों पर अधिकार कर लिया था। ये प्रदेश दिल्ली सलतनत के अधीन थे और सांगा का यह कार्य दिल्ली सल्तनत को स्पष्ट चुनौती था। अतः आन्तरिक संकटो से मुक्त होते ही इब्राहीम लोदी ने राणा सांगा को दण्डित करने का निश्चय कर लिया।

(3) मालवा पर अधिकार करने की आकांक्षा– इब्राहीम लोदी मालवा पर अधिकार करने के लिए लालायित था। दूसरी ओर राणा सांगा भी मालवा पर अपना प्रभुत्व स्थापित करना चाहता था। अतः इस स्थिति में दोंनो पक्षों में युद्ध होना अनिवार्य था।

इब्राहीम लोदी के साथ संघर्ष–खातोली का युद्ध – राजपूत स्त्रोंतों के अनुसार 1517 ई. में सुल्तान इब्राहीम लोदी ने एक विशाल सेना लेकर मेवाड़ पर आक्रमण कर दिया। बूंदी के निकट खातोली नामक स्थान पर दोनों पक्षों में घमासान युद्ध हुआ जिसमें इब्राहीम लोदी की बुरी तरह से पराजय हुई। इब्राहीम लोदी के अनेक सैनिक मारे गये तथा उसका एक शाहजादा बंदी बनाया गया जिसे कुछ समय बंदी रखकर छोड़ दिया गया। इस युद्ध में राणा सांगा भी घायल हो गया। उसका एक हाथ कट गया तथा टांग गें तीर लगने रो वह लंगड़ा हो गया। डॉ. ईश्वरीप्रराद और डॉ. बनर्जी इरा युद्ध गें राणा की विजय को संदिग्ध मानते हैं जबकि डॉ. निरोदभूषण राय तो इस युद्ध के होने में ही संदेह करते हैं। उनके अनुसार उस समय दोनों शासकों के पास युद्ध लड़ने का समय ही नहीं था किन्तु ये सभी मत भ्रान्तिपूर्ण है क्योंकि राजस्थानी और फारसी स्रोत यथा–'अमर काव्य वंशावली, "बाबर नामा", 'तारीखें–सलातीन अफागाना' आदि इस युद्ध के होने व उसमें सांगा की विजय की पुष्टि करते हैं। श्यामलदास, डॉ. ओझा, टाड आदि विद्वानों ने भी इस युद्ध में सांगा की विजय को मान्यता दी है। खातोली विजय के पश्चात् सांगा ने टोडा भीम में अपना शिविर लगाया।

बाड़ी का युद्ध – खातोली की पराजय दिल्ली सल्तनत के लिये शर्मनाक थी। अतः अहमद यादगार के अनुसार इब्राहीम ने सांगा के हाथों खातोली में हुई अपनी पराजय का बदला लेने के लिये मियाँ माखन के नेतृत्व में 40 हजार अश्वारोहियों की सेना को राणा के विरुद्ध भेजा। किन्तु शंकालु इब्राहीम को शाही सेना के दो सेनानायकों मियाँ हुसैन फरमूली और मियां मासूफ फरमूली पर संदेह हो गया। अतः उसने मियाँ माखन को एक गुप्त सन्देश के द्वारा इन सेनानायकों को बन्दी बनाने

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

का आदेश भेज दिया। किन्तु मियाँ माखन के कार्यवाही करने के पूर्व ही मियाँ हुसैन को इसकी जानकारी मिल गई। अतः वह शाही सेना को छोड़कर अपने समर्थकों सहित सांगा के पक्ष में चला गया। इस स्थिति का लाभ उठाकर सांगा ने धौलपुर के निकट बाड़ी नामक स्थान पर शाही सेना पर आक्रमण कर दिया जिसमें शाही सेना बुरी तरह पराजित होकर भाग खड़ी हुई। यद्यपि कतिपय साक्ष्यों में इस युद्ध में राणा की पराजय का उल्लेख हुआ है, किन्तु ये सत्य नहीं है क्योंकि अनेक मुस्लिम लेखकों तथा बाबर ने भी अपने आत्मकथा बाबरनामा में धौलपुर युद्ध में राजपूतों की विजय का उल्लेख किया है। इस युद्ध में सांगा की विजय का उल्लेख करने वाले मुस्लिम लेखकों ने राणा की इस विजय के लिये मियाँ हुसैन के विश्वास घात को उत्तरदायी माना है; किन्तु वे स्वयं इस युद्ध में मियाँ हुसैन की भूमिका के बारे में एकमत नहीं है। अब्दुल्ला और रिज्कउल्ला के अनुसार उसने राणा की ओर से युद्ध में भाग लिया था, जबकि अहमद यादगार उसके राणा की ओर से लड़ने पर भी निष्क्रिय रहने की बात करता है। इन तथ्यों से स्पष्ट है कि सांगा को पक्ष में होने पर भी मियाँ हुसैन की भूमिका सन्देहास्पद और नगन्य थी और राणा को यह विजय उसकी एवं राजपूत सेना की वीरता और कुशल सैन्य संचालन से मिली थी। मुस्लिम इतिहासकारों अब्दुल्ला, रिज्कउल्ला और अहमद यादगार ने इस युद्ध के बाद इब्राहीम द्वारा स्वयं सांगा पर पुनः आक्रमण करने, मियाँ हुसैन के द्वारा क्षमा मांगकर पुनः इब्राहीम के पक्ष में जाने तथा सम्मिलित रूप से सोगा को पराजित करके खदेड़ने का उल्लेख किया है। किन्तु अन्य साक्ष्यों से पुष्टि न होने के कारण इसे स्वीकार नहीं किया जा सकता। बाड़ी के युद्ध के परिणामस्वरूप दिल्ली सल्तनत के बयाना तक के एक बड़े भू–भाग पर सांगा का अधिकार हो गया जिससे मेवाड़ की प्रतिष्ठा में अपूर्व वृद्धि हुई।

राणा सांगा की शक्ति का चरमोत्कर्ष – 1521 से 1526 ई. तक का काल राणा सांगा की शक्ति का चरमोत्कर्ष का काल था। मालवा, गुजरात तथा दिल्ली के सुल्तानों पर विजय प्राप्त करके राणा सांगा ने सम्पूर्ण उत्तरी भारत में अपनी वीरता की धाक जमा दी थी। उसकी वीरता तथा सैन्य शक्ति से प्रभावित होकर राजस्थान के अनेक नरेशों तथा सामन्तों ने राणा सांगा का नेतृत्व स्वीकार कर लिया था। डॉ. गोपीनाथ शर्मा लिखते हैं कि ''दिल्ली के सुल्तान को पराजित करने से राजनीतिक धुरी मेवाड़ की ओर घूम गई और सभी शक्तियाँ, देशी तथा विदेशी, सांगा की शक्ति को मान्यता देने लगी। मेवाड़ की शक्ति की यह चरम सीमा थी। राणा सांगा इन विजयों से राजपूत संगठन का नेता स्वीकार कर लिया गया था और उसके व्यक्तित्व में हिन्दु शौर्य की आभा दैदीप्यमान हो चली थी'' इस युग में मेवाड़ उत्तरी भारत की संगठित शक्ति का प्रतीक था और किसी साम्राज्य निर्माता के लिये सांगा से संघर्ष किये बिना भारत में अपना साम्राज्य स्थापित करना स्वप्न था।

राणा सांगा की शक्ति का चरमोत्कर्ष– धौलपुर (बाड़ी) की विजय के उपरान्त राणा सांगा उत्तरी भारत में सर्व शक्तिशाली शासक हो गया। छोटे से मेवाड़ राज्य द्वारा महान सल्तनत का मुकाबला करना तथा उसे युद्ध में हराना अत्यधिक गौरवपूर्ण कार्य था। इससे राणा सांगा की कीर्ति में चार चांद लग गये। इस घटना के बाद राजस्थान के कई नरेश तथा सामन्त राणा को अपना नेता तथा पथ–प्रदर्शक स्वीकार करने लगे। डॉ. गोपीनाथ शर्मा के शब्दों में राजनीतिक धुरी दिल्ली की अपेक्षा अब मेवाड़ की ओर घूम गई और सभी देशी और विदेशी शक्तियां सांगा की शक्ति को मान्यता देने लगी। अतः 1521 से 1526 ई. का काल राणा सांगा का चरमोत्कर्ष काल कहा जाता है। इस काल में भारत के कई राजपूत उसके प्रभुत्व में आ गये। कर्नल टॉड के अनुसार 7 उच्च श्रेणी के राजा 9 तथा 104 सरदार उसकी सेवा में उपस्थित रहते थे। मेवाड़ के चिर शत्रु मालवा तथा गुजरात के शासक उससे दब गये थे। इब्राहीम लोदी पर विजय प्राप्त करने के बाद तो उसने मेवाड़ को राजस्थान का सूर्य बना दिया। 16वीं शताब्दी का सर्व शक्तिमान शासक होने के नाते उसे 'हिन्दू पद' की उपाधि से सुशोभित किया गया। डॉ. गोपीनाथ शर्मा के शब्दों में राणा इन विजयों से राजपूत संगठन का नेता स्वीकार कर लिया गया था और उसके व्यक्तित्व में हिन्दू–शौर्य की आभा देदीप्यमान हो चली थी। मेवाड़ इस समय उत्तरी भारत की एक मात्र संगठित शक्ति थी। अब भारत पर प्रभुत्व स्थापित करने की इच्छा रखने वाले किसी भी आक्रमणकारी के लिये राणा सांगा से बिना टकराये भारत में सांस लेना कठिन हो गया था। यही कारण था कि भारत पर प्रभुत्व जमाने के लिये बाबर को सांगा से युद्ध करना पड़ा।

बाबर के भारत–आक्रमण के समय राणा सांगा और इब्राहीम लोदी दो शक्तियों के रूप में– यद्यपि राणा सांगा ने भारतीय नरेशों व मुस्लिम शासकों को पराजित कर अपने आपको एक योग्य सेनानायक तथा कूटनीतिज्ञ प्रमाणित कर दिया था तथा अब उसे एक ऐसे विरोधी का मुकाबला करना था जो उसके क्षेत्र में उससे किसी प्रकार कम साहसी नहीं था। राणा सांगा के प्रारम्भिक जीवन की तुलना यदि हम बाबर के जीवन से करे तो उनमें काफी समानता मिलती है। जिस प्रकार सांगा ने मेवाड़ की गद्दी प्राप्त करने हेतु कई उतार–चढ़ाव देखे थे उसी प्रकार बाबर को भी फरगने के राज्य की प्राप्ति और उसे अपने अधिकार में रखने के लिये अनेक राजनीतिक परिवर्तनों में गुजरना पड़ा था। दोनों ही वीर, साहसी, धैर्यवान तथा महत्वाकांक्षी थे। सांगा मेवाड़ के छोटे से राज्य से सन्तुष्ट नहीं रहा था, उसी प्रकार बाबर फरगना के राज्य से सन्तुष्ट नहीं

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

रहा था। अतः दोनों ने प्रसारवादी नीति पर आचरण कर दिया। सांगा ने राजपूत नरेशों को पराजित किया तथा मुस्लिम शासकों को आतंकित कर दिया। परिणामस्वरूप सभी स्थानीय राजपूत शासक उससे यह अपेक्षा करते थे कि पतनोन्मुख दिल्ली सल्तनत को समाप्त कर वह दिल्ली में हिन्दू राज्य को पुनः स्थापित करेगा। राजनीतिकद्व बौद्धिक तथा भावुक मान्यताओं से सांगा अपने समय का एक ही व्यक्ति था जो बाबर का विरोध करने की क्षमता रखता था। उधर बाबर साम्राज्यवादी नीति का अनुसरण करते हुये काबुल तक बढ़ आया। परन्तु वह काबुल के छोटे से राज्य से भी सन्तुष्ट नहीं हुआ था। वह हिन्दुस्तान में अपना सम्राज्य स्थापित करना चाहता था। संयोगवश उस समय लोदियों में फूट उत्पन्न हो गई थी। वे इब्राहीम लोदी के अहं भाव से परेशान थे और उसके राज्य को समाप्त करने पर तुले हुए थे। इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिए उन्होंने बाबर को भारत आने का निमंत्रण दिया। निमंत्रण देने वालों में पंजाब का सूबेदार दौलतखां लोदी प्रमुख था। अतः बाबर लोदी–सामन्तों का निमंत्रण पाकर भारत आया तथा 1526 ई. में पानीपत के मैदान में लोदी वंश के अन्तिम शासक इब्राहीम लोदी को परास्त कर वह दिल्ली व आगरे का स्वामी बन बैठा। परन्तु बाबर यह जानता था कि अफगान रूपी सर्प मरा है, उसकी पूंछ में बल अब भी शेष है क्योंकि वे अब भी कालपी, कन्नौज, इटावा व बिहार में शासक बने बैठे थे। इसके अलावा इब्राहीम लोदी का भाई महमूद अब भी अफगानों को संगठित करने में व्यस्त था और वह राणा सांगा का सहयोग लेने का भी प्रयास कर रहा था। परन्तु अफगानों से भी अधिक प्रबल शत्रु बाबर को राणा सांगा लग रहा था।

काबुल में ही बाबर ने राणा सांगा की ख्याति सुन ली थी। अतः दिल्ली का स्वामी बन जाने के उपरान्त वह इस निष्कर्ष पर पहुंचा कि हिन्दुस्तान में **उसका सबसे भयंकर शत्रु महाराणा सांगा था, इब्राहीम लोदी नहीं।** अतः भारत में जब तक राणा सांगा को शक्ति बनी रहेगी तब तक वह समस्त भारत का शासक नही बन सकता। इस स्थिति को समझते हुये उसने राणा के विरूद्ध आक्रमण की तैयारियां आरम्भ कर दी। इसका परिणाम यह हुआ कि 17 मार्च, 1527 ई. में खानवा के मैदान में राणा सांगा के विरूद्ध आ डटा।

खानवा–युद्ध के कारण –

1. राणा सांगा का विश्वासघात– बाबर के सामने प्रश्न यह आया कि राणा सांगा के विरूद्ध युद्ध किस बहाने छेड़ा जाय? उसको इसका भी बहाना मिल गया। उसने राणा सांगा पर विश्वासघात का आरोप लगाया। बाबर अपनी आत्म–कथा में लिखता है कि राणा सांगा ने उसके पास काबुल में सहायता का प्रस्ताव लेकर एक दूत भेजा था और विश्वास दिलाया था कि जब तुम (बाबर) दिल्ली पर आक्रमण करोगे तो मैं (सांगा) आगरे पर धावा बोल दूंगा। मेरे दिल्ली पहुंचने पर भी राणा सांगा ने आगरे पर आक्रमण न करके मेरे साथ विश्वासघात किया। अतः मुझे उस काफिर (राणा सांगा) को विश्वासघात का सबक सिखाना था। इसी कारण बाबर राणा सांगा के विरूद्ध सेना लेकर खानवा के मैदान में आ डटा। परन्तु बाबर द्वारा आरोपित यह विश्वासघात का अपराध आज भी विवादास्पद बना हुआ है।

इसके विपरीत राजपूत–स्रोत यह दर्शाते है कि **बाबर ने राणा सांगा के पास इब्राहीम लोदी के विरूद्ध सहायता मांगने के सन्दर्भ में सिलहदी को भेजा था।** सन्धि–प्रस्ताव में बाबर ने यह वायदा किया था कि राणा सांगा की सहायता से इब्राहीम को परास्त करते ही वह दिल्ली का स्वामी बनेगा और आगरा राणा सांगा को दे देगा।

इस विवादास्पद प्रश्न पर डॉ. गोपीनाथ शर्मा ने यह सिद्ध करने का प्रयास किया है कि सहायता का प्रस्ताव बाबर ने राणा सांगा के पास भेजा था, न कि राणा सांगा ने बाबर के पास। अतः राणा सांगा का विश्वासघात का प्रश्न ही नहीं उठता। इसके अलावा डॉ. वन्दना पाराशर ने तो अपने शोध–ग्रंथ **'बाबर भारतीय संन्दर्भ में'** इस समझौते को ही आधारहीन बताया है। अतः बाबर को राणा सांगा पर विश्वासघात का दोषारोपण सर्वथा निर्मूल है।

2. बाबर व राणा सांगा की साम्राज्यवादी नीति– इस युद्ध का प्रमुख कारण सांगा तथा बाबर का साम्राज्यवादी होना था। बाबर काबुल से भारत की ओर आया। यहां आकर उसने पंजाब जीता तथा दिल्ली–आगरा पर अधिकार कर लिया। परन्तु इससे उसकी साम्राज्यवादी क्षुधा का अन्त नहीं हुआ। वह भारत में मुगल–साम्राज्य की स्थापना करना चाहता था। परन्तु बाबर इस तथ्य से भी परिचित था कि यदि उसे भारत में स्थायी रूप से रहना है तो राणा सांगा से उसे युद्ध करना अवश्यम्भावी है। वह सुन चुका था कि राणा सांगा उस समय अठारह युद्धों का विजेता तथा महानतम राजपूत राजा था। उधर राणा सांगा भी विस्तारवादी नीति पर आचरण कर रहा था। उसने मेवाड़–राज्य का पर्याप्त विस्तार कर लिया था और वह दिल्ली पर अपना प्रभुत्व जमाना चाहता था। जब उसने देखा कि बाबर तैमूर की भांति भारत को लूट कर वापिस नहीं जा रहा वरन् एक शासक की भांति दिल्ली में शासन व्यवस्था स्थापित कर रहा है तो वह बाबर के प्रति सजग हो गया। उसने जान लिया कि बाबर को भारत से निकालने के लिये युद्ध करना पड़ेगा। अतः उसने युद्ध की तैयारियां आरम्भ कर दी।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

3. राणा सांगा द्वारा दिल्ली सल्तनत के प्रदेशों को अधीनस्थ करना– पानीपत की लड़ाई में इब्राहीम की पराजय की जानकारी मिलते सांगा ने राजस्थान के उन भागों पर अपना अधिकार स्थापित करना आरम्भ कर दिया जो दिल्ली सल्तनत के अधीन थे। उसने हसन को निकाल कर रणथम्भौर से 10 मील दूर खण्डार के दुर्ग पर अधिकार कर लिया। खण्डार को विजित कर राणा बयाना की ओर बढ़ा और उसे भी विजित कर लिया। इसके आलावा उसने दो सौ ऐसे गांवों को अधिकृत किया जो इससे पूर्व सल्तनत के अधीन थे। सन्दर्भ में बाबर अपनी दिनचर्या में लिखता है **"हमारे पास में यह खबर पहुंच गई कि राणा सांगा शीघ्रता से आ रहा है उस समय हमारे गुप्तचर न तो बयाना के दुर्ग में जा सके और न वहां कोई खबर ही पहुंचा सके। बयाना की सेना कुछ दूर निकल आई, परन्तु राणा से हारकर भाग निकली।"** इस प्रकार का माहौल बन जाने पर बाबर को युद्ध करने आगे बढ़ना पड़ा। क्योंकि बयाना बाबर को अपने राज्य की सुरक्षा के लिए परम–आवश्यक भी था। अतः बाबर का राणा सांगा से चिन्तित होना स्वाभाविक ही था।

4. राणा सांगा द्वारा अफगानों को आश्रय देना– बाबर व राणा की बढ़ती हुई शत्रुता का एक कारण सांगा द्वारा बाबर के अफगान शत्रुओं को आश्रय देना भी था। जब अफगानों को बाबर व सांगा की शत्रुता स्पष्ट हो गई तो बहुत से अफगान सरदार राणा सांगा की शरण में आ गये। वे उसके साथ मिलकर बाबर को भारत से बाहर निकालने की योजना बनाने लगे। इनमें इब्राहीम लोदी का भाई **महमूद लोदी** तथा **हसन खां** मेवाती प्रमुख थे। इस राजपूत–अफगान गठबन्धन के कारण बाबर कुपित हो गया और उसने सांगा के विरूद्ध सैनिक अभियान आरम्भ कर दिया।

5. धार्मिक मतभेद– राजनीतिक कारणों के अतिरिक्त दोनों के मध्य संघर्ष का कारण धार्मिक मतभेद भी था। सांगा अपने को हिन्दू–धर्म का रक्षक मानता था। उधर बाबर अपने को इस्लाम का प्रसारक व पोषक मानता था। अतः हिन्दू–धर्म की रक्षार्थ सांगा को बाबर से युद्ध करना अनिवार्य हो गया। इसी प्रकार इस्लाम धर्म के पोषक बाबर के लिये उसे मार्ग में बाधक बनने वाले सांगा से युद्ध करना आवश्यक हो गया बाबर ने इसे जिहाद की संज्ञा देते हुए हुमायूं को भी आगरे से शीघ्र आने का आदेश भिजवा दिया।

युद्ध की तैयारियां– राणा सांगा का सामना करने के लिये बाबर ने दक्षिणी–पश्चिमी सीमाओं पर स्थित धौलपुर, कालपी तथा बयाना पर अधिकार कर लिया। उस समय बयाना सांगा के अधिकार में था और निजाम खां नामक मुसलमान को उसने जागीर में दे रखा था। जब बाबर ने इस किले को लेने के लिये इश्क आका के नेतृत्व में सेना भेजी तो निजाम खां का भाई आलम खां बाबर से मिल गया तथा किला उसके सुपुर्द करवा दिया। राणा सांगा यह सहन नहीं कर सका। उसने बयाना के किले को घेर लिया। स्वयं बाबर ने लिखा है कि दुर्ग में घिरे सैनिक हताश हो गये और उन्हें आत्म–समर्पण करने को बाध्य होना पड़ा। मुगल सैनिकों के विरूद्ध राणा सांगा की यह प्रथम विजय थी।

बाबर इस समय सामरिक तैयारी में लगा हुआ था। उसने इधर–उधर बिखरी मुगल सेना को एकत्रित किया। अन्य स्थानों से कई तुर्की सरदारों को बुला लिया। 11 फरवरी, 1527 ई. को सांगा का सामना करने के लिये बाबर रवाना हुआ तथा फतेहपुर सीकरी में मोर्चा बन्दी करने लगा। अपनी सेना का यहां पड़ाव डालने का एक कारण यह भी था कि सीकरी में एक बड़ी झील थी। वह उस झील को राणा सांगा के अधिकार से बचा कर अपने सैनिकों के पानी के लिए सुरक्षित रखना चाहता था। यहां पर बयाना के युद्ध में हार कर भागे हुये सैनिक आ गये तथा उन्होंने राजपूत शक्ति का बढ़ा–चढ़ा कर वर्णन किया। उनमें शाह मैसूर किस्मती प्रमुख था। इससे मुगल सेना हतोत्साहित हो गई। दुर्भाग्यवश उस समय काबुल से आये हुये शेख मुहम्मद शरीफ नामक ज्योतिषी की भविष्यवाणी ने स्थिति को और अधिक निराशाजनक बना दिया। उसने यह करना आरम्भ किया कि इस समय होने वाले युद्ध में बाबर के ग्रह अनुकूल नहीं है। अतः विजय में सन्देह है। इससे मुगल सैनिकों में आतंक फैल गया तथा वे डर का वापिस काबुल लौट जाने की सोचने लगे। परन्तु बाबर कठिन परिस्थितियों में विचलित होने वाला शासक नहीं था। उसने जिहाद का सन्देश देते हुए अपने सैनिकों को एक ओजस्वी भाषण देकर उनमें काफिरों के विरूद्ध युद्ध करने का उन्माद उत्पन्न कर दिया। इस अवसर पर उसने कभी शराब न पीने की प्रतिज्ञा की तथा सोने चांदी के प्याले, सुराहियां तथा अन्य शराब के बर्तन तुड़वा दिये। उसने अपनी दाढ़ी न कटवाने की भी प्रतिज्ञा की। इससे मुगल सेना में आत्म–विश्वास हो गया तथा वे सब आत्म–बलिदान के लिये तैयार हो गये।

बाबर की मोर्चाबन्दी– बाबर ने अब विलम्ब करना उचित नहीं समझा तथा अपनी सेना को खानवा मैदान में ला जमाया। वहां उसने खाइयां खुदवाई, उनके पीछे सात–आठ गज की दुरी पर तोप–गाड़ियां खड़ी करवाई और उनको जंजीरों से बंधवा दिया। गोलन्दाजों, बन्दूकचियों तथा घुड़सवारों को लगभग उसी तरह जमाया जैसा कि पानीपत के मैदारन में उन्हें

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

जमाया गया था। घेरने वाली तथा पक्षीय टुकड़ियों का नेतृत्व उसने अपने विश्वास–पात्र अधिकारियों को सौंपा। बाबर स्वयं सहायतार्थ रखी गई सेना के साथ रहा। इस तैयारी में बाबर को बीस–पच्चीस दिन लग गये। यह सब देखते हुए भी सांगा ने उस पर आक्रमण नहीं किया। इससे बाबर को अपनी शक्ति संगठित करने का समय मिल गया। अभी भी बाबर को विश्वास नहीं था कि विजय उसकी होगी। अतः उसने रायसेन के शासक सलहदी तंवर के माध्यम से राणा सांगा के साथ सन्धि की बात चलाई। लेकिन महाराणा ने अपने सामन्तों की सलाह से इसे अस्वीकार कर दिया। यद्यपि सभी मुगल–अफगान लेखकों ने इस सन्धि–प्रस्ताव का उल्लेख नहीं किया है, परन्तु राजस्थान की ख्यातों में इसका उल्लेख हुआ है। कर्नल टॉड लिखते है कि उस समय बाबर ऐसी स्थिति में था कि वह किसी भी शर्त को मान लेता।

इधर सांगा बयाना–विजय के उपरान्त सीधे रास्ते से न जाकर भुसावर होता हुआ खानवा पहुंचा। उसका ध्येय–काबुल और दिल्ली से बाबर को मिलने वाली सहायता को रोकना था। यहां पर वह एक महीना रूका रहा। राणा का यह कदम परिस्थितियों के अनुरूप नहीं था। अगर सांगा बयाना–विजय के बाद तत्काल मुगलों पर आक्रमण कर देता तो सम्भवतः युद्ध का परिणाम कुछ और ही होता। उसके इस विलम्ब ने बाबर को सैन्य संगठन को अवसर दे दिया।

युद्ध की घटनाएं– बाबर तथा राणा सांगा की सेनायें 16 मार्च, 1527 को खानवा में मिली जो सीकरी से दस मील की दुरी पर तथा आगरे से 20 मील की दूरी पर स्थित है। राणा सांगा से सेना की संख्या बाबर से कहीं अधिक थी। महाराणा की सेना में मारवाड़ के राव गंगा की तरफ से मेड़ता के रायमल तथा रतन सिंह, आमेर का राजा पृथ्वीराज, ईडर का राजा भारमल, डूंगरपुर का रावल उदयसिंह, बीकानेर के राव जेतसी के पुत्र कंवर कल्याण मल, झाला अज्जा तथा महमूद लोदी आदि कई राजा तथा सरदार सेना सहित सम्मिलित थे। राजपूत नरेशों व सामन्तों के अलावा हसनखां मेवाती तथा इब्राहीम लोदी का पुत्र मुहम्मद लोदी भी थे। युद्ध 17 मार्च को सुबह साढ़े नौ बजे आरम्भ हुआ। युद्ध के आरम्भ में तो बाबर की सेना विचलित होने लगी। बाबर ने शीघ्र ही इस संकट को महसूस कर लिया तथा वीर चिन तैमूर सुल्तान के नेतृत्व में राजपूतों के पार्श्व में चुने हुए मंगोल सैनिकों का आक्रमण करवा दिया। इस आक्रमण के परिणामस्वरूप राजपूतों के वाम पार्श्व तथा केन्द्र में कुछ अन्तराल हो गया और इसी अन्तराल में राणा सांगा के सिर में एक तीर लगा, जिससे वह बेहोश हो गया। बेहोशी की हालत में उसे युद्ध के मैदान से ले जाया गया। राणा के बाद झाला अज्जा ने तथा रावत रतनसिंह ने सेना की कमान सम्भाली तथा युद्ध जारी रखा। परन्तु तोपों के गोलों के आगे राजपूत सैनिक नहीं ठहर सके तथा वे पीछे हटने लगे। चारों ओर से घिर जाने के कारण वे गोलों की वर्षा से वीरगति को प्राप्त होने लगे। इस युद्ध में उदयसिंह, हसनखां मेवाती, माणिकचन्द्र चौहान, चन्द्रभाण चौहान, रत्नसिंह चूडावत, झाला अज्जा, रामदास सोनगरा, रायमल राठौड़, रत्नसिंह मेड़तिया आदि नरेश व सामन्त मारे गये। राजपूतों की इस युद्ध में हार हुई। इस प्रकार यह युद्ध सूर्य अस्त से पूर्व ही समाप्त हो गया। बाबर ने विजय प्राप्त कर गाजी की उपाधि धारण की।

राणा सांगा को उसके साथी खानवा के मैदान से मूर्छित अवस्था में बसवा गांव (जयपुर राज्य) में ले गये। होश आने पर सांगा ने पुनः बाबर से लड़ने की इच्छा प्रकट की। किन्तु जब उसके साथी सरदारों ने खानवा में राजपूतों की पराजय तथा विनाश के बारे में बताया तो राणा को अत्यधिक दुःख हुआ और उसने प्रतिज्ञा की कि वह जब तक बाबर को हरा नही देगा, चित्तौड़ नहीं लौटेगा। अतः वहां से सांगा रणथम्भौर चला गया तथा वहां अपनी सैनिक शक्ति को पुनः सुगठित करने लगा। 19 जनवरी,1528 ई. में जब बाबर ने मेदनीराय पर चढ़ाई की तो मेदनीराय की सहायता के लिये राणा ने चंदेरी की ओर प्रस्थान किया और कालपी से कुछ दूर ईरिच नामक गांव में डेरा डाला। वहां उसका अचानक स्वास्थ्य खराब हो जाने के कारण 30 जनवरी, 1528 ई. में इस लोक से विदा हो गया। कुछ विद्वानों का मत है कि उसके साथी सरदार इतने शीघ्र बाबर से पुनः युद्ध करने के पक्ष में नहीं थे। अतः उन्होंने राणा को विष दे दिया जिससे उसकी मृत्यु हो गई। कालपी से राणा का शव माण्डगढ़ लाया गया जहां उसका विधिवत दाह संस्कार किया गया। राणा सांगा की मृत्यु के साथ ही राजस्थान में मेवाड़ का प्रभुत्व समाप्त हो गया।

खानवा के युद्ध में राजपूतों की पराजय के कारण – कर्नल टॉड, हरविलास शारदा और कविराज श्यामलदास के ग्रन्थों के अनुसार खानवा के युद्ध में रायसिंह के शासक सह्रदी तंवर के द्वारा विश्वासघात ही राणा सांगा की पराजय का प्रमुख कारण था। लेकिन सह्रदी तंवर तो उस समय युद्ध स्थल से भागा था जब राणा सांगा घायल होकर बसवा पहुंच चुके थे। बाबर उसके भागने से पूर्व ही युद्ध की विजय कर चुका था, इसलिए केवल सह्रदी के विश्वासघात को राणा की पराजय का कारण मानना युक्तिसंगत नहीं है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

राणा सांगा ने खानवा के युद्ध से पहले 'पाती पेरवन' की राजपूत परम्परा को पुनर्जीवित करके राजस्थान के प्रत्येक सरदार को युद्ध में शामिल होने का निमन्त्रण दिया था। इस प्रकार खानवा के युद्ध–क्षेत्र में राणा की जो लम्बी–चौड़ी सेना थी, उसमें एकरूपता नहीं थी। भिन्न–भिन्न राजपूत सैनिक अपने सरदारों के झण्डों के नीचे ही लड़ सकते थे। अतः स्वाभावतः सेना में अनुशासन की कमी थी।

इसके अतिरिक्त राणा के अधिकांश सैनिक पैदल थे जबकि बाबर के सैनिक तेज घोड़ों पर सवार थे। अतः बाबर के मुकाबले राणा की सेना का विजयी होना असम्भव था।

राणा के पास तोपखाना नहीं था जबकि बाबर की सारी शक्ति तोपखाने पर ही निर्भर थी और वही उसकी विजय का प्रमुख कारण थी। किसी ने बिल्कुल ठीक ही कहा है– "Arrows could not answer bullets."

राणा सांगा ने बाबर की शक्ति का ठीक प्रकार से अनुमान नहीं लगाया था। उसे अपनी परम्परागत युद्ध–प्रणाली को छोड़कर नवीन रीति अपनानी चाहिये थी। बाबर ने विभिन्न युद्धों के आधार पर तुलुगमा को अपना सीधा साधन बना लिया था। अपनी सेना को दुर्ग के समान युद्ध क्षेत्र में सजाकर उसकी बैलगाड़ियों के द्वारा रक्षा करने की युद्ध–प्रणाली का प्रयोग वह सफलता के साथ पानीपत के युद्ध में कर चुका था। इन बातों से राणा सांगा और उनके सैनिक अवगत नहीं थे।

बाबर ने युद्ध के समय अपनी पैनी दृष्टि सेना के हर भाग पर रखी थी और वह व्यक्तिगत रूप से अपने सैनिकों की देखभाल कर रहा था जबकि राणा सांगा साधारण सैनिक के समान राजपूत परम्परा के अनुसार युद्ध करने जूझ उठा था जिसका परिणाम यह निकला कि वह घायल होकर मूर्च्छित हो गया।

राणा सांगा की पराजय का सबसे बढ़ा कारण यह था कि उसने अवसर का सदुपयोग नहीं किया। उस समय जबकि बाबर अन्यत्र व्यस्त था, उसने आगरा पर अधिकार नहीं किया। इसका दुष्परिणाम यह निकला कि बाबर को तैयारी का काफी समय मिल गया और राणा की खानवा के युद्ध–क्षेत्र में पराजय हुई।

खानवा युद्ध के परिणाम – खानवा का युद्ध बाबर के पक्ष में बड़ा निर्णायक सिद्ध हुआ। इस विजय से वह निश्चित रूप से इब्राहिम लोदी के सिंहासन पर बैठ गया। भाग्य की खोज में घूमने के उसके दिन समाप्त हो गये। अब भारत में उसकी निरकुंश सत्ता स्थापित हो गई। प्रो. रशब्रुक विलियम के शब्दों में, "खानवा की विजय के साथ–साथ बाबर के जीवन के दुःखद क्षणों का भी अन्त हो गया। उसने एक शक्तिशाली और सुरक्षित साम्राज्य की स्थापना की।" इस युद्ध ने देश के नेतृत्व की बागडौर राजपूतों के हाथ से छीनकर मुगलों को दे दी, जिन्होंने अगली दो शताब्दियों तक इनके आनन्द का उपयोग किया।

खानवा की पराजय ने राजपूतों का हिन्दू–साम्राज्य स्थापित करने का स्वप्न मिट्टी में मिला दिया बाबर उनकी शक्ति से निश्चिन्त–सा होकर साम्राज्य–विस्तार की दिशा में आगे बढ़ा चला। राजपूत शक्ति पर इतना गहरा आघात लगा कि वह पुनः फिर नहीं उठ सकी। राजपूतों का वह संगठन, जिसमें लगभग 104 सरदार और अनेक रावल सम्मिलित थे, छिन्न–भिन्न हो गया। मुगल सम्राटों के संरक्षण में उन्हें अवश्य महत्वपूर्ण स्थान मिला और राजपूत–शक्ति मुगल साम्राज्य की महत्वपूर्ण आधार–स्तम्भ बन गई।

खानवा–युद्ध के फलस्वरूप अब हिन्दुस्तान ही पूरी तरह बाबर की गतिविधियों का केन्द्र बन गया। यद्यपि बाबर को काबुल की याद सताती रही किन्तु उसने अपनी शेष जिन्दगी भारत में ही बिताई और मृत्यु से कुछ समय पूर्व तक यहां रह कर, वह मुगल–साम्राज्य का विस्तार करता रहा।

खानवा के युद्ध क्षेत्र में राजपूतों की पराजय अवश्य हुई, लेकिन फिर भी मुगलों के दांत अवश्य खट्टे कर दिये गये। राणा सांगा की पराजय के पश्चात् राजस्थान का नैतिक पतन आरम्भ हो गया। मेवाड़ शक्तिहीन होता गया और इसके स्थान पर मालदेव के नेतृत्व में मारवाड़ शक्ति–सम्पन्न हो गया। खानवा के युद्ध में हर परिवार का एक योद्धा मारा गया। राजपूत इस युद्ध के बाद भविष्य में संगठित होकर शत्रु का मुकाबला करने की बात ही नहीं सोच सके। लेनपूल ने ठीक ही लिखा है कि "पानीपत के युद्ध ने भारत में अफगानों की शक्ति का पूर्ण विनाश कर दिया था, खानवा के युद्ध ने हिन्दूओं के महान संगठन को कुचल दिया।"

15.5. सांगा के अन्तिम दिन :

खानवा के युद्ध–क्षेत्र से महाराणा को मूर्च्छित अवस्था में आमेर के पृथ्वीराज और जोधपुर के मालदेव ने बसवा नामक

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

स्थान पर पहुंचाया था। वहां पहुंचने पर महाराणा की मूर्च्छा उड़ गई। 'महाराणा यश प्रकाश' नामक ग्रंथ को पढ़ने से प्रकट होता है कि महाराणा को इतना अधिक दुःख हुआ कि वे रणथम्भौर दुर्ग में एकान्तवास में चले गये। उसकी जोशीली कविता ने राणा को एक बार फिर से अपने विजेता बाबर का मुकाबला करने को प्रोत्साहित किया।

इसी समय महाराणा को मालूम हुआ कि बाबर चन्देरी पर आक्रमण करने के लिये काल्पी तक पहुंच गया है (दिसम्बर 1527 ई.)। बाबर एरिच के मार्ग से गुजरने वाला था, अतः राणा सांगा पहले ही अपनी सेना सहित एरिच पहुंच गया लेकिन युद्ध छिड़ने से पहले महाराणा को उनके मन्त्रियों द्वारा विष दे दिया गया क्योंकि वे पुनः युद्ध के लिये तैयार नहीं थे। इस प्रकार 21 वर्ष शासन करने के पश्चात् 30 जनवरी, 1528 ई. को महाराणा का देहावसान हुआ। राणा सांगा की मृत्यु कहां हुई, यह निश्चित नहीं कहा सकता है।

''राणा सांगा के एरिच तक पहुंच जाने तथा काल्पी में उनकी मृत्यु होने के बाद माण्डलगढ़ में दाह संस्कार करने की बात स्वीकार करना भौगोलिक, सामाजिक एवं ऐतिहासिक दृष्टि से सर्वथा भ्रमपूर्ण है।

15.6. राणा सांगा का व्यक्तित्व तथा उसका मूल्यांकन :

भारतीय इतिहास में राणा सांगा का व्यक्तित्व अपना विशेष स्थान रखता है। उसने आजन्म अपने वंश की वीरता व पूर्व परम्पराओं का ही पालन नहीं किया अपितु मेवाड़ के गौरव को और अन्नयन किया। शारदा के शब्दों में ''मेवाड़ के महाराणाओं में सांगा सबसे अधिक प्रतापी शासक हुए है। उन्होंने अपने पुरूषार्थ के द्वारा मेवाड़ को उन्नति के शिखर पर पहुंचा दिया।'' राणा सांगा के अन्तिम प्रतिद्वन्द्वी बाबर के ह्रदय में भी राणा के लिये पर्याप्त श्रद्धा थी। स्वयं बाबर ने उसके शौर्य का वर्णन करते हुए लिखा है कि राणा सांगा अपनी वीरता और तलवार के बल पर बहुत शक्तिशाली हो गया था। मालवा, दिल्ली और गुजरात का कोई अकेला सुल्तान उसे पराजित करने में असमर्थ था। उसके राज्य की वार्षिक आय दस करोड़ रूपये थी और उसकी सेना में एक लाख सैनिक थे। सांगा के तीन उत्तराधिकारी अगर वैसे ही योग्य होते तो मुगलों का राज्य भारत में नही जम पाता।

सांगा केवल एक विजेता नहीं वरन् **राज्य निर्माता** भी था। जब वह 1509 में राणा बना तो मेवाड़–राज्य चारों ओर से शत्रुओं से घिरा हुआ था। उत्तर में दिल्ली के लोदी वंशीय सुल्तान संकट उत्पन्न कर रहे थे। दक्षिण–पश्चिम में मालवा व गुजरात के स्वतत्र राज्य मेवाड़ के प्रति सदैव आक्रामक बने रहते थे। मेवाड़ के आस–पास के राजपूत नरेश भी मेवाड़ की आन्तरिक अवस्था का लाभ उठाना चाहते थे। राणा की प्रारम्भिक कठिनाइयों ने उसे निडर, वीर–योद्धा तथा साहसी बना दिया था। सिंहासन पर बैठते ही राणा ने आन्तरिक विद्रोहों का दमन किया तथा मेवाड़ के खोए हुये क्षेत्रों पर पुनः अधिकार स्थापित किया। उसने गुजरात तथा मालवा के मुस्लिम शासकों को ही नहीं, अपितु दिल्ली के सुल्तान इब्राहीम लोदी को भी परास्त किया। अजमेर व चाटसू विजित करने के अतिरिक्त रणथम्भौर, गागरौन, कालपी, भिलसा तथा चन्देरी को मेवाड़ राज्य का अंग बना दिया। इन विजयों से प्रभावित होकर कई राजपूत नरेशों ने उसकी अधीनता सहर्ष स्वीकार कर ली। मेवाड़ के राणा से मैत्री करने में वे अपना गौरव अनुभव करने लगे थे। यही कारण था कि खानवा के युद्ध में उसके साथ 7 राजा, 9 राव तथा 104 छोटे सरदार युद्ध करने आये थे।

राणा सांगा केवल **विस्तारवादी** नीति में ही विश्वास नहीं रखता था वरन् वह मेवाड़ साम्राज्य को **सुरक्षित भी रखना** चाहता था। यही कारण था कि उसने मालवा तथा गुजरात के मुस्लिम शासकों को कई बार हराया परन्तु उनके राज्य को अपने राज्य में शामिल नहीं किया। उसने दिल्ली के सुल्तानों को परास्त अवश्य किया, परन्तु दिल्ली पर अधिकार करने का प्रयास नहीं किया। वह केवल उनकी शक्ति कम करके मेवाड़ राज्य को उनसे सुरक्षित रखना चाहता था। इसमें उसको सफलता भी मिली। मालवा तथा गुजरात के शासक कभी मेवाड़ राज्य की सीमा में प्रवेश करने का साहस नही कर सके।

डॉ. ओझा ने राणा का मूल्यांकन करते हुये उसे वीर, उदार, कृतज्ञ, बुद्धिमान तथा न्याय–परायण बताया है । वह अपनी वीरता के कारण ही संघर्ष काल में मेवाड़ का महाराणा बना रहा। यही नहीं, अपनी बुद्धि के बल से उसने मेवाड़ को सुरक्षित तथा विस्तृत किया। अपने शत्रु महमूद खलजी को कैद करके छोड़ देना तथा उसका राज्य उसे वापिस दे देना राणा की उदार राजनीति का परिचायक था। वह एक सच्चा क्षत्रिय था। उसका दरबार शरणार्थियों के लिये सर्वदा खुला रहता था। उसने कितने ही राजाओं, अमीरों, सरदारों तथा शहजादों को अपने यहां आश्रय प्रदान किया तथा उनकी सहायता की। वह क्षत्रिय धर्म का पालन करना भली–भांति समझता था। शरणागतों को शरण देने में वह साम्प्रदायिकता का विचार नहीं करता था। ऐसे उदाहरण इतिहास में बिरले की उपलब्ध है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

राणा सांगा वीर सेनानायक के साथ–साथ एक उच्च कोटि का **राजनीतिज्ञ** तथा **दूरदर्शी** भी था। मालवा–गुजरात के प्रति सांगा की नीति उसकी दूददर्शिता की पुष्टि करती है। उसने इन दोनों को कभी संयुक्त होने का अवसर नहीं दिया। कई इतिहासकारों ने उसके द्वारा मालवा व गुजरात के परास्त मुस्लिम सुल्तानों को बन्दी बना कर छोड़ देने की आलोचना की है। लेकिन यह उसकी कूट–राजनीतिज्ञता का परिचायक था। उसकी इस नीति के कारण मेवाड़ को उसके शासनकाल में मालवा तथा गुजरात के आक्रमण का भय नहीं रहा।

कुछ इतिहासकार सांगा को 'हिन्दूपत' कहकर पुकारते है। इसका अर्थ है कि राणा भारत में हिन्दू–राज्य स्थापित करना चाहता था। हिन्दू राज्य स्थापित करने के लिए उसे अपने समकालीन दिल्ली, मालवा, गुजरात के अतिरिक्त जौनपुर, बंगाल, उड़ीसा आदि मुस्लिम शासकों को परास्त करना जरूरी था। परन्तु राणा ने उनके विरूद्ध कभी युद्ध करने का इरादा नहीं किया। जिन मुस्लिम शासकों से उसका संघर्ष हुआ भी, तो उसके पीछे सांगा का लक्ष्य मेवाड़ की सुरक्षा था। उन राज्यों को अपने राज्य में मिलाने का उसने कभी प्रयत्न नहीं किया। उसके मुस्लिम राज्यो पर भी आक्रमण धार्मिक कट्टरता पर आधारित न होकर मेवाड़ की सुरक्षा व विस्तारवाद की नीति पर ही आधारित थे।

'हिन्दूपत' की पदवी से अलंकृत करने का एक कारण यह भी था कि गत तीन सौ वर्षों से दिल्ली सुल्तानों से अत्याचारों से हिन्दू अपने धर्म व संस्कृति के प्रति निराश हो गये थे। हिन्दू धर्म के प्रबल पोषक राणा सांगा ने निराशा के सागर में निमग्न हिन्दुओं के दिलों में नवीन आशा का संचार किया। परन्तु हिन्दू धर्म के प्रबल समर्थक राणा सांगा में धार्मिक सहिष्णुता भी थी। उसने कभी किसी मुसलमान को धर्म के नाम पर नहीं सताया।

निःसन्देह राणा सांगा अपने समय का एक महान **विजेता** व **साम्राज्य निर्माता** था। परन्तु उस महान राणा में कुछ कमियां भी थी। बाबर की भांति वह समय व्यर्थ न गवां कर बाबर पर शीघ्र आक्रमण कर देता। इसी प्रकार जब वह देख चुका था कि बाबर ने पानीपत के युद्ध में विजय अपने तोपखाने व द्रुतगामी अश्वारोहियों के कारण प्राप्त की थी तब भी उसने अपनी परंपरागत युद्ध प्रणाली में कोई परिवर्तन नहीं किया। राणा ने हाड़ा रानी के पुत्र को राणथम्भौर जैसे सामरिक स्थान का जागीरदार बना कर भी भरी भूल की। इससे मेवाड़ साम्राज्य–विभाजन का मार्ग प्रशस्त हो गया। यह मेवाड़ साम्राज्य के पतन का प्रमुख कारण बना।

इन के बावजूद राणा सांगा भारतीय इतिहास में एक महान हिन्दू सम्राट के रूप में स्मरण किया जाता है। उसने अपने व्यक्तित्व के प्रभाव से हिन्दू शक्ति को संगठित रूप दिया और उसमें विदेशियों का मुकाबला करने की क्षमता पैदा की। डॉ. गोपीनाथ शर्मा ने भी राणा सांगा के अपूर्व गुणों का विश्लेषण करते हुये लिखा है कि राणा सांगा ने अपने चरित्र–बल से यह प्रमाणित कर दिया कि दुनिया के वैभव के उपभोग के समक्ष स्वदेश रक्षा का महत्व कहीं अधिक है।

15.7. बोध प्रश्न :

प्रश्न 1 राणा सांगा का राज्याभिषेक कब हुआ था?

अ. 16 जून 1507 ई. ब. 4 मई 1580 ई. स. 26 अगस्त 1509 ई. द. 9 जुलाई 1510 ई.

उत्तर – ....

प्रश्न 2 राणा सांगा की प्रारम्भिक कठिनाइयां बताइये।

उत्तर – ....

प्रश्न 3 राणा सांगा के साम्राज्य विस्तार को बताते हुए उसका मूल्यांकन कीजिए।

उत्तर – ....

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

इकाई – 16
महाराणा प्रताप

संरचना

16.0 उद्देश्य
16.1 एतिहासिक पृष्ठभूमि
16.2 राणा प्रताप का प्रारम्भिक जीवन
    16.2.1 प्रताप का राज्याभिषेक
16.3 प्रताप की समस्याएँ
16.4 राणा प्रताप और अकबर
    16.4.1 अकबर और प्रताप के बीच विरोध के कारण
    16.4.2 हल्दीघाटी के युद्ध के कारण
    16.4.3 युद्ध की तैयारी
    16.4.4 युद्ध की घटनाएँ
    16.4.5 परिणाम
16.5 राणा प्रताप का मूल्यांकन
16.6 बोध प्रश्न

16.0 उद्देश्य :

प्रस्तुत इकाई में राणा प्रताप की प्रारम्भिक कठिनाइयाँ, हल्दीघाटी का युद्ध, परिणाम को राजपूत–मुगल सम्बन्ध के द्वारा प्रस्तुत किया गया है।

16.1 ऐतिहासिक पृष्ठ–भूमि :

राणा सांगा की मृत्यु के कुछ समय पूर्व से ही मेवाड़ राज्य का विभाजन आरम्भ हो गया था। रणथम्भौर का क्षेत्र स्वयं सांगा ने अपने छोटे पुत्रों विक्रमादित्य तथा उदयसिंह को दे दिया था तथा उनकी माता हाड़ी रानी कर्मवती को उनकी संरक्षिका नियुक्त कर दिया था। राणा सांगा के देहान्त के बाद पड़ौसी राज्यों पर मेवाड़ का प्रभाव क्षीण होने लग गया था। स्वयं मेवाड़ की राजनीतिक स्थिति भी शोचनीय हो गई थी। इस वर्ष की अवधि मे तीन शासक मेवाड़ की गद्दी पर बैठे। सबसे पहले सांगा का बड़ा पुत्र रत्नसिंह राणा बनां उसका अपनी विमाता कर्मवती से रणथम्भौर के प्रश्न को लेकर झगड़ा हो गया। इस रानी ने अपने पुत्र विक्रमादित्य के लिये मेवाड़ का राज्य प्राप्त करने हेतु मुगल सम्राट बाबर से सहायता मांगी। इस सहायता के बदले उसने बाबर को रणथम्भौर का दुर्ग देना स्वीकार किया था। परन्तु बाबर की मृत्यु हो जाने के कारण हाड़ी रानी को बाबर से मदद प्राप्त नहीं हो सकी। इस घटना के बाद से रत्नसिंह का कर्मवती और उसके भाई सूरजमल हाड़ा से वैमनस्य और भी अधिक बढ़ गया। अन्ततः यही वैमनस्य 1531 ई. में एक दिन शिकार के अवसर पर रत्नसिंह व सूरजमल की मृत्यु का कारण बना। रत्नसिंह के निःसन्तान होने के कारण उसकी मृत्यु के बाद उसका भाई विक्रमादित्य मेवाड़ का राणा बना। वह बहुत अयोग्य था तथा सुरा–सुन्दरी का दास था। इसी कारण व सदा राजकार्य की उपेक्षा करता रहा। उसके समय में गुजरात के शासक बहादुरशाह ने दो बार चित्तौड़ पर आक्रमण किया, जिसके फलस्वरूप मेवाड़ का राणा बन बैठा। चित्तौड़ का राज्य मिल जाने पर बनवीर का घमण्ड बहुत बढ़ गया। वह सामन्तों पर अपनी धाक जमाने लगा, परन्तु सामन्त उसके दुष्कर्म से उससे घृणा करते थे। अपनी सत्ता बनाये रखने की दृष्टि से उसने अपने भाई उदयसिंह को भी मारना चाहा। परन्तु पन्ना धाय ने अपने बेटे की बलि देकर उदयसिंह को बचा लिया। उदयसिंह को लेकर पन्ना **देवलिये** के रावत रायसिंह के पास पहुंची। रायसिंह ने ससम्मान उदयसिंह को अपनी सुरक्षा में रखा। मेवाड़ राज्य छोड़कर भागने के लिये विवश होना पड़ा।

उदयसिंह को सिंहासन पर बैठते ही अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ा। उसे मेवाड़ के खोये हुए प्रदेश पुनः प्राप्त करने थे। विद्रोही सामन्तों का दमन करना था। उधर शेरशाह मारवाड़ को विजित कर (1543) मेवाड़ की ओर बढ़ा चला

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

आ रहा था। परन्तु यहां उदयसिंह ने सूझ से काम लिया। शेरशाह के समीप आते ही उसने चित्तौड़ के किले की चाबी शेरशाह के पास भिजवा दी। चाबी प्राप्त हो जाने पर शेरशाह स्वयं तो दिल्ली के लिये रवाना हो गया और चित्तौड़ पर अपना नाम मात्र का राजनीतिक प्रभाव रखने की दृष्टि से अपने अधिकारी **ख्वाजा खां** को वहां छोड़ गया। यह सत्य है कि उदयसिंह ने युक्ति से शेरशाह के आक्रमण को टाल दिया लेकिन उसने यह निष्कर्ष भी निकाल लिया कि अब केवल दुर्ग ही सुरक्षा के उत्तम साधन नहीं माने जा सकते, क्योंकि मुगल आक्रमणकारी अब गोला–बारूद का प्रयोग पर्याप्त मात्रा में करते है। अतः आक्रमणकारियों से अपने राज्यों को सुरक्षित रखने के लिये दक्षिणी–पश्चिमी मेवाड़ के भाग को जो चारों ओर उच्च पहाड़ी श्रेणियों से घिरा हुआ था, उसने आबाद करना आरम्भ किया। इस नवीन राजधानी की नींव महाराणा उदयसिंह ने अपने सरदारों व सलाहकारों से, जो उनके साथ शिकार में थे, काफी मन्त्रणा के बाद डाली थी। इसके अलावा महाराणा उदयसिंह को पीछोला तालाब के पासवाली पहाड़ी पर बैठे एक साधु के दर्शन हुए। प्रणाम करने पर उसने कहा कि **यदि तुम यहां शहर बसाओगे तो वह तुम्हारे वंश के अधिकार से कभी नहीं छूटेगा।** इसके फलस्वरूप ही 1559 ई. में उदयपुर नगर की स्थापना हुई। लेकिन अक्टूबर, 1567 ई. में ही राणा उदयसिंह को मुगल सम्राट अकबर के आक्रमण का सामना करना पड़ा। निःसन्देह चित्तौड़ पर आक्रमण करने का कारण अकबर का साम्राज्यवादी होना तो था ही, पर बड़ी (धौलपुर) पड़ाव से महाराणा के पुत्र शक्तिसिंह के अचानक भाग जाने से अकबर के आक्रमण की सूचना दे दी। निःसन्देह राणा ने मुगल सेना का वीरता से सामना किया परन्तु जब विशाल सेना का सामना करने में उसने अपने को असमर्थ पाया तो चित्तौड़ का दुर्ग अकबर द्वारा अधिकृत कर लिया गया। इस पराभाव के कारण राणा उदयसिंह अधिक समय तक जीवित नहीं रह सका और 28 फरवरी, 1572 ई. में गोगुन्दा में उसका देहान्त हो गया। महाराणा उदयसिंह एक साधारण राणा सिद्ध हुआ। न वह महान वीर था और न राजनीतिज्ञ। प्रारम्भिक जीवन भी अस्थिर व कंटकापूर्ण होने के कारण वह न सैनिक शिक्षा प्राप्त कर सका और न प्रशासनिक। इसके अलावा व विलासी भी था। इन्हीं कारणों से उसने 1568 में चित्तौड़ का दुर्ग मुगलों को समर्पित कर दिया।

16.2. राणा प्रताप का प्रारम्भिक जीवन :

प्रताप का जन्म 9 मई, 1540 ई. में कुम्भलगढ़ में हुआ था। वह राणा उदयसिंह का ज्येष्ठ पुत्र था। उसकी माता का नाम **जैवन्ता बाई** था। जैवन्ता बाई पाली के सोनगरा के शासक अखैराज की पुत्री थी। अपनी माता का वह एक मात्र पुत्र था। आपका विवाह जैसलमेर की राजकुमारी **छीरबाई** से हुआ था। इसके अलावा राणा प्रताप ने 17 विवाह और किये थे। सम्भवतः प्रताप का बचपन कुम्भलगढ़ में ही व्यतीत हुआ। प्रताप के बचपन तथा शिक्षा–दीक्षा के बारे में कोई प्रामाणिक जानकारी नहीं मिलती। परन्तु उसके जीवन–वृत्त से यह बात स्पष्ट होती है कि राजपूत राजकुमारों को दी जाने वाली सारी शिक्षा–दीक्षा उसे दी गयी थी और युवा होते–होते वह घुड़सवारी तथा अस्त्र–शस्त्रों के प्रयोग आदि में निपुण हो गया था। सैन्य–संचालन, सैन्य विन्यास तथा व्यूह रचना आदि में उसने पूर्ण–दक्षता प्राप्त कर ली थी। दुर्भाग्यवश इन सब गुणों के होते हुये भी राणा उदयसिंह ने अपने जीवन–काल में अपनी रानियों के आपसी ईर्ष्या–द्वेष के कारण प्रताप की बहुत कुछ उपेक्षा की। मृत्यु से पूर्व उदयसिंह ने अपने ज्येष्ठ पुत्र प्रतापसिंह के अधिकार की चिन्ता न करते हुए अपनी प्रिय भठयाणी रानी के पुत्र जगमाल को अपना उत्तराधिकारी नियुक्त किया।

16.2.1. प्रताप का राज्याभिषेक– राणा उदयसिंह की मृत्यु होली (28 फरवरी, 1572) के दिन हुई थी। निःसन्देह राजपूत नरेश उत्तराधिकार नियम को मान्यता प्रदान करते हुए अपने ज्येष्ठ पुत्र को ही अपना उत्तराधिकारी बनाते आये है, परन्तु उत्तराधिकारी के मनोनयन में रानियों का हाथ भी महत्वपूर्ण रहा है। वही बात उदयसिंह ने अपनी भटयाणी के प्रभाव में आकर की थी। अतः राजपूत रस्म के अनुसार उदयसिंह को शमशान ले जाने पर जगमाल को महल मे ही छोड़ दिया गया। उसके राणा बनाये जाने का रहस्य उसके भ्राता सगर ने खोला। इस पर राणाप्रताप निराश हो कर गोगुन्दा से जा रहे थे कि **सोनगरा अखैराज** अन्य सामन्तों के साथ प्रताप को महल में लाये। उन्होंने जगमाल को गद्दी से उतार दिया और प्रताप को गद्दी पर बिठा कर राणा बना दिया। इस अवसर पर रावत **कृष्ण दास** ने प्रताप की कमर में राजकीय तलवार बांधी। इस प्रकार प्रताप का राज्याभिषेक (28 फरवरी, 1572) सामन्तों द्वारा किया गया था। जगमाल आजीवन मेवाड़ का शत्रु तथा मुगल दरबार का मनसबदार बना रहा। 1583 ई. में सिरोही में दताणी के युद्ध में उसकी मृत्यु हो गई।

16.3. प्रताप की समस्याएं :

मेवाड़ को अधीन किए बिना अकबर की राजपूताना विजय अधूरी थी और उधर महाराणा प्रताप ने यह प्रतिज्ञा की कि वह अन्तिम सांस तक मुगलों से संघर्ष करेगा और सारे मेवाड़ को मुगलों के शिकंजे से मुक्त न करने तक आराम नहीं करेगा। राणा प्रताप का यह निश्चय ही बड़ा कठिन और साहसपूर्ण था क्योंकि–

Jan Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

(क) मुगल सम्राट अकबर की सैनिक शक्ति अत्यन्त प्रबल थी,

(ख) मुगल आक्रमण के फलस्वरूप राज्य की व्यवस्था सन्तोषजनक नहीं थी और सामाजिक तथा आर्थिक दृष्टि से भी मेवाड़ में स्थिरता नहीं आ पाई थी,

(ग) चित्तौड़, बदनौर, शाहपुरा, रायला आदि मेवाड़ के सीमान्त भाग मुगलों के हाथ में जा चुके थे जिससे राज्य की आय और प्रतिष्ठा घट चुकी थी,

(घ) राजपूताने के लगभग सभी राजा–महाराजा प्रत्यक्ष–परोक्ष रूप से अकबर को सहयोग दे रहे थे,

(ड.) राणा प्रताप का भाई भी मुगल सम्राट के पक्ष में था, एवं

(च) मुगल सम्राट की तुलना में मेवाड़ के सैनिक और आर्थिक साधना अत्यधिक सीमित थे, युद्ध–सामग्री की भी भारी कमी थी, मुगल तोपखाना भी राजपूतों के लिए विकट चुनौती था।

इन सब कठिनाइयों और बाधाओं के बावजूद राणा प्रताप ने अपने स्वतंत्र अस्तित्व और देश के गौरव को बनाए रखने का मार्ग चुना। मुगलों से संघर्ष की तैयारी में उसने सबसे पहले मेवाड़ को संगठित करने का बीड़ा उठाया। अपने कर्त्तव्य और विचारों से उसने सामन्तों और भीलों का एक गुट बनाया जो हर समय देश की रक्षा के लिए उद्यत रहे। उसे अपने पिता के समय मे भीलों से मिलने–जुलने का तथा साथ रहने का अवसर मिला था। इसी समय से उसने उनसे निकटतम सम्बन्ध स्थापित कर रखा था। उसने प्रथम उन्हें अपनी सैन्य–व्यवस्था में उच्च पद देकर उनके सम्मान को बढ़ाया। मुगलों से अधिक दूर रहकर युद्ध का प्रबन्ध करने के लिए उसने गोगुन्दे से अपना निवास स्थान कुम्भलगढ़ को बदल लिया। जन–सम्पर्क के द्वारा भी उसने देश में एक व्यापक जागरण को जन्म दिया। इन प्रारम्भिक कार्यो से उसने मेवाड़ में एकसूत्रता ला दी जिससे लम्बे युद्ध में सम्पूर्ण राज्य से उसे सहयोग मिल सके।

अकबर राजपूतों के संगठन का प्रयोग सम्पूर्ण भारत के राज्य की दृढ़ता के लिए करना चाहता था। वह यह समझ चुका था कि यदि उसके नेतृत्व में संगठित मुगल राज्य की स्थापना करनी है तो राजपूतों का सहयोग वांछनीय होगा फिर भी जिस राज्य की कल्पना अकबर कर रहा था उसमें प्रताप अपना स्थान सम्मानित नहीं मानता था। वह अपने वंश–गौरव या व्यक्तिगत विशुद्ध स्थिति को अधिक महत्व देता था। वह अपने राज्य को एक संवर्ग के रूप में रखकर अपने राज्यत्व की प्रतिष्ठा को उच्च बनाए रखने में श्रेय समझता था, बजाय इसके कि वह एक मुगल राज्य का आश्रित सामन्त हो जो अपने अधिकारों की मान्यता दिल्ली से प्राप्त करे। अकबर से वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित करने के लिए बाध्य होने की सम्भावना से भी प्रताप में एक स्वाभाविक अरूचि थी। वह नहीं चाहता था कि मेवाड़ की परम्परा तोड़ने का कलंक उसके सिर मढ़ा जाए।

16.4. राणा प्रताप और अकबर :

अकबर ने भी राणा प्रताप के संकल्प को चूर–चूर करने और मेवाड़ को कब्जे में लेने की ठान ली। राजपूताना के कई शासकों से उसके मैत्री सम्बन्ध या वैवाहिक सम्बन्ध थे, किन्तु मेवाड़ का इस दिशा में सहयोग न देना उसे कांटे की तरह चुभ रहा था। फिर भी अकबर एक दूरदर्शी सम्राट था और यह नहीं चाहता था कि अनिवार्यतः शस्त्र–बल से ही मेवाड़ को अधीन बनाया जाए। अतः उसने राजा मानसिंह को उदयपुर राणा प्रताप को यह समझाने के लिए भेजा कि वह अकबर की सर्वोच्च शक्ति को मान्यता दे और शाही दरबार में उपस्थित हो। अकबर ने विशेष रूप से यह भी कहा किस वैवाहिक सम्बन्ध की बात पर बल न दिया जाए और राणा को यह आश्वासन दिया जाए कि आन्तरिक मामलों में वह स्वतंत्र रहेगा। 1573 ई. में जब मानसिंह ने राणा से मुलाकात की तो उसने अकबर की अधीनता मानने का प्रस्ताव ठुकरा दिया। मानसिंह के इस असफल मिशन के बाद भी अकबर ने उपरोक्त आशय के ही दो और पैगाम प्रताप के पास भगवानदास और टोडरमल के नेतृत्व में भेजे, किन्तु राणा अपने निश्चय से डिगा नहीं हालांकि व्यवहार और वार्तालाप में उसने अपनी शिष्टता में कोई कमी न रखी। उल्लेखनीय है कि कर्नल टाड ने मानसिंह और राणा के सम्मेलन, वार्तालाप और व्यवहार के सम्बन्ध की घटना का उदयसागर पर होना बताया है। कहा गया है कि यहां एक भोज का आयोजन राणा की तरफ से आतिथ्य के रूप में किया गया था, जिसमें राणा ने स्वयं उपस्थित न होकर अपने कुंवर अमरसिंह को भेजा। जब यह पूछा गया कि राणा इसमें सम्मिलित क्यों नहीं हुए तो यह बता दिया गया कि वे कुछ अस्वस्थ है। मानसिंह ताड़ गया कि राणा उससे परहेज करते है, क्योंकि कछवाहों ने अकबर से वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित कर लिया है। मानसिंह बिना भोजन किए वहां से चल दिया और ठीक इस घटना के बाद अपमान का बदला लेने के लिए मुगल सेना को लेकर मेवाड़ में आ धमका। यदि मानसिंह का इस प्रकार

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

अपमान होता तो बदायूंनी अवश्य ही उसका उल्लेख अपने 'मुन्तखब' में करता। मानसिंह के और प्रताप के मिलने का स्थान अबुल फजल ने गोगुन्दा दिया है न कि उदयसागर, जो अधिक ठीक मालूम पड़ता है। यह सारी कथा टाड ने ख्यातों से ली है, जो पिछली होने से विश्वसनीय नहीं हो सकती।

समझा–बुझाकर प्रताप को गुलामी की बेड़ियां पहनाने में असफल हाने पर अकबर ने शस्त्र–अस्त्र द्वारा उसे अधीन करने का निश्चय कर लिया। उधर प्रताप भी ताड़ गया कि अकबर की प्रक्रिया उसके राज्य के लिए भयंकर परिणाम लाने वाली सिद्ध होगी अतः पूरी शक्ति से सैनिक तैयारियां आरम्भ कर दी। उसने भीलों को साथ लिया और दूरस्थ सामन्तों को सतर्क कर दिया। मैदानी भाग के निवासियों को पहाड़ी घाटी में भेज दिया और आदेश निकाल दिया कि मैदानी खेतों में अन्न न उपजाया जाए ताकि भीतर घुसने वाली शत्रु सेना को किसी प्रकार की रसद न मिल सके।

16.4.1. अकबर और प्रताप के बीच विरोध के कारण – दोनों शक्तियों के बीच विरोध के मुख्य कारण निम्नलिखित थे–

1. राणा प्रताप के प्रति मैत्री–भाव प्रदर्शित करने पर भी अकबर ने उसे कोई यथेष्ठ मान्यता प्रदान नहीं की और न चित्तौड़ के विजित खण्ड को लौटा देने की ही स्वीकृति प्रदान की।

2. राणा प्रताप का असन्तोष बढ़ने लगा। उसने अकबर के विरोधियों के साथ मित्रता स्थापित करना शुरू किया। ग्वालियर के असन्तुष्ट राजा तथा अड़ियल अफगानों और जौधपुर के राव चन्द्रसेन व सिरोही के राव सुल्तान के साथ उसने मैत्री सन्धि की। अकबर इसे किस प्रकार बर्दाश्त कर सकता था? जब तक राणा प्रताप स्थाई रूप से अकबर की अधीनता स्वीकार नहीं कर लेता तब तक गुजरात मार्ग की सुरक्षा, तीर्थयात्रियों और व्यापारियों का आवागमन तथा व्यापार का यातायात निरापद नहीं रह सकता था।

3. राजस्थान के मार्ग से सूरत और गुजरात के बन्दरगाहों के साथ जो व्यापारिक यातायात होता था उसको राणा प्रताप और राव चन्द्रसेन अवरूद्ध कर रहे थे। अकबर ने इन सब घटनाओं के पीछे राणा प्रताप का ही हाथ समझा।

शान्तिपूर्ण ढंग से राणा प्रताप को अपने अधीनस्थ करने के असफल प्रयत्नों के बाद मुगल सम्राट अकबर ने 1576 ई. के प्रारम्भ में मेवाड़ के शेर को सैनिक शक्ति के बल पर कब्जे में ले लेने का निश्चय कर लिया। मार्च 1576 ई. में सम्राट स्वयं अजमेर तक आया। मानसिंह को सेना का मुख्य सेनापति नियुक्त करके वह राजधानी वापस लौट गया।

16.4.2. हल्दीघाटी के युद्ध के कारण– ऊपर दिये गये दो कारण भी हल्दी घाटी के युद्ध से पूर्णतया सम्बन्धित है। मेवाड़ की दशा और अकबर की महत्वाकांक्षा ने जहां युद्ध को अनिवार्य कर दिया वहां अन्य कारणों का उल्लेख भी आवश्यक है।

1. प्रताप का चरित्र– अपने प्रारम्भिक जीवन में प्रताप को जंगली और पहाड़ियों में भटकना पड़ा। इन कठिनाइयों ने प्रताप के जीवन को दृढ़ संकल्प और पवित्र बना दिया। कभी–कभी वह अपनी कठिनाइयों से ऊब कर कहा करता था कि– ''अच्छा होता यदि सिसोदिया वंश में उदयसिंह का जन्म नही हुआ होता अथवा राणा संग्रामसिंह के बाद सिसोदिया वंश का कोई व्यक्ति चित्तौड़ के सिंहासन पर न बैठा।'' राणा सांगा के बाद उदयसिंह ने मेवाड़ की मर्यादा को समाप्त कर दिया था। राज्य की इन दुर्बल परिस्थितियों ने भी प्रताप का ह्रदय दुर्बल नहीं पड़ा। उसमें स्वाभिमान था, राजपूती गौरव था और साहस तथा पुरुषार्थ था। राज्य का अधिकार पाने के बाद वह चित्तौड़ के उद्धार का उपाय सोचने लगा। वह अपनी शक्तियों का संगठन करने लगा। सबसे पहले उसने अपने जीवन की विलासिता का अन्त किया। सोने चांदी के बर्तनों में भोजन करना छोड़ कर वृक्षों के पत्तों में भोजन करना शुरू किया। कीमती शय्या के स्थान पर कठोर भूमि पर सोना शुरू कर दिया। उसने अपने अनुयाइयों को भी यह आदेश दिया कि जब तक हम चित्तौड़ को स्वाधीन नहीं कर लेंगे, सिसोदिया वंश का कोई भी व्यक्ति स्त्री हो या पुरुष सुख और विलासिता के जीवन से कोई सम्बन्ध नहीं रखेगा।

उस समय के आदेशों की कितनी ही बातें आज दिन तक मेवाड़ के राजपूतों में प्रचलित है। सेना, जन और धन का अभाव होते हुए भी साहसी प्रताप ने अपने साथियों के साथ बैठ कर चित्तौड़ को स्वाधीन बनाने की प्रतिज्ञा की। प्रताप ने घोषणा की– ''जिनको हमारी अधीनता में रहना स्वीकार हो, वे सभी अपने परिवारों के साथ अपने घर छोड़कर इस पर्वत पर आ जाये। जो लोग ऐसा नहीं करेंगे वे शत्रु समझे जायेंगे। थोड़े ही दिनों बाद मेवाड़ की जनता पहाड़ों पर आ गई और मेवाड़ राज्य सुनसान दिखने लगा। खेती करने वाले किसान भी खेत छोड़–छोड़कर प्रताप के सैनिक बन गये। ऐसा दृढ़ प्रतिज्ञ प्रताप अपने पूर्वजों की राजधानी चित्तौड़ को जीतने के लिये कटिबद्ध था अतः युद्ध आवश्यक हो गया। डॉ. ए. एल. श्रीवास्तव का कहना है कि–

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

"भौतिक साधनों और जन बल में बहुत हीन होते हुए भी, साहस, पुरूषोचित शौर्य, चारित्रिक दृढ़ता, देश भक्ति, सैनिक प्रतिभा और नेतृत्व के सभी गुणों में उसके ही जोड़ का था। लगभग समान आयु के अकबर और प्रताप दोनों ही आसाधारण पुरूष थे और प्रत्येक अपनी–अपनी तरह से अद्वितीय था।" जिस सिसोदिया वंश ने सदियों तक भारत के राजपूत राज्यों का नेतृत्व किया था, राणा उसी वंश का प्रमुख होने के नाते अकबर की अधीनता स्वीकार कर अपने पूर्वजों के यश को कलंकित करने के लिये दृढ़ प्रतिज्ञ था। प्रताप हिन्दू धर्म के चक्कर में न होकर केवल स्वतंत्रता की तलाश में था क्योंकि अकबर से हिन्दुओं को किसी प्रकार की क्षति होने का कोई भय नहीं था।

2. विफल प्रयास– अकबर ने आमेर के राजा मानसिंह को भेजा, वह असफल रहा। फिर भगवन्तदास को भेजा वह भी असफल रहा। गुजरात जाते समय राजा टोडरमल भी राणा से मिल कर गया था किन्तु इन सब वार्ताओं का कोई परिणाम नहीं निकला। अकबर ने स्वयं राणा के गद्दी पर बैठने के सिर्फ चार महीने बाद ही अपने योग्य व वाक्चतुर दरबारी जलाल खां को राणा के पास जुलाई के महीने में भेजा था। वह 27 नवम्बर को असफल लौट आया। इन सब प्रयासों के बिफल हो जाने से अकबर का उत्तेजित होना स्वाभाविक था। उधर राणा ने बादशाह से मित्रता प्रकट करने के लिये अपने चौदह वर्षीय पुत्र अमरसिंह को भगवन्तदास के साथ मुगल दरबार में भेज दिया था। राणा को यह आशा थी कि इसके बदले अकबर चित्तौड़ और मेवाड़ का जीता हुआ भूभाग वापस लौटा देगा किन्तु अकबर राणा प्रताप की मुगल दरबार में व्यक्तिगत हाजरी के लिये हठ कर रहा था। विचारों के इस आदान–प्रदान से न राणा संतुष्ट हुआ और न अकबर ही। चार बार मित्रता की चेष्टा करने पर भी जब मेवाड़ से सम्बन्ध नहीं सुधरे तब विवश होकर अकबर को युद्ध की शरण लेनी पड़ी। अकबर राजपूतों की मनोवृत्ति से परिचित था। वह जानता था कि यदि राणा प्रताप' ने अधीनता स्वीकार कर ली तो अन्य छोटे राजपूत विरोधी राजा अपने आप मुगल दरबार में हाजिर हो जायेंगे। प्रताप की स्वतंत्रता से अन्य राजपूत राजाओं को नैतिक बल प्रदान होता था। अकबर को यह ज्ञात था कि 1568 में चित्तौड़ के पतन के बाद दो वर्षों में अधिकांश राजपूत राजाओं ने अकबर की अधीनता स्वीकार कर ली थी। यदि राणा प्रताप अकबर की अधीनता मान लेते तो मारवाड़ की चन्द्रसेन तथा बूंदी, डूंगरपुर, बांसवाड़ा और सिरोही के विद्रोही हिन्दू राजा फौरन अकबर की शरण में आ जाते। प्रताप की स्वतंत्रता इन राजाओं का समर्थन प्रदान कर रही थी। विनाश होकर अकबर को युद्ध करना पड़ा।

3. व्यापारिक महत्व– विदेशों से आने वाला माल अधिकार सूरत बन्दरगाह पर उतरता था और फिर गुजरात, राजस्थान होता हुआ आगरा, दिल्ली और उत्तर भारत के अन्य व्यापारिक केन्द्रों को जाता था। इस मार्ग के बीच में पश्चिम राजस्थान का छोटा–सा स्वतंत्र भाग बहुत बड़ी बाधा थी। व्यापारिक यातायात को राणा प्रताप और मारवाड़ का राव चन्द्रसेन बीच में ही रोक लेते थे। इस प्रकार की व्यापारिक क्षति और रूकावट कोई भी सफल शासक किसी भी कीमत पर सहन नही कर सकता था और फिर उत्तर में हिमालय से पूर्व और पश्चिम में समुद्र तक फैले विशाल साम्राज्य के बीचों बीच पश्चिमी मेवाड़ के छोटे से भू–भाग की स्वतंत्रता अकबर को अखरती थी। इसे शान्तिप्रिय ढंग से अधीन करने के चार प्रयत्न (कुछ लेखक केवल तीन ही प्रयत्न बताते है वे अकबर द्वारा भेजे गये जलाल खां के प्रयत्न का उल्लेख नहीं करते) विफल हो गये थे। इस प्रदेश का व्यापारिक महत्व भी कम नहीं था। इसके अतिरिक्त तीर्थयात्रा पर मक्का और मदीना जाने वाले लोग भी सूरत बन्दरगाह से जाते थे और उनका मार्ग भी मेवाड़ से होकर था। इन यात्रियों की सुरक्षा ओर सफल यात्रा के लिये भी मेवाड़ पर मुगल आधिपत्य आवश्यक समझा गया। इस प्रकार व्यापार, राजनीति और हज या तीर्थयात्रा के महत्वपूर्ण प्रश्नों ने अकबर को मेवाड़ पर आक्रमण करने के लिये बाध्य कर दिया।

4. मानसिंह का अपमान– ऊपर वर्णन किया जा चुका है कि अकबर ने राणा से मित्रता करने के चार प्रयत्न किये इनमें से दूसरा प्रयत्न मानसिंह का था बादशाह ने अनुभव किया कि राणा की ही जाति और धर्म के किसी उच्च पदीय और प्रभावशाली राजपूत को दूत बनाकर इस नाजुक काम के लिये भेजा जाय। इसलिये अप्रैल 1573 ई. में आमेंर के राजकुमार मानसिंह को उदयपुर जाने का आदेश दिया गया। राणा ने मानसिंह का मैत्रीपूर्ण सम्मान तो किया किन्तु उसके साथ आगरा दरबार में उपस्थित होना अस्वीकार कर दिया। मानसिंह निराश और अपमानित सा वापस लौट आया। उसे कदाचित यह आशा थी कि वह प्रताप को साथ आगरा ले जा सकेगा और जब अकबर ने मेवाड़ पर आक्रमण करने का फैसला किया तो मानसिंह ने आक्रमण का नेतृत्व स्वयं मांग कर लिया ताकि राणा को बन्दी बनाकर अकबर के सामने पेश कर सके। इस भावना का दूसरा अर्थ लगा कर टाड महोदय ने अपने ग्रन्थ में वर्णन किया है कि शोलापुर विजय के बद राजा मानसिंह आगरा लौटते समय राणा से मिलने रूक गये। प्रताप ने उदय सागर पहुंच कर मानसिंह का स्वागत किया किन्तु भोजन के समय खुद न आकर राजकुमार अजीतसिंह का भेज दिया। भोजन–स्थल पर प्रताप को न देखकर मानसिंह ने प्रताप के विषय में पूछा तो अमरसिंह

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

ने कह दिया कि– "सिर उस पीड़ा के कारण पिताजी नहीं आ सकते"। यह सुनकर उसने रोषपूर्ण स्वर ने कहा– "मैं उस पीड़ा को समझता हूं। उस शूल की अब कोई औषधि नहीं हो सकती।" राणा प्रताप भीतर से मानसिंह की यह बात सुन रहे थे, बाहर आकर आवेश में बोले– "मैं उस राजपूत के साथ कभी भोजन नहीं कर सकता, जो अपनी बहन बेटियों का विवाह एक तुर्क के साथ कर सकता है।"

मानसिंह ने इसे अपना अपमान समझा और बिना खाना खाये उठ गया। प्रताप की तरफ देखकर उसने कहा– "आपके सम्मान की रक्षा के लिये ही मुझे अपनी बहन और बेटियां तुर्कों को देनी पड़ी है। अगर आप इसका लाभ नही उठाना चाहते तो इसका अर्थ यह है कि आप स्वयं खतरों को अपने ऊपर ला रहे है। यह मेवाड़ राज्य अब आपका होकर न रहेगा।" घोड़े पर बैठते–बैठते उसने प्रताप से फिर कहा– "अगर मैंने आपके इस अपमान का बदला रणक्षेत्र में न दिया तो मेरा नाम मानसिंह नहीं है।" उत्तर देते हुए प्रताप ने कहा– "मैं हर्ष के साथ उसके लिए तैयार हूं।" पास खड़े सरदार ने मानसिंह से कहा– "उस समय अपने फूफा अकबर को भी साथ लेते आना। उसे लाना भूल मत जाना।" जहां मानसिंह ठहरा था उसे खोद कर गंगा जल छिड़का गया। यह कथा वास्तव में रोचक है। मानसिंह के साथ प्रताप ने खाना नहीं खाया होगा और आवेश में इस प्रकार की छींटाकशी का हो जाना स्वाभाविक सा लगता है। इस कथन की पुष्टि 'वीर विनोद की दूसरी जिल्द के पृष्ठ 147 पर कविराज श्यामलदास भी करते हैं। श्री गहलोत भी अपनी पुस्तक 'राजपूतों का इतिहास' के पहले भाग में पृष्ठ 234 पर इस कथा की पुष्टि करते है। श्री ओझाजी भी मेवाड़ के इतिहास में इसे मान्यता प्रदान करते है। किन्तु राजस्थान के आधुनिक विद्वानों में डॉ. रघुवीरसिंह अपनी पुस्तक पूर्व आधुनिक राजस्थान के पृष्ठ 51 पर इस कथा को काल्पनिक बना कर लिखते है कि– "अनेक युगों बाद प्रचलित होने वाली राणा प्रताप सम्बन्धी अनेकानेक कल्पनापूर्वक कथाओं में ही इसकी भी गणना होनी चाहिये।" न जाने किन विश्वस्त सूत्रों के आधार पर इसे काल्पनिक माना जाय यह डॉ. रघुवीर ने बताया। डॉ. गोपीनाथ शर्मा भी इस कथा को काल्पनिक बताते हुए अपनी पुस्तक 'मेवाड़ एण्ड दी मुगल एम्परर्स' के पृष्ठ 89 के फुटनोट में लिखते है कि– "इस कहानी में सत्य का कोई स्पर्श नहीं है। राणा से भेंट और दरबार में जाने से मना करने पर यह रंगीन कथा गढ़ ली गयी है।" किन्तु राजप्रशस्ति के 21 वे दोहे में भोजन पर मानसिंह और प्रताप के बीच मनमुटाव का संक्षिप्त वर्णन मिलता है। वह मनमुटाव फिर क्या था? जो भी हो टाड, गहलोत, ओझा, वीर विनोद, राजप्रशस्ति आदि सभी इस घटना को लड़ाई का एक कारण मानते है।

5. साम्राज्यवाद या स्वतंत्रता– डॉ. गोपीनाथ शर्मा इस युद्ध का मूल कारण साम्राज्यवाद के विरूद्ध स्वतंत्रता का संग्राम बताते हैं। अकबर महान् साम्राज्यवादी था। वह अपने समय के प्रारम्भ से पूर्ण साम्राज्वादी था जबकि प्रताप मेवाड़ की स्वतंत्रता चाहता था। एक म्यान में दो तलवारें कैसे रह सकती थी। अकबर अपने अधीन एक संयुक्त राष्ट्र देखना चाहता था वह तभी हो सकता था जब प्रताप की स्वतंत्रता समाप्त कर दीया जाय। प्रताप अपनी प्राचीन वंश परंपराओं के आधार पर और स्थानीय लगाव के कारण आगरा के दरबार में पराधीनता के पकवान खाकर जीने से वह जंगल में रहना, सूखी रहना अधिक पसन्द्र करता था। यह सिद्धांतो की लड़ाई थी जिसमें एक तरफ स्वतंत्रता प्रताप को बलिदान के लिए प्रेरित कर रही थी और दूसरी तरफ अकबर का साम्राज्यवादी पौरूष उसे ललकार रहा था कि सारे भारत का स्वामी एक छोटे से महत्वपूर्ण पहाड़ी प्रदेश को नहीं जीत सका। प्रताप के मन में द्वन्द्व था कि क्या वह अपने अन्य राजपूत राजाओं की तरह अकबर के हरम में अपनी लड़की या बहन की डोली भेजकर दरबारी शान–शौकत प्राप्त कर ले या घराने की इज्जत के लिए अपने प्राणों की आहुति दे दे। यही कारण है कि उसने अपने वंश की परम्परा को बनाये रखने के लिए मुगल बादशाह से सुलह करना उपयुक्त नहीं समझा। डॉ. गोपीनाथ शर्मा कहते हैं कि– "प्रताप के पक्ष में यह कहा जा सकता है कि वह स्वतंत्रता का सैनिक था तथा आत्मसमर्पण करने को तैयार नहीं था। वह इस इन्कार के परिणामों से परिचित था इसलिए विपदा का सामना करने की यथासम्भव तैयारियां कर ली।" इसी समय अकबर भी बंगाल विजय से निपट चुका था अतः मेवाड़ पर आक्रमण उसका अगला कदम बन गया। इन्ही कारणों को लेकर हल्दीघाटी का युद्ध लड़ा गया। यहां अबुलफजल की एक पंक्ति दे देना उपयुक्त होगा। अकबर के दरबार का यह विद्वान लेखक कहता है कि "राणा प्रताप के अभिमान को नीचा दिखाना आवश्यक हो गया था, क्योंकि उसे अपने पूर्वजों के वंश की कीर्ति, स्थिति की दृढ़ता, अपने राज्य के विस्तार और सम्मान के लिए जीवन बलिदान करने को तत्पर राजपूतों की विशाल संख्या का अभिमान हो गया था। उसका दमन इसलिए आवश्यक हो गया था कि "उसकी अवमानना, गर्व, कपट, और छल सभी सीमाओं को पार कर गये थे।"

16.4.3. युद्ध की तैयारी

— 18 मार्च, 1576 को अकबर स्वयं अजमेर आया और बहुत सोच–विचार कर आखिरकार मानसिंह को अभियान का सेनापति नियुक्त किय। मानसिंह की गणना साम्राज्य के सबसे अच्छे सेनापतियों में होती थी। वह अकबर का पूर्ण विश्वसनीय भी था और 'पुत्र' की उच्च्य उपाधि से भी विभूषित था। मानसिंह की सहायता के

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

लिए चुने हुए सैनिक दिये गये। उसके साथ आसफखां, सैयद अहमद, गाजी खां, सैयद राजू, खंगार, मिहतर खां, मजहिदबेग, हाशिम बरहा, जगन्नाथ कछवाहा, माधोसिंह, राय लूनकरण आदि थे। 1 अप्रैल, 1576 को मानसिंह को पचंहजारी मनसबदारी दी गई और 5000 छंटे हुए घुड़सवारों को सेनापति बनाया गया और दो दिन बाद वह अजमेर से चलकर वह मांडलगढ़ पहुंचा और इस स्थान पर वह दो महीने तक ठहरा। इस विलम्ब का कारण क्या हो सकता है? मानसिंह अतिरिक्त युद्ध सामग्री की राह देखता रहा। वह आगरा और अपने बीच मार्ग को सुरक्षित बना लेना चाहता था। वह स्वयं आक्रमण न कर यह चाहता था कि प्रताप आक्रमण करे इसलिए रक्षात्मक स्थान ग्रहण कर लेना चाहता था।

इन तीनों विलम्ब के कारणों से अधिक महत्वपूर्ण चौथा कारण यह था कि अकबर को यह आशा थी कि मुगल सेना का जमाव देखकर राणा प्रताप स्वयं मित्रता कर लेगा। इसलिए वह मानसिंह को विशेष आदेश देकर आगरा चला गया था कि मांडलगढ़ में ठहर कर फिर आक्रमण करे। किन्तु जब दो महीने तक प्रताप ने मांडलगढ़ पर आक्रमण नहीं किया तो मानसिंह आगे बढ़ा। गोगुंदा होता हुआ वह बनास नदी कि किनारे मोलेला नामक गांव में जाकर रूका। प्रताप भी कुम्भलगढ़ से निकल कर हल्दीघाटी से आठ मील दूर लोहसिंह नामक गांव तक जा पहुंचा।

दोनों के सैन्य बल के बारे में भी विद्वानों में मतभेद है। ख्यातों के अनुसार मेवाड़ की सेना में 20,000 घुड़सवार थे और मुगल सेना 80,000, मुहणोत नैणसी के अनुसार मानसिंह की सेना 40,000 थी और प्रताप के पास 9–10 हजार सैनिक थे। टाड का मत है कि राणा के 22,000 सैनिकों ने युद्ध में भाग लिया जिनमें से 8 हजार मारे गये और 14,000 वापस लौट आये थे। युद्ध के मैदान में उपस्थित मुगल इतिहासकार बदायूनी और अन्य मुगल इतिहासकार मानसिंह के पास सिर्फ पांच हजार सवार बताते है। प्रताप के पास इन लेखकों के अनुसार सिर्फ, 3,000 सवार थे। सब आंकड़े डॉ. श्रीवास्तव ने अपनी पुस्तक 'अकबर महान' के पृष्ठ 201 पर दिये है। मानसिंह के पास तोपें थी मगर राणा के पास कोई तोप नहीं थी। दोनों ही पक्षों के पास निपुण हाथी थे। राणा की सेना पहाड़ियों के अन्दर थी और मानसिंह उसका बाहर हल्दीघाटी के मैदान में इंतजार कर रहा था। आखिरकार प्रताप को सुरक्षित स्थान छोड़कर मैदान में आना पड़ा। इस स्थान तक जाने के लिए एक बहुज संकड़े रास्ते से जाना पड़ता था जिसमें से एक समय में एक ही आदमी जा सकता था। मानसिंह ने अन्दर न जाकर समझदारी की।

16.4.4. युद्ध की घटनाएँ – मेवाड़ के भाग्य निर्णय का यह युद्ध एक दिन का था। डॉ. श्रीवास्तव का कहना है कि राणा ने 18 जून, 1576 का प्रातः काल दर्रे से निकल कर मुगल सेना पर आक्रमण किया। डॉ. गोपीनाथ युद्ध शुरू होने की तारीख 21 जून बताते है। वे अपनी तिथि के समर्थन में बदायूनी, अबुलफजल और जगन्नाथ राय अभिलेख का हवाला देते है।

प्रारम्भिक आक्रमण में प्रताप की सेना ने मुगलों की अग्रिम पंक्ति को धूल में मिला दिया और जगन्नाथ कछावा और जासफ खां को भाग कर पीछे शरण लेनी पड़ी दूसरा आक्रमण बाएं और दाहिने भाग पर हुआ और उसे भी हराकर पीछे हटा दिया। सांभर के लूनकरण की सेना जो बांये पक्ष में थी भेड़ों की तरह भाग गई। फतहपुर सीकरी के शेख मंसूर भी डर कर भाग गये।

राणा ने अब मुगलों के मध्य पर आक्रमण किया। यहीं से युद्ध का पलड़ा बदला। मानसिंह ने बड़ी वीरता से युद्ध किया। आपसी कटुता से यह युद्ध भीषण हो उठा था। दोनों तरफ द्वन्द्व युद्ध हो रहे थे। हाथियों के युद्ध में राणा की पराजय हुई क्योंकि उसके कई महावत गोली या तीर से मारे गये थे और खाली हाथियों पर मुगलों पर मुगलों ने अपने महावत कुदाकर अपना अधिकार कर लिया था। प्रताप का युद्ध में निपुण श्रेष्ठ हाथी 'रामप्रसाद' जिस पाने को अकबर बहुत बेचैन था, मुगलों के हाथ पड़ गया। अगर काव्य वंशावली और राज रत्नाकर में चारण कथा है कि चेतक भूखे चीते की तरह मानसिंह के हाथी के मस्तक पर जा कूदा। राणा के भाले के वार को मानसिंह ने होदे से झुककर बचा लिया। तभी माधोसिंह कछावा और अन्य मुगल सरदारों ने राणा पर धावा बोल दिया। यह कथा सत्य न हो, किन्तु मानसिंह और प्रताप का सामना अवश्य हुआ था। कई सरदारों से घिरा राणा तीरों से घायल हो गया था। उसके घोड़े की टांग से खून बराबर बह रहा था। यदि राणा ने कुछ सुरक्षित सैनिक इस समय के लिये रख दिये होते तो वह युद्ध अवश्य जीत जाता। राणा के सैनिक सुबह चार बजे से तैयार खड़े थे अतः थक गये थे।

उसी समय मुगल सुरक्षित सेना नायक महतर खां नगाड़े पीटता और अकबर के मैदान में आ पहुंचने की घोषणा करता राजपूतों पर टूट पड़ा। उसकी इस घोषणा से मुगल सेना में नया जोश आ गया और पीछे हटते हुए राजपूत घिरने लगे। राणा भी शत्रुओं से घिर गया था। उसी समय बड़ी सादड़ी के झाला बीड़ा ने स्वामीभक्ति से प्रेरित होकर राणा का राजकीय छत्र खींच लिया और अपने आप को राणा घोषित कर मानसिंह के सैनिकों पर झपटा। प्रताप पर दबाव कम हो

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

गया। वह हकीम सूर के साथ हल्दी घाटी के दर्रे में से होकर गोगुण्दा जा पहुंचा। झाला बीड़ा युद्ध में मारा गया। वह ऐसी ही मृत्यु के लिये लालायित था जहां अपने स्वामी की रक्षा के लिये अपने प्राण दे सके। उसके गिरते ही मेवाड़ी सेना ने पीठ फेर ली। मुगल सेना यकायक हारा हुआ युद्ध जीत गयी। उसमें पीछा करने की शक्ति नहीं थी युद्ध सुबह आठ बजे से दोपहर तक चला जिसमें मानसिंह की विजय हुई। इस युद्ध में 150 मुगल मारे गये और 300 से अधिक घायल हुए। राणा के 500 प्रसिद्ध सैनिक मारे गये। घायलों की संख्या दुगुनी थी।

प्रताप को मैदान से भागता देखकर दो मुगल सरदारों ने उसका पीछा किया। उनमें से एक शक्तिसिंह था जिसने चेतक के मरने पर अपना घोड़ा राणा को दे दिया। क्षमा मांगी और साथ हो लिया। इतिहासकार इस कथा को एक नाटकीय तत्वों से भरपूर कवि की अनोखी कल्पना मानते है क्योंकि शाही सेना के सरदारों के नाम में अबुलफजल ने शक्तिसिंह का नाम कहीं नहीं दिया डॉ. गोपीनाथ, डॉ. रघुवीरसिंह और श्री ओझा भी इस कथा को सच नहीं मानते।

16.4.5. परिणाम — इस युद्ध का सर्वाधिक महत्व इस बात में है कि गत अर्द्ध शताब्दी से चले आ रहे राजस्थान मुगल संघर्ष में पहली बार मुगल मेवाड़ को हरा न सके। मुगलों की निरन्तर विजयों से उनके अजेय होने का जो भ्रम भारतीय राजनैतिक क्षितिज में व्याप्त था उसे इस युद्ध ने ध्वस्त कर दिया। कतिपय इतिहासकारों ने इस युद्ध में प्रताप की हार बताई तथा युद्ध– क्षेत्र से भाग जाने की बात कही। लेकिन पर्शियन इतिहासकार बदायूँनी जो स्वयं युद्ध- क्षेत्र में मुगलों की ओर से लड़ने के लिए उपस्थित था उसकी पुस्तक के आलोचनात्मक अध्ययन से उपरोक्त कथन निर्मूल सिद्ध होता है। 'राजप्रशस्ति' 'राजप्रकाश' सूरखण्ड शिलालेख व 'जगदीश मंदिर प्रशस्ति' ने स्पष्ट रूप से प्रताप को विजयी माना है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि इस प्रकार के साधनों में अतिशयोक्तिपूर्ण वर्णन की सम्भावना रहती है परन्तु हार को विजय में परिणत कर दे इतनी नहीं। किसी भी राजस्थानी स्त्रोतों में पूर्ण पराजय को विजय में बदलने का उदाहरण नहीं मिलता। खानवा की हार को किसी ने न तो जीत कहा न ही अनिर्णायक युद्ध माना , न ही 1568 ई. में अकबर के चितौड़–अधिकार को नकारा है। अतः ये दोष उपर्युक्त प्रशास्तियों के निर्माता अथवा उत्कीर्णकर्ताओं पर भी नहीं लगाया जा सकता।

अगर मुगल विजयी होते तो मानसिंह व आसफखां को पारितोषिक मिलता। इसके विपरीत मुगल दरबार में उनकी उपस्थिति पर भी पाबन्दी लगा दी। यद्यपि यह आज्ञा कुछ समय पश्चात् वापिस ले ली गई परंतु इससे इतना तो निश्चित है कि युद्ध का संचालन एवं परिणाम आशा के अनुकूल नहीं रहा।

प्रताप के नेतृत्व में विश्वास की वृद्धि — इस युद्ध का अन्य परिणाम यह रहा कि इससे एक ओर प्रताप का स्वयं में आत्मविश्वास बढ़ा तो दूसरी ओर उसके नेतृत्व की जन–मानस में प्रगाढ़ आस्था। खानवा–युद्ध के पश्चात् ही भारत विदेशी आक्रमणकारियों का सामना करने के लिये नेतृत्व विहीन हो गया था। अब इस रिक्तता की पूर्ति प्रताप के रूप में हुई। इसीलिये राजस्थान में छोटे–छोटे राज्यों ने अपनी स्वतन्त्रता की रक्षा की आकांक्षा में प्रताप के नेतृत्व को स्वीकार किया। बांसवाड़ा, डूँगरपुर, ईडर, सिरोही, जालोर, बून्दी आदि सभी ने प्रताप से सन्धि सम्बन्ध स्थापित किये। अकबर प्रताप के एक संगठन को तोड़ता तो प्रताप दूसरा संगठन खड़ा कर देता। वह इस युद्ध के बाद शेष संघर्ष में कभी अकेला नहीं रहा। अगर मुगल ईडर के नारायण दास को प्रताप से अलग करता तो प्रताप जालोर के ताजखां व जोधपुर के चन्द्रसेन से सैनिक गठ–बन्धन कर लेता। मुगल सेनायें इनके विरूद्ध पहुँचतीं तो सिरोही प्रताप के साथ मुगल–विरोधी अभियान के लिए तैयार मिलता। इसी प्रकार डूँगरुपर , बांसवाड़ा बराबर प्रताप से सैनिक सन्धि में बंधे रहे।

नीति में परिवर्तन — हल्दीघाटी युद्ध का राजनैतिक ही नहीं अपितु प्रताप की युद्ध नीति पर भी महत्वपूर्ण प्रभाव रहा। इस युद्ध के अनुभव से प्रताप ने मुगल आक्रमणों का सामना करने के लिये त्रि–सूत्री युद्ध नीति अपनाई–

1. जनमानस का विशाल पैमाने पर सहयोग ,
2. मित्र राज्यों की सेनाओं से अपने–अपने स्थानों पर मुगल–विरोधी अभियान कराना , और
3. केवल मात्र छापामार युद्ध प्रणाली को अपनाना।

प्रताप ने स्वतन्त्रता की रक्षा का उत्तरदायित्व स्वयं अथवा राज्य के सैनिकों तक ही सीमित नहीं रखा। समस्त जनमानस को भी इस उच्च आदर्श के लिए प्ररित किया। उसकी प्रेरणा से ही राज्य का प्रत्येक नागरिक स्वतन्त्रता का सैनिक बन गया। यह बहुत ही आश्चर्यजनक है कि मुगलों के सब प्रकार के प्रलोभनों के बाद भी अकबर–प्रताप संघर्ष में एक भी व्यक्ति ने प्रताप का साथ नहीं छोड़ा। छापामार प्रणाली को इतना प्रभावशाली ढंग से अपनाया कि प्रताप हल्दीघाटी का युद्ध भी नहीं हारा और मुगल–मेवाड़ संघर्ष में वह अन्त में विजयी रहा।

गोगुन्दा में मुगल सेना की दुर्दशा – युद्ध स्थल से चलकर मुगल सेना ने गोगुन्दा में अपना पड़ाव डाला परन्तु प्रताप ने सुरक्षा एवं रसद साम्रगी की ऐसी स्थिति उत्पन्न कर दी कि मुगल सेना बन्दियों की तरह पड़ी रही। प्रताप ने पहाड़ी प्रदेश में पूरी नाकेबन्दी कर मुगलों का रसद मार्ग अवरूद्ध कर दिया। सैनिक खाद्य पदार्थ के अभाव में भूख से व्याकुल हो गये। मुगल पड़ाव की भयावह स्थिति का वर्णन बदायूनी के विवरण से भी स्पष्ट होता है। उसने लिखा है कि महाराणा के आकस्मिक आक्रमण से भयभीत होकर अमीरों ने गोगुन्दा की गलियों में व्यवधान खड़े कर दिये और नगर के चारों ओर खाई खुदवा दी ओर इतनी ऊँची दीवार बनवा दी कि कोई भी प्रताप की सेना का सवार उसको लांघ न सके। बदायूनी के अनुसार खाद्य सामग्री के अभाव ने सैनिकों के लिये और विकट समस्या पैदा कर दी। मेवाड़ी सेना के आक्रमण के भय से खाद्य–साम्रगी एकत्रित करने के लिए मुगल गोगुन्दा से बाहर आने का साहस नहीं कर सकते थे। उनको अपने ही जानवरों के मांस तथा आम जो उस क्षेत्र में विशेष होते थे उनको खा कर ही सन्तोष करना पड़ा । परंतु इसका स्वास्थ्य की दृष्टि से मुगल सैनिकों पर विपरीत प्रभाव पड़ने लगा और अनेक बीमार हो गये। अतः करीब तीन माह बाद ही सैनिकों को गोगुन्दा छोड़ना पड़ा।

अकबर के पुनः प्रयास – मुगल सेना के गोगुन्दा से लौटते ही अकबर 1576 ई. के अन्तिम महीनों में मेवाड़ में आया परन्तु उसको भी खाली हाथ लौटना पड़ा। उसके जाते ही प्रताप ने मेवाड़ के समतल प्रदेशों पर आक्रमण करना प्रारभं कर दिया अतः अकबर ने शाहबाज खां को अक्टूबर 1577 ई. में ससैन्य भेजा। यद्यपि वह कुम्भलगढ को लेने में सफल हुआ परन्तु प्रताप को पकड़ न सका। शाहबाज खां दुबारा दिसम्बर 1578 ई. में तथा नवम्बर 1579 ई. में तीसरी बार मेवाड़ में आया परन्तु प्रताप की छापामार युद्ध नीति ने इस सेना को इतना परेशान कर दिया कि सेना को असफल होकर लौटना पड़ा। 1580 ई में अब्दुर्रहीम खानखाना के नेतृत्व में मुगल सेना आई परन्तु प्रताप के पुत्र अमरसिंह ने अचानक आक्रमण किया और खानखाना के हरम को भी अपने अधिकार में ले लिया परन्तु प्रताप के आदेश से मुगल हरम को ससम्मान खानखाना के पास भेज दिया। इस विजय ने प्रताप की कीर्ति को चारों ओर प्रकाशित किया तथा प्रताप को आक्रमण रूख अपनाने की प्रेरणा भी मिली।

दिवेर–युद्ध – इस बीच कुम्भलगढ़ छोड़ने के बाद प्रताप ने अपनी सैनिक तैयारियों में कोई कमी नहीं आने दी। उसने अपना केन्द्र गोगुन्दा से उत्तर–पश्चिम में 16 कि. मी. दूर स्थित ढोलाण (ढोल) गाँव में स्थापित किया। अकबर को अन्य क्षेत्र में व्यस्त पाकर प्रताप ने अपना सैनिक अभियान पश्चिमी मेवाड़ के पहाड़ी क्षेत्रों में स्थित मुगल थानों और चौकियों पर आक्रमण कर उन्हें अपने अधिकार में लेना शुरू किया। उसने अपना सर्वप्रथम लक्ष्य दिवेर पर अधिकार करने का रखा। दिवेर कुम्भलगढ़ से 40 कि. मी. दूर स्थित है। यह स्थान भौगोलिक एवं सामरिक महत्व का था। सन् 1582 ई. में विजयादशमी के आसपास प्रताप ने दिवेर पर जबरदस्त आक्रमण किया। युद्ध में कुंअर अमरसिंह ने भी अद्वितीय शौर्य का प्रदर्शन किया। 'अमर काव्य' के अनुसार उसने, दिवेर थाने के मुखिया अकबर के काका सेरिमा सुल्तान खां पर भाले का ऐसा वार किया कि एक ही वार में सुल्तान खां एवं उसका घोड़ा मारा गया तथा उसके टोप व बख्तर के भी टुकड़े–टुकड़े हो गये। इस अप्रत्याशित आक्रमण तथा युद्ध में मेवाड़ की शानदार सफलता के कारण शेष मुगल सेनायें भाग खड़ी हुई। प्रताप ने उनका आमेर तक पीछा किया। दिवेर–विजय की ख्याति चारों ओर फैल गई और मुगल सैनिक अपने शेष थाने स्वयं खाली करके भागने लग गये। वास्तव में प्रताप के भावी जीवन के बहुत बड़े विजय अभियान का यह शुभारम्भ सिद्ध हुआ।

परिणाम – दिवेर के युद्ध में प्रताप को अभूतपूर्व सफलता प्राप्त हुई जिससे एक ओर मेवाड़ के सैनिकों तथा जनसाधारण में नये उत्साह का संचार हुआ तथा दूसरी ओर मेवाड़ में स्थित मुगल थानों में नियुक्त सैनिकों का मनोबल उसी अनुपात से गिरने लगा। इस युद्ध में प्रताप की रणनीति में क्रांतिकारी परिवर्तन कियां अब तक अपनाई गयी सुरक्षात्मक नीति का स्थान आक्रामक नीति ने ले लिया। इसके बाद प्रताप को मुड़कर नहीं देखना पड़ा। अब मेवाड़ के मुगल अधीन क्षेत्रों को मुक्त कराने में निरन्तर सफलता प्राप्त होती रही। कर्नल टॉड ने इस युद्ध को प्रताप के गौरव का प्रतीक माना तथा दिवेर को 'मेराथान' की संज्ञा दी है।

मुक्ति अभियान – दिवर विजय के पश्चात् प्रताप कुम्भलगढ़ पहुंचा। वहां पर सरलता से प्रताप का अधिकार हो गया। अब वह जावर की ओर बढ़ा तथा इसको अधिकार में करने के पश्चात् चावण्ड पहुंचा। डूंगरपुर, बांसवाड़ा को भी अधीनता स्वीकार करने के लिये बाध्य किया। इधर अकबर का ध्यान पुनः मेवाड़ की ओर गया। उसने 1584 ई. में जगन्नाथ कछवाड़ा को मेवाड़ में भेजा परन्तु उसे निष्फल लौटना पड़ा। इसके बाद प्रताप को अपने शेष जीवन के 12 वर्ष तक मुगल आक्रमणों का समाना नहीं करना पड़ा। इस अवधि में एक–एक करके माण्डलगढ़ एवं चित्तौड़ दुर्ग को छोड़ समस्त मेवाड़ पर प्रताप ने अधिकार कर लिया। चावण्ड में नयी राजधानी का निर्माण किया व राज्य की प्रशासनिक व आर्थिक व्यवस्था को सुचारू बनाया। साहित्य व कला के क्षेत्र में भी राज्य की आशातीत प्रगति हुई। चावण्ड में ही प्रताप का 19 जनवरी, 1597 ई. के दिन स्वर्गवास हुआ।

Jain Vishva Bharati Institute Deemed University, Ladnun

इस प्रकार लगभग पच्चीस वर्ष तक भारतीय राजनीतिक मंच पर महत्तपूर्ण भाग लेकर प्रताप एक ऐसी वीरगाथा का निर्माण कर गया जो देश व काल के स्वतंत्रता प्रेमियों को प्रेरणा देती रहेगी। यों प्रताप को एक राष्ट्रनायक कहा जाये तो अनुचित नहीं होगा। वह भारतीय संस्कृति की परम्परा का अक्षुण्ण प्रतीक माना गया है। उसका बलिदान, सहिष्णुता और आदर्शों के लिये त्याग, बलिदान, शासक एवं शामित के बीच सोहार्द एवं घनिष्ठतापूर्ण संबंध, नेतृत्व के गुण, नैतिकता, नीतिज्ञता एवं संयम से ओत–प्रोत, राष्ट्रीयता का उन्नायक, व्यवस्था–विकास एवं संगठन का आलोक स्तंभ प्रताप निश्चित ही वर्तमान में भी अनुकरणीय है।

क्या प्रताप ने अकबर से संधि न कर भूल की ? आधुनिक काल में कुछ इतिहासकारों ने प्रताप द्वारा अकबर की अधीनता स्वीकार न करने को एक भारी भूल बताया है, गोपीनाथ शर्मा का कहना है कि इस लम्बे संघर्ष में मेवाड़ की आर्थिक स्थिति खराब हो गई। इससे मेवाड़ को कोई राजनैतिक लाभ नहीं मिला क्योंकि जर्जरित आर्थिक दशा ने प्रताप के उत्तराधिकारी अमरसिंह की बास वर्ष ही मुगल सम्राट जहांगीर से संधि करने को बाध्य कर दिया। आर. पी. त्रिपाठी के अनुसार संधि की शर्तें भी लगभग वहीं थी जो अकबर ने विभिन्न शिष्टमण्डली द्वारा प्रताप के सामने रखी थीं। यदि प्रताप संधि की शर्तों को स्वीकार कर लेता तो प्रताप व अमरसिंह के काल में जो पचास वर्षीय संघर्ष चला और मेवाड़ सदैव के लिए पिछड़ गया, वह स्थिति नहीं आती। भारतीय एकता के नकारात्मक विरोध के कारण उसे सफलता नहीं मिली। इतना ही नहीं त्रिपाठी ने तो अकबर के आदर्शों को बहुत उच्च मानते हुए प्रताप के संघर्ष को ठीक नहीं माना है। उसमें मुगलों से वैवाहिक संबंध स्थापित करने की नीति को भी उचित ठहराया है क्योंकि तत्कालीन समाज में इसका विरोध नहीं हुआ और इसीलिये मेवाड़ इस संघर्ष में बिल्कुल अकेला रहा। अकेला रहने का त्रिपाठी ने एक कारग यह भी माना है कि मेवाड़ जब–जब भी शक्तिशाली हुआ तो पड़ोसी राज्यों को स्वतंत्रता का हनन हुआ और इसीलिये राजपूत राज्यों ने प्रताप का साथ देना ठीक नहीं समझा। यह अनावश्यक दीर्घ संघर्ष त्रिपाठी के अनुसार विघटनकारी, व्यक्तिगत अहंभाव एवं तुच्छ स्वार्थों के लिये था। अकबर के महानतम आदर्शों के प्रति विरोध प्रताप की एक भयंकर भूल थी। परन्तु आशीर्वादी लाल श्रीवास्तव ने त्रिपाठी के इस मत का खंडन करते हुये कहा कि अकबर से संधि न करने का दोष प्रताप का न होकर अकबर की हठधर्मी का था। प्रताप ने सम्मानित आधार पर हमेशा समझौता करना चाहा परन्तु अपमानजनक शर्तों के कारण यह संभव नहीं हुआ। यदि अबुलफजल पर विश्वास करें तो यह स्पष्ट हे कि प्रताप ने व्यक्तिगत दरबार में उपस्थित होने की बात को छोड़, समझौता करने में उत्साह दिखाया। अबकर द्वारा भेजे गये शिष्ट मण्डल के प्रति उसने सम्मान की भावना बताई। मानसिंह के स्वागत के समय अबुलफजल ने स्पष्ट लिखा है कि अकबर ने खिल्ल्त धारण की। भगवानदास के साथ प्रताप अपने लड़के को भी मुगल दरबार में भेजने को तैयार था और स्वयं ने कुछ समय पश्चात् दरबार में उपस्थित होने का आश्वासन दिया। इतना होते हुये भी अबकर ने संधि की शर्तों को स्वीकार नहीं किया, अतः श्रीवास्तव के अनुसार दोष प्रताप का न होकर अकबर का है। इतना लम्बा संघर्ष यदि मेवाड़ न करता तो कभी भी इतनी उदार शर्तें उसे नहीं मिल सकती थीं।

वास्तव में अकबर की वास्तविक नीति का ज्ञान इसी मे प्रकट होता है कि शांतिकाल में प्रताप पर चारों ओर से सैनिक दबाव डाले जा रहे थे, मेवाड़ के पूर्वी हिस्सों को अकबर ने मुस्लिम पदाधिकारियों को दे दिया या मेवाड़ से रुष्ट होकर आने वाले व्यक्तियों को सौंप दिया। यों उसने मेवाड़ को मित्रविहिन करने का पूर्ण प्रयास भी किया था। उसने ईडर डूँगरपुर, बांसवाड़ा व बून्दी पर सैनिक दबाव डालकर मेवाड़–राज्य से अलग करने का प्रयास किया। इसलिये श्रीवास्तव के मतानुसार त्रिपाठी का यह कथन कि, " यदि प्रताप वो ही शर्तें अकबर के सामने रखता जिन शर्तों पर जहाँगीर से अमरसिंह का समझौता हुआ है तो अकबर अवश्य स्वीकार कर लेता।" निराधार है क्योंकि अकबर हमेशा प्रताप की व्यक्तिगत उपस्थिति पर जोर देता रहा।

त्रिपाठी की यह मान्यता कि वैवाहिक सम्बन्धों को तत्कालीन राजपूत समाज में बुरा नहीं माना गया, श्रीवास्तव की यह भी बात ठीक नहीं है। उसका कहना है कि आधुनिक काल में भी जहाँ अन्तर्जातीय विवाह होते हैं, सामाजिक दृष्टि से अच्छे नहीं माने जाते हैं तो 16 वीं शताब्दी में जबकि सामाजिक बंधन कठोर थे इनको उपयुक्त मानना ठीक नहीं। वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित करने वाले राजपूत राज्यों ने भी यह बात प्रचारित की कि उन्होंने अपनी राजकुमारियों की शादी मुगल परिवारों से न कर उनके स्थान पर अन्य से कराई है। यों श्रीवास्तव के अनुसार आज भी यदि ऐसे विवाह नहीं माने जाते हैं तो उस समय उनको ठीक मानना उचित नहीं होता है।

त्रिपाठी का यह मत है कि " सिसोदियों के इस युद्ध में अन्य राजपूत राज्यों की कोई दिलचस्पी नहीं थी, उन्होंने या तो विरोधी रूप अपनाया या तटस्थ बने रहे।" परन्तु वास्तविक स्थिति इसके विपरीत है। इस पूरे संघर्ष काल में कोई भी क्षण ऐसा नहीं था जब प्रताप ने अकेले ही युद्ध लड़ा हो। मुगल सेना का सामना करने के लिए उसने हर बार संयुक्त मोर्चे स्थापित किये। श्रीराम

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

शर्मा का कथन है कि अकबर एक संगठन को तोड़ने का प्रयास करता तो प्रताप दूसरा संगठन खड़ा कर देता। इन छोटे–छोटे राज्यों को मुगल सेनाओं ने अनेक बार पदाक्रांत किया, किन्तु प्रताप से प्रेरणा प्राप्त कर अवसर आते ही अपने आपको स्वतन्त्र कर लेते। यदि मेवाड़ के उत्थान के कारण अपने अस्तित्व को खतरा था तो इन पड़ौस के छोटे–छोटे राज्यों को ही सबसे अधिक था। प्रताप का विरोध सर्वाधिक इन्हीं राज्यों में होना चाहिए था किन्तु प्रताप के सम्पूर्ण शासन काल में उसे हर सम्भव सहयोग इन राज्यों से ही मिलता रहा। इसी कारण मेवाड़ मुगलों का बारबार सामना कर सका। इन सब घटनाओं को ध्यान में रखते हुए श्रीवास्तव ने अकबर से समझौता न होने का उत्तरदायित्व प्रताप को न देकर अकबर पर डाला है। अकबर के प्रारम्भिक काल को देखा जाये तो उसकी विजयों के पीछे केवल साम्राज्यवादी लिप्सा थी। भारतीय एकता तथा राष्ट्रीयता के लिए उस समय कोई स्थान नहीं था। श्रीवास्तव का मत है कि यदि इस देश में सबको समान समझने और सभी जातियों को समान अवसर प्रदान करने की अकबर की धर्म–निरपेक्षता की नीति पूरे मुगल काल में अपनाई गई होती तो निश्चय ही आने वाली पीढ़ियाँ महाराणा प्रताप को भारतीय एकता में बाधक स्वीकार कर लेती, परन्तु ऐसा नहीं हुआ। श्रीवास्तव तो गोपीनाथ शर्मा के इस कथन से भी सहमत नहीं है कि आखिरकार राणा प्रताप के पुत्र अमरसिंह के समय में मेवाड़ को अपनी स्वतन्त्रता खोनी पड़ी और अगर राणा ने इसे 1572 ई. में स्वीकार कर लिया होता तो बहुत–से बलिदान बच गये होते। यह तर्क युक्ति संगत नहीं है। अमरसिंह ने 1615 ई. में जहाँगीर से जो सम्मानपूर्ण शर्तें प्राप्त की थीं वे राणा प्रताप के दीर्घ व दृढ़ संघर्ष तथा स्वयं अमरसिंह के 18 वर्षों के संघर्ष के कारण ही प्राप्त हो सकी थीं। इन बलिदानों के बिना मेवाड़ मुगलों से एक विशेष व्यवहार की आशा नहीं कर सकता था।

प्रताप का अगर कोई दोष था तो यही था कि वह अपनी स्वतन्त्रता के लिये लड़ रहा था। यदि वह सिद्धान्त स्वीकार कर लिया जाय कि एक शक्तिहीन राज्य को शक्तिशाली राज्य की अधीनता स्वीकार कर लेनी चाहिये तो आज भी एक ही शक्शिाली देश ही स्वतंत्र रह सकता है। अतः प्रताप के त्याग व बलिदान को कम आँकना ठीक नहीं है। जहाँ तक इस वीर के त्याग और बलिदान का प्रश्न है सभी इतिहासकार एकमत हैं कि प्रताप एक वीरगाथा का निर्माण कर गये जो देश व काल के स्वतन्त्रता प्रेमियों को प्रेरणा देती रहेगी।

आर. पी. त्रिपाठी ने प्रताप की नीति से असहमति बताते हुए भी स्वीकार किया है कि , '' प्रताप ने लगभग पच्चीस वर्ष तक भारतीय राजनैतिक मंच पर एक महत्वपूर्ण भाग लिया और अपनी अधिकांश प्रजा के मत का नेतृत्व किया। उसने अपने शौर्य, उदारता और अच्छे गुणों से जन–समुदाय का सौहार्द और श्रद्धा अर्जित कर ली थी। उसने अपनी कर्त्तव्यपरायणता से तथा सफलता से अपने सैनिकों को कर्त्तव्यारुढ़, प्रजा को आशावादी और शत्रु को भयातुर बनाया। एक सेनाध्यक्ष और जन नेता के रूप में वह अपने जमाने के लिए उपयुक्त था। उसकी मृत्यु ने हर प्रकार से एक युग की समाप्ति कर दी थी। प्रताप का नाम हमारे देश में स्वाभिमान और देश–गौरव के रक्षक के रूप में अमर है।''

डॉ. रघुबीरसिंह के मतानुसार ,'' प्रताप ने अंत तक अपना प्रण निभाया। उसकी दृढ़ता, धीरज, अडिग आत्मविश्वास तथा अनवरत प्रयत्न संसार के इतिहास में अनोखे और अनुकरणीय है।'' '' प्रताप की वीरगाथा ने भारतीय स्वतन्त्रता संग्राम को जो प्रेरणा दी उससे प्रताप की गिनती भारतीय राष्ट्र के पूजनीय स्वातन्त्रय वीरों में की जाने लगी और भारत की स्वाधीनता के बाद भी प्रताप का प्रभाव और महत्व किसी प्रकार कम नहीं हुआ, क्योंकि प्रताप एक ऐसी अनुपम वीरगाथा का निर्माण कर गया, जो आगे भी सभी देशकाल के स्वातन्त्रय साधकों को निरन्तर प्रेरणा देती रहेगी।''

गौ.ही.ओझा ने लिखा है कि ''प्रातःस्मरणीय हिन्दूपति वीर शिरोमणि महाराणा प्रतापसिंह का नाम राजपूताने के इतिहास में सबसे अधिक महत्वपूर्ण और गौरवास्पद है। राजपूताने के इतिहास को इतना उज्ज्वल और गौरवमय बनाने का श्रेय उसी को है। वह स्वदेशाभिमानी, स्वतंत्रता का पुजारी, रण–कुशल, स्वार्थ त्यागी, नीतिज्ञ, सच्चा वीर और उदार क्षत्रिय तथा कवि था। उसका आदर्श था, कि बापा रावल का वंशज किसी के आगे सिर नहीं झुकायेगा। स्वदेश प्रेम, स्वतन्त्रता और स्वदेशाभिमान उसके मूल मंत्र थे। उसको अपने वीर पूर्वजों के गौरव का गर्व था।वह ऐसे समय मेवाड़ की गद्दी पर बैठा तब कि उसकी राजधानी चित्तौड़ और प्रायः सारी समान भूमि पर मुसलमानों का अधिकार हो गया था। मेवाड़ के बड़े–बड़े सरदार भी पहले की लड़ाइयों में मारे जा चुके थे। ऐसी स्थिति में उसके विरूद्ध बादशाह अकबर ने उसको विध्वंस करने के लिये अपने सम्पूर्ण साम्राज्य का बुद्धिबल, बाहुबल और धनबल लगा दिया था। बहुत–से राजपूत राजा भी अकबर के ही सहायक बने हुये थे। यदि महाराणा चाहता तो वह भी उनकी तरह अकबर की अधीनता स्वीकार कर लेता तथा अपने वंश की पुत्री देकर साम्राज्य में एक प्रतिष्ठित पद पर आराम से रह सकता था, परंतु वह स्वतंत्रता का पुजारी केवल थोड़े–से स्वदेशभक्त और कर्त्तव्यपरायण राजपूतों और भीलों की सहायता से अपने देश की स्वतन्त्रता की रक्षा के लिये कटिबद्ध हो गया। उसकी वीरता रणकुशलता, कष्टसहिष्णुता और नीतिमत्ता अत्यन्त प्रशंसनीय और अनुकरगीय थी।''

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

यों प्रताप को एक राष्ट्रनायक कहा गया जाय तो अनुचित नहीं होगा। वह भारतीय संस्कृति की परम्परा का प्रतीक माना गया है। उसका बलिदान, सहिष्णुता और सिद्धान्तों के लिये त्याग आज भी अनुकरणीय है।

16.5. राणा प्रताप का मूंल्याकन :

राणा प्रताप के व्यक्तित्व के सम्बन्ध में डॉ. ओझा का कथन है कि ''महाराणा प्रताप स्वदेशाभिमानी, स्वतंत्रता का पुजारी, रणकुशल, स्वार्थत्यागी, नीतिज्ञ, दृढ़ प्रतिज्ञ, सच्चा वीर, उदार क्षत्रिय तथा कवि था। उसका आदर्श था कि बापा रावल का वंशज किसी के आगे सिर नहीं झुकायेगा। स्वदेश प्रेम, स्वतंत्रता तथा स्वदेश अभिमान उसके मूल मंत्र थे।'' इन्ही गुणों के कारण वह अकबर को जो उस समय का सबसे अधिक शक्तिशाली तथा ऐश्वर्य–सम्पन्न सम्राट था, अपने छोटे से राज्य के बल पर वर्षो तक छकाता रहा और उसके अधीन नहीं हुआ। प्रलोभन देकर राजपूत राजाओं और सरदारों को सेवक बनाने वाली अकबर की कूटनीति का यदि कोई उत्तर देने वाला था तो वह महाराणा प्रताप ही था।

राणा प्रताप के शासन काल में मेवाड़ की भौगोलिक सीमाओं में निरन्तर परिवर्तन होता रहा। जब वह गद्दी पर बैठा तो आधे से अधिक मेंवाड़ मुगलों के अधीन था उसके राज्याभिषेक के समय माण्डलगढ, चित्तौड़, बागौर, जहाजपुर, रूपला जैसे महत्वपूर्ण स्थान मुगल प्रभुत्व में थे। उसने मेवाड़ के खोये हुये प्रदेशों पर पुनः अपना अधिकार स्थापित किया। केवल चित्तौड़ और माण्डलगढ़ को वह मुगलों से वापिस लेने में असफल रहा जिसका दुःख उसे मृत्युपर्यन्त रहा।

प्रताप ने लगभग पच्चीस वर्ष तक भारतीय राजनीतिक रंगमंच पर महत्वपूर्ण भूमिका अदा की। उसने अपने शौर्य, साहस, उदारता और परिश्रम के बल पर जनता का स्नेह और श्रद्धा अर्जित कर ली थी। उसने अपनी कर्त्तव्य–निष्ठता से सैनिकों को कर्त्तव्य–परायण तथा शत्रु को भयातुर बनाया। वह अपने समय का निर्भीक सेनाध्यक्ष तथा लोकप्रिय जन नेता था। प्रताप का नाम हमारे देश में स्वाभिमान और देश–गौरव के रक्षक के रूप में सदा अमर रहेगा। प्रताप की मृत्यु के साथ एक युग की समाप्ति हो गई। इसमें सन्देह नहीं हल्दीघाटी के युद्ध में अदूरदर्शितापूर्ण नीति अपनाने के कारण उसे विनाशकारी पराजय का सामना करना पड़ा परन्तु समय की आवश्यकता को पहचानते हुए उसने बुद्धिमतापूर्ण नीति अपनाई। वह अपने को बचाकर एक ऐसे सुरक्षित स्थान पर ले गया जहां से वह अपनी शक्ति का निरन्तर संगठन कर शत्रु के दावों को विफल बना सका। उसके अचानक आक्रमण करने तथा शत्रु के मार्ग को अवरूद्ध करने की नीति की अपेक्षा नहीं की जा सकती। अपनी पर्वतीय सुरक्षात्मक युद्ध प्रणाली के कारण वह विशाल मुगल साम्राज्य की शक्ति का सफलतापूर्वक सामना कर सका। इतनी कठिनाइयां सहन करने पर भी उसने अकबर की तनिक भी अधीनता स्वीकार नहीं की। कहा जाता है कि अकबर को प्रताप की मृत्यु का समाचार लाहौर में मिला, जिसे सुन कर वह उदास और स्तब्ध–सा हो गया। सम्राट अकबर की यह दशा देखकर दरबारी अमीर आश्चर्यचकित रह गये। राणा की मृत्यु से तो सम्राट को प्रसन्नता होना चाहिये थी न कि उसे विक्षुब्ध होना चाहिये था। उस समय सम्राट के दरबार में उपस्थित चारण दुरसा आढ़ा। ने निम्न छप्पय कहा–

अस लेगो अणदाग, पाघ लेगो अणनामी।
गौ आडा गवडाय, जिको बहतो घुरवामी।।
नवरोजे नह गयो, न गौ आलसां नवल्ली।
न गौ झरोखां हेठ, जेठ दुनियाण दहल्ली।।
गहलोत राण जीती गयो, दसण मूंद रसणा डसी।
नीसास मूक भरिया नयण, तो मृत शाह प्रतापसी।।

इसका आशय है– हे गुहिलोत राणा प्रतापसिंह। तेरी मृत्यु पर शाह (सम्राट) ने दांतों के बीच जीभ दबाई और विश्वास के साथ के आंसू टपकाये, क्योंकि तूने अपने घोड़े को दाग नहीं लगने दिया, अपनी पगड़ी को किसी कि आगे नहीं झुकाया, तू अपने राज्य के धुरे को बांये कंधे से चलाता रहा, नौरोज में न गया, न आतसों (बादशाही डेरों) में गया, कभी शाही झरोखे के नीचे खड़ा न रहा और तेरा रौब दुनिया पर गालिब रहा था। अतएव तू सब तरह से जीत गया। श्रोता दरबारियों ने सोचा कि बादशाह इस पर अवश्य क्रुद्ध होगा। उनके सोच के विरूद्ध अकबर ने उसे पुरस्कृत किया और कहा कि इस कवि ने मेरे लिए भाव व्यक्त किये है। जीवन भर पराजित रहने पर भी राणा प्रताप अविजित ही रहा। इसलिए अकबर ने राणा प्रताप की मृत्यु पर यही कहा कि **'गहलोत राणा जीत गयो'।** अकबर के इस कथन का यही आशय था कि राणा प्रताप परास्त होने पर भी विजेता के समान ही है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

आधुनिक काल के कुछ इतिहासकारों का कथन है कि मुगलों के साथ संघर्ष की नीति अपनाकर राणा प्रताप ने जनता के हितों का बलिदान कर दिया। डॉ. गोपीनाथ शर्मा के अनुसार इस लम्बे संघर्ष से मेवाड़ की आर्थिक स्थिति खराब हो गई तथा मेवाड़ की परतन्त्रता की स्थिति समाप्त नही हो सकी अपितु कुछ समय के लिए स्थगित अवश्य हो गई। राणा प्रताप के पुत्र अमरसिंह को प्रताप की मृत्यु के बीस वर्ष बाद ही मुगल सम्राट जहांगीर से सन्धि करने के लिए बाध्य होना पड़ा। अतः यदि प्रताप मुगलों के प्रति मैत्री और सहयोग की नीति अपना लेता तो मेवाड़ का इतना विनाश न होता। प्रताप की नीति की यह समीक्षा राजनीतिक दृष्टि से तो उपयुक्त हो सकती है परन्तु प्रताप के अदर्शो के सम्मुख इस प्रकार के औचित्य का कोई मूल्य नहीं रहता। इसके विपरीत अमरसिंह स्वयं अपने पिता के समान योग्य तथा आत्म–विश्वासी नहीं था। इसी कारण उसे मुगलों के साथ संधि करनी पड़ी।

राणा प्रताप एक स्वतंत्र सेनानी तथा वीर योद्धा ही नहीं था अपितु एक कुशल प्रशासक, धर्म रक्षक तथा कला एवं साहित्य का प्रेमी भी था। यद्यपि प्रताप का सारा शासनकाल मुगलों से संघर्ष करने में अथवा मुगलों के आक्रमणों से अपना बचाव करने की व्यवस्था करने में ही बीता था तथापि सांस्कृतिक गतिविधियों की ओर भी वह उदासीन नहीं रहा। प्रताप के स्थायी निवास के बाद चावण्ड कला तथा साहित्य का महत्वपूर्ण केन्द्र बन गया। चावण्ड में बने राज महलों की निर्माण शैली पर राणा कुम्भा तथा उदयसिंह की स्थापत्य शैली का प्रभाव दिखाई देता है। प्रताप ने कई चित्रकारों को राज्याश्रय प्रदान किया। उन्होंने राजस्थानी 'चावण्ड चित्र शैली' को जन्म दिया। इस शैली को मेवाड़ी चित्रकला का प्रारम्भिक स्वरूप कहा जा सकता है। प्रताप के दरबार में कई विद्वान् तथा विख्यात् चारण कवि भी थे। कवि दुरसा आढ़ा तथा माला सांदू ने प्रताप की प्रशंसा में उच्च कोटि की काव्य रचना की थी। महाराणा प्रताप स्वयं संस्कृत का विद्वान् एंव कवि था। उसने मथुरा के **मिश्र चक्रपाती** को अपने यहां आश्रय प्रदान किया । उसने राणा प्रताप के शासनकाल में अनेक ग्रंथ रचे।

स्वतंत्रता की ज्योति प्रज्जवलित करने वाला प्रताप अपने शासनकाल में ही नहीं, अपितु अपनी मृत्यु के बाद भी कई युगों तक पूर्णतया उपेक्षित ही रहा। उसके समकालीन कवि माला सादु, दुरसा, आढ़ा, पृथ्वीराज राठौड़ तथा रहीम के कुछ छन्द तथा समकालीन फारसी ऐतिहासिक ग्रन्थों में इने–गिने कुछ उल्लेखों के अतिरिक्त प्रताप के सम्बन्ध में कोई समकालीन प्रामाणिक आधार–सामग्री उपलब्ध नहीं है। समय के साथ–साथ धीरे–धीरे प्रताप की जीवनी को लेकर अनेक कल्पनापूर्वक कथानक, आख्यायिकाओं तथा भावात्मक गीतों की रचना होने लगी। परिणामस्वरूप कुछ समय पश्चात् प्रताप के शासनकाल का ऐंतिहासिक स्वरूप ही बदल गया। राणा प्रताप के त्याग एवं स्वतंत्रता के लिए संघर्षपूर्ण जीवन की यश–गाथा आज सारे देश में व्याप्त है। अनेक साहित्यकारों ने प्रताप के जीवन–प्रसंगों को लेकर विभिन्न भाषाओं में नाटक, उपन्यास, काव्य और कहानियों की रचना की है। इस प्रकार राणा प्रताप की वीर–गाथा भारत के विभिन्न भागों के जन–समूह में फैल गई और प्रताप भारत की स्वाधीनता का प्रतीक बन गया। हालांकि कुछ इतिहासकारों का कहना है कि राणा प्रताप के समय मे आज के अर्थ में राष्ट्रीय भावना विद्यमान नहीं थी तथापि स्वतंत्र भारत में भी प्रताप के नाम का प्रभाव तथा महत्व कम नहीं हुआ है। ''जब तक हिन्दू जाति जीवित रहेगी राणा प्रताप ही था जिसने वीर एवं कूटनीतिज्ञ मुगल सम्राठ से जीवन पर्यन्त लोहा लिया और मेवाड़–भूमि लोहा लिया और मेवाड़–भूमि की स्वतंत्रता का संग्राम बड़ी कठिनाइयों के बावजूद भी जारी रखा। यही कारण है कि आज चाहे महाराणा प्रताप हमारे मध्य नहीं है परन्तु उनकी यश–चन्द्रिका से आज भी समस्त भू–लोक आलोकित हो रहा है।

16.6 बोध प्रश्न :

प्रश्न 1 हल्दीघाटी का युद्ध कब हुआ?

अ. 1576 ई.   ब. 1577 ई.   स. 1578 ई.   द. 1579 ई.

उत्तर –..

प्रश्न 2 प्रताप की समस्याएं कौन–सी थी?

उत्तर – ....

प्रश्न 3 मुगलों से राणा प्रताप के सम्बन्धों को विवेचित कीजिए।

उत्तर – ....

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

इकाई – 17
सवाई जयसिंह द्वितीय

संरचना

17.0 उद्देश्य
17.1 प्रारम्भिक जीवन
17.2 राज्यारोहण और प्रारम्भिक सुधार
17.3 सवाई जयसिंह द्वितीय की सेवाएँ
17.4 सवाई जयसिंह का राज्य विस्तार
17.5 सवाई जयसिंह के अंतिम दिन
17.6 मूल्यांकन
    17.6.1 सवाई जयसिंह का विधानुराग
    17.6.2 स्थापत्य
    17.6.3 समाज सुधार के कार्य
17.7 सारांश
17.8 बोध प्रश्न

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

17.0 उद्देश्य :

इस इकाई में सवाई राजा जयसिंह की महत्त्वपूर्ण सेवाओं को महत्त्वपूर्ण बिन्दुओं के माध्यम से समझाया गया है तथा साथ ही सूबेदारी के पद पर रहते हुए जयसिंह द्वितीय के महत्त्वपूर्ण योगदान को भी विवेचित किया गया है।

17.1. प्रारम्भिक जीवन :

अगस्त, 1667 ई. में मिर्जा राजा जयसिंह की मृत्यु के बाद उसका पुत्र रामसिंह आमेर के सिंहासन पर बैठा। शिवाजी के आगरा से भाग जाने की घटना से ही औरंजेब रामसिंह से नाराज था। अतः आमेर का शासक बन जाने के बाद ही उसको सामान्य मनसब ही दिया गया और उसे अपनी राजाधानी से काफी दूर आसाम और अफगानिस्तान में नियुक्त किया जाता रहा। 1688 ई. में रामसिंह की मृत्यु के बाद बिशनसिंह आमेर के सिंहासन पर बैठा। उसे और भी कम मनसब प्रदान किया गया। उसकी मृत्यु के बाद उसका बड़ा लड़का जयसिंह द्वितीय (सवाई जयसिंह) आमेर का शासक बना।

जयसिंह द्वितीय का जन्म 3 दिसम्बर, 1688 ई. को हुआ था। कहा जाता है कि जब सात–आठ वर्ष के जयसिंह को औरंगजेब से मिलवाया गया तब औरंगजेब ने इसमें प्रथम जयसिंह की तुलना में वीरता और वाक्पटुता का विशेष मात्रा में पाकर इसका नाम 'सवाई जयसिंह' रख दिया, अन्यथा इसका मूल नाम विजयसिंह था और छोटे भाई का नाम जयसिंह था। कालान्तर में बड़ा भाई सवाई जयसिंह के नाम से और छोटा भाई विजयसिंह के नाम से पुकारा जाने लगा। पता नहीं औरंगजेब ने किस वजह से बालक जयसिंह को तत्काल शाही सेवा में भेजने के लिए उसके पिता बिशनसिंह पर दबाव डालना शुरू कर दिया। कुछ समय तक तो बिशनसिंह बहाना बनाता रहा परन्तु अन्त में वह सम्राट औरंगजेब की आज्ञा को टाल नहीं सका। 1698 ई. में विवश होकर बिशनसिंह का अपने दस वर्षीय पुत्र सवाई जससिंह को औरंगजेब की सेवा में दक्षिण भेजना पड़ा। परन्तु कुछ महीने बाद ही बिशनसिंह ने शादी की ओट में सवाई जयसिंह को वापस आमेर बुलवा लिया।

17.2 राज्यारोहण और प्रारम्भिक सुधार :

जयसिंह के आमेर आने के कुछ दिनों बाद ही उसके पिता बिशनसिंह की मृत्यु हो गई। अतः 1700 ई. में बारह वर्षीय जयसिंह द्वितीय को आमरे राज्य का भार सम्भालना पड़ा। औरंगजेब से आमेर का टीका मिलते समय सवाई जयसिंह को केवल 2000 जात व सरकार व मनसब दिया गया। इसके स्पष्ट है कि औरंगजेब अभी तक आमेर के कछवाहों से अप्रसन्न था। औरंगजेब ने जयसिंह के राज्याभिषेक के कुछ दिनों बाद ही उसे दक्षिण में आने से फरमान भिजवाने शुरू कर दिये परन्तु जयसिंह अपने राज्य की आन्तरिक व्यवस्था को ठीक करने को लिये लगभग डेढ़ वर्ष तक आमेर मे ही बना रहा।

17.3. सवाई जयसिंह द्वितीय की सेवाएँ :

पिछली सात पीढ़ियों से आमेर के कछवाहा शासकों को मुगल साम्राज्य की सेवा में अपने राज्य से बाहर रहना पड़ा और उनकी अनुपस्थिति में स्थानीय बहुत शक्ति–सम्पन्न बन चुके थे जिसकी वजह से राज्य की सैनिक तथा शासन–व्यवस्था सुचारू रूप से नहीं चल रही। नरूका सामन्तों की गतिविधियों से कुछ क्षेत्रों में शान्ति और व्यवस्था कायम की। इसके बाद उसने सैनिक व्यवस्था तथा राज्य की शासन–व्यवस्था में आवश्यक सुधार किये। इस अवधि में उसने अपना विवाह भी कर लिया। इस बीच औरंगजेब उसे बार–बार दक्षिण में उपस्थित होने के आदेश भिजवाता रहा। इसलिए उसे आमेर से प्रस्थान करना पड़ा। अक्टूबर, 1701 ई. में वह औरंगजेब की सेवा में बुरहानपुर पहुंच गया।

दक्षिण में– दक्षिण भारत में औरंगजेब मराठों के विरुद्ध प्राणघातक संघर्ष में उलझा हुआ था और अपने इस प्रयास में वह उत्तर भारत के सभी साधनों को झोंकने में लगा हुआ था। दक्षिण पहुंचते ही जयसिहं को पहले तो शाहजादे बेदारबख्त के साथ पन्हाला दुर्ग की रक्षा के लिये नियुक्त किया गया और कुछ दिनों बाद औरंगजेब ने उसको अपने पास बुला लिया और खेलना के दुर्ग को जीतने के काम पर लगा दिया। औरंगजेब ने उसको अपने पास बुला लिया और खेलना के दुर्ग को जीतने के काम पर लगा दिया। औरंगजेब स्वयं खेलना के दुर्ग की घेराबन्दी का काम देख रहा था। सवाई जयसिंह ने मराठों को काफी परेशान किया और उनकी मोर्चाबन्दी को तोड़ दिया, यद्यपि इस काम में उसे अपने अनेक सैनिकों तथा सरदारों से हाथ धोना पड़ा। औरंगजेब उसकी वीरता से अत्यधिक प्रसन्न हुआ और जयसिंह के मनसब को बढ़ाकर 2000 जात तथा 2000 सवार कर दिया।

मालवा का नायब सूबेदारी– खेलना अभियान के बाद सवाई जयसिंह को मालवा का नायब सूबेदार नियुक्त किया गया। बेदारबख्त सूबेदार था, परन्तु दक्षिण की समस्याओं में फंसे रहने के कारण वह मालवा की तरफ अधिक ध्यान नहीं दे पा रहा था। जयसिंह ने सफलतापूर्वक मालवा प्रान्त की शासन–व्यवस्था को चलाया। उसने अपनी प्राशासनिक तथा सैनिक योग्यता का परिचय देकर मुगल–व्यवस्था में अपना एक विशिष्ट स्थान बना लिया। इसके अलावा, उसे मराठों को पराजित करने और उनसे सम्पर्क बढ़ाने का भी अवसर मिला। कुछ अवसरों पर उसने मराठों और मुगलों के मध्य मध्यस्थता का भी काम किया जिसके परिणामस्वरूप शाहू तथा अन्य मराठा सरदारों के साथ उसके मैत्रीपूर्ण सम्बन्धों का विकास हुआ, जो आगे चलकर उसके लिये लाभप्रद सिद्ध हुए। इस अवधि में जयसिंह को मुगलों की निर्बलता का अध्ययन करने का भी अवसर मिला। यह अनुभव भी उसके लिये लाभप्रद रहा।

उत्तराधिकार–संघर्ष और जयसिंह– 1707 ई. में औरंगजेब की मृत्यु के बाद उसके पुत्रों मे उत्तराधिकार–संघर्ष छिड़ गया। औरंगजेब का सबसे छोटा पुत्र कामबख्श दक्षिण में ही बना रहा। उसका विचार दक्षिण भारत में ही अपने लिए एक स्वतंत्र राज्य का निर्माण करना था। अतः उत्तर भारत में यह संघर्ष बड़े पुत्र मुअज्जम (बहादुरशाह) और उससे छोटे पुत्र आजम के मध्य लड़ा गया। आजम इस समय दक्षिण में था और जयसिंह भी दक्षिण में था। अतः जयसिंह को विवश होकर आजम का साथ देना पड़ा, जो आगे चलकर उसके लिए अस्थाई तौर पर दुर्भाग्य का कारण बना क्योंकि उसका छोटा महत्वाकांक्षी भाई विजयसिंह, जो आमेर का शासक बनना चाहता था, ने इस संघर्ष में मुअज्जम का साथ दिया। 8 जून, 1707 ई. को जाजऊ के मैदान पर दोनों भाइयों में निर्णायक युद्ध लड़ा गया, जिसमें आजम परास्त हुआ और युद्ध में मारा गया। यद्यपि युद्ध शुरू होने के कुछ घण्टों बाद ही सवाई जयसिंह, मुअज्जम के पक्ष में जा मिला था, फिर भी मुअज्जम को उससे असन्तोष बना रहा। मुअज्जम 'बहादुरशाह' के नाम से मुगल सिंहासन पर बैठा।

जयसिंह की राजच्युति– जाजऊ से बहादुरशाह आमेर आया और उसने सवाई जयसिंह को दण्डित करने की दृष्टि से उसके छोटे भाई विजयसिंह को आमेर का शासक घोषित कर दिया। अपनी राजच्युति के कारण जयसिंह अब एक मुगल मनसबदार मात्र रह गया। इसके बाद बहादुरशाह कामबख्श से निपटने के लिए दक्षिण की तरफ चल पड़ा। आमेर का राज्य पुनः प्राप्त करने के लिये सवाई जयसिंह भी उसके साथ दक्षिण की तरफ गया। उसे विश्वास था कि बहादुरशाह का क्रोध शान्त होते ही उसे आमेर का राज्य वापिस मिल जायेगा। रास्ते में जोधपुर का अजीतसिंह भी जयसिंह के साथ हो गया और मेड़ता में दोनों ने बहादुरशाह से भेंटकर आमेर का राज्य पुनः सवाई जयसिंह को लौटाने की प्रार्थना की, जिसे सम्राट ने अस्वीकार कर दिया।

मेवाड़, मारवाड़ और आमेर का संयुक्त मोर्चा– मण्डलेश्वर तक जयसिंह और अजीतसिंह, बहादुरशाह के साथ–साथ चलते रहे। परन्तु जब उन्हें बादशाह की तरफ से किसी प्रकार का आश्वासन न मिला तो यहां से दोनों राजा चुपचाप

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

मेवाड़ के महाराणा अमरसिंह द्वितीय से मिलने उदयपुर चले गये। जब बहादुरशाह को इसकी जानकारी मिली तो उसने महाराणा को लिख भेजा कि यदि दोनों राजा दरबार में उपस्थित होकर क्षमायाचना करें तो उनके राज्य फिर से उन्हें लौटा दिये जायेंगे। परन्तु तीनों राजपूत राजाओं ने मुगलों से टक्कर लेने का निश्चय कर लिया। तीनों की संयुक्त सेनाएं पहले जोधपुर पहुंची और जुलाई, 1708 ई. में अजीतसिंह को जोधपुर का अधिकार दिलवाया। इसके बाद वे आमेर की तरफ बढ़ी। विजयसिंह और मुगल फौजदार को परास्त करके आमेर से खदेड़ दिया गया और सवाई जयसिंह पुनः आमेर के सिंहासन पर बैठा गया। मेवात के मुगल सूबेदार ने थोड़े दिनों तक आमेर राज्य में लूटखसोट की परन्तु जयसिंह ने उसे शीघ्र ही खदेड़ कर अपनी सत्ता को मजबूत बना लिया।

मेवाड़, मारवाड और आमेर के शासकों ने जब संयुक्त रूप में मुगलों से लडने की योजना बनवाई थी, उस अवसर पर आपसी सम्बन्धों को मजबूत बनाने के लिए मेवाड़ के महाराणा ने अपनी पुत्री चन्द्रकुंवरी का विवाह जयसिंह के साथ इस शर्त पर कर दिया कि चन्द्रकुंवरी से पैदा होने वाला पुत्र आमेर राज्य का अधिकारी होगा। जयसिंह ने यह शर्त मानकर भावी गृह–युद्ध तथा रजपूताने पर मराठों के प्रभाव का मार्ग प्रशस्त कर दिया। जौधपुर पर अधिकार हो जाने के बाद अजीतसिंह ने भी अपनी पुत्र सूरजकुंवर का विवाह जयसिंह से कर दिया। इससे थोड़े दिनों तक इन राज्यों में आपसी एकता बनी रही।

बहादुरशाह द्वारा समझौते का प्रयास– दक्षिण में जाने के बाद बहादुरशाह को कामबख्श की तरफ से युद्ध की तैयारी के समाचार मिले। 13 जनवरी, 1709 ई. को दोनों के मध्य हैदराबाद के निकट युद्ध लड़ा गया जिसमें कामबख्श मारा गया। कामबख्श से निपटकर बहादुरशाह जब वापस लौटा तो उसे सिक्खों के विद्रोह का सामना करना पड़ा। उसने अनुभव किया कि राजपूतों की सहायता के बिना सिक्खों को दबाना असम्भव है। अतः उसने सवाई जयसिंह को आमेर का शासक स्वीकार कर लिया। परन्तु जयसिंह इससे सन्तुष्ट नहीं हुआ। वह अपने पद के अनुरूप मनसब तथा साम्राज्य में महत्वपूर्ण पद चाहता था। इसी बीच, 1712 ई. में बहादुरशाह की मृत्यु हो गई।

मालवा की सूबेदारी– बहादुरशाह के उत्तराधिकारी जहांदारशाह तथा बाद में फर्रूखसियर ने भी जयसिंह को मनाने का प्रयास जारी रखा। इस समय मालवा की स्थिति अत्यधिक नाजुक बन चुकी थी। एक तरफ तो इनायत खां और दिलेरखां के नेतृत्व में अफगानों ने विद्रोह कर रखा था, और दूसरी तरफ, मराठे नर्मदा नही को पारकर उत्तर भारत की ओर बढ़ने का प्रयास कर रहे थे। अतः 1713 ई. में सम्राट फर्रूखसियर ने सवाई जयसिंह को सात हजार का मनसब प्रदान कर उसे मालवा का सूबेदार नियुक्त किया। जयसिंह ने सूबेदारी का पद सम्भालते ही छत्रसाल बुन्देला तथा बुद्धसिंह हाड़ा के सहयोग से अफगान विद्रोहियों को दबाना आरम्भ कर दिया। इनायतखां और दिलेरखां को स्थान–स्थान पर पराजित कर उनकी शक्ति को कुचल दिया गया। स्थानीय विद्रोही सामन्तों का भी दमन किया गया। 1715 ई. के अन्त में जब मराठों ने नर्मदा को पार कर लिया तो जयसिंह तेजी के साथ उस तरफ बढ़ा और महेश्वर के निकट पिलसुद नामक स्थान पर बुरी तरह से पराजित किया। जयसिंह ने मराठों के मार्गों की सख्त नाकेबन्दी की और उनके नेता कान्होजी भोंसले और खाण्डेराव दाभादे आदि को नर्मदा पार खदेड़ दिया। इस प्रकार, अपनी प्रथम सूबेदारी के काल में जयसिंह ने अफगानों तथा मराठों को दबाये रखा।

जाटों का दमन– उधर दिल्ली में राजनीतिक स्थिति तेजी से बदलती जा रही थी। एक तरफ तो फर्रूखसियर और सैय्यद बन्धुओं के बीच आपसी कटुता बढ़ती जा रही थी और दूसरी तरफ दिल्ली और आगरा के बीच युमना के दक्षिणी प्रदेश में चूड़ामण के नेतृत्व में जाटों के उपद्रव बढते जा रहे थे। अतः फर्रूखसियर ने जयसिंह को मालवा से बुलवा भेजा ओर उसे जाटों का दमन करने को कहा। इससे जयसिंह का प्रसन्नता की हुई क्योंकि आमेर के कछवाहा शासक अपने निकट पूर्व में जाटों की इस बढ़ती हुई शक्ति को कुचलना चाहते थे और इस क्षेत्र के कुछ परगनों को अपने राज्य में मिलाने की लालसा भी रखते थे। जयसिंह ने रूपराम धायाभाई को मालवा का नायब सूबेदार बनाकर भेज दिया और अपनी तथा शाही सेना के साथ चूड़ामण जाट के विरूद्ध चल पड़ा। उसने जाट नेता का निरन्तर पीछा किया और थून के किले में जा घेरा। अन्त मे चूड़ामण को सन्धि के लिये विवश होना पड़ा।

उधर जब मालवा में मराठों के धावे बढ़ने लगे तो फर्रूखसियर ने पहले मुहम्मद अमीनखां को और उसके बाद निजाम–उल–मुल्क को क्रमशः मालवा का सूबेदार नियुक्त किया। इसी समय सैय्यदों ने मराठों के साथ मैत्री कर ली। मराठों की सहायता से फर्रूखसियर को सिंहासन से हटाकर रफी–उद–दाराजात को बादशाह बनाया गया। इससे जयसिंह की स्थिति संकटप्रद बन गई क्योंकि वह फर्रूखसियर का समर्थक था। लेकिन जोधपुर के अजीतसिंह की मध्यस्थता से सैय्यदों और जयसिंह में पुनः अच्छे सम्बन्ध कायम हो गये। जब मुहम्मदशाह सम्राट बना तो 1772 ई. में जयसिंह को पुनः जाटों का

दमन करने का काम सौंपा गया। चूड़ामण की मृत्यु के बाद उसके पुत्र मोकम ने मुगलों का विरोध जारी रखा। जयसिंह ने चूड़ामण के भतीजे बदनसिंह को अपनी तरफ मिला लिया और उसकी सहायता से मोकम का दमन जारी रखा। अन्त में मोकम जोधपुर की तरफ चला गया और जाटों के उपद्रव शान्त हो गये। बदनसिंह को जाटों का नेता मान लिया गया और उसे 'राजा' की पदवी दी गई। मुहम्मदशाह ने जयसिंह की उपलब्धियों से प्रसन्न होकर उसे 'राजराजेश्वर श्री राजाधिराज सवाई' की उपाधि से सम्मानित किया।

मालवा की दूसरी बार सूबेदारी– अपनी प्रथम सूबेदारी के बाद सवाई जयसिंह लगभग 12 वर्ष तक आमेर में ही रहा। इस अवधि में मालवा की स्थिति दिन–प्रतिदिन बिगड़ती गई। मराठों का आतंक बढ़ता ही गया। 1723 ई. के प्रारम्भ में पेशवा बाजीराव प्रथम स्वयं मालवा में आ धमका और निजाम–उल–हक से भेंट की। निजाम–उल–मुल्क एक महत्वाकांक्षी मुगल सेनानायक था और वह दक्षिण में अपने लिए एक स्वतंत्र राज्य की स्थापना करना चाहता था। अतः उसने उस समय तो मराठों को मालवा और गुजरात में छूट देने का निश्चय कर लिया, परन्तु बाद में पेशवा के विरूद्ध षड्यंत्रों में लिप्त हो गया। 1728 ई. में पेशवा बाजीराव ने पालखेद नामक स्थान पर निजाम को चारों ओर से घेरकर सन्धि करने के लिये विवश कर दिया। इस सन्धि से मराठों को बरार और खानदेश से उत्तर की ओर जाने का मार्ग मिल गया।

उधर मालवा में सूबेदार गिरधर बहादुर और उसके भाई दयाबहादुर ने मराठों का डटकर सामना किया। परन्तु नवम्बर, 1728 ई. में अमझेरा नामक स्थान पर लड़े गये युद्ध में गिरधर बहादुर अपने अनेक बन्धु–मित्रों सहित मारा गया। इस विजय से मराठों को मालवा में लूट–लसोट का मार्ग मिल गया। मालवा के दक्षिणी भाग में मराठों ने अपनी छावनियां जमा ली थी, जहां से वे मालवा में घुसकर लूट–खसोट करते थे। ऐसी स्थिति में अक्टूबर, 1729 ई. में सम्राट मुहम्मदशाह ने सवाई जयसिंह को दूसरी बार मालवा का सूबेदार नियुक्त किया। जयसिंह मालवा की विषम स्थिति से परिचित था। वह इस समस्या को सैनिक शक्ति के द्वारा हल करने के पक्ष में नहीं था। उसने मौजूदा स्थिति में मराठों व मुगल सरकार के बीच एक ऐसे समझौते का प्रयास किया जो मराठा आकांक्षाओं की पूर्ति के साथ–साथ मुगल सम्राट के सार्वभौमिक अधिकार की रक्षा भी कर सके। जयसिंह चाहता था कि शाहू के दत्तक पुत्र कुशलसिंह को मालवा में मराठा आक्रमण को तुरन्त रोकने की शर्त पर, दस लाख रूपये वार्षिक आय की जागीर दे दी जाय। शाहू ने इस प्रस्ताव को स्वीकार कर लिया, यद्यपि यह प्रस्ताव पेशवा बाजीराव को उत्तर भारत की प्रसार नीति के विरूद्ध था। बाद में जयसिंह ने मराठों को मालवा और गुजरात की चौथ के बदले में क्रमश' 11 लाख और 15 लाख रूपये वार्षिक देने का प्रस्ताव भी रखा। जयसिंह और मराठों के बीच समझौते की बात अन्तिम दौर में ही थी कि मुगल दरबार में कमरूद्दीन खां, सादत खां, निजाम–उल–मुल्क जैसे स्वार्थी सरदारों ने इस समझौते को रद्द करवा दिया। उनके षड्यंत्रों के परिणामस्वरूप सितम्बर, 1730 ई. मे जयसिंह को मालवा का सबेदार नियुक्त किया गया।

मालवा की तीसरी बार सूबेदारी– मालवा के नये सूबेदार मुहम्मद बंगश को मराठों के विरूद्ध नाम मात्र की सफलता भी नहीं मिल पाई। जिस प्रकार, 1729 ई. में बुन्देलखण्ड में उसे मराठों के हाथों परास्त होना पड़ा था, ठीक वैसे ही अब मालवा में भी उसे मराठों के हाथों पराजित होना पड़ा था, परिणास्वरूप, 1732 ई. में उसे वापस बुला लिया गया और सवाई जयसिंह को तीसरी बार मालवा का सूबेदार नियुक्त किया गया।

जयसिंह ने मालवा में मराठों को रोकने के लिये मेवाड़ राज्य से भी सैनिक सहयोग लेने का निश्चय किया और दस सम्बन्ध में दोनों के बीच एक समझौता भी हो गया। परन्तु इसको कार्यान्वित किया जा सकता उससे पहले ही गुजरात की तरफ से मल्हार राव होल्कर और राणोजी सिन्धिया ने मालवा मे प्रवेश किया और मन्दसौर के निकट उन्होंने जयसिंह को चारो तरफ से घेर लिया। विवश जयसिंह को सन्धि करनी पड़। उस्को मराठों को 6 लाख रूपये नकद तथा मालवा के 28 परगनों की वसूली देना स्वीकार करना पड़ा। इसके बाद 18 मार्च, 1733 ई. को मराठों ने मालवा को छोड़ दिया। इस घटना के बाद सवाई जयसिंह भी अपनी राजधानी लौट आया क्योंकि राजपूताना में उसकी उपस्थिति अधिक जरूरी हो गई थी।

जयसिंह और मराठे– 1720 में 30 तक का समय जयसिंह के लिये अभूतपूर्व ख्याति और प्रभाव का समय था। लेकिन इसके साथ ही मराठों के उत्तर में बढ़ते हुए प्रभाव ने जयसिंह को चिंतित रखा। मंदसौर से मराठों का धन वसूल करना, मालवा व गुजरात में अपना प्रभाव बढ़ाना तथा कोटा व मारवाड़ के आन्तरिक युद्धों में उनके हस्तक्षेप के डर ने जयसिंह को इस दशा में भी स्पष्ट नीति बनाने हेतु तत्तर किया। मराठों ने 1725 ई. में कोटा में उपद्रव मचाया, 1726 ई. में मेवाड़ में प्रवेश किया। उत्तर में वह अपना प्रभाव बढ़ाना चाहते थे। बादशाह ने भी सैयद बन्धुओं के कहने पर 1718 ई. में उन्हें मालवा व गुजरात से चौथ वसूल करने का अधिकार दे दिया था। जयसिंह मेवाड़, मारवाड़ और कोटा की मदद से मराठों को राजपूत राज्यों से

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

दूर रखना चाहता था। उसने तो मराठों की लूटमार का वर्णन करते हुए जयसिंह को पत्र लिखा कि "हिन्दुस्तान की इज्जत व सुरक्षा जयसिंह के ही प्रयत्नों पर निर्भर है।" जयसिंह ने मराठों के आक्रमणों को रोकने के लिये राजपूत राज्यों की संगठित शक्ति बनाई। साथ ही बादशाह मुहम्मद शाही की आज्ञा से मराठों व मुगल शक्ति में समझौते के भी प्रयत्न किये।

मराठों को कुचलने की साठ वर्ष पुरानी नीति असफल सिद्ध हुई थी। दक्षिण, बंगाल व पंजाब नाम पात्र के लिये मुगलों के अधीन थे। सम्राज्य की आर्थिक दशा भी बहुत गिर गयी थी। मराठों में से एक से एक योग्य सेनानायक सामने आ रहे थे। ऐसे समय में मराठों से समझौता करना ही उचित थ। जयसिंह चाहता था कि शाहू को जागीर व मराठा सरदारों को उपयुक्त मनसब देकर उन्हें गिरते हुए मुगल सम्राज्य का आधार बना लिया जाय। वह मालवा के दक्षिणी भागों में मराठा प्रभुत्व को मान्यता देकर उत्तर को उनके प्रभाव से बचा लेना चाहता था। उधर मराठे प्रभुत्व क्षेत्र बढ़ाने में लगे हुए थे।

1. मालवा में मराठे– जयसिंह जब मालवा का सूबेदार था तो उसने मराठों को आगे नहीं बढने दिया था लेकिन 1722 ई. से उन्होंने अपना दबाव शुरू कर दिया था। कुछ समय तक तो सूबेदार मराठों को रोकने में सफल रहा लेकिन 1728 ई. में पेशवा के भाई चिमना जी अप्पा ने गिरधर बहादुर को हरा कर उसके अनेक अफसर मार डाले। मराठे मालवा के शहरों को लूटते रहे और स्थानीय शासकों को आदेश दे दिया कि उनके द्वारा नियुक्त व्यक्तियों को चौथ देते रहें। चिमना जी तो वापस पूना लौट गया किन्तु उसकी सेना अभी मालवा में ही थी। ऐसे समय में निजाम ने भी पेशवा को मालवा में प्रभुत्व बढ़ाने की राय दी जिसमें मराठों का ध्यान उत्तर में चला जाय और उससे रात–दिन का झगड़ा समाप्त हो। इस कठिन घड़ी में बादशाह ने अक्टूबर, 1729 ई. में जयसिंह को मालवा का सूबेदार नियुक्त किया। इस समय मराठे उज्जैन में विद्यमान थे। उन्होंने मांडू भी जीत लिया था। मुगलों के लिये यह संभव नहीं था कि वे मराठों को मालवा से निकाल दे। जयसिंह ने इस कठिन काम को फौरन निपटा दिया। वह पहले से ही राजा शाहू से समझौते की बार्ता कर रहा था। एक छोटी सी झड़प के बाद मराठे मांडू जयसिंह को सौंप कर वापिस लौट गये। बाजीराव पेशवा मालवा में मुगल व मराठों की सम्मिलित शासन योजना चाहता था जिसे जयसिंह ने स्वीकार नहीं किया। जयसिंह सिर्फ सात महीने मालवा में रह कर वापस आमेर लौट गया। बाजीराव को यह समझौता अच्छा नही लगा क्योंकि यह उसकी उत्तर में विस्तार की नीति के विरूद्ध था। इसने होल्कर और सिन्धिया की महत्वाकांक्षाओं पर भी प्रति बंध लगा दिया। जयसिंह को डर था कि पेशवा इसे नहीं मानेगा अतः उसने अपने प्रतिनिधि दीपसिंह को पूना भेजा। पेशवा भी राजी हो गया लेकिन अपनी शर्तो में गुजरात को भी जोड़कर प्रतिवर्ष 26 लाख रूपयों के बदले गुजरात और मालवा में न आने को राजी हो गया।

इस समझौते पर बादशाह की मोहर लगती उससे पहले ही मुहम्मद खां बंगश और जयसिंह ने अन्य विरोधियों ने, जो मुगल मराठा सुलह नहीं चाहते थे, जयसिंह की जगह बंगश को मालवा का सूबेदार बनवा दिया। मराठों ने बंगश की बड़ी दुर्दशा की। वह मराठों के तेज आक्रमण व लूटमार को नहीं रोंक सका। उसने इस्लाम के शत्रुओं के विरूद्ध निजाम से भी समझौता करना चाहा पर असफल रहा। विवश होकर बादशाह ने जयसिंह को तीसरी व अन्तिम बार मालवा का सूबेदार नियुक्त किया जो दिसम्बर, 1732 में उज्जैन पहुंचा।

जयसिंह ने पहले मेवाड़ से एक सन्धि की जिसके तहत दोनों की सम्मिलित सेना मालवा की रक्षा व शासन करेगी तथा आमद का एक भाग मेवाड़ तथा दो भाग आमेर लेगा और अगर मराठों से संधि हो गयी होती तो इसी अनुपात में मराठों को जाने वाली रकम आपस में बांट लेंगे। इस बीच एक मराटा सरदार ने रामपूरा जाकर जयपुर के नियुक्त अधिकारियों से 75,000 रूपये वसूल किये। जयसिंह को इससे बड़ा दुःख हुआ। मन्दसौर के पास जयसिंह और होल्कर के बीच दो मुठभेड़ हुई और होल्कर समझौते के लिये राजी हो गया।

2. बूंदी और मराठे– बुद्धसिंह और दलेलसिंह के बीच बूंदी की गद्दी को लेकर उठ खड़े संघर्ष में जयसिंह ने दलेलसिंह का साथ दिया और बराबर साथ छोड़ने वाले बुद्धसिंह को गद्दी से उतार कर दलेलसिंह को महाराव बना दिया। बुद्धसिंह की कछवाही रानी ने होल्कर से मदद मांगी और 1733 ई. की सर्दियों में होल्कर व सिंधिया मालवा होते हुए अप्रेल में बूंदी आये और दलेलसिंह को गद्दी से उतार कर पुनः बुद्धसिंह को महाराव बना दिया। बुद्धसिंह की कछवाही रानी ने होल्कर के राखी भी बांधी। जयसिंह को जब इस घटना का पता लगा तो उसने 20,000 सैनिक भेजे जिन्होंने पुनः दलेलसिंह को बूंदी की गद्दी पर बिठा दिया। मराठों के भी यह समझ में आ गया कि मुगल सरकार के साथ समझौता करने में जयसिंह की मदद जरूरी है अतः उन्होंने बूंदी के मामले में दुबारा हस्तक्षेप नहीं किया। इस प्रकार जयसिंह ने बूंदी के महाराव दलेलसिंह की स्थिति सुरक्षित कर दी। मराठों के प्रति उसकी बूंदी नीति भी सफल रही।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

3. हुरड़ा सम्मेलन– मेवाड़ के महाराणा संग्रामसिंह ने मराठों से राजपूतों राज्यों की रक्षा हेतु एक सम्मेलन की योजना बनाई जिसमें सभी राजपूत राजाओं को आमन्त्रित किया गया। यह सम्मेलन मेवाड़, अजमेर की सीमा पर स्थित हुरडा नामक स्थान पर बुलाया गया। सम्मेलन की निर्धारित तिथि 16 जुलाई, 1734 से चालीस दिन पहले महाराणा संग्रामसिंह का देहान्त को गया। उनके पुत्र महाराणा जगतसिंह ने सम्मेलन की अध्यक्षता की।

इस सम्मेलन में आमेर के सवाई जयसिंह, कोटा के दुर्जनसाल, बीकानेर के जोरावरसिंह, करोली के गोपालसिंह, किशनगढ़ के राजसिंह तो आये ही थे मध्य भारत के कई राजपूत राजाओं ने भी भाग लिया था। राणा सांगा के बाद यह राजपूतों का पहला बड़ा सम्मेलन था।

सम्मेलन अनेक अच्छे उद्देश्यों को लेकर बुलाया गया था जिनमें मराठों के आक्रमणों व राजपूत राजाओं के निजी मामलों में हस्तक्षेप को रोकना, राजपूत राजाओं को राज्य विस्तार का अवसर देना, एक दूसरे के राज्यद्रोही को अपने राज्य में शरण न देना तथा अच्छे व बुरे समय में एकता बनाये रखकर एक की इज्जत को सबकी इज्जत समझना था।

सम्मेलन दो दिन चला और 17 जुलाई को राजपूत राजाओं ने उस पर हस्ताक्षर कर दिये। मालवा के विभाजन की रूपरेखा तैयार की गयी। इसके अनुसार मालवा के सारे प्रान्त के दो भाग मेवाड़ को, एक भाग जोधपुर को, एक भाग जयपुर को, बचे हुए का आधा बूंदी व कोटा को तथा बचा हुआ आधा हिन्दू राजाओं को देना निश्चय किया गया। यह प्रस्ताव मेवाड़ का था। इस कार्य के लिये एक संगठित राजपूत सेना बनाने का निर्णय लिया गया तो वर्षा के बाद कोटा के पास रामपूरा में एकत्रित होगी।

यह भी निर्णय लिया गया कि मराठों के विरूद्ध मुगलों से मदद ली जाय और मराठों के विरूद्ध सेना में कोटा, जयपुर और मारवाड़ की सेना की प्रधानता होगी। सेना के साथ स्वयं राजा आयेंगे और अगर अस्वस्थता को कारण न आ सकें तो अपने भाई या पुत्र को भेजेंगे।

सम्मेलन के उद्देश्य अच्छे थे और कागजों पर राजपूत राजा एक बार एक हो गये। लेकिन आपसी स्वार्थो ने इसे सफल नहीं होने दिया। सवाई जयसिंह ने मराठों के साथ अलग से सन्धि कर ली और अन्य राजाओं को अपने भाग्य पर छोड़ दिया। जयसिंह की मराठा नीति को देखते हुए स्पष्ट था कि वह मराठों को मालवा से निकाल कर प्रान्त के बंटवारे के पक्ष में नहीं था। उसे मराठा शक्ति की क्षमता की जानकारी थी। स्थिति को देखते हुए मालवा का बंटवारा संभव नहीं था। कुछ इतिहासकार इसे जयसिंह का विश्वासघात कहते है। मगर वह यथार्थ में रहता था। यह कहा जाता है कि हुरडा सम्मेलन उच्च आदर्शो का गर्भाधान था जो स्वार्थ के धमाकों से गर्भपात का दुःखदाई रूप धारण कर गया। वही कारण है कि जयसिंह ने रामपुरा में अपनी सेना नहीं भेजी। इसी समय मुगल सरकार भी मराठों पर आक्रमण की विशाल योजना बना रही थी। अतः हुरडा सम्मेलन एक असफल विचार मात्र रह गया।

4. संधि की चेष्टा– 1734 ई. में कमरूद्दीन खां के नेतृत्व में एक विशाल सेना मराठों को मालवा से निकालने के लिये भेजी। जयसिंह व अन्य राजाओं को उसका साथ देने का आदेश दिया। जयसिंह भी मुगल सेना के साथ था। मराठों ने, जिमें सिंधिया व होल्कर थे, अपनी टुकड़ियों को एकत्रित किया और रामपूरा के पास मुगल सेना को घेरकर रसद का मार्ग काट दिया। साल भर तक कई छोटी–मोटी झड़पें हुई पर कोई नतीजा नहीं निकला। अचानक मराठों ने घेरा उठा लिया और 40 हजार मराठे सवार आमेर राज्य में तेजी से बढ़े। उन्होंने सांभर लूटा। जयसिंह अपना राज्य बचाने वापस लौट गया और मुगल सेनापति कमरुद्दीन भी असफल और निराश वापस दिल्ली लौट आया। स्पष्ट हो गया कि मराठों पर विजय पाना संभव नहीं है।

वजीर ने जयसिंह का प्रस्ताव मान लिया और उसे मराठा सरदारों से संधि करने की अनुमति दे दी। जयसिंह होल्कर और सिंधिया को 4000 व 5000 की मनसब और कुछ लाख रूपये देना चाहता था। काफी लम्बी बातचीत के बाद खानदौरां ने बादशाह की तरफ से बाईस लाख रूपये व मालवा की चौथ देना स्वीकार हुआ। मराठों को चुंगी वसूल करने का अधिकार भी दिया गया तथा परगनों में मुगल अधिकारियों के साथ मराठा को चुंगी वसूल करने का अधिकार भी दिया गया तथा परगनों में मुगल अधिकारियों के साथ मराठा अफसर भी रहेगा जो आधी आमदनी भी लेगा और शाही आदेशों पर मराठा मुहर भी लगायेगा। बादशाह ने ये शर्ते स्वीकार नहीं की मगर जयसिंह का इन्हें स्वीकार करना महत्वपूर्ण है। वह मुगल सूबों में उपद्रव बन्द कर शान्ति स्थापित करना चाहता था।

यह प्रयास असफल रहा तो जयसिंह ने पेशवा और बादशाह की भेंट करवाने की योजना बनाई जिससे निजाम को भारी चिन्ता हो गयी। इन्ही दिनों पेशवा बाजीराव की मां राधाबाई तीर्थयात्रा करने उत्तर भारत आई। सवाई जयसिंह ने उनका

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

भव्य स्वागत किया और पूरा राजकीय सम्मान देकर उन्हें राजमहल में ठहराया। सात सप्ताह तक उन्हें सम्मान से रखा और जाते समय शहर से बाहर तक छोड़ने आया और मार्ग व्यय के लिये 25,000 रूपये दिये। यह राशि आगामी नौ साल तक 1744 ई. तक पेशवा की मां को प्रतिवर्ष बर्खासण के रूप में भेजी जाती रही। पेशवा की मां राधाबाई ने जयसिंह की पुत्री कृष्णकुमारी को आशीर्वाद भी दिया। राजपूतों के अच्छे व्यवहार से पेशवा बहुत संतुष्ट हुए जिससे बाजीराव से वार्ता में सहायता मिली।

25 फरवरी 1736 ई. को बाजीराव पेशवा और जयसिंह की भेंट मालपुरा के पास झाडली गांव के बाहर हुई। दोनों बड़े स्नेह से घोड़े से उतरकर गले मिले। यह भेंट व वार्ता नौ सप्ताह तक चली। जयसिंह के प्रयासों से पेशवा ने बादशाह से सन्धि की छह शर्ते रखी। 1. हिन्दुस्तान में वतन जागीर 2. अपने साथ के लोगों के लिये मनसब व जागीर 3. मराठों के विरूद्ध मुगल सैनिक कार्यवाही बन्द करना 4. दक्षिण के सूबों की सरदेश पांडिगिरी जिसमें दक्षिण का पांच प्रतिशत राजस्व उसे दिया जाय और बदले में वह बादशाह को छह लाख रूपये देगा 5. उसे मालवा की सूबेदारी भी दी जाय 6. खर्चे के रूप में उसे तेरह लाख रूपये तीन किश्तों में दिये जायें। इन शर्तो में चौथ का उल्लेख कहीं नहीं था। जयसिंह के आग्रह पर बादशाह ने इन शर्तो को भी मान लिया। तब पेशवा ने कई नई मांगे और रख दी जिससे वार्ता असफल हो गयी। उसने मथुरा की जागीर, दक्षिण में पचास हजार रूपये की जागीर और बंगाल के राजस्व से पचास लाख रूपये भी मांगे जिन्हें देने से बादशाह ने मना कर दिया। जब दिल्ली से जवाब नहीं आया तो उसने खानदौरां को लिखा की उसकी सेना ने संधि के चक्कर में मालवा या मुगल इलाकों को लूटा भी नहीं जिससे उसे 50–60 हजार सवारों को बेकार वेतन देना पड़ा। सात सप्ताह तक मुगल सरकार पेशवा की शर्तो का जवाब नहीं दे सकी तो वह अपनी सेना के साथ दिल्ली की ओर बढ़ा। उसके साथ जयसिंह और अभयसिंह के 15,15 हजार सैनिक थे। बादशाह के हुक्म पर हार गया। बाजीराव ने भी इतनी बड़ी मुगल सेना से युद्ध करना उचित नहीं समझा । वह रास्ता काटकर जाट प्रदेशों से सीधा दिल्ली जा पहुंचा। बादशाह डर कर भागने को तैयार हो गया मगर बाजीराव के कूटनीति से काम लिया और 20 घण्टे दिल्ली में ठहरकर कोटपूतली व लालसोट होता हुआ तूफान की तरह वापस निकल गया। मुगल सेना आगरा के पास आराम फरमाती रह गयी और मराठा बाज को न घेर सकी। बाजीराव भी कोई ऐसा काम नहीं करना चाहता था जिससे उसके मित्रों पर कोई आरोप लगाया जाय। जयसिंह ने भी बाजीराव के तूफान दौरे में कोई बाधा नहीं पहुंचाई। बादशाह को पता चल गया कि न निजाम और न ही उसके अन्य सेनापति पेशवा को दिल्ली लूटने से रोक सकेंगे। अपना पक्ष मजबूत करने उसने निजाम को दिल्ली बुलाया तथा दक्षिण के पांच सूबे तथा साम्राज्य की सर्वोच्च उपाधि आसफजाह से सम्मानित कर मराठों को नर्बदा से नीचे रखने के लिये 60 लाख रूपये दिये और उसके बेटे को आगरा व मालवा का सूबेदार नियुक्त किया।

निजाम जब वापस लौट रहा था तो पेशवा ने भौपाल के निकट उस पर आक्रमण कर बुरी तरह पराजित किया तथा 6 जनवरी, 1738 ई. को उसे अपमानजनक संधि पर हस्ताक्षर करने के लिये मजबूर किया। निजाम ने पेशवा को मालवा की सूबेदारी नर्बदा व चम्बल के बीच का सेवा तथा पचास लाख रूपये बादशाह से दिलाने का वादा किया। निजाम की इस दुर्दशा से जयसिंह की नीति की पुष्टि हो गयी। निजाम ने अपने हितों को बचाने के लिये साम्राज्य के हितों को बेच दिया। जयसिंह की शर्तो में पेशवा मुगल सेवा तक स्वीकार कर ली थी।

नदिरशाह का आक्रमण– 1738 ई. में काबुल लेने के बाद नादिरशाह पेशावर और फिर लाहौर तक आ गया। बादशाह ने सादत खां व निजाम को उसका मुकाबला करने भेजा। मगर निजाम दूर खड़ा तमाशा देखता रहा। कदाचित वह एक नया साम्राज्य स्थापित करना चाहता था तो मराठों को रोक सके। नादिरशाह ने 13 फरवरी, 1739 ई. को करनाल में मुगल सेना की एक टुकड़ी को पराजित किया। इस युद्ध में खानदौरां मारा गया। युद्ध बन्दी सादतखां ने नादिरशाह को दिल्ली जाने कि लिये प्रेरित किया। वह मार्च में दिल्ली पहुंचा और 57 दिन दिल्ली में रहा। पेशवा और जयसिंह जो मराठा और हिन्दुओं के नेताओं थे इस आक्रमण में भाग न लेकर चुप रहे। उन्हें मुगलों की अन्दरूनी फूट का पता था। पेशवा व जयसिंह चाहते थे कि मराठे व हिन्दू शासक मिलकर नादिरशाह को भारत से बाहर निकालें अन्यथा मराठों के उत्तर के आधिपत्य के मनसूबे समाप्त हो जायेंगे। नादिरशाह ने दिल्ली की जो दुर्दशा की उसका वर्णन यहां आवश्यक नहीं है। यहां सिर्फ इतना कहना उचित होगा कि जयसिंह ने इस संघर्ष में अपनी सेना को न झोंककर दुरदर्शिता का परिचय दिया। नादिरशाह ने जाते समय उसे मित्रता का पत्र भी लिखा था।

नादिरशाह के लौटने पर उत्पन्न नई राजनीतिक स्थिति को समझने के लिये अपने दूत महादेव भट्ट को जयसिंह के पास भेजा। बादशाह ने अपने अफसरों में तो फेर बदल किया ही साथ ही जयसिंह की मदद से मराठों का समर्थन भी पाना

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

चाहा। पेशवा इस परिस्थिति में जयसिंह से सलाह करने स्वयं उत्तर की तरफ बढ़ा लेकिन नर्बदा के किनारे पहुंचकर बीमार हो गया तथा तेज बुखार में उसने प्राण त्याग दिये। पेशवा की मृत्यु से जयसिंह को गहरा दुःख हुआ व धक्का लगा। उसे डर था कि नया पेशवा उसकी बात नहीं मानेगा। उसने महादेव भट्ट के मार्फत मराठों की नीति जाननी चाही तो मराठों ने उसे वही मान्यता दी जो पेशवा बाजीराव देता था। जयसिंह ने चिमनजी को राय दी कि वह निजाम को पराजित कर दक्षिण में अपने हितों को सुदृढ़ कर लें। तभी बादशाह ने जयसिंह को मराठों के विरूद्ध तैयारी का आदेश दिया। जयसिंह मराठों से युद्ध नहीं करना चाहता था। वह धौलपुर में पेशवा बालाजी बाजीराव से मिला और 18 मई 1741 को धौलपुर का समझौता हुआ। पेशवा ने बादशाह के प्रति वफादारी का वादा किया उसे मालवा की सूबेदारी दी गयी। पेशवा मुगल खर्चे पर दिल्ली में 4000 सवार बादशाह के लिये रहेगा।

4 जुलाई, 1741 को बादशाह ने भी इस संधि को मान्यता देते हुए मालवा का नायब सूबेदार नियुक्त किया। यह प्रयास भी सवाई जयसिंह का ही था। मराठों की इलाहाबाद से चौथ मांगी। बादशाह इस पर भी राजी हो गया तो पेशवा ने बंगाल की चौथ मांगी। स्पष्ट है कि मराठे अपनी लूटमार की नीति त्यागने को तैयार न थे। बाजीराव के बाद मराठों की नीति में स्थिरता न रही जिसके कारण मराठों को कुछ ही वर्ष बाद भारी कीमत चुकानी पड़ी। जहां तक जयसिंह की मराठा नीति का सवाल है वह मराठों से मित्रता रखना चाहता था और उसने लगातार प्रयत्न भी किये तथा अपने जीवन काल में मुगल मराठा संघर्ष को थामे रहा। मुगल दरबार की ढुलमुल नीति, आन्तरिक मतभेद और मराठा पेशवा बाजीराव के असामयिक निधन ने दो बड़ी शक्तियों को मित्र नहीं बनने दिया। फिर भी 1728 से 1741 ई. तक जयसिंह के निरन्तर प्रयासों से मुगल राजपूत व मराठा शक्तियों के बीच कोई युद्ध नहीं हुआ व मित्रता के सतत प्रयास किये गये। जयसिंह शांति का समर्थक था, उसका अधि ाकांश समय राजनीति और प्रशासनिक कार्यो में बीत गया। फिर भी निरंतर युद्धों व गिरते हुए मुगल साम्राज्य के मलवे के बीच वह जो कुछ कर सके, उसे भारतीय इतिहास के विलक्षण पुरूषों में स्थान दिलवाने के लये पर्याप्त है।

जौधपुर राज्य के साथ सम्बन्ध– दिल्ली में सैय्यद बन्धुओं के पतन के साथ ही जोधपुर के अजीतसिंह का महत्व जाता रहा और सवाई जयसिंह का राजनैतिक प्रभाव तेजी से बढ़ने लगा। 1721 ई में जब बादशाह मुहम्मदशाह ने अजीतसिंह को गुजरात और अजमेर की सूबेदारी से हटा दिया तो अजीतसिंह विद्रोह पर उतर आया और उसने शाही इलाकों में सवाई जयसिंह ने बीच में पड़कर बादशाह और अजीतसिंह में समझौता करा दिया। कुछ वर्ष बाद बादशाह के कहने पर जयसिंह ने शाही दरबार में उपस्थित अजीतसिंह के बड़े लड़के अभयसिंह को समझाया कि जोधपुर राज्य की सुरक्षा के लिए अजीतसिंह को हटाना अति आवश्यक हो गया है। फलतः अभयसिंह ने अपने छोटे भाई बख्तसिंह को पत्र लिखकर अपने पिता की हत्या करने को कहा और इसके बदले में उसे नागौर का परगना देने का प्रलोभन दिया। 23 जून, 1724 ई. को रात्रि में सोते हुए अजीतसिंह की उसी के पुत्र बख्तसिंह ने हत्या कर दी। बादशाह ने तत्काल अभयसिंह को जोधपुर का राजा स्वीकार कर लिया। इस घटना के परिणामस्वरूप अभयसिंह सवाई जयसिंह का समर्थक बन गया।

अजीतसिंह की मृत्यु के बाद बख्तसिंह को नागौर का परगना मिल गया। वह एक महत्वाकांक्षी शासक था और अपने राज्य का विस्तार करना चाहता था। इसी के कारण बीकानेर के साथ उसका सीमा–सम्बन्धी विवाद उठ खड़ा हुआ। नादिरशाह के भारत में लौट जाने के बाद बख्तसिंह और अभयसिंह ने मिलकर बीकानेर पर आक्रमण कर दिया बीकानेर का जोरावरसिंह बुरी तरह से पराजित हुआ और उसके कई गांवों पर जोधपुर का अधिकार हो गया। जोरावरसिंह के याचना करने पर सवाई जयसिंह उसकी सहायता के लिये चल पड़ा। क्योंकि जयसिंह इन दिनों अभयसिंह से नाराज था। अभयसिंह मराठों के प्रति जयसिंह की नीति का विरोधी था और मुगल दरबार में भी वह जयसिंह विरोधी गुट के नेता कमरूद्दीनखां का समर्थक बना हुआ था। जुलाई, 1740 ई. में अभयसिंह ने जयसिंह से सन्धि करके उसे वापस लौटा दिया। परन्तु अब वह जयपुर पर चढ़ाई करने की तैयारी करने लगा। जब जयसिंह को इसकी जानकारी मिली तो उसने एक शक्तिशाली सेना के साथ जोधपुर राज्य पर पुनः चढ़ाई कर दी। पुष्कर से 11 मील दूर गंगवाणा नामक स्थान पर 11 जून, 1741 ई. को दोनों पक्षों में युद्ध लड़ गया जिसमें अभयसिंह पराजित हुआ। उदयपुर के महाराणा ने दोनों पक्षों के मध्य बीच–बचाव कर जुलाई, 1741 में सन्धि करवा दी। सन्धि ा के अनुसार अभयसिंह ने सवाई जयसिंह को 20 लाख रूपये क्षतिपूर्ति के रूप में देना स्वीकार किया। बीकानेर राज्य जोरावरसिंह को लौटा दिया गया। बख्तसिंह को मेड़ता की जागीर दी गई। मराठों के साथ सम्बन्धों के मामलों में जयसिंह की मध्यस्थता को स्वीकार किया गया। इस प्रकार, इस समझौते के परिणामस्वरूप बीकानेर, नागौर, जोधपुर पर सवाई जयसिंह का दबदबा कायम हो गया। महाराणा के साथ उसके सम्बन्ध पहले ही मधुर थे। बून्दी पर उसके दामाद का शासन था और कोटा उसका नेतृत्व स्वीकार कर ही रहा था। जाट नेता बदनसिंह भी उसका अनुयायी था। इस प्रकार, सवाई जयसिंह राजस्थान का सर्वोच्च शासक बन गया।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

17.4. सवाई जयसिंह का राज्य विस्तार :

परन्तु उसने मेवाड़ और मारवाड़ की सहायता से अपने भाई और उसके समर्थक मुगल अधिकारियों को परास्त कर आमेर को पुनः हस्तगत किया। धीरे–धीरे मुगल दरबार में उसका प्रभाव बढ़ता गया और उसी के साथ आमेर राज्य का विस्तार भी होता गया। 1741 ई. में भानगढ़, 1716–17 ई में मलरेना और अमरसर, इसके बाद झाले, उनियारा, बरवड़ और नरायणा उसके राज्य के अंग बन गये। उसने कायमखानियों के शेखावाटी के 51 परगने 25 लाख रूपये इजारे पर लिये। ये सभी बाद में जयपुर राज्य में मिला लिये गये। इससे यहां के शेखावत सरदारों को मुगल सेवा में मनसब मिल गये। शेखावाटी इलोक के खण्डेला का ठिकाना काफी शक्तिशाली था। खण्डेला पर अधिकार करने बाद सवाई जयसिंह ने इसको निर्बल बनाने की दृष्टि से उसका दो भाइयों में विभाजन कर दिया। 1729 ई. में उदयपुर में रामपुरा का परगना माधोसिंह के नाम से मिल गया। इस प्रकार, उसके साथ समय में आमेर राज्य का विस्तार अपनी चरम सीमा पर पहुंच गया।

17.5. सवाई जयसिंह के अन्तिम दिन :

सवाई जयसिंह जैसे शूरवीर एवं कूटनीतिज्ञ व्यक्ति के अन्तिम दिन सुख–चैन में नहीं बीत पाये। ज्यों–ज्यों उसकी आयु ढलती गई, शराब के प्रति उसका आकर्षण बढ़ता गया। वह अत्यधिक मद्यपान करने लगा। इसके साथ ही वह कामवासना का शिकार भी बनता गया और इसके लिये उत्तेजक औषधियों का सेवन करने लगा। परिणामस्वरूप रक्त–विकार के रोग से ग्रस्त हो गया और 1 सितम्बर, 1743 में उसका देहान्त हो गया।

17.6. मूल्यांकन :

17.6.1. सवाई जयसिंह का विद्यानुराग– जयसिंह स्वयं एक उच्चकोटि का विद्वान् था। संस्कृत और फारसी के साथ–साथ वह गणित और ज्योतिष का भी अच्छा विद्वान् था। उसने अनेक विद्वानों को राज्याश्रय प्रदान किया। उसने मुहम्मद शरीफ और मुहम्मद मेहरी को विदेशों से पाण्डुलिपियों का संग्रह करने के लिये भेजा था। उन्हें गणित और ज्योतिष सम्बन्धी पाण्डुलिपियां खोज कर लाने को कहा गया ताकि आंकड़ों, ग्रह, गणित तथा यंत्रों को तैयार करवाया जा सके। 1725 ई. के आस–पास उसने नक्षत्रों की शुद्ध सारणी बनवायी और उसका नाम तत्कालीन मुगल सम्राठ मुहम्मद शाह के नाम पर "जीव मुहम्मद शाही" रखा। इसके अलावा उसने "जयसिंह कारिका" नामक ज्योतिष ग्रन्थ की भी रचना की। उसके आश्रित दरबारी विद्वान् जगन्नाथ ने उसकी आज्ञा से युक्लिड नामक विद्वान् की सुप्रसिद्ध पुस्तक Slements (रेखागणित से सम्बन्धित पुस्तक) का संस्कृत भाषा में अनुवाद किया। इसी प्रकार जगन्नाथ ने पुटेल्मी की ख्याति–प्राप्त पुस्तक का "सिद्धांत सम्राट" के नाम से संस्कृत मे अनुवाद किया। केवलराम ज्योतिषी ने लागोरियम का फ्रेंच से संस्कृत में अनुवाद किया। जिसको "विभग सारणी" कहा जाता है। नयनमुखोपाध्याय ने अरबी ग्रंथ "ऊकर" का संस्कृत भाषा में अनुवाद किया। इनके अलावा अन्य अनेक ग्रंथों की रचना हुई जिनमें "मिथ्या जीव छाया सारणी", "दुकपक्ष सारणी", "दुकपक्ष ग्रन्थ", तारा सारणी" आदि प्रमुख है। पुण्डरीकर रत्नाकर ने "जयसिंह कल्पद्रुम" की रचना की जिसमें तत्कालीन समाज और राजनीति का अच्छा विवरण मिलता है। सवाई जयसिंह को गणित, ज्योतिष एवं नक्षत्र विद्या के अध्ययन में गहन रूचि थी। यही कारण है कि वह जहां–जहां रहा वहां ही जन्तर–मन्तर (वेधशालाएं) बनवा दिये। जयपुर, दिल्ली, उज्जैन, बनारस और मथुरा की वेधशालाओं में बड़े–बड़े यन्त्रों को बनवाकर नक्षत्रादि की गति को सही तौर से जानने के साधन उपलब्ध किये।

17.6.2. स्थापत्य – सवाई जयसिंह को स्थापत्य कला से भी विशेष लगाव था। प्रारम्भ में उसने आमेर में कुछ भवन बनवाये परन्तु अब उसने देखा कि आमेर में भविष्य में विस्तार की सम्भावना नहीं है तो उसने एक नया नगर बसाने का निश्चय किया। नवम्बर, 1727 ई. में जयपुर नगर का शिलान्यास किया गया। इस नगर का नक्शा तैयार करने के लिए एक बंगाली ब्राह्मण विद्याभर भट्टाचार्य को आमंत्रित किया गया था। इसके पूर्व उसने देश–विदेश से अनेक नगरों के नक्शे मंगवा कर नये नगर के बनाने का ढांचा सोच लिया था। सवाई जयसिंह की नयी राजधानी जयपुर भारत की सुन्दर नगरी बन गई। इस नगर की विभिन्न पर्यटकों एवं यात्रियों ने भूरि–भूरि प्रशंसा की। एक फ्रांसीसी यात्री ने अपने संस्मरणों में लिखा है कि दिल्ली में सिर्फ एक चांदनी चौक है, लेकिन जयपुर को "गुलाबी नगर" के नाम से ख्याति दिला रहा है। सवाई जयसिंह ने मुगल ढंग की कुछ इमारतें बनवायीं। आमेर के किले में "दीवान–ए–खास" की इमारत उसी के द्वारा बनवायी गई थी। इस सम्बन्ध में डॉ. वी.एस. भार्गव ने लिखा है कि, "सवाई अपने महत्वाकांक्षी स्वभाव के कारण मुगल सम्राट की बराबरी करना चाहता था। इसीलिए उसने मुगल ढांचे की इमारते बनवायी।" सवाई जयसिंह ने अपने नगर तथा अन्य स्थानों पर कुछ मन्दिरों का

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

भी निर्माण करवाया। बृजनाथ का मन्दिर और आनन्द कृष्णजी का मन्दिर सवाई द्वारा निर्मित मन्दिरों में सर्वोत्कृष्ट है। उसने अपनी ख्याति को चिर–स्थायी बनाये रखने के लिये अयोध्या, मथुरा का काशी में यात्रियों के विश्राम के लिए धर्मशालाएं भी बनवायी।

17.6.3. समाज सुधार के कार्य – सवाई जयसिंह अपने समय का एक प्रगतिशील समाज सुधारक भी था। यज्ञों के अवसर पर उसने सभी ब्राह्मणों में एक साथ भोजन करने के लिए राजी कर लिया ताकि कम–से–कम ब्राह्मणों में भेदभाव की भावना को कम किया जा सके। अन्तर्विवाह प्रारम्भ करने के लिए भरसक प्रयास किये गये ताकि समाज के मतभेद दूर हो सके। उसने साधु व संन्यासियों को एक नियमित जीवन व्यतीत करने के लिये प्रोत्साहित किया। उन्हें विवाह करने को फुसलाया गया और मथुरा के पास एक गांव में बसा दिया गया। ऐसा करने में उसका उद्देश्य साधुओं में व्याप्त व्यभिचार के दोष का निवारण करना था। उसने विवाह के अवसर पर फिजूलखर्ची को बन्द करने और विशेषकर राजपूतों में विवाह के समय अपव्यय करने की प्रथा पर रोक लगवायी। जयपुर नगर में पानी की प्रचुरता के लिये हरमाड़े से नहर की व्यवस्था की।

17.7. सारांश :

मध्ययुगीन राजस्थान का यह अन्तिम महान् राजपूत महाराजा अपने समय में मुगल साम्राज्य का एक प्रमुख सेनानायक और सर्वोत्कृष्ट अधिकारी रहा था। अपनी योग्यता से उसने सम्स्त राजपूतों का नेतृत्व प्राप्त कर लिया तथा अपनी कूटनीतिक दक्षता से उसने मुगल दरबार में भी अपना महत्वपूर्ण स्थान बना लिया था। उसने अपने राज्य का विस्तार कर उसे सुसंगठित किया और ढूंढाड़ तथा शेखावाटी प्रदेशों में राजनैतिक एकता स्थापित की। अपने विस्तृत राज्य के लिये उसने एक नई राजधानी की आवश्यकता का अनुभव कर ''जयपुर'' जैसे सुन्दर नगर का निर्माण करवाया। उसने अपनी इस नई राजधानी को भारतीय साहित्य और हिन्दू संस्कृति का एक महान केन्द्र बना दिया। खगोल शास्त्र में उसकी विशेष रूचि थी और उसने मथुरा, बनारस, उज्जैन व जयपुर में वेधशालाएं स्थापित करवा कर वैज्ञानिक अध्ययन तथा खोज को प्रोत्साहन दिया। उसका चरित्र उस युग की समस्त भली–बुरी प्रवृत्तियों तथा समकालीन राजपरिवारों के गुण–दोषों का विचित्र मिश्रण था। वह सही अर्थो में अपने समय का प्रतिनिधि था।

17.8 बोध प्रश्न :

प्रश्न 1 हुरड़ा सम्मेलन कितने दिन चला?

अ. 2 दिन ब. 5 दिन स. 10 दिन द. 20 दिन

उत्तर – ....

प्रश्न 2 सवाई जयसिंह के प्रारम्भिक सुधार बताइये।

उत्तर – ....

प्रश्न 3 सवाई जयसिंह की उपलब्धियों पर प्रकाश डालिये?

उत्तर – ....

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

इकाई – 18
धार्मिक आन्दोलन : मीराबाई के नेतृत्व में

संरचना

18.0 उद्देश्य
18.1 राजस्थान की धार्मिक पृष्ठभूमि
18.2 राजस्थान के धार्मिक आंदोलन से तात्पर्य
18.3 राजस्थान में धार्मिक आंदोलन के कारण
    18.3.1 भक्ति आन्दोलन
    18.3.2 राजस्थान में इस्लाम का प्रवेश
    18.3.3 निम्नवर्ग के लोगों की शोचनीय दशा
    18.3.4 सूफीमत का प्रचार
    18.3.5 हिन्दूओं तथा मुसलमानों में समन्वय की भावना
    18.3.6 साहित्य का प्रभाव
    18.3.7 देवताओं की परम्परा – धार्मिक आन्दोलन के पथ प्रणेता
18.5 मीराबाई
18.6 मीरा का वैवाहिक जीवन तथा गृह त्याग
18.7 मीरा भक्ति की पराकाष्ठा
18.8 मीरा भक्ति का मूल्यांकन
18.9 मूल्यांकन
18.10 बोध प्रश्न

18.0 उद्देश्य :

इस इकाई में मीरा भक्ति को ऐतिहासिक, साहित्यिक, सामाजिक पहलुओं के माध्यम से विवेचित किया गया है।

18.1 राजस्थान की धार्मिक पृष्ठभूमि :

धर्म सदैव भारतवासियों की आत्मा का स्वरूप रहा है। फिर भला राजस्थान का प्रदेश इस क्षेत्र में किस प्रकार पीछे रह सकता था? यहां के राजपूत नरेश तो धर्म की रक्षार्थ प्राणोत्सर्ग करने हेतु सदैव उद्यत रहे है। यहां के निवासी भी अपने शूरमा एवं धर्म पर मर मिटने वाले राजाओं के पद चिन्हों पर सदा चलते रहे है। धर्म यहां के विभिन्न सम्प्रदायों व वर्गो के लोगों को एकता के सूत्र में पिरोने वाली कड़ी सिद्ध हुआ है। प्रारम्भ में यहां भी वैदिक धर्म ही प्रचलित था। इसके प्रमाण में हम **घोसुण्डी अभिलेख** ले सकते है जो यह स्पष्ट बताता है कि दूसरी शती ई. पूर्व में राजवंश के राजा सर्वतात ने यहां अश्वमेघ यज्ञ सम्पन्न किया था। बलराम–वासुदेव के पूजा के स्थानों के चारों ओर दीवार बनवाने का वर्णन भी उपलब्ध है। इस शिलालेख से यह भी स्पष्ट होता है इस जैन–धर्म से प्रभावित क्षेत्र में वैष्णव धर्म ने भी प्रवेश आरम्भ कर दिया था। शुंग–कण्व काल (ईसा पूर्व 180–28) में राजस्थान के कई भागों में वैदिक कबीलों का नियंत्रण था। मेवाड़ के बापा रावल, क्षेत्रसिंह तथा महाराणा कुम्भा ने भी वैदिक यज्ञ किये थे। ग्याहरवीं व बारहवीं सदी में उत्तरी भारत पर मुसलमानों के निरन्तर आक्रमण होने पर भी राजस्थान के लोग वैदिक धर्म पर ही आचरण करते रहे। डॉ. जे. एन. आसोपा ने इस **वैदिक धर्म** को ही **पौराणिक–स्मार्त धर्म** की संज्ञा दी। इसका आशय यह है कि राजस्थान के लोग वेदों में वर्णित कर्म–काण्ड करते थे तथा विभिन्न देवी–देवताओं की पूजा भी करते थे। उदाहरणार्थ यदि पुष्कर में **'ब्रह्मा'** की उपासना की जाती थी तो रणकपुर में सूर्य की अर्चना होती थी। इसके उपरान्त यहां शिव, शक्ति, विष्णु की पूजा होने लगी। अवतारवाद की कथाओं के प्रचलन के साथ–साथ राम और कृष्ण भी राजस्थान के उपास्य देव बन गये। यदि मेवाड़ का राजवंश शिव का परम–भक्त था तो मारवाड़ में भी शिव–पूजा की ही प्रधानता थी। यहां गौरख नाथ द्वारा स्थापित शैव धर्म की **नाथ** शाखा का विशेष प्रभाव था। वर्णाश्रम में भी यहां के लोगों की

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

पूर्ण–निष्ठा थी। इस बात की साक्षी पुराण भी है। पुराणों को लोक परम्परा के ग्रंथ माने गये है और वे वैदिक युग से लेकर राजपूत युग के प्रारम्भ तक के धार्मिक वातावरण पर प्रकाश डालते है। यह पौराणिक–स्मार्त धर्म राजस्थान में 1500 ई. तक चलता रहा।

18.2. राजस्थान के धार्मिक आन्दोलन से तात्पर्य :

राजस्थान में मुस्लिम आक्रमणों से पूर्व हिन्दू–धर्म व जैन–धर्म निर्विघ्न रूप से पल्लवित हो रहे थे। हिन्दू धर्म तो मुस्लिम आक्रमण के समय कई सम्प्रदायों में विभक्त हो गया था। शैव–मत के अनुयायी राजस्थान में पर्याप्त संख्या में थे। वे शिव को विभिन्न रूपों में पूजते थे। लकुलीश व नाथ सम्प्रदाय भी शैव–धर्म के ही अंग थे। शिव–उपासना के साथ–साथ यहां शक्ति की भक्ति भी की जाती थी। सदैव युद्ध को तत्पर रहने वाले कई राजपूत नरेशों ने तो शक्ति (देवी) को अपने कुलदेवी या आराध्य देवी के रूप में कई स्वरूपों में की जाती थी। उदाहरणार्थ–बीकानेर में कर्णी माता, जोधपुर में नागणेची, मेवाड़ में बाणमाता तथा आमेर में अन्नपूर्णा कुल देवियों के रूप में पूजी जाती है। शिलादेवी की अर्चना बाद में आरंभ हुई। बीकानेर में कर्णीमाता की पूजा की जाती है। जैसलमेर के भट्टि नरेश व सामन्त अपनी कुल देवी को **'सांगिया देवी'** (आईनाथ) के नाम से पूजते थे। जैसलमेर के क्षेत्र में शक्ति की उपासना व्यापक रूप में होती थी। वैष्णव–धर्म भी राजस्थान में पर्याप्त रूप में प्रचलित था। यहां के नरेशों ने वैष्णव धर्म पर आचरण कर इसे जन–साधारण में लोकप्रिय बनाया। श्रीनाथजी व द्वारकाधीश के क्रमशः नाथद्वारा व कांकरोली में आ जाने पर मेवाड़ में वैष्णव धर्म अधिक व्यापक हो गया था। राम की पूजा वैष्णव–धर्म का अंग मात्र थी। आलोच्य–कालीन मेवाड़ के राजपत्रों, ताम्रपत्रों आदि पर **'श्रीरामोजयति'** एवं **'रामार्पण'** शब्दों का प्रयोग किया गया है। बांसवाड़ा व जयपुर राज्यों के राज्य–पत्रों पर **'श्रीरामोजयति'** एवं **'रामार्पण'** शब्दों का प्रयोग किया गया है। बांसवाड़ा व जयपुर राज्यों के राज्य–पत्रों पर 'श्री रामजी' व 'सीतारामजी' उद्धृत होता था। मारवाड़ में महाराजा विजयसिंह के काल में वल्लभ सम्प्रदाय को अधिक प्रौत्साहन मिला। यद्यपि राजस्थान का कोई भी राजपूत नरेश जैन–धर्म का अनुयायी नहीं था तथापि यह धर्म भी इस काल में यहां बहुत प्रचलित हुआ और प्रभाव में रहा। इसका कारण जैन मलावलम्बियों का राजपूत नरेशों के यहां पदों पर आसीन होना था। तथापि यह धर्म भी इस काल में यहां बहुत प्रचलित हुआ और प्रभाव में रहा। इसका कारण जैन मतावलम्बियों का राजपूत नरेशों के यहां उच्च पदों पर आसीन होना था। राजपूत श्वेताम्बर दोनों सम्प्रदाय ही राजस्थान में लोकप्रिय बने रहे। इसीलिए जैसलमेर, नाडौल, आमेर, रणकपुर, आबू आदि स्थानों पर जैन देवालय काफी संख्या में निर्मित हुए। इसके अलावा हिन्दू–धर्म में ही अनेक सम्प्रदाय प्रचलित थे। वे अपने विभिन्न इष्ट देवताओं की उपासना करते थे। राजस्थान के विभिन्न स्थानों पर जैन देवालय काफी संख्या में निर्मित हुए। इसके अलावा हिन्दू–धर्म में ही अनेक सम्प्रदाय प्रचलित थे। वे अपने विभिन्न इष्ट देवताओं की उपासना करते थे। राजस्थान के विभिन्न स्थानों पर प्राप्त 'पंचायतन देवालय' इसके स्पष्ट प्रमाण है। 'पंचायतन मंदिर' में प्रमुख देवता की मूर्ति तो गर्भगृह में प्रतिष्ठित मिलती है तथा प्रदक्षिणा–पथ में चारों और अन्य देवी–देवताओं की प्रतिमाये प्रतिष्ठित रहती है। स्पष्ट है कि राजपूत शासकों ने सभी धर्मो के आचार्य व देवताओं का सम्मान किया। इन विभिन्न सम्प्रदायों में कभी धर्म के मामले पर विवाद नहीं हुआ। परन्तु मुसलमानों के राजस्थान में प्रवेश करते ही यहां के धार्मिक वातावरण में उथल–पुथल मच गई। अजमेर को अपना केन्द्र बनाकर मुसलमान राजस्थान के अन्य स्थानों में फैलने लगे। उन्होंने देवालयों को धराशायी कर हिन्दुओं को बलात् मुसलमान बनाना आरम्भ किया। देव–प्रतिमाओं को खण्डित कर हिन्दुओं की धार्मिक निष्ठा को ठेस पहुंचाने लगे। इस प्रकार के संक्रमण काल में राजस्थान में भी कई सन्त आविर्भूत हुए। वे हिन्दू व मूसलमानों में समन्वय उत्पन्न करने की दृष्टि से अपने धार्मिक विचार जन–साधारण के समक्ष प्रस्तुत करने लगे। रूढ़िवादी विचारों के स्थान पर उन्होंने हृदय की शुद्धि व ईश्वर–भक्ति पर अधिक जोर दिया। उन्होंने सगुण व निर्गुण भक्ति में समन्वय स्थापित करना चाहा। **धार्मिक क्षेत्र में इस प्रकार के परिवर्तनों के समावेश को धार्मिक आन्दोलन की संज्ञा दी जाती है।** दक्षिण भारत में यदि इस आन्दोलन का श्रेय रामानुज को दिया जाता है तो उत्तरी भारत में इसका श्रेय सन्त रामानन्द को जाता है। कबीर, चैतन्य व नानक रामानन्द के सहयोगी कहे जाते है।

18.3. राजस्थान में धार्मिक आन्दोलन के कारण :

जैसा कि पूर्व में बताया जा चुका है कि भारत में धार्मिक आन्दोलन या धर्म सुधार की परम्परा अति प्राचीन है। साक्ष्यों के अभाव में यह तो निश्चित रूप से कहना असम्भव है कि प्राचीन धार्मिक आन्दलनों में राजस्थान का क्या योगदान रहा? किन्तु फिर भी यह अनुमान किया जा सकता है कि संस्कृति के अन्याय पक्षों की भाँति वीरभूमि राजस्थान ने भी इन आन्दोलनों में अपनी महत्वपूर्ण भूमिका निभाई होगी। किन्तु मध्यकालीन भारत के धार्मिक आन्दोलन में राजस्थान के योगदान के हमारे

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

पास महत्वपूर्ण साक्ष्य उपलब्ध है। वस्तुतः राजस्थान का मध्यकालीन धार्मिक आन्दोलन मध्ययुगीन भक्ति आन्दोलन का ही अंग है। मध्ययुग में जब इस्लाम आन्दोलन का सूत्रपात हुआ तो उसी काल में राजस्थान में भी अनेक सन्तों का आविर्भाव हुआ जिन्होंने हिन्दु धर्म की रक्षा और समाज में व्याप्त दोषों को दूर करके उसे जन आकांक्षाओं के अनुकूल बनाने का बीड़ा उठाया। इन सन्तों ने धार्मिक कर्मकाण्डों और अन्धविश्वासों के स्थान पर हृदय की शुद्धि और ईश्वर भक्ति को सन्देश और मानव–मानव की मान्यता पर बल दिया।

जैसा कि पूर्व में बताया गया है कि राजस्थान का मध्ययुगीन धार्मिक आन्दोलन मध्ययुगीन भारतीय भक्ति आन्दोलन का ही अंग था। अतः आन्दोलन के गर्भ में भी मूलतः वही कारण थे जो भारतीय भक्ति आन्दोलन के कारण थे। किन्तु यहाँ हम राजस्थान के धार्मिक आन्दोलन की प्रेरक परिस्थितियों, तत्वों और कारणों की चर्चा करेंगे–

18.3.1. भक्ति आन्दोलन – मध्ययुगीन भक्ति आन्दोलन भारतीय इतिहास की महत्वपूर्ण घटना है। इस आन्दोलन के प्रवर्तक रामानुज थे जिन्होंने दक्षिणी भारत में भक्ति आन्दोलन को लोकप्रिय बनाया। तदनन्तर 14वीं शताब्दी के आरम्भ में रामानन्द भक्ति आंदोलन की इस परम्परा को उत्तरी भारत में लाये और उसे प्रबल बनाया। रामानन्द के पश्चात् उनके शिष्यों ने उनकी शिक्षाओं का प्रचार किया। उन्होंने धार्मिक पाखण्डों, आडम्बरों तथा अन्धविश्वासों का विरोध किया और सामाजिक समानता, धार्मिक सहिष्णुता आदि का प्रचार किया। भक्ति आन्दोलन के सन्तों का राजस्थान के लोगों पर काफी प्रभाव पड़ा। इस सम्बन्ध में डॉ. गोपीनाथ शर्मा ने लिखा है कि "जब देश में कई विचारक परम्परागत धर्म में आने वाले दोषों को निकालने का प्रयत्न कर रहे थे और धर्म सुधार की प्रवृत्ति बल पकड़ रही थी, राजस्थान भी इस दिशा में पीछे नहीं रहा।" इस युग में राजस्थान मे भी अनेक सन्तों तथा विचारकों का अविर्भाव हुआ जिन्होंने परम्परागत हिन्दु धर्म में आए हुए दोषों को दूर करने पर बल दिया जिसके फलस्वरूप राजस्थान में भी धार्मिक आन्दोलन शुरू हुआ।

18.3.2. राजस्थान में इस्लाम का प्रवेश– ग्यहरवीं तथा बारहवीं शताब्दी में तुर्क आक्रमणकारियों ने भारत पर आक्रमण किया और अनेक प्रदेशों पर अधिकार कर लिया। भारत के अपार धन को लूटने और राजनीतिक प्रभुत्व की स्थापना के साथ उनके आक्रमणों का एक उद्देश्य इस्लाम का प्रचार–प्रसार भी था। तेरहवीं शताब्दी में राजस्थ्ज्ञान के हृदय स्थल अजमेर पर मुसलमानों का आधिपत्य हो गया और अजमेर शीघ्र ही इस्लाम धर्म का प्रमुख केन्द्र बन गया। मुस्लिम आक्रमणकारियों ने अनेक मन्दिरों को ध्वस्त कर दिया तथा अनेक नगरों में मस्जिदों का निर्माण हुआ। इसके अतिरिक्त उन्होंने हजारों हिन्दुओं को बलात् मुसलमान बनाया। इस प्रकार अजमेर, जालौर, नागौर, चितौड़, शेखावाटी आदि क्षेत्रों में इस्लाम का प्रसार हुआ। इस्लाम का बढ़ता हुआ प्रभाव हिन्दु धर्म एवं संस्कृति को चुनौती दे रहा था। ऐसा लगता था मानों इस्लाम के प्रसार का प्रचण्ड समुद्री तूफान हिन्दू धर्म के जहाज को अपने गर्भ में समा लेगा। मुसलमानों के अत्याचारों से हिन्दुओं में निराशा फैल गई थी। किन्तु दो धर्मों की प्रतियोगिता नये मूल्यों को जन्म देती हैं और आध्यात्मिक उन्नति का आधार बन जाती है। फलतः युग की मॉग के अनुरूप इन परिस्थितियों में राजस्थान के धर्म–सुधारकों ने हिन्दू धर्म में आए हुए दोषों को दूर करके उसे नवीन रूप देने का प्रयास किया। इस सम्बन्ध में डॉ. के. एस. गुप्ता तथा डॉ. ओझा का कथन है कि " भारतवर्ष में तुर्की आक्रमणों के साथ ही हिन्दु धर्म पर एक बहुत बड़ा आघात हुआ जिससे राजस्थान भी नहीं बच सका। मुस्लिम शासकों ने अनेक मन्दिर ढहाए, मूर्तियाँ तोड़ी तथा हिन्दुओं को बलात् इस्लाम ग्रहण करने पर बाध्य किया। ऐसी स्थिति में हिन्दुओं का विश्चास डोलने लगा तब युग–युगीन आवश्यकता के अनुरूप कई भक्तों ने भजन–कीर्तन, मनन, नृत्य, गायन, ध्यान आदि साधनों से ईश्वर प्राप्ति का मार्ग दिखाकर यह स्पष्ट कर दिया कि ईश्वरीय शक्ति मन्दिरों तथा मूर्तियों में नहीं है, अपितु साधक अपनी साधना में संजोकर ही उसे प्राप्त कर सकता है। परिणामस्वरूप जनता का अपने धर्म से उठा हुआ विश्वास पुनः गठित होने लगा जिसका समस्त श्रेय भक्ति प्रवाह के महान् सन्तों को ही दिया जा सकता है।"

18.3.3. निम्नवर्ग के लोगों की शोचनीय दशा – राजस्थान में धार्मिक आंदोलन के उदय होने के पूर्व निम्न वर्ग के लोगों की दशा शोचनीय थी। भील, डाकोत, चमार, चाण्डाल, मच्छीमार, खटीक, भंगी आदि अछूत तथा शुद्र जातियों के अन्तर्गत आते थे। इनके धर बस्तियों के बाहर होते थे। ये लोग सार्वजनिक तालाबों , कुँओं आदि का उपयोग नहीं कर सकते थे। इनके हाथ का छुआ हुआ खाना–पीना निषिद्ध था। समाज में इन्हें घृणा की दृष्टि से देखा जाता था। अतः इन जातियों के लोगों में हिन्दू धर्म के प्रति तीव्र असंन्तोष व्याप्त था। जब समानता की भावना पर आधारित इस्लाम धर्म का राजस्थान में प्रवेश हुआ, तो इन जातियों के हजारों लोग इस्लाम की ओर आकर्षित हुए। इस स्थिति में भी हिन्दु धर्म के सन्त तथा सुधारक बड़े चिन्तित हुए और उन्होंने सामाजिक कुरीतियों, तथा धार्मिक पाखण्डों को दूर करने के लिये धार्मिक आन्दोलन शुरू किया।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

18.3.4. सूफीमत का प्रचार — सूफी सन्तों ने भी राजस्थान के धार्मिक आन्दोलन में महत्वपूर्ण योगदान दिया। सूफी सन्त विचारों के व्यक्ति थे। ये लोग हिन्दु मुस्लिम एकता के प्रबल समर्थक थे। अजमेर के मुइनुद्दीन चिश्ती ने इस्लाम के मौलिक सिद्धान्तों को बड़े सरल तरीके से लोगों को समझाया। उन्होंने अपने पवित्र आचरण तथा उच्च कोटि के नैतिक आदर्शो से जन—साधारण को अत्यधिक प्रभावित किया। उनके उपदेशों से प्रभावित होकर हजारों हिन्दु भी उनके अनुयायी बन गए। अजमेर सूफी मत का प्रमुख केन्द्र बन गया। शेख हमीदुद्दीन ने नागौर के आस—पास के क्षेत्रों में सूफी मत का प्रचार किया। सूफी सन्त भी धार्मिक आडम्बरों में विश्वास नहीं करते थे। उनके प्रभाव से हिन्दु धर्म के सुधारकों ने भी बाह्याडम्बरों का विरोध किया। इस प्रकार सूफी सन्तों के उपदेशों के कारण भी हिन्दु—मुस्लिम संस्कृतियों में समन्वय हुआ तथा सुधार आन्दोलन के लिये अनुकूल वातावरण बन गया।

18.3.5. हिन्दुओं तथा मुसलमानों में समन्वय की भावना — 14वीं शताब्दी तक भारत में मुस्लिम शासकों ने अपने पांव दृढ़तापूर्वक जमा लिए थे। मुस्लिम शासन की स्थापना के पश्चात् दीर्घकालीन सहअस्तित्व के परिणामस्वरूप हिन्दु और मुसलमान एक दूसरे के सम्पर्क में आने लगे और दोनों सम्प्रदायो के लोगों ने एक दूसरे को इस्लाम धर्म के एकेश्वरवाद तथा सामाजिक समानता के आदर्शो ने हिन्दुओं को काफी प्रभावित किया। फलतः अनेक हिन्दु धर्म सुधारकों ने भी ऐकेश्वारवाद की भावना का प्रसार किया और जाँति—पाँति और ऊँच—नीच की भावना का विरोध किया। यही नहीं राजस्थान के राजपूत शासकों ने अनेक मुसलमानों को उच्च पदों पर नियुक्त किया। जोधपुर के शासक अजीतसिंह ने अजमेर की दरगाह के लिये गाँव जागीर में दिए। इस प्रकार धार्मिक सहिष्णुता की नीति के कारण हिन्दु—मुस्लिम संस्कृतियों में समन्वय की भावना उत्पन्न हुई। कबीर आदि सन्तों ने भी हिन्दु—मुस्लिम एकता पर बल दिया। इस प्रकार की विचारधारा से राजस्थान में धार्मिक आन्दोलन को प्रोत्साहन मिला

18.3.6. साहित्य का प्रभाव — साहित्य समाज का दर्पण ही नहीं वरन् युग चेतना का प्रेरणा स्त्रोत भी होता है। किसी भी युग के साहित्य का निर्माण अपने समय को सामाजिक, धार्मिक एवं राजनीतिक परिस्थितियों के अनुरूप होता है। दूसरे शब्दों में, साहित्य युग की अभिव्यक्ति है। मध्यकालीन में ही तात्कालीन युग की समस्याओं के समाधान निहित होते है। मध्यकालीन धार्मिक आन्दोलन के प्रारम्भ में ऐसी परिस्थितियाँ उत्पन्न हो चुकी थीं जिसमें प्रभावित होकर काव्य का क्षेत्र बदल गया। मुस्लिम प्रभुत्व के स्थापित हो जाने से हिन्दु साहित्य की वीरगाथाकालीन भावना लुप्त हो गयी और इन भाषा—भाषियों पर विधर्मियों के अत्याचार बढ़ने लगे थे। इस्लाम के अनुयायी विदेशी आक्रमणकारियों ने भारत में अपना श्याम झण्डा गाड़कर भाँति—भाँति के रंग दिखाने प्रारम्भ कर दिये थे जिनसे हिन्दु धर्म तथा संस्कृति भस्मीभूत होने लगी थी। नवीन स्थितियों में काव्य को राजदरबार से हटकर विरक्त साधुओं की कुटियों में स्थान प्राप्त हुआ। फलस्वरूप आश्रयदाताओं के गुणगान के स्थान पर देश का समस्त वातावरण भगवान के कीर्तिमान से गुंजित हो उठा। वस्तुतः भारत की आध्यात्मिक कविता की परम्परा जो कुछ समय से दब गयी थी, धार्मिक आचार्यों और साधु संतो का सहयोग पाकर पुनः उभर आयी। मध्यकाल में राजस्थान में भी हरिबोल चिन्तामणि, विप्रबोध आदि कुछ ऐसे साहित्यकारों का अविर्भाव हुआ जिन्होंने अपने साहित्य के माध्यम से धार्मिक आन्दोलन में अकथनीय सहयोग दिया। प्रिबोध ब्राह्मणों ओर शेखों के कट्टर विरोधी थे। उन्होंने प्रार्थना को ईश्वर (हरि) प्राप्ति का सुगम मार्ग बताया। **'पश्चिमादिस्तोत्र'** नामक ग्रन्थ में राम, रहीम, गोरख, गेसू, पीर, मीर आदि को एक ही शक्ति के विभिन्न नामस्वरूप माना गया है। साहित्यकारों के उदार विचारों ने लोगों के धार्मिक विचारों में व्याप्त कट्टरता को कम किया जिसके परिणामस्वरूप हिन्दु और मुस्लिम दोनों ही अपने परम्परागत धार्मिक विचारों के संकीर्ण दायरे से मुक्त होकर नये उदार विचारों को ग्रहण करने लगे।

18.3.7. लोक देवताओं की परम्परा—धार्मिक आन्दोलन के पथ प्रणेता — राजस्थान के धार्मिक आन्दोलन के उदय में लोक देवताओं की परम्परा ने भी महत्वपूर्ण योगदान दिया। पुरातात्विक और साहित्यकार साक्ष्यों से ज्ञात होता है कि विभिन्न सहयोगी प्राकृतिक शक्तियों, यक्षों आदि के प्रति आस्था के कारण उन्हें विभिन्न देवों और उप देवों के रूप में पूजने की परम्परा राजस्थान में प्राचीनकाल से ही विद्यमान थी। कालान्तर में इसी आस्था के आधार पर यहाँ लोक देवताओं की आराधना प्रचलित हो गई। लोक देवता वे थे जिन्होंने अपने त्याग और बलिदान से देश और धर्म की रक्षा या सेवा की अथवा नैतिक जीवन बिताकर आदर्श प्रस्तुत किया अथवा अन्य कोई जनकल्याण का कार्य किया हो, उन्हें ही लोगों ने देवत्व प्रदान कर उनकी पूजा आरम्भ कर दी थी। संयोग से राजस्थान में धार्मिक आन्दोलन के अन्तर्गत नवीन धार्मिक प्रवृति के उदय के पूर्व ऐसे अनेक प्राण न्यौछावर कर दिये और कुछ ने परम्परागत धर्म में व्याप्त दोषों को दूर कर उसमें समयानुकूल परिवर्तन करने का प्रयास किया जिन्हें उनके इन कार्यों के कारण लोगों ने उन्हें देवत्व प्रदान कर लोक देवता के रूप में अपना आराध

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

य बना लिया। इन लोक देवताओं में गोगाजी, पाबूजी, तेजाजी, रामदेवजी, मल्लीनाथ जी आदि प्रमुख थे। गोगाजी ने मुसलमानों के शिंकजे से गायों को मुक्त करवाने के प्रयत्नों में वीरगति प्राप्त की थी। भाद्रपद के कृष्ण पक्ष की नवमी का दिन राजस्थान में 'गोगा नवमी' के नाम से जाना जाता है। इस दिन गोगाजी क्री पूजा की जाती है। इसी भाँति नागौर के खड़गाल ग्रामवासी जाट तेजाजी ने मेरों से गुजरों की गायों को मुक्त कराने में अपने प्राण गंवाये थे। नागौर के ही जायल गांव के वीर नवयुवक पाबूजी ने जीन्दराव द्धारा घेरी गई चारणों की गायों को मुक्त कराने के लिये हुये संघर्ष में 1276 ई. में वीरगति प्राप्त की थी। मारवाड़ के रावल सलखाजी के ज्येष्ठ पुत्र मलीनाथजी भी अपनी हरि भक्ति और अलौकिक कार्यो के लिये प्रसिद्ध थे। 1399 ई. में मृत्यु के पश्चात् वे भी लोक देवता के रूप में पूज्य हो गये। तँवरवंशीय राजपूत रामदेवजी अपने विचारों और कार्यो के कारण लोक देवता के रूप में मान्य हो गये। रामदेवजी भक्ति और सत्संग को ईश्वर प्राप्ति का मार्ग मानते थे और मूर्तिपूजा व जाति–पाँति के घोर विरोधी थे। उन्होंने ईश्वार भक्ति में गुरू की महत्ता का प्रतिपादन किया। यद्यपि इन वीरों, विचारकों और सुधारकों की लोक देवता के रूप में मान्यता अन्धविश्वासों का परिणाम थी, फिर भी राजस्थान के धार्मिक आन्दोलन के प्रसार में उनका योगदान अविस्मरणीय है। इस सम्बन्ध में डॉ. पेमाराम ने लिखा है कि ''इन लोक देवताओं ने मूर्तिपूजा, तीर्थयात्रा आदि बाह्राचारों का विरोध करते हुये ईश्वर स्मरण करने, सत्संग करने, अच्छे कर्म करने आदि पर जोर दिया जिससे राजस्थान के धार्मिक क्षेत्र में एक नवीन मार्ग का श्रीगणेश हुआ।'' **डॉ. गोपीनाथ शर्मा ने लिखा है कि ''स्थानीय देवताओं (लोक देवताओं) में विश्वास का तहत्व ये है कि कम से कम राजस्थान की अधिकांश जनता ने बिना धर्म सम्बन्धी ग्रन्थ पढ़े संस्कृति के मूलमन्त्र–एकता, ध्यान और नैतिक जीवन के तत्वों को समझने में सफलता प्राप्त की।''** लोक देवताओं ने अपने कार्यों और नैतिक जीवन से लागों को धर्म और सद्‌मार्ग पर चलने की प्रेरणा दी जिससे लोगों में हिन्दु धर्म के प्रति लुप्त आस्था पुनः जागृत हुई। उनके धार्मिक विचारों के कारण हिन्दु–मुस्लिम वैमनस्य की भावना कमजोर पड़ी और उनके सामाजिक विचारों तथा निम्नजाति के लोगों को ऊँचा उठाने के प्रयत्नों से जाति–पाँति व ऊँच–नीच में आस्था घटी जिसके फलस्वरूप निम्न जातियों का इस्लाम के प्रति आकर्षण कम हुआ। इस प्रकार लोक देवताओं ने धार्मिक आन्दोलन की पृष्ठभूमि तैयार कर दी।

18.4 मीरांबाई :

मीरां के जीवन, व्यक्तित्व, समय, काव्य व भक्ति और प्रसिद्धि को लेकर भिन्न–भिन्न विद्वानों ने उसको विभिन्न उपमाओं से सुशोभित किया है। 'भक्तमाल' के रचयिता नाभा जी के अनुसार वह एक गोपिका सदृश है। कही उसकी तुलना रामतीर्थ से की गई है तो कहीं दक्षिण की कवियित्री अडाल से की है। किसी ने उसकी तुलना यूनान की कवियित्री सैफो (Sappho) से की है तो किसी ने स्वर्गीय मदर टैरेसा से कर दी है। डॉ. हरमन तो उसकी तुलना ईसा मसीह से ही कर बैठे है। यह सब कहने का प्रयोजन यहां केवल इतना ही है कि विश्व के विद्वानों ने उसे विश्व में अद्वितीय बनाने का प्रयास किया है।

उपर्युक्त विभिन्न उपमाओं से अलंकृत और राजस्थानी, हिन्दी व गुजराती साहित्य की एक उत्कृष्ट स्त्री–भक्त व कवियत्री के रूप में विख्यात होते हुए भी वह आज इतिहास की एक उलझी पहेली बनी हुई है। उसके जन्म, स्वर्गवास, चरित्र, सामाजिक सम्पर्क व जीवन की प्रमुख घटनाएं आदि सब अभी तक विवादास्पद है। जिस मीरां ने अपने भक्ति–पूर्ण गीतों से आज भी भक्त–जनों को मुग्ध कर रख है, उसका जीवन अत्यधिक जन श्रुतियों से अनुरंजित होकर आज भी केवल किस्से–कहानी का ही रूप धारण किये हुए। मीरां का नाम जो इतना ख्याति प्राप्त कर चुका है, इस नाम के सन्दर्भ में भी हमारे विद्वत–जन आज भी एक मत नहीं है। डॉ. पीताम्बर दत्त ने मीरां शब्द की उत्पत्ति ही फारसी भाषा के शब्द 'मीर' से बताई है। अतः उनको मीरां उपनाम किसी मुस्लिम सन्त ने दिया था। कबीर ने अपनी रचनाओं में उन्हें 'मीरां बाई' नाम देकर ईश्वर की पत्नी बताया है। यह सही है कि मीरां अपने को कृष्ण की पत्नी मानती थी– पर बाई राजस्थानी भाषा में बहन व बेटी को कहा जाता है। श्री नरोत्तमदास स्वामी ने मीरां का मूल रूप ही 'बीरा' बताया है और बीरा राजस्थानी में भाई को कहते है। पुरोहित हरिनारायण जी की यह धारणा है कि मीरां नाम अजमेर शरीफ के एक सिद्ध मीरांशाह की मनौती के फलस्वरूप हो सकता है। अतः आश्चर्य का विषय है कि मीरां जैसी ख्याति प्राप्त भक्त के जीवन के सन्दर्भ में ही विद्वानों के मत आज भी स्पष्ट नहीं है। परन्तु डॉ. गोपीनाथ शर्मा का मत है कि राजस्थान में राजपूतों में विशेष रूप से ऐसे नाम दिए जाते थे जिनका सम्बन्ध परिचित वस्तुओं से हो उदाहरणार्थ–आस्थान के लड़के का नाम इन्दी (कांटे वाली फाटक), सातल की पत्नी का नाम फूला (भुना हुआ मक्का), गंग की स्त्री का नाम जेवड़ा (रस्सी) आदि रखे गये थे। इन्हीं उदाहरणों के अनुकूल मीरां 'मेर' से सम्बन्धित नाम है। मेर खड़ी फसल को कहते है। मीरां के परिवार का सम्बन्ध खेती से होने के कारण यह नाम चुना हो तो आश्चर्य नही। 'पीर' या 'मीर' का सम्बन्ध जोड़ना असंगत प्रतीत होता है। राजस्थान के कई प्रशस्ति–पत्रों, अभिलेखों, दान–पत्रों व कुछ पुरातन चित्रों में भी उसके जीवन–सम्बन्धी कई तथ्य प्राप्त

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

हुए है। उन तथ्यों के आधार पर ही यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि मीरां का जन्म 1504 ई. में हुआ और मृत्यु 1558 से 1563 के मध्य हुई। उसके जन्म–स्थान व वंश के सम्बन्ध में कोई मत–भेद नहीं है। यह धारणा सर्वमान्य है कि उसका जन्म मेड़ता के समीपवर्ती ग्राम कुड़की में राठौड़ वंश की मेड़तिया शाखा में हुआ था। इस शाख का प्रवर्तक राव दूदा था और मीरां उसकी पौत्री थी। मीरां दो वर्ष की हुई कि अभाग्यवश उसकी माता का देहान्त हो गया। इस कारण मीरां को राव दूदा अपने पास मेड़ता ले आये। राव दूदा ने एक गुर्जर गौड़ विद्वान पण्डित गजाधर को मीरां का शिक्षक नियुक्त किया। पण्डित गजाधर पाठ–पूजन के अतिरिक्त मीरां को विभिन्न धार्मिक व पौराणिक कथायें सुनाया करता था। कहा जाता है कि मीरां गुरू पण्डित गजाधर को विवाह होने पर अपने साथ चित्तौड़ भी ले आई थी। दुर्ग में मुरलीधर जी का मन्दिर बनवा कर उसकी पूजा–अर्चना का भार भी अपने गुरू पर ही छोड़ दिया था। कहते है मन्दिर में वही मूर्ति प्रतिष्ठित की गई थी जो मीरां को बचपन में कोई साधु दे गया था। मन्दिर में उपासना, अर्चना करने के बदले पण्डित गजाधर को माण्डल व पुर में 2,000 बीघा जमीन भी स्वीकृत की गई थी जो आज भी उसके वंशजों के पास है। इस धारणा की पुष्टि 'जयमल–वंश प्रकाश' से की जाती है।

राव दूदा तलवार का धनी तो था ही पर साथ में वह परम–वैष्णव भक्त भी था। उसी की छत्र–छाया में पलते हुए मीरां के हृदय में गिरधर–गोपाल के प्रति अनन्य आस्था उत्पन्न हो गई। डॉ. गोपीनाथ शर्मा का कहना कि मीरां में कृष्ण के प्रति निष्ठा उसकी दादी के द्वारा उत्पन्न की गई थी। कहा जाता है कि एक बार मेड़ता में एक बारात के आने पर मीरां ने अपनी दादी से पूछा के यह बारात किसकी है। दादी ने उत्तर दिया कि यह दूल्हे की बारात है। भोली मीरां ने झट से दादी से पूछ लिया कि मेरा दूल्हां कहां है? इसके प्रत्युत्तर में दादी ने कहा कि तेरा दूल्हा गिरधर गोपाल है। तभी से मीरां ने गिरधर गोपाल को ही अपना पति मान लिया था। पर सच पूछा जाय तो मीरां के हृदय में कृष्ण के प्रति भक्ति इनके पारिवारिक वातावरण ने ही उत्पन्न की थी। पिता रत्नसिंह सदैव युद्ध–रत रहते हुये भी वैष्णव–भक्त बने हुए थे। इनके चाचा वीरम देव भी वैष्णव धर्म के अनुयायी थे। मीरां का चचेरा भाई जयमल भी भक्त प्रकृति का राजकुमार था। इसीलिए डॉ. गोपीनाथ शर्मा ने लिखा है कि ऐसे विशुद्ध वैष्णव–धर्म के वातावरण का प्रभाव मीरां पर पड़ा जिससे उसके संस्कारों में एक दृढ़ भक्ति उत्पन्न हो गई। इसके अलावा समय–समय पर राज महल में उपस्थित होने वाले संन्यासी व साधु–संतो के समागम व उनके भक्तिमय उपदेशों से भी मीरां के हृदय में अकाट्य कृष्ण–भक्ति आविर्भूत हुई, इसीलिए कहा जाता है कि साधु–संगति के प्रभाववश उसका हृदय ईश्वर भक्ति एवं संसार से वैराग्य की ओर आकृष्ट हुआ जिसकी अनुगूंज उसकी रचनाओं में सर्वत्र दृष्टिगत होती है।

18.5. मीरा का वैवाहिक जीवन तथा गृह–त्याग :

मीरां का विवाह 1516 ई. में राणा सांगा के ज्येष्ठ पुत्र भोजराज से हुआ था। परन्तु अभाग्यवश विवाह के सात वर्ष उपरान्त ही भोजराज इस लोक से चल बसा। भोजराज की आकस्मिक मृत्यु ने मीरां के जीवन को एकाकी तथा संघर्षमय बना दिया। मीरां तत्कालीन प्रथा के अनुसार अपने पति के साथ सती नहीं हुई क्योंकि वह स्वयं को अजर–अमर स्वामी की चिर सुहागिन मानती थी। राजरानी मीरां का यह निश्चय मेवाड़ के राज घराने के लिए सर्वथा अप्रत्याशित था। परन्तु मीरां अब तथाकथित लौकिक बन्धनों से पूर्णतः मुक्त होकर निश्चय भाव से साधु–संगति में अपना समय व्यतीत करने लगी थी। 1527 में बाबर के विरूद्ध युद्ध करते हुए राणा परास्त हो गये थे और वे 1528 ई. में इस लोक से विदा हो गये थे। राणा के सहयोगी के रूप में युद्ध करते मीरां के पिता भी खानवा के युद्ध में शहीद हो गये थे। दादा 1515 ई. में ही इस लोक को छोड़ चुके थे। इस प्रकार मीरां अब चारों ओर से संकटग्रस्त थी। मेवाड़ में उन पर राजघराने के अत्याचार होने लगे। राणा विक्रमादित्य को उनका स्वतंत्र आचरण पसन्द नहीं था। राणा उन्हें नाना प्रकार की यातनाएं देने लगा। यातनाओं के सन्दर्भ में राणा विक्रमादित्य ने पीने को विष भिजवाया तथा डसने को सर्प भी भिजवाया। परन्तु मीरां इन यातनाओं को वैधव्य के कड़वे घूट समझकर पी गई। परन्तु ससुराल का जीवन जब असह्य हो गया मीरां चित्तौड़ का परित्याग कर पुष्कर होती हुई वृन्दावन चली गई। परन्तु राणा की कुटिल चालों से मीरां को वृन्दावन भी छोड़ना पड़ा। यहां से वह द्वारिका चली गई। वृन्दावन में मीरां की मुलाकात रूप स्वामी से हुई।

18.6. मीरां–भक्ति की पराकाष्ठा :

द्वारिका में मीरां कृष्ण–भक्ति में आनन्द विभोर हो रणछोड़ जी के मन्दिर में नृत्य करती व भजन गाती थी। जन–साधारण भी उसकी भक्ति का रसास्वादन करता था। वहीं रणछोड़ जी के मन्दिर में भगवान श्रीकृष्ण की मूर्ति के सम्मुख एकाग्र भाव से भजन–कीर्तन करते हुए मीरां ने अपना शेष जीवन व्यतीत किया। कहा जाता है कि मीरां के चचेरे भाई जयमल राठौड़ ने मेड़ता चलने का अनुरोध किया। अनुरोध अस्वीकार करने पर उन्होंने धरना देने की धमकी दी। इस दुविधा से बचने हेतु वह

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

मन्दिर में कृष्ण के पास गई और भगवान के समक्ष नृत्य करते व भाव विभोर हो भजन गाते कृष्ण की मूर्ति में ही (1540 ई.) समा गई। डॉ. गोपीनाथ शर्मा भी इस धारणा का समर्थन करते है।

मीरांबाई का काव्य उनके ह्रदय से निकले प्रेमोच्छवास का सकार रूप है। उसकी वृत्ति एकान्ततः और समग्रतः प्रेम–माधुरी में ही रमी है। अपने आराध्य 'गिरधर गोपाल' की विलक्षण रूप–छटा के प्रति उसकी अनन्य आसक्ति अनेकशः शब्द–धारा बन कर फूट पड़ी है। उसके कृष्ण के प्रति आतुरतापूर्ण व अनन्य आसक्तिपूर्ण रचे पदों के आधार पर ही डॉ. गोपीनाथ शर्मा ने लिखा है कि मीरां कृष्ण–भक्ति की तीन सोपानों से गुजरती है। प्रथम सोपान वह है जबकि वह कृष्ण की ओर लालायित रहती है। वह अपने इष्टदेव की प्राप्ति के लिए व्याकुल प्रतीत होती है। जैसे 'मैं विरहणी बैठी जागूं, जग सोवे री आली' दूसरी अवस्था वह होती है जबकि वह कृष्ण–भक्ति की उपलब्धियों से अपने को सम्पन्न पाती है। वह सन्तोष का आभास करती कहती है– ''माई मैं तो राम रतन धन पायो।'' तीसरे सोपान में मीरां को यह आत्म–बोध हो जाता है कि वह 'साजुत्य' भक्ति (जीवात्मा परमात्मा में लीन हो जाती है) की चरम–सीमा पर पहुंच चुकी है। वह अनायास ही उठ सकती है– ''महारो तो गिरधर गोपाल दूजो न कोई।''

18.7. मीरां–भक्ति का मूल्यांकन :

निःसन्देह आज मीरां हमारे समक्ष नहीं है परन्तु उसका भक्तिपूर्ण समृद्ध साहित्य हमारे सामने विद्यमान है। उसकी प्रमुख रचनाओं में 'नरसी जी का मायरो', 'गीतगोविन्द की टीका', 'राग–गोविन्द', 'मीरां की गरीबी', 'रूकमणी मडंल' आदि माने जाते है। परन्तु कतिपय विद्वानों की धारणा कि 'गोविन्द की टीका' जो संस्कृत में रचित है, महाराणा कुम्भा द्वारा रचित है। उसी प्रकार 'नरसीजी रो मायरो' रतना खाती ही रचना बताई जाती है। अतः मीरां के 'स्फुटपद' ही सर्वाधिक विश्वसनीय माने जाते है। वे स्फुट–पद ही आज सर्वाधिक लोकप्रिय बने हुए है। अपने भजनों में उसने इस विश्व से मुक्ति लेने पर ईश्वर की प्राप्ति हो सकती है। उनके मधुर–मिलन के स्वप्न संजोकर तज्जन्य आनन्द को मीरां ने अनेक विधि व्यंजित किया है। किन्तु उसकी चिन्ता कविता का प्रमुख विषय उसकी विरह–वेदना है।

प्रेमोन्मादिनी मीरां का एक–एक पद उसके ह्रदय ही व्याकुलता का परिचायक है–यथा

बिरहनी बावरी सी भई।
ऊँची चढ़ि चढ़ि अपने भवन से टेरत हाय धई।
ले अंचरा मुख अंसुवन पौंछत उघरे गात सही।
मीरां के प्रभु गिरधर नागर बिछुरत कछु न कही।।

अतः स्पष्ट है कि जिस सगुण भक्ति की सरिता को भक्त कवि सूर व तुलसी ने स्रवित किया था– मीरां ने भक्ति, वात्सल्य तथा श्रृंगार की त्रिवेणी से ओत–प्रोत भावपूर्ण भजनों से उस सरिता के प्रवाह को और प्रखर बना दिया। भक्ति–काल में मीरां के समकक्ष अन्य नारी–भक्त नहीं थी। मीरां के पदों में सांसारिक बन्धनों से मुक्ति पाकर ईश्वर की भक्ति में पूर्ण समर्पण की भावना दृष्टिगत होती है। मीरां का धर्म अपने आराध्य ही ह्रदय से भक्ति करना था। उसकी भक्ति परम्परागत रूढ़ियों से मुक्त थी। ह्रदय से कोमल होने के कारण उसकी भक्ति ज्ञान–प्रधान न होकर भावना–प्रधान थी। अपनी इसी विशेषता के कारण वह जन–साधारण को कृष्ण की भक्ति में निमग्न कर सकी। बोलचाल की भाषा में होने के कारण उनकी रचना अशिक्षित नर–नारियों के भी गले उतर गई। यही कारण है कि प्रेम भक्ति की दीवानी मीरां राजस्थान, गुजरात व पश्चिमी उत्तरप्रदेश के लोगों को कृष्ण का भक्त बना गई। मीरां के साहित्य के सन्दर्भ में डॉ. मोतीलाल मिनारिया कहते है कि मीरां प्रेम और भक्ति की दीवानी थी, आध्यात्मिकता, आकुलता और भक्त–ह्रदय का अटल विश्वास इनकी कविता में अपूर्व रूप से झंकृत है। साहित्यिक दृष्टि से चाहे उसकी रचनाएं उच्च न मानी जावें परन्तु भाव–पक्ष की दृष्टि से वे इतनी रसपूर्ण उतरती है कि आज भी मीरां के भजन जन–जन के कण्ठों से मुखरित होते सुनाई पड़ते है।

18.8. मूल्यांकन :

मध्यकालीन नारी सन्तों में मीरा का स्थान सर्वोपरि है। उसकी भक्ति सम्बन्धी अवधारणा ने मध्यकालीन भक्ति, आन्दोलन को महान् सम्बल प्रदान किया।जिस समय सम्पूर्ण उत्तरी भारत राजनीतिक, सामाजिक और धार्मिक क्षेत्र में क्यान्त था और उसमें संक्रमण काल प्रवाहमान था। उस युग में राजस्थान के जनसाधारण को धर्म के रथ पर आरूढ़ करने में मीरा की भक्ति भावना ने अपूर्व योगदान किया।मीरा की भक्ति भावना ही नहीं वरन् उसकी रचनाए भी भारतीय काव्य की अमूल्य निधि है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

इस सम्बन्ध में डॉ. गोपीनाथ शर्मा ने लिखा है कि "मीरा के अवसान को युग बीत गये है किन्तु वे हमारे लिये एक समृद्ध भक्ति साहित्य छोड़ गई है जिसे उन्होंने रच–रच कर गाया और उसके द्धारा अपना ही नहीं अन्य भक्तों के मार्ग को भी स्पष्ट किया। एक कवियत्री के रूप में मीरा की तुलना दक्षिणी भारत की कवयित्री अडाल और यूनान की कवियत्री साफो से की जाती है।" मीरा एम. दिवाकर ने उसे 'राजस्थान की राधा' की संज्ञा दी है। मीरा के साहित्य के बारे में डॉ. मोतीलाल मेनारिया का कथन है कि "मीरा प्रेम और भक्ति की दीवानी थी, आध्यात्मिक, आकुलता और भक्त–हह्रय का अटल विश्वास इनकी कविता में अपूर्व रूप में झंकृत है। साहित्यिक दृष्टि से उनकी कविता कोई बहुत ऊँची नहीं है, परन्तु स्वाभाविक तथा भक्ति भावपूर्व होने से एक भक्त–हह्रय को मुग्ध करने में वह फिर भी अद्वितीय है। सूर सचमुच हिन्दी साहित्यकाश के सूर्य हैं परन्तु इतना सब होते हुए भी मीरा के पदों में जो रस है, तीठा–सा दर्द है, वह उनमें भी नहीं आ पाया है।" मीरा ने राजस्थान में सगुण भक्तिरस की गंगा प्रवाहित की। डॉ. गोपीनाथ शर्मा लिखते है कि "मीरा आज नहीं है, परन्तु वह हमारे लिए समृद्ध भक्ति–साहित्य को छोड़ गई है उन्होंने रच–रच पर गाया और उसके अपना ही नहीं, अन्य भक्तों के मार्ग को स्पष्ट किया। उनका धर्म भक्ति का, जिसमें उपकरणों तथा रूढित्रयों का कोई स्थान नहीं था– वह दिखावों, ढोंग तथा परम्परागत मिथ्या मान्यताओं से परे थीं। इन अर्थ में वे नवयुग की अगुवा थी।"

18.9 बोध प्रश्न :

प्रश्न 1 मीरा का विवाह किसके साथ हुआ था?

अ. राणा सांगा ब. राणा गांगा

स. भोजराज द. उदयराज

उत्तर – ....

प्रश्न 2 राजस्थान में धार्मिक आंदोलन से क्या तात्पर्य है?

उत्तर – ....

प्रश्न 3 'मीरा मध्यकालीन धार्मिक सन्तों में सर्वोपरि थी' सिद्ध करिये।

उत्तर – ....

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

इकाई – 19
धार्मिक आन्दोलन : दादू दयाल के नेतृत्व में

संरचना

19.0 उद्देश्य
19.1 प्रस्तावना
19.2 दादू का जीवन चरित्
19.3 दादू की शिक्षाएँ
  19.3.1 दार्शनिक पक्ष
  19.3.2 साधना पक्ष
  19.3.3 सामाजिक पक्ष
19.4 दादू पन्थ
19.5 दादू पन्थ के सिद्धान्त
19.6 दादू पन्थ का विभाजन और उनकी शाखाएँ
  19.6.1 खालसा
  19.6.2 उत्तरादी या स्थानधारी
  19.6.3 खाकी
  19.6.4 विरक्त
  19.6.5 नागा
19.7 मूल्यांकन
19.8 बोध प्रश्न

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

19.0 उद्देश्य :

इस इकाई में प्रसिद्ध धार्मिक सन्त दादू की वाणी को, सिद्धान्तों को, साधना को, सामाजिक चिन्तन, दार्शनिक चिन्तन को व्यक्त किया गया है तथा साथ ही दादू पन्थ के विभाजन एवं शाखाओं को भी विवेचित किया गया है।

19.1. प्रस्तावना :

16वी शताब्दी में राजस्थान के धार्मिक आन्दोलन के चक्र को गतिशील बनाने वाले दार्शनिकों, धर्म सुधारकों और स्वतन्त्र विचारकों में व्यक्तित्व और कृतित्व की दृष्टि से दादू का नाम अग्रणी है। मीरा की भाँति दादू के जीवन के अनेक पक्ष भी विवादास्पद है। डॉ. रामकुमार वर्मा दादू का जन्म 1601 ई. में मानते है, किन्तु आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, **डॉ. बड़थ्वाल** और **श्री परशुराम चतुर्वेदी** के अनुसार उनका जन्म 1544 ई. में हुआ था। अधिकांश विद्वान् दादू का समय 16वीं शताब्दी ई. ही मानते है, अतः यह तिथि सत्य के निकट प्रतीत होती है। दादू की जाति और जन्मस्थान के सम्बन्ध, में भी मतभेद है। पं. सुधाकर द्विवेदी दादू को मोची जाति का मानते है और जौनपुर को उनका जन्मस्थान तथा डॉ. हजारीप्रसाद द्विवेदी, विल्सन, माहसिन फानी, आदि विद्वान् उत्पन्नों, दादू योगेन्द्रा महामुनि उक्ति'' भी दादू के धुनिया मुसलमान होने की पुष्टि करती है। वर्तमान में भी इसी धारणाा को अधिक मान्यता प्राप्त है। डॉ. मेनारिया दादू का जन्म स्थान साम्भर के समीप किसी गाँव में हुआ बताते हैं, किन्तु दादू पंथ की परम्परा के अनुसार दादू का बचपन अहमदाबाद में व्यतीत हुआ था।

19.2. दादू का जीवनचरित् :

सन्त दादू का जन्म 1544 ई. में हुआ था। इनके माता–निता के सम्बन्ध में कोइ जानकारी नहीं मिलती। किन्तु परम्परा के अनुसार दादू लोदीराम नामक नागर ब्राह्मण के पालित पुत्र थे। कहा जाता है कि लोदीराम को दादू साबरमती नदी में बहते हुये मिले थे। लोदीराम ने उन्हें बचा लिया और उनका पालन–पोषण किया। 7वर्ष की आयु में इनका विवाह कर दिया गया। संयोग से ग्यारह वर्ष की अवस्था में दादू की भेंट बुद्धानन्द (ब्रह्मानन्द या बुढ्ढन बाबा) से हुई जिन्होंने दादू को दीक्षा दी। इसके पश्चात् दादू ने घर–बार छोड़ दिया और चिन्तन और साधना में व्यस्त हो गये। दादू के जीवन के प्रारम्भिक 25 वर्षो के बारे में कोई

जानकारी नहीं मिलती। सम्भवतः बुद्धानन्द से दीक्षित होने के बाद वे इधर–उधर घूमते रहे और इस दौरान उन्होंने ईश्वर भक्ति के साथ अपने ज्ञान में वृद्धि की। इस समय में वे सिरोही, कल्याणपुर, अजमेर और नागौर भी आये। 16 वर्ष की आयु में वे आबू होते हुये नागौर के निकट करडाला नामक गाँव में पहुँचे, जहाँ एक पहाड़ी पर उन्होंने 6 वर्ष तक कठोर तपस्या की। तदनन्तर 1568 ई. में वे साम्भर आ गये और धुनिया का काम करने लगे। इसी समय उन्होंने अपने नवीन धार्मिक विचारों का प्रचार आरम्भ कर दिया। उन्होंने निर्भीकतापूर्वक हिन्दुओं तथा मुसलमानों के धार्मिक अन्धविश्वासों तथा पाखण्डों का विरोध किया। परिणामस्वरूप दोनों ही सम्प्रदायों के रूढ़िवादी लोग दादू से नाराज हो गए और उनका विरोध करने लगे। साम्भर के काजी ने भी दादू को अनेक कष्ट दिये। किन्तु इसके उपरान्त भी वे निश्चिन्त होकर अपने विचारों का प्रचार करते रहे। शीघ्र ही हजारों लोग उनके अनुयायी बन गए। 1575 ई. में दादू अपने शिष्यों सहित आमेर पहुँचे जहाँ वे लगभग 14 वर्ष तक रहे। उनके विचारों से आमेर नरेश भगवन्तदास बड़े प्रभावित हुए। इस मध्य 1685 ई. में मुगल सम्राट अकबर के निमन्त्रण पर दादू फतहपूर–सीकरी पहुँचे, जहाँ उन्होंने कई दिनों तक धर्मोपदेश दिया। वहाँ से वे वापिस आमेर आ गए। 1602 ई. में सन्त दादू नरायणा नामक गाँव में बस गए और अपने जीवन के अन्तिम दिन यहीं व्यतीत किये। इसी स्थान पर 1603 ई. में सन्त दादू की मृत्यु हो गई। उनकी समाधि स्थल पर वहाँ एक जलाशय के निक्ट उनकी स्मृति में एक सुन्दर संगमरमर का भवन बना हुआ है।

19.3. दादू की शिक्षाएं :

राजस्थान के हस्तलिखित ग्रन्थ–भण्डारों में 'दादूजी की वाणी' की प्रतियां बड़ी संख्या में उपलब्ध होती है जिनके अध्ययन से हम दादू के भाव, विचार और सिद्धांतों की जानकारी कर सकते है

19.3.1. दार्शनिक पक्ष — दादूजी ने भी अपने संतों की तरह बाह्य, जीव, माया, मन, जगत, मोक्ष इत्यादि पर अपने विचार सरल व साधारण भाषा में व्यक्त किये है जिससे रहस्यमय सिद्धांतों को अनपढ़ व साधारण–ज्ञान वाले व्यक्ति भी आसानी से समझ सके। ब्रह्म का लक्षण बताते हुए वे कहते है कि परमेश्वर परब्रह्म, स्वयं–भू परम–प्रभावरूप, निराकार, परम–ज्योतिरूप, माया से परे, क्रिया–रहित, सुस्थिर, सदा–एकरस है। निराकार होने से उसके हाथ पैर, सिर और मुख नही है। मुख न होने से श्रवण, नेत्र का होना तो कहा ही कैसे जा सकता है। किन्तु फिर भी वह सब कुछ देखता–सुनता है। इसी सम्बन्ध में वे फिर कहते है, "सभी दिशाएं उसका मुख है, सभी दिशाएं उसे कान है, सभी दिशाएं उसके नेत्र है, सभी दिशाएं उसके चरण है, सभी दिशाएं उसके शीश है। वह सभी दिशाओं से नाना रूपों में परिव्यास है और उसके सभी अंग समस्त दिशाओं में फंसे हुए है। दादूजी के अनुसार वह दयालु सर्वत्र समाया हुआ है, रोम–रोम में रमा हुआ है। मैं जिस और दृष्टि डालता हूं वही सिरजनहार दिखाई पड़ता है। इस प्रकार पानी में प्रवेश कर आंखें खोलने पर चारों और जल–बिम्ब ही दिखाई देता है, ऐसे ही हलका कह सकते है न भारी, जिसका न नाम है न तोल, आगा है न पीछा। उसका कहना है कि कितने ही पारखी प्रयत्न करते–करते थक गये, पर परख न कर सकें, यहां तक कि ब्रह्मा, सनकादिक और नारद भी नेति–नेति कहते है।

सर्व–शक्तिमता — ईश्वर की सर्व–शक्तिमता का वर्णन भी दादूजी ने अनेक साथियों में किया है। इनका कहना है कि ईश्वर यदि चाहे तो कीड़ी को कुंजर (हाथी) और कुंजर को कीड़ी, राई को पर्वत और पर्वत को राई, जल को थल और थल को जल में बदल सकते है। सृष्टि का अणु–अणु, परमाणु–परमाणु उसी ईश्वरीय शक्ति से गतिमान है। वे फिर कहते है, "वे प्रभु सब प्रकार से समर्थ है। वह आकाश को धरती और धरती को आकाश में बदल सकते है। वह दिन को रात और रात को दिन बनाने में सक्षम है। वह मृतक को जलाने और जीवित का प्राणहीन बनाने में समर्थ है। प्रभु की शक्ति अपार एवं अवर्णनीय है।

जीव — दादूजी का कहना है कि जीव वस्तुतः ब्रह्म का ही एक रूप है, किन्तु माया में संलग्न हो जाने के कारण वह ब्रह्म से अत्यन्त दूर एवं पृथक हो गया है। यही जीव जब माया के आवरण से मुक्त हो जाता है, तब ब्रह्म रूप हो जाता है। वे कहते है कि जैसे जल में प्रतिबिम्ब रूप से आकाश विद्यमान है तथा जल की सत्ता आधारभूत व्यापक आकाश में है। अतः जल भी आकाश में है। अतः बाहर–भीतर आकाश का जल से सम्बन्ध होने पर भी आकाश जल से निर्लिप्त ही रहता है। वैसे ही जीवन में शुद्ध चैतन्य प्रतिबिम्ब रूप से विद्यमान तथा जीव भी आधारभूत शुद्ध चैतन्य के आश्रित हैं अतः बाहर–भीतर जीव का ब्रह्म से सम्बन्ध होने पर भी वह जीव के रूपों से युक्त नहीं होता। दादूजी कहते है कि जीव कर्मो के वश में है और ब्रह्म कर्मरहित है, परन्तु जब दिल दयाल से मिल जाता है, तब कुछ भी अन्तर नहीं रहता और आत्मा तथा परमात्मा उसी प्रकार से एक हो जाते है जिस प्रकार पाला और पानी एकीभूत हो जाते है।

माया — आत्मा व परमात्मा के बीच अन्तर डालकर दोनों की पृथक प्रतीति कराने वाली शक्ति ही माया है जिसके विभिन्न रूपों का विस्तार से वर्णन दूदजी ने अपनी साखियों में किया है। इनका कहना है कि यह माया मिष्टभाषणी है। पहले तो झुक–झुक कर लोगों के पैर लगती है, फिर दाव पाकर पेट में घुसकर कलेजा निकालकर खा जाती है। वे कहते है कि

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

सारा संसार इस माया के चक्कर में फंसा हुआ है। खाते पीते, खेलते, सीते, विलास करते वह नष्ट हो रहा है। इस माया रूपी डाकिनी ने न जाने कितले लोगों को काल कलवित कर लिया है। माया विकारों की गठरी है जिसका आकर्षण प्रबल है कि सहज ही कोई नहीं छोड़ सकता। दादूजी कंचन और कामिनी को माया का प्रतिनिधि मानते हुए कहते है कि इसका प्रसार सर्वत्र है और वह सबको किसी न किसी रूप में बंधन में डाले हुए है तथा कोई भी उससे बच नहीं पाया है। यहां तक कि माया की प्रबलता का लोहा बड़े–बड़े सिद्ध, मुनि, ब्रह्म, विष्णु, महेश भी स्वीकार करते है।

मन – दादूजी के अनुसार यह मन अत्यंत चंचल है। इसको वश में रखना अत्यंत दुःसाध्य है। शरीर को तो वश में किया जा सकता है पर मन का निग्रह करना अत्यंत दुष्कर है। यह मन बड़े–बड़े ऋषि, मुनि एवं तपस्वियों को भी पथभ्रष्ट कर देता है। दादूजी 'काचा' व 'पाका' दो रूप में मन को विभाजित करते हुए कहते है कि 'पाका' मन निश्चल होकर निरंतर ईश्वर चिन्तन में संलग्न रहता है जबकि 'काचा' मन चारों दिशाओं में घूमता फिरता है। वे कहते है कि यह मन पतंग की भांति आकाश में अत्यंत चंचल गति से उड़ता है, पर उनका यह भी कहना है कि यदि ईश्वरीय प्रेम के जल में भिगो दिया जाये, तो इसकी उड़ान बन्द हो जाती है।

जगत – इस विषय में दादूजी का विचार है कि ईश्वर ही इस जगत का रचयिता है। इसकी रचना उसने 'लीला अथवा क्रीड़ा' के लिए की है और इसका प्रयोजन लोकानुग्रह की भावना है। सृष्टि के कम के सम्बन्ध में इनका कहना है कि ब्रह्म से ओंकार की उत्पति हुई, ओंकार से पांच तत्वों (पृथ्वी, जल, वायु, आकाश, अग्नि) की उत्पत्ति हुई। इन पांच तत्वों से घट (शरीर) का निर्माण हुआ और बहुविध जगत का प्रसार हो गया। दादूजी इस जगत को मिथ्या मानते हुए यह कहते है कि यह असत्य जगत मायाविष्ट जनों को उसी प्रकार सत्य दिखाई पड़ता है, जिस प्रकार स्वप्न में सब कुछ प्रत्यक्ष होने पर भी जागने पर कुछ नहीं रहता। उनकी दृष्टि में यह संसार झूठ है, परिवार झूठ है, स्त्री–पुरूष झूठ है, यह कुल और जातियां सब झूठ है, माता–पिता, बन्धु, भ्राता के सम्बन्ध भी झूठ है, शरीर झूठ है, सारे धन्धे झूठ है और सारे जाल झूठ है। एक मात्र परमात्मा परब्रह्म सत्य है और उसी की प्राप्ति के लिए प्रयत्न करना चाहिये।

मोक्ष – दादूजी का मरणोपरान्त मोक्ष (मुक्ति) में विश्वास नहीं था। उनका कहना है कि यदि मरने के पश्चात् मुक्ति हो, तब तो मरने पर सभी को उस ब्रह्म में मिल जाना चाहिये किन्तु ऐसा नहीं होता। अतः वे जीवन–मुक्ति को ही वास्तविक मुक्ति मानते है। उनका मत है कि मनुष्य ईश्वरोपासना द्वारा या नामोच्चारण द्वारा मन, इन्द्रिय व प्राण का निरोधा करता हुआ देहादि के इकाई को सर्वथा नष्ट कर दे और शुद्ध निरंजन आत्मा में अपनी सुरक्षित को अविच्छन्न रूप से लगा दे जिससे सर्वदा उस शाश्वत आनन्द की अनुभूति होती रहे और किसी भी प्रकार के दुःख की प्रतीति न हो। जीते जी इस दशा को प्राप्त करना उनके मत में वास्तविक मुक्ति है। इनका कथन है कि मुक्ति इसी संसार में और इसी शरीर में प्राप्त हो सकती है। इसके लिए लोकान्तर गमन की आवश्यकता नही। मरने पर वे लोकान्तर में जाने पर मुक्ति मिलेगी, इन बातों को वे सर्वथा मिथ्या व पाखण्ड मानते थे। वे फिर कहते है कि जीवितावस्था में हरि ज्ञान द्वारा ब्रह्म का साक्षात्कार करने से जिनके सब भ्रम और अनेक संचित कर्म नष्ट हो जाते है वे ही जीते–जी मुक्त होकर ब्रह्म प्राप्ति–रूप सद्–गति को प्राप्त हुए है।

सद्–गुरू – दादूजी ने कबीर की भांति गुरू महिमा को बड़ा महत्व दिया है। इनके अनुसार उस निराकार एवं सर्वव्यापी ब्रह्म को प्राप्त करने के लिए गुरू ही मार्ग प्रदर्शक होता है और वे ही अपनी ज्ञान रूपी नौका द्वारा शिष्य को भव–सागर से पार उतारता है। वे गुरू के महत्व को प्रतिपादित करते हुए कहते है कि यदि लाखों चन्द्रमा और करोड़ों सूरज उदय हो जायें तो भी बिना गुरू के अन्धकार नही जा सकता। वे फिर कहते है कि सद्–गुरू में अपरिचित शक्ति होती है। वे पशु से मनुष्य, मनुष्य से ज्ञानी और ज्ञानी से देवता बना सकता है। देवता से ब्रह्म भी बनाने में वे समर्थ है। दादूजी की दृष्टि में सद्–गुरू का शब्दोंपदेश शास्त्रों और धर्म–ग्रंथों से भी ऊपर है। उसके उपदेश से उस सन्मार्ग की प्राप्ति हो जाती है जिसे वेद और कुरान भी नहीं बता पाते तथा जिसका अनुसरण कर ब्रह्म से मिलाप हो जाता हे। लेकिन, गुरू किस प्रकार का होना चाहिये? इस सम्बन्ध में इसके लक्षण बताते हुए वे कहते है कि जो राम रूपी भक्ति–रस में मस्त हो और अपने उपदेश द्वारा एक क्षण में ही भव–सागर से पार उतारकर प्रभु का दर्शन करा सके वही सद्–गुरू है।

19.3.2. साधना–पक्ष – दादूजी की साधना निरंजन और निर्गुण ब्रह्म की प्राधान्य को लेकर है और इनका कथन है कि अहम्त्व का परित्याग, संयम, नियम, साधु–संगति, निर्वेरता, हरि–स्मरण, अन्तर्ध्यान आदि उपासना के सच्चे साधन है, जिससे ईश्वर की प्राप्ति हो सकती है।

अहम्त्व की भावना का परित्याग – दादूजी जितना लक्ष्य–प्राप्ति का विरोधी आपा अर्थात् अहंकार को समझते है, उतना और किसी वस्तु को नहीं। इनका कथन है कि जहां अहम् विद्यमान है, वहां परमात्मा नहीं है और जहां अहंकार नहीं

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

है, वहां परमात्मा की सत्ता है। ये दोनों एक जगह नही रह सकते। यह ममत्व ही द्वैत है। इस ममत्व के मिटने पर द्वैत स्वतः शान्त हो जाता है और अद्वैत शेष रह जाता है।

तन मन के विकारों का परित्याग – दादूजी का कहना है कि अहम् का परित्याग मन के निग्रह के बिना असंभव है क्योंकि जब–तक मन विषय–विकारों में फंसा हुआ है तब–तक हरि–स्मरण की आशा करना निरर्थक है। यदि मन मैला है तो तन भी उज्जवल नहीं हो सकता और कोटि यत्न करने पर भी विकार दूर नहीं हो सकते। अतः तन के विकारों के परिहार के लिए मन की निर्मलता आवश्यक है।

विरहानुभूति – मन की निर्मलता के लिए दादूजी ने विरह को साधन बताया है। इनका कहना है कि विरह रूपी अग्नि में मन के सारे विकार नष्ट हो जाते है और बाद में वह ईश्वर में मिलन हेतु तड़प उठता है। वे फिर कहते है कि विरह–सरिता की प्रेम–तरंग में यह मन विषयाशा–रूपी पैरों से रहित होकर निश्चल हो जाता है और राम–नाम–स्मरण द्वारा सब अहंकार नष्ट हो जाने पर वह क्षण–भर के लिए भी स्मरण नहीं त्यागता। विरह द्वारा मन को उस ब्रह्म में लगा देने से मन व तदनुगामी इन्द्रियां भी उसी ओर लगी रहती है जिससे आत्मा का उससे तदरूप हो जाना ही सहज हो जाता है।

साधु–संगति – मन को हरि–स्मरण में लगाने के लिए दादूजी ने साधु–संगति को अनिवार्य बताया है। इनका कहना है कि साधु के सम्पर्क में आने पर ही ह्रदय में भगवान के प्रति प्रेम का प्रादुर्भाव होता है लेकिन साधु की संगति प्रभु की कृपा होने पर ही प्राप्त होती है। वे पुनः कहते है कि केवल साधुओं के सत्संग में ही सच्चे प्रेम का स्वाद मिलता है, अन्यत्र कहीं ढूंढने पर भी उपलब्ध नहीं होता। यदि कोई राम के मिलने के लिए उदास हो, तो उन्हें साधुओं के निकट उसे खोजना चाहिये, राम उन्हीं के पास रहता है।

अन्तर्ध्यान एवं हरि–स्मरण – मन के ईश्वर की ओर उन्मुख हो जाने के बाद दादूजी ने किसी कष्टकर मार्ग को न अपनाकर उसे अन्तर्मुख बनाकर अपनी समस्त वृत्तियों को निरन्तर आत्मा में लगाने को ही आत्म–साक्षात्कार का प्रधान कारण माना है। ''जो ब्रह्माण्ड में है, वह काया में भी है,'' इस तथ्य का प्रतिपादन करते हुए वे ईश्वर को घट में ही ढूंढने का बार–बार उपदेश देते है। इसका कहना है कि गुरू–देव के उपदेश द्वारा अपनी वृत्ति को ब्राह्य विषयों से पीछे की और लौटाकर तथा आत्मा में लाकर जो निरन्तर ब्रह्मात्मा के अभेद–चिन्तन में लगा रहता है, वही बुद्धिमान साधक है। दादूजी के अनुसार यह हरि–स्मरण केवल वाचिक ही नहीं आन्तरिक अर्थात् मानसिक होना चाहिये। इस सम्बंध में वे कहते है कि जब स्मरण करते–करते इष्ट–नाम शरीर के रोम–रोम में तथा मन की प्रत्येक मनःस्थिति में समा जाय और त्रिकाल में एक–रस रहने वाले ब्रह्म को भूलकर सांसारिक विषयों में कभी न जाय, तब जानना चाहिये कि साधक ने वास्तविक नाम स्परण किया है। वे पुनः कहते है कि प्रतिक्षण नाम का जप करते–करते यदि प्राण भी प्रयाण कर जाय तो भी नाम, जप का तान नहीं टूटना चाहिये क्योंकि आत्मोद्धार का अन्य कोई आधार अथवा अवलम्ब नहीं है। हरि–स्मरण की प्रक्रिया बताते हुए दादूजी कहते है, ''नाम–माहात्म्य सुनना नाम–स्मरण की प्रक्रिया बताते हुए दादूजी कहते हैं, ''नाम–माहात्म्य सुनना नाम –स्मरण–साधना की प्रथमावस्था है। महात्म्य सुनाकर साधक साधारण जप में प्रवृत्त होता है। दूसरे को न सुनाई दे, ऐसे जिह्वा से जपना दूसरी अवस्था है। ह्रदय में चिन्तन करना तृतीयावस्था है। नाम में अखण्ड वृत्ति लगाने पर जब रोम–रोम में चिन्तन होने लगता है, तब वह चतुर्थावस्था कहलाती है और इस चौथी अवस्था का अन्तिम परिणाम ही जीव ब्रह्म की एकता है। वे फिर कहते है कि लय योग–साधक का परमात्मा में एक–रूप ध्यान लगा रहना चाहिये। इसका तार भंग न हो। यदि जीवित दशा में यह तार न टूटे, तो मरण के उपरान्त भी यह तार नही टूट सकता और आत्मा–परमात्मा मं मिल जायेगी।

यदि हम संत दादू की साधना के सम्बन्ध में निष्कर्ष रुप में कहना चाहे तो कह सकते है कि उन्होंने बहिमुखी साध्ाना के आडम्बर का खण्डन कर अन्तर्मुखी साधना पर बल दिया है।

19.3.3. सामाजिक पक्ष – दादूजी ने अपनी वाणी में स्थान–स्थान पर समाज में प्रचलित अनेक प्रकार के आडम्बर, ढोंग एवं वर्ग–भेद का निर्भीक किन्तु विनम्र भाव से खण्डन किया। वे तीर्थो की महता को अस्वीकार करते हुए कहते है कि लोग कितने मूर्ख है जो अन्तर्यामी ईश्वर को ढूंढने द्वारिका, काशी और मथुरा जाते है। इन्होंने विविध प्रकार के साम्प्रदायिक वर्गो के बाह्याचारों का भी अत्यंत तर्क–संगत और मधुर शैली में निषेध किया है एवं उसके स्थान पर अन्तःकरण की शुद्धता पर जोर दिया है। इनका कहना है कि माया के संग्रह के लिए सिर मुंडाकर भेष बना लिया। किन्तु परब्रह्म से परिचय होने का कुछ भी साधन नहीं किया–ऐसे कपट से किसी को भी ब्रह्म प्राप्ति नहीं होती। इनका कहना है कि दर्शनी, जोगो, जंगम, सेवड़े, बोध, संन्यासी और शेष सभी कपट–वेश बनाये लोक–वंचना करते है। इनका कहना है कि नाना प्रकार के वेश बनाने से परमात्मा नहीं मिलते।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

दादूजी ने मस्जिद में जाना, रोजा रखना, कलमा एवं नमाज पढ़ना आदि को भी स्वीकार नहीं किया। उन्होंने अपने शरीर को ही मन्दिर और मस्जिद मानते हुए सच्चा उपासना–गृह शरीर के भीतर अन्तःकरण को माना है तथा मन को एकाग्र करके भीतर ही सेवा–भक्ति करने को कहा है।

दादूजी ने कहा है कि सांसारिक सभी प्राणी मिथ्या का ही सेवन करते है। उनके देव, पुजारी, सेवा, पसारा पूजा, यात्रा आदि सभी मिथ्या है। प्राणी मिथ्या पदार्थो के पाक बनाते है, मिथ्या–पर्दा लगाते हे, मिथ्या–भोग लगाते है और मिथ्या ही थाल बजाते है। झूठ कलियुगी–प्राणी सब प्रकार के मिथ्या को ही मानते है। दादू के अनुसार दान, पुण्य, तप, तीर्थ आदि केवल प्रभु का नाम ही है और यहीं सब उसकी सेवा–सामग्री है।

हिन्दू–मुसलमान यह मानव–कल्पित वर्ग भेद दादूजी की दृष्टि में भ्रम–मात्र है, इनमें कोई भी सार नहीं है। इनका कहना है कि यदि मूल कारण पर विचार किया जाय तो दूसरा कौन सिद्ध होगा? सभी जीवात्माएं एक ईश्वर से उत्पन्न होने के कारण एक परिवार की ही ईकाई है। क्या हिन्दू और क्या मुसलमान सभी के शरीरों में एक ही आत्मा है। जैसे दोनों हाथ, दोनों पग, दोनों कान, दोनों नेत्र बराबर है, वैसे ही हिन्दू–मुसलमान दोनों विराट–काया की सम–इन्द्रियां हैं वे भ्रातृ–भाव के सूत्र में बंधी हुई है। दादूजी ने दार्शनिक वादविवाद और मत–भेदों का भी खण्डन करते हुए यह कहा है, "न हम हिन्दू बनेंगे न मुसलमान। भट्दर्शन के पचड़े में भी हम नहीं फंसना चाहते। हम तो दयालु राम के चिन्तन में रत है। हमें अन्यों से क्या काम है?" वे फिर कहते है, "हिन्दू कहता है– मेरा मार्ग वरेण्य है, मुसलमान अपने को श्रेष्ठ बताता है, किन्तु इन दोनों पक्षों से परे ब्रह्म–ज्ञान है।"

उपर्युक्त पक्षों को देखने पर दादू और कबीर के सिद्धांतों में साम्यता दिखाई देती है। यद्यपि कबीर में उग्रता झलकती है, वहां दादू में विनम्रता का भाव है।

19.4. दादू पन्थ :

दादू स्वयं अपना काई पन्थ या सम्प्रदाय चलाना चाहते थे या नहीं, यह स्पष्ट नहीं है। किन्तु दादू के जीवनकाल में ही अनेक व्यक्ति उनके शिष्य बन गये थे जिन्होंने उनके जीवनकाल में ही उनके मार्ग को 'दादूपन्थ' की संज्ञा दी और स्वयं को 'दादूपन्थी' कहने लगे। दादू के अनेक शिष्यों में से राघोदास ने अपनी 'भक्तिमाला' में 152 शिष्यों को और गोपाल ने 'दादूजन्म परची' में 52 शिष्यों को प्रमुख माना है। स्वामी मंगलदास के अनुसार इन 152 शिष्यों में से 100 वीतरागी अर्थात् एकान्तिक थे जिन्होंने अपना कोई शिष्य नहीं बनाया जिससे उसकी परम्परा समाप्त हो गई और शेष 52 शिष्यों के थाम्भों से 'दादूपन्थ' का उदय और प्रसार हुआ। वर्तमान में इनमें से 25–26 थाम्भे ही प्रचलन में है। शेष 23 थाम्भे अब समाप्त हो चुके हैं और 4–5 थामों में साधु तो है किन्तु महन्त नहीं है। कतिपय भिन्नताओं के होते हुये भी इन सभी थाम्भों के महन्त और साधु दादू की नरायणा गद्दी के थाम्भे और महन्त के प्रति विशेष निष्ठा रखते हैं।

नरायणा इस ग्रन्थ का प्रमुख केन्द्र है। दादू के ब्रह्मलीन होने के पश्चात् उनकी परम्परा और विचारों की स्वायित्व प्रदान करने के लिये उनके शिष्यों ने दादू के पुत्र गरीबदास को उनके उत्तराधिकारी के रूप में नरायणा थाम्भे की गद्दी के आचार्य (महन्त) की गद्दी पर बिठाया। उसके बाद यह परम्परा अभी तक अनवरत चल रही है।

19.5. 'दादूपन्थ' के सिद्धान्त :

दादू के अनुयायियों को दो वर्गों में विभाजित किया जा सकता है–प्रथम वर्ग में दादू में आस्था रखने वाले गृहस्थ सम्मिलित हैं जो दादू के विचारों और सिद्धान्तों के अनुरूप जीवनयापन करते हैं और दादू पन्थी साधुओं की सेवा करना अपना परमधर्म मानते हैं। द्वितीय वर्ग में दादूपन्थी साधु है जो सर्वत्र भ्रमण करके दादू के विचारों का प्रचार–प्रसार करते हैं। 'दादूपन्थ' के अनुयायियों के लिये कतिपय सिद्धान्त निर्धारित हैं जो अधोलिखित हैं–

1. दादूपन्थ के साधु अनुयायी अविवाहित रहते हैं।

2. दादूपन्थ साधु अपने जीवनकाल में किसी गृहस्थी के लड़के को गोद लेकर अपना शिष्य बनाते हैं।

3. दादूपन्थ मन्दिर अथवा मस्जिद में उपासना के लिये नहीं जाते। वे न माला पहनते हैं, न तिलक लगाते हैं और न ही सिर पर चोटी रखते हैं।

4. दादूपन्थ नगरों में निवास न कर दादूद्वारों में रहते हैं।

5. दादूपन्थ गृहस्थ और साधु अपने मत के अनुयायियों के शवों को जलाने और दफनाने के स्थान पर उसे पशु–पक्षियों के खाने के लिये जंगल में छोड़ आते हैं।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

19.6. दादूपन्थ का विभाजन और उसकी शाखाएं :

दादू के ब्रह्मलीन होने की डेढ शताब्दी पश्चात् तक दादूपन्थ पूर्णतः संगठित रहा। किन्तु 1750 ई. में जैतराय के नरायणा के महन्त पद आसीन होते ही इस पन्त में विभाजन की दरारें पड़ गई।फलतः कालान्तर में यह पन्थ पाँच शाखाओं में विभाजित हो गया। दादूपन्थ की पाँच शाखाएँ इस प्रकार हैं–

19.6.1. खालसा – दादूपन्थ का प्रमुख केन्द्र होने के कारण नरायणा में दादूपन्थ विशुद्ध रूप में बना रहा। अतः यहाँ की शिष्य परम्परा खालसा कहलाती है और अन्य थाम्भे यहाँ के साधुओं को विशेष सम्मान देते है। यहाँ के साधु कानों तक की टोपी, चोला और कटि पर अघोवस्त्र धारण करते हैं और अपने वस्त्र और भोजन गृहस्थ अनुयायियों से भिक्षा में प्राप्त करते हैं।

19.6.2.उत्तराढ़ी या स्थानधारी – दादू के एक शिष्य बनारसीदास ने दादू के ब्रह्मलीन होने के पश्चात् उत्तर की ओर हरियाणा में जाकर रतिया (हिसार) को अपना केन्द्र बनाया और वहाँ दादू के विचारों का प्रसार किया तथा अपनी शिष्य–प्रशिष्य परम्परा जारी की। उत्तर के ओर जाने के कारण वे 'उत्तराढ़ी' और एक स्थान पर रहने से वे **'स्थानवासी'** कहलाये। हिसार, रोहतक, पटियाला, भटिण्डा तथा दिल्ली आदि स्थानों पर इस शाखा के अनेक अनुयायी है।

19.6.3. खाकी – इस शाखा के दादूपन्थी साधु अपने शरीर पर भस्म लगाते हैं तथा जटाएँ रखते है। ये साधु छोटी–छोटी टोलियों में इधर–उधर भ्रमण करते है। इसके पीछे उनकी मान्यता है जिस प्रकार प्रवाहमान जलशुद्धं रहता है, उसी भाँति भ्रमणशील साधु का जीवन भी पवित्र रहता है।

19.6.4. विरक्त – दादूपन्थ की शाखा के साधु भी एक स्थान रहने की अपेक्षा चातुर्मास (वर्षाऋतु के चार मास) के अतिरिक्त निरन्तर भ्रमण करके लोगों को दादू वाणी का उपदेश देते है। वह भगवा वस्त्र धारण करते है और भिक्षा से जीवन निर्वाह करते है। 1843 ई. में जयपुर राज्य द्वारा इस शाखा के साधुओं को भूमिदान में दी गई थी। फलतः अनेक साधु वहाँ निवास करने लगे।

19.6.5. नागा – दादूपन्थ की नागा के संस्थापक क्षत्रियवंशीय वरिष्ठ सुन्दरदास थे। सुन्दरदास की शिष्य–प्रशिष्य परम्परा से यह थाम्भा अनेक उप–शाखाओं में विभक्त हो गया। नागा साधु सफेद साफा, कुर्ता और लूंगी धारण करते है। ये भी विरक्त साधुओं की भाँति छोटी–छोटी मण्डलियों में घूमते है जिन्हें 'जमात' कहा जाता है। किन्तु ये दादूपन्थी साधु प्राचीन युद्धकला विशेष रूप से, तलवार चलाने और पट्टेबाजी में विशेष दक्ष होते थे। अतः राजस्थान के कुछ शासकों ने उन्हें अपनी सेना में भर्ती किया जिससे ये वेतनभोगी कर्मचारी बन गये। 1726 ई. में आमेर के शासक सवाई जयसिंह और 1805 ई. में जोधपुर के राजा मानसिंह ने नागा साधुओं को अपनी सेना में भर्ती किया था। 1857 ई. की क्रान्ति के समय इस नागा सेना ने जयपुर राज्य की ओर से गुड़गाँव, रेवाड़ी और पलवल में अंग्रेजों के साथ क्रान्तिकारियों के दमन में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई थी। स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद अब इस सम्प्रदाय की सैनिक वृति समाप्त हो गई और अब अनेक लोग खेती और व्यापार आदि करने लगे हैं।

19.7. सन्त दादू का मूल्यांकन :

सन्त दादू 16वीं शताब्दी के राजस्थान के एक प्रसिद्ध धर्मसुधारक थे। उन्होंने राजस्थान में धार्मिक आन्दोलन के विकास में महत्वपूर्ण योगदान दिया। उन्होंने धार्मिक पाखण्डों, आडम्बरों, सामाजिक कुरीतियों एवं रूढ़ियों का विरोध किया तथा हिन्दु–मुस्लिम एकता, सामाजिक समानता, हृदय की शुद्धता, शुद्ध आचरण आदि पर बल देकर धर्म सुधार की मशाल को नया आलोक प्रदान किया। डॉ. गोपीनाथ शर्मा ने लिखा है कि ''दादूपन्थ मे प्रेम एक ऐसा धागा है जिसमें गरीब और अमीर एक साथ बांधे जा सकते है और जिसकी एकसूत्रता विश्व कल्याण का मार्ग प्रशस्त कर सकती है।''

19.8 बोध प्रश्न :

प्रश्न 1 दादू के शिष्यों की संख्या कितनी थी? अ. 50 ब. 52 स. 60 द. 75

उत्तर – ....

प्रश्न 2 दादू पंथ के प्रमुख सिद्धान्त बताइये।

उत्तर – ....

प्रश्न 3 दादू के दार्शनिक, आध्यात्मिक, सामाजिक दर्शन का चिन्तन करिये।

उत्तर – ....

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

संवर्ग–4

इकाई – 20

राजपूताना में मराठों के हस्तक्षेप के कारण एवं परिणाम

संरचना

20.0 उद्देश्य
20.1 प्रस्तावना
20.2 राजस्थान में मराठों के प्रवेश के कारण
20.3 मराठों की विस्तारवादी नीति
20.4 शाहू की दयनीय आर्थिक अवस्था
20.5 मराठों की केन्द्रीय सत्ता का पराभाव
20.6 राजस्थान में व्याप्त अराजकता
20.7 मराठों की धन–लोलूपता
20.8 राजपूत राज्यों की सैनिक निर्बलता
20.9 रापजूत राज्यों के आपसी संघर्ष
20.10 राजस्थान का हिन्दू प्रदेश होना
20.11 मुगल साम्राज्य का पतन
20.12 राजस्थान में जगह–जगह उत्तराधिकार के लिये संघर्ष होना
20.13 मराठा आक्रमणों के परिणाम
    20.13.1 राजपूत राज्यों में मराठा प्रभुत्व की स्थापना
    20.13.2 आर्थिक दुर्दशा
    20.13.3 सैनिक शक्ति का पराभव
    20.13.4 शासकों और सामन्तों के आपसी झगड़े
    20.13.5 मराठों का राजपूतों के सहयोग से वंचित होना
    20.13.6 राजपूतों को अंग्रेजी संरक्षा में धकेलना
20.14 सारांश
20.15 बोध प्रश्न

20.0 उद्देश्य :

प्रस्तुत इकाई में दक्षिण की महत्वपूर्ण शक्ति मराठों का राजपूताने में हस्तक्षेप के कारणों का विस्तृत विवेचन किया जायेगा तथा मराठों का मेवाड़, जौधपुर, जयपुर, बून्दी आदि राज्यों से सम्बन्ध तथा मराठों के हस्तक्षेप के राजस्थान में क्या परिणाम निकले इस पर भी विस्तार से विवेचन किया जायेग।

20.1 प्रस्तावना :

17वीं शताब्दी में दक्षिण भारत में मराठा शक्ति का उदय भारतीय इतिहास की महत्वपूर्ण घटना है। मराठा शक्ति के उत्कर्ष का श्रेय शाहजी भोंसले के पुत्र शिवाजी को है। अपने उत्कर्ष के प्रारम्भिक युग में शिवाजी ने बीजापुर के अनेक प्रदेशों पर अधिकार करके अपने प्रभाव का विस्तार किया। इसी मध्य औरंगजेब मुगल सम्राट् के पद पर आसीन हुआ। अपनी धार्मिक कट्टरता और अदूरदर्शिता नीतियों के कारण औरंगजेब ने जिन समस्याओं को जन्म दिया, उनमें मराठा समस्या प्रमुख थी। औरंगजेब की नीतियों ने मराठों को मुगलों का कट्टर शत्रु और विद्रोही बना दिया जिसके फलस्वरूप उसे अपनी जीवन के 25 वर्ष मराठों के दमन में लगाने पड़े। किन्तु साम्राज्य की समस्त शक्ति और साधनों के प्रयोग के बाद भी औरंगजेब मराठों के दमन में असफल रहा। अन्त में, अनवरत् संघर्ष और असफलताओं से क्लान्त और व्यथित औरंगजेब मार्च, 1707 ई. को अहमदनगर में इस दुनिया से चल बसा। इस प्रकार दक्षिण भारत औरंगजेब के लिये कब्रगाह सिद्ध हुआ। वस्तुतः मराठा समस्या मुगल साम्राज्य का नासूर बन गई।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

औरंगजेब की मृत्यु मुगल साम्राज्य के गौरव सूर्य के अस्त होने और दीर्घकालीन गहन निशा की आरम्भ की प्रतीक थी तो मराठों के लिये यह घटना एक नवीन दिवस का उषाःकाल था। औरंगजेब के काल में मराठों का ध्येय दक्षिण में मराठा स्वराज्य की स्थापना और मराठों की रक्षा करना मात्र था। किन्तु औरंगजेब के उत्तराधिकारियों की अयोग्यता, दुर्बलता, अकर्मण्यता तथा मुगल दरबार की दूषित गुटबन्दियों से मराठों की महत्वाकांक्षाओं में उत्तरोत्तर वृद्धि हुई। 1707ई. में सैयद हुसैन अली के साथ पेशवा बालाजी विश्वनाथ की दिल्ली यात्रा ने तो मानों मराठों की उत्तरी भारत में मराठा शक्ति और राज्य के विस्तार का अधिकार पत्र दे दिया। मगुल सम्राट् की शक्ति और सत्ताहीनता ने मराठों की राजनीतिक महत्वाकांक्षाओं और विस्तारवादी नीति को नई दिशा दी और उनमें यह भावना जागृत कर दी कि वे मुगल साम्राज्य के अवशेषों पर अपने साम्राज्य का निर्माण कर सकते है। फलतः वे उत्तर भारत में मराठा शक्ति के प्रसार को प्रवृत्त हुये। इसी के अनन्तर मराठों ने पहले मालवा, गुजरात और बुन्देलखण्ड को अपने अधीन किया और फिर वे राजस्थान में प्रविष्ट हुये। वस्तुतः मराठों का राजस्थान में प्रवेश उनकी उत्तर भारत में मराठा प्रभुत्व की विस्तार नीति का ही अंग था।

20.2 राजस्थान में मराठों के प्रवेश के कारण :

20.3 मराठों की विस्तारवादी नीति :

शाहू जब 1707 में सतारा का शासक बना था तब उसकी अवस्था अति दयनीय थी। भविष्य उसका अन्धकारमय था। ताराबाई ने शाहू को नकली उत्तराधिकारी सिद्ध करने का प्रयास किया तथा अपने पुत्र को वैध उत्तराधिकारी बताया। अतः बालाजी विश्वनाथ ने पेशवा पद सम्भालते ही प्रथम आन्तरिक समस्याओं का समाधान कर शाहू की स्थिति को महाराष्ट्र में सुदृढ़ बना दिया। 1719 में सैयद बन्धुओं के निमन्त्रण पर पेशवा दिल्ली गया। दिल्ली की तत्कालीन राजनीतिक अवस्था ने उसे उत्तर की ओर बढ़ने को प्रेरित किया। संयोगवश 1720 में उसकी मृत्यु हो गई और उसका पुत्र बाजीराव पेशवा बन गया। बाजीराव भी 1719 में अपने पिता के साथ दिल्ली आया था। उसने स्वयं भी दिल्ली दरबार की दयनीय अवस्था देखी थी। अतः उसने पेशवा बनते ही अपनी विस्तारवादी नीति का लक्ष्य उत्तरी–भारत को ही बनाया। मालवा, गुजरात व बुन्देलखण्ड शीघ्र ही बाजीराव की साम्राज्यवादी नीति के शिकार बन चुके थे। मलवा विजय के उपरान्त बाजीराव की दृष्टि राजस्थान पर पड़ी मालवा की सैनिक कार्यवाही के समय बाजीराव जयसिंह के भी सम्पर्क में आ गया था। सवाई जयसिंह का झुकाव मराठों की ओर देखकर बाजीराव ने प्रथम अपनी माता राधा बाई को जयपुर भेजा। राजपूत नरेशों ने उसका भव्य स्वागत किया। इससे राजपूत–मराठा मैत्री का वातावरण बन गया। इसके उपरान्त जनवरी, 1736 में बाजीराव स्वयं राजस्थान आया। अपनी इस यात्रा के समय उसने राजस्थान की राजनीतिक अवस्था का आलंकन और वहां अपना प्रभाव जमाने का निश्चय कर लिया। अतः राजस्थान प्रवेश की योजना उसके समय में बन गई। शाहू ने उसकी नीति का समर्थन किया और उसके उत्तराधिकारी बालाजी बाजीराव ने राजस्थान में हस्तक्षेप करना जारी रखा। इसी यात्रा के अन्तराल में राजस्थान पर आक्रमण करने का यह भी एक कारण बन गया था कि मुगल सम्राट से समझौता कराने का वचन न तो महाराणा ने दिया और न सवाई जयसिंह ने। निराश होकर बाजीराव दक्षिण लौट गया और वहां जाकर वह सैनिक तैयारी करने लगा।

20.4. शाहू की दयनीय आर्थिक अवस्था :

1707 ई. में जब शाहू महाराष्ट्र का शासक बना था उसके पास कुछ नहीं था। आर्थिक दृष्टि से वह विपिन्न अवस्था में था। इसके अलावा उसे अपनी स्थिति को सुदृढ़ करने हेतु दक्षिण भारत में अनेक युद्ध लड़ने पड़े। युद्धों में उसे विजय अवश्य मिली पर वहां से उसे धन प्राप्त नहीं हुआ। आर्थिक दृष्टि से दक्षिण भारत उस समय सम्पन्न भी नहीं था। अतः शाहू ने अपने पेशवा बाजीराव को गुजरात व मालवा में 'चौथ व सरदेशमुखी वसूल करने के आदेश दिए। जब इन प्रदेशों की आय से भी शाहू की आर्थिक दशा में विशेष सुधार नहीं हुआ तो उसने पेशवा को राजस्थान की ओर बढ़ने के आदेश दिए।

20.5. मराठों की केन्द्रीय सत्ता का पराभाव :

अकबर से लेकर औरंगजेब के शासनकाल तक राजपूत राजाओं ने मुगल सेनानायकों के रूप में अनेक युद्ध लड़ें और शानदार सफलताएँ भी प्राप्त की। मुगल बादशाहों ने उन्हें नियन्त्रण तथा अनुशासन में बनाये रखा। यही कारण है कि इस अवधि में न तो उत्तराधिकार की बात को लेकर किसी राज्य में युद्ध लड़ा गया और न कुलीय अहम् अथवा विस्तारवादी नीति के कारण किसी राजपूत राज्य की दूसरे राजपूत राज्य के आक्रमण का शिकार बनना पड़ा। परन्तु मुगलों की केन्द्रीय सत्ता का पराभव होते ही राजपूत राज्यों पर नियंत्रण रखने वाली कोई सर्वोच्च शक्ति नहीं रही जो महत्वाकांक्षा एवं अनाधिकार चेष्टाओं के लिये होने वाले पारस्परिक युद्धों को रोक सकता तथा एक ही राजवंश के राजकुमारों के पारस्परिक झगड़ों को सुलझा सकती। अब तक जो व्यक्तिगत महत्वाकांक्षाएँ ओर रियासतों की खूनी प्रतिस्पर्धाएँ रूकी हुई थी वे निर्बाध रूप से फूट पड़ी।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

मुगल मनसबादारों के रूप में मिलने वाली आर्थिक आय के बन्द हो जाने से अब राजपूत राजाओं में भूमि की भूख भी बढ़ गई जिसने वापसी कलह के बीज बो दिये। आपसी संघर्ष में अपनी सफलता को सुनिश्चित करने के लिये अब उन्होंने मराठों के सैनिक सहयोग को क्रय करना शुरू कर दिया। इससे उनकी सैनिक निर्बलता उजागर हो गई और मराठा आक्रमणों का मार्ग प्रशस्त हो गया।

20.6. राजस्थान में व्याप्त अराजकता :

मुगल अधीनता और संरक्षण काल में मुगलों की सबल केन्द्रीय शक्ति की सर्वोच्चता ने सभी राजपूत शासकों को अपने नियन्त्रण में रख छोड़ा था। इस काल में किसी राज्य को एक–दूसरे पर आक्रमण करने की स्वतन्त्रता नहीं थी और ना ही इनके शासकों को अपनी व्यक्तिगत महत्त्वकांक्षाओं की पूर्ति के लिये कोई अवसर था। उनकी नीतियों और आकांक्षाएँ मुगल सम्राटों द्वारा निर्देशित और नियन्त्रित थीं। यहाँ तक की पैतृक राज्य (वतन जागीर) के उत्तराधिकारी की वैधता भी मुगल सम्राट की मान्यता पर निर्भर थी। किन्तु 1707 ई. में औरंगजेब की मृत्यु के बाद केन्द्रीय सत्ता क्षीण होने लगी। मुगल सम्राट् केवल छाया मात्र रह गये और उनका प्रभुत्व और शक्ति राजमहल तक ही सीमित रह गई तो राजस्थान के राजपूत राज्यों और उनके शासकों को अनुशासित और नियन्त्रण करने वाली सत्ता का भी अन्त हो गया। अब ऐसी कोई सर्वोच्च सत्ता नहीं रही जो इन राज्यों और उनके शासकों की महत्वाकांक्षाओं और अनाधिकार चेष्टाओं के लिए होने वाले युद्धों को रोक सके तथा एक ही राजसिंहासन के विभिन्न दावेदारों के उनके उत्तराधिकार के झगड़ों को निराकरण कर सके। फलतः ऐसी दशा में विभिन्न राजपूत राज्यों और शासकों की अन्तर्राज्यीय प्रतिस्पर्धाएँ और व्यक्तिगत महत्वाकांक्षाएँ जो अब तक अवरूद्ध और नियमित थीं, वे निर्बाध रूप से सामने आ गयी। इससे विभिन्न राजपूत राज्यों में भयंकर मारकाट, घृणित षड्यन्त्रों, अविश्वसनीय विश्वासघातों और विनाशकारी युद्धों व गृहयुद्धों जैसी जघन्य पाशविक प्रवृतियां जागृत हो गयीं। ऐसा कोई पाप शेष नहीं रहा जो यहाँ न हुआ हो। पिता ने पुत्र को और पुत्र ने पिता को मारा, कुलीन स्त्रियों ने अपने प्रिय और निकटतम सम्बन्धियों को धोखे में निःसंकोच विष पिलाया। इन संघर्षों और षड्यन्त्रों में अन्य राजपूत ही सहयोगी नहीं बने वरन् विभिन्न संघर्षरत पक्षों ने अपने पक्ष को सुदृढ़ करने के लिये बाह्य शक्तियों से भी सहयोग माँगा। मराठे जो कि उत्तर भारत में अपनी शक्ति के विस्तार के आकांक्षी थे और राजस्थान के निकटवर्ती मालवा और गुजरात के क्षेत्र में अपने प्रभाव का विस्तार कर चुके थे। आयुधजीवी जाति की भाँति विभिन्न पक्षों के सहयोगी बन गये। बूँदी, जयुपर, मारवाड़, मेवाड़ आदि के उत्तराधिकार संघर्षो में मराठों का हस्तक्षेप इसका प्रमुख उदाहरण है। इस प्रकार राजस्थान में व्याप्त अराजकता, अव्यवस्था और फूट से सर्वत्र राजस्थान में मरातों का प्रवेश हो गया। यहाँ यह तथ्य उल्लेखनीय है कि मराठे राजस्थान के बड़े भाग में अपनी विस्तार नीति के अन्तर्गत प्रविष्ट नहीं हुये थे वरन् अधिकाशं राजपूत राज्यों के अपने आन्तरिक झगड़ों में यहाँ के शासकों और सामन्तों ने स्वयं मराठों को आमन्त्रित किया था।

20.7. मराठों की धन–लोलुपता :

राजपूताना में मराठा आक्रमणों का एक कारण उनकी धन–लोलुपता थी। 1707 ई. में जब शाहू मराठों का छत्रपति बना था, आर्थिक दृष्टि से उसके पास कुछ नहीं था बालाजी विश्वनाथ ने इधर–उधर से ऋण लेकर सेना का गठन किया। विद्रोही सामन्तों एवं ताराबाई का दमन कर शाहू की स्थिति को सुदृढ़ एवं सर्वोच्च बनाया। परन्तु शाहू की आर्थिक स्थिति में विशेष सुधार नहीं हुआ। अतः शाहू ने पेशवा बाजीराव को गुजरात व मालवा से चौथे व सरदेशमुखी वसूल करने के आदेश दिये। जब इससे भी काम नहीं चला तो मुगल साम्राज्य के अन्य क्षेत्रों के साथ–साथ राजपूत राज्यों से भी चौथ वसूली का सिलसिला शुरू हुआ। बाजीराव के सैनिक अभियानों से पेशवा का खजाना भी खाली हो गया। स्वयं बाजीराव लगभग 14 लाख रूपये का कर्ज छोड़ गया। अतः पेशवा बालाजी बाजीराव को जहां से भी धन प्राप्ति की आशा दिखलाई दी, उसने उसी तरफ सैनिक अभियान भेजने शुरू कर दिये। इस सम्बन्ध में राजपूत राज्यों के साथ पुराने मैत्री सम्बन्धों का भी ध्यान नहीं रखा गया। पेशवा के सरदार–होल्कर और सिन्धिया तथा अन्य मराठा सरदार–भोंसले, पंवार, गायकवाड़ आदि भी अपने–अपने लिये धन एकत्र करने में पीछे नहीं रहे। इस मामले में वे अब पेशवा के आदेशों का भी उल्लंघन करने लगे। उनकी लूटमार का सर्वाधिक निशाना राजपूत राज्यों की तरफ ही रहा।

20.8. राजपूत राज्यों की सैनिक निर्बलता :

मुगल सेवा से वंचित हो जाने से राजपूत राज्यों पर दोहरा प्रभाव पड़ा। एक तरफ तो उनकी आय का स्रोत कम हो गये और दूसरी तरफ मुगल सेना का सहयोग मिलना भी बन्द हो गया। अपने सीमित साधनों के सहारे न तो वे अपने सैनिकों को पर्याप्त प्रशिक्षण दे पाये और न सेना की सहायता के लिये तोपखाना तथा बन्दूकचियों की व्यवस्था कर पाये। उनका गुप्तचर विभाग भी निम्न कोटि का था। मराठों की गतिविधियों के बारे में तो उन्हें तभी जानकारी मिल पाती थी जब वे उनके राज्यों

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

में दूर तथा घुसकर लूटमार कर वापस लौट जाते थे। राजपूत राजाओं की अश्वारोही सेना भी मराठों की तुलना में काफी कम गतिशील थी। इन सभी दोषों के कारण राजपूत राजाओं की सेनाएँ मराठा का सामना करने अथवा उन्हें पराजित करने में सक्षम नही थी। मराठे उनकी कमजोरियों से अच्छी तरह से परिचित थे। मुगल सेनानायकों के रूप में वे राजपूत राजाओं को कई बार पराजित कर चुके थे। इससे उनका मनोबल बढा हुआ था। इसलिए उनके लिये राजपूत राज्यों पर आक्रमण कर लूट–खसोट करना तथा राजाओं से धन वसूल करना आसान काम था।

20.9 राजपूत राज्यों के आपसी संघर्ष :

राजस्थान में एक के बाद एक करके आपसी संघर्ष के तीन केन्द्र बन गये, ये थे–बून्दी, जयपुर और जौधपुर। संघर्ष का मुख्य कारण था– सिंहासन के लिए दो उम्मीदवारों का आपसी झगड़ा। प्रत्येक उम्मीदवार को उसके मित्रों तथा पड़ौसियों ने सहयोग दिया। कभी–कभी तीनों ही संघर्ष एक ही संघर्ष में भी परिवर्तित हो जाते थे। उदयपुर का महाराणा कभी बून्दी और कभी जयपुर के संघर्ष में भाग लेता रहा। प्रायः बाहर से भी विशेषकर मराठों से सहयोग माँगा जाता रहा और इस सहयोग के लिये उन्हें भारी धनराशि का आश्वासन भी दिया जाता रहा। परिणास्वरूप भिन्न–भिन्न मराठा सरदार प्रतिस्पर्धी राजपूत उम्मीदवारों का पक्ष लेते रहे। चूँकि एक लम्बे संघर्ष के बाद ही विवाद का हल हो पाता था, इसलिये विजेता उम्मीदवार भी उतना ही बर्बाद होता जाता था जितना कि पराजित। परन्तु मराठे हमेशा लाभ में ही रहते थे। तथ्य की बात यह है कि राजपूताना में मराठों का प्रवेश पहले तो भाड़े के साथी के रूप में हुआ और बाद में चौथ वसूल करने वाले तथा लूटमार करने वालों के रूप में हुआ।

20.10. राजस्थान का हिन्दू प्रदेश होना :

इसमें कोई सन्देह नहीं है कि मराठों ने राजस्थान में प्रधानतः प्रवेश यहां से धन प्राप्त करने की नियत से ही किया था। पर इसके साथ ही मराठों का राजस्थान के राजपूत नरेशों के साथ कुछ ममत्व भी था। हिन्दू पद पादशाही की स्थापना हेतु वे राजस्थान के राजपूत नरेशों के साथ मैत्रीभाव स्थापित कर उनको अपना सहयोगी बनाना चाहते थे। पेशवा ने उनके साथ व्यक्तिगत सम्पर्क स्थापित कर उन्हें अपने नेतृत्व में लाने का प्रयास किया। जब वे स्वेच्छा से नहीं आये तो पेशवा उन्हें अपने नेतृत्व में लाने का प्रयास किया। जब वे स्वेच्छा से नहीं आये तो पेशवा ने शक्ति का प्रयोग कर उनको अपने प्रभुत्व में लाने का प्रयास किया।

20.11. मुगल साम्राज्य का पतन :

मुगल साम्राज्य के पतन के उपरान्त ही मराठों को राजस्थान में प्रवेश की अनुकूल स्थिति बनी। औरंगजेब के निर्बल एवं अस्थायी उत्तराधिकारियों मं निरन्तर संघर्ष होने लगे। इन संघर्षों के कारण मुगल सम्राट राजस्थान की राजनीति में हस्तक्षेप करने में सक्षम नहीं रहे और उधर राजपूत नरेश भी शक्तिशाली मध्यस्थ के अभाव में निरन्तर झगड़ने लगे। इन दोनों शक्तियों के झगड़ों ने मराठों की तीसरी शक्ति को राजस्थान प्रवेश का अवसर प्रदान कर दिया।

20.12. राजस्थान में जगह–जगह उत्तराधिकार के लिए संघर्ष होना :

राजस्थान में मराठों को निमन्त्रण उत्तराधिकार के संघर्षों ने ही दिया। बून्दी नरेश बुद्धसिंह को जब गद्दी से उतार दिया गया तो उसने मराठों से सहायता मांगी। सवाई जयसिंह की मृत्यु पर जब ईश्वरी सिंह राजा बन गया तो माधोसिंह ने मराठों को सहायता के लिए निमन्त्रण दिया। इसी प्रकार जोधपुर में अभयसिंह की मृत्यु पर जब उत्तराधिकार का प्रश्न हुआ तो मराठों को मध्यस्थता करने का अवसर मिला। मध्यस्थता से काम नहीं चला तो जोधपुर मराठों की सैनिक कार्यवाही का केन्द्र बन गया।

हुदड़ा सम्मेलन–

अनेक राजपूत शासक प्रारम्भ से ही मराठों के होने वाले आक्रमणों का मार्ग अवरूद्ध करने तथा उनका प्रतिरोध करने के लिये राजपूत राज्यों का एक संयुक्त मार्चा बनाने के लिये प्रयत्नशील थे। किन्तु प्रारम्भ में उनके प्रयत्न पत्र व्यवहार तक ही सीमित रहे। किन्तु 1734 ई. में बूँदी के मामले में मराठों के हस्तक्षेप ने राजपूत शासकों की आँखें खोल दीं और वे मराठे के भावी प्रसार के प्रति चिन्तित हो उठे। फलतः विचारशील राजपूत राजाओं ने जुलाई, 1734 ई. में मेवाड़ राज्य की सीमा में स्थित हुरड़ा ग्राम (अजमेर के निकट) में एक सम्मेलन आयोजित किया जिसमें मराठों के विरूद्ध संयुक्त कार्यवाही करने की योजना तैयार की गई। किन्तु राजपूत राजाओं की स्वार्थपरता, हठधर्मिता और चारित्रिक दुर्बलता के कारण यह योजन व्यावहारिक रूप में क्रियान्वित नहीं हो सकी। किन्तु राजपूतों द्वारा किये गये इस प्रयत्न से मराठों के मन में राजपूतों के विरूद्ध तीव्र प्रतिक्रिया

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

हुई और राजपूतों के साथ उनके सम्बन्ध अधिक कटु हो गये। डॉ.आर.पी. व्यास ने लिखा है कि– " इस सम्मेलन (हुरड़ा सम्मेलन) ने मराठा आतंक की ज्वाला को भड़काने में घी का काम किया।"

बून्दी का उत्तराधिकार–संघर्षः मराठों का पहला आक्रमण– पिछले इकाई में सवाई जयसिंह के सन्दर्भ में बून्दी के उत्तराधिकार–संघर्ष का विस्तार में विवेचन किया जा चुका है। सवाई जयसिंह के बाद इस संघर्ष की घटनाओं एवं परिणाम को जानने के पूर्व संघर्ष की प्रमुख घटनाओं को संक्षेप में दोहराना उचित होगा। 1728–29 ई. में सवाई जयसिंह ने अपने बहनोई बुद्धसिंह की अनुपस्थिति में बून्दी पर आक्रमण कर दलेलसिंह को बून्दी की गद्दी पर बैठा दिया। जब जयसिंह मालवा चला गया तो बुद्धसिंह ने बून्दी पर आक्रमण कर दिया परन्तु पंचोला नामक स्थान पर लड़े गये युद्ध में बुद्धसिंह ने बून्दीसिंह को पराजित होकर भागना पड़ा। युद्ध के कुछ दिनों बाद जयसिंह बून्दी आया और 19 मई, 1730 को दलेलसिंह का विधिवत् राज्याभिषेक किया। 1732 ई. में जयसिंह ने अपनी पुत्री कृष्णा कुमारी का विवाह दलेलसिंह के साथ कर दिया। 1730 ई में ही बुद्धसिंह की मृत्यु हो गई। परन्तु उसकी कछवाही रानी (जयसिंह की बहिन) ने 6 लाख रूपये देकर मराठों का सैनिक सहयोग किया। 18 अप्रैल, 1734 ई. को होल्कर और सिन्धिया के नेतृत्व में मराठों ने बून्दी का शासक बना दिया। जयसिंह के शेष जीवन में मराठों ने बून्दी के मामले में हस्तक्षेप नहीं किया।

सवाई जयसिंह की मृत्यु के बाद बुद्धसिंह के पुत्र उम्मेदसिंह ने बून्दी को प्राप्त करने के लिये अपना संघर्ष जारी रखा। इस बार कोटा के दुर्जनसाल सिंह ने भी उसकी सहायता की। जुलाई, 1744 ई. में उम्मेदसिंह ने बून्दी पर अधिकार कर लिया। दलेलसिंह ने तारागढ़ दुर्ग में शरण ली। जब इसकी सूचना जयपुर नरेश ईश्वरीसिंह (सवाई जयसिंह का पुत्र) को मिली तो उसने मराठों की सहायता से उम्मेदसिंह को पुनः बून्दी से निकाल बाहर किया। कुछ समय बाद उम्मेदसिंह ने पुनः बून्दी पर अधिकार कर लिया परन्तु मात्र 16 दिन के बाद ही जयपुर की सेना ने उसे बून्दी से खदेड़ दिया। अन्त में 1748 ई. में उसे बून्दी जीतने का अवसर मिला और वह विधिपूर्वक बून्दी का शासक बना। परन्तु इसके लिये उसे मराठों को काफी रूपया किश्तों के रूप में चुकाना पड़ा।

जयपुर का उत्तराधिकार–संघर्ष– सितम्बर, 1743 ई. में सवाई जयसिंह की मृत्यु हो गई। उसकी मृत्यु के साथ ही जयपुर सिंहासन के लिए उत्तराधिकार–संघर्ष शुरू हो गया। सवाई जयसिंह ने मेवाड़ के महाराणा जगतसिंह की बहिन के साथ इस शर्त पर विवाह किया था कि उससे उत्पन्न पुत्र जयसिंह के अन्य बड़े पुत्रों के स्थान पर उसका उत्तराधिकारी बनेगा। इस विवाह के फलस्वरूप माधोसिंह का जन्म हुआ। जयसिंह की मृत्यु के बाद उसका बड़ा लड़का ईश्वरीसिंह जयपुर के सिंहासन पर बैठा। इस पर माधोसिंह ने उससे राज्य के आधे हिस्से की माँग की, जो ईश्वरीसिंह ने ठुकरा दी। माधोसिंह को अपने मामा मेवाड़ के महाराणा जगतसिंह का पूरा समर्थन प्राप्त था। उसी की सलाह से उसने मल्हार राव होल्कर से सैनिक सहायता प्राप्त कर ली और इसके लिए उसे 20 लाख रूपये देने का 1745 में माधोसिंह ने मेवाड़ की सहायता से जयपुर पर चढ़ाई कर दी, परन्तु ईश्वरीसिंह ने उसे परास्त करके खदेड़ दिया। मार्च, 1747 में दोनों भाइयों के मध्य एक और युद्ध लड़ा गया जिसमें ईश्वरीसिंह पुनः विजयी रहा। इस युद्ध में दोनों पक्षों की ओर से भाग ले रहे मरातों को लूट में काफी धन मिला। पेशवा अभी तक ईश्वरीसिंह के पक्ष में था परन्तु जब माधोसिंह ने उसे 15 लाख रूपये देने का वायदा किया तो वह खुले रूप में माधोसिंह का पक्ष लेने लगा। बाद में मई, 1748 ई. में पेशवा खुद राजस्थान आया और उसने दोनों भाइयों में समझौता करा दिया। ईश्वरीसिंह ने माधोसिंह को राज्य के चार जिले देना स्वीकार कर लिया। पेशवा दोनों भाइयों से भारी नजराना लेकर वापस लौट गया। पेशवा के लौटते ही ईश्वरीसिंह ने अपने भाई को चार जिले देना अस्वीकार कर दिया। इस पर माधोसिंह ने होल्कर तथा बून्दी के उम्मेदसिंह और कोटा के दुर्जनसाल तथा मेवाड़ की सहायता से जुलाई, 1748 में बलपूर्वक मालपुरा, टोडा और टोंक पर अधिकार कर लिया। ईश्वरीसिंह सेना सहित आगे बढ़ा। इस अवसर पर सूरजमल जाट ने उसको सैनिक सहायता दी। 1 अगस्त, 1748 ई. को बगरू नामक स्थान पर दोनों पक्षों के मध्य युद्ध शुरू हुआ को जो 6 दिन तक चला। इस युद्ध में ईश्वरीसिंह पराजित हुआ। उसे उम्मेदसिंह को बून्दी का राज्य वापस देने, माधोसिंह को जयपुर राज्य के पाँच जिले देने तथा मल्हार राव होल्कर को एक बड़ी राशि देने का वचन देने पर विवश होना पड़ा। 23 अक्टूबर, 1748 को बुधसिंह का बेटा उम्मेदसिंह बून्दी के सिंहासन पर बैठा।

बगरू के युद्ध के बाद लगभग दो वर्षो तक सिंन्धिया और होल्कर दक्षिण में ही रहे। उनके प्रतिनिधियों ने ईश्वरीसिंह से रूपयों की माँग की जिसे वह टालता रहा। परन्तु ऋण भार से दबा हुआ पेशवा जयपुर से रूपया प्राप्त करने को उत्सुक था। अतः उसने सिन्धिया और होल्कर को जयपुर से रूपया वसूल करने का आदेश दिया। नवम्बर, 1750 ई. में होल्कर और गंगाधर तांत्या ने मुकुन्ददर्रा मार्ग से जयपुर की तरफ कूच किया, ईश्वरीसिंह के अधिकारियों ने मार्ग से मल्हार राव होल्कर को दो लाख रूपया भेंट किया परन्तु होल्कर ने इतने कम रूपयों के लिए उनकी भर्त्सना की और अपना कूच जारी रखा।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

जब वह जयपुर से 22 किलोमीटर दूर रह गया तो ईश्वरीसिंह घबरा गया, क्योंकि उसके पास देने का नकद रूपया नहीं था। भीरूता और निराशा के क्षण में उसने 12 दिसम्बर, 1750 ई. को आत्महत्या कर ली।

अब होल्कर ने माधोसिंह को आमन्त्रित किया और 2 जनवरी, 1751 ई. को उसको जयपुर की गद्दी पर बैठा दिया गया। 6 जनवरी को जयप्पा सिन्धिया भी जयपुर पहुँच गया। अब मराठों ने माधोसिंह से हिसाब–किताब की बातचीत शुरू की। ईश्वरीसिंह के समय की भी कुछ रकम बकाया थी। माधोसिंह को राजसिंहासन पर बैठाने में सहायता दी गई, उसके लिए भी नई राशि मांगी गई। पेशवा का बकाया भी था। माधोसिंह ने दस लाख रूपया मराठों को नजर किया, परन्तु मराठों की यह बात माधोसिंह और उसके साथियों को बहुत अखरी। माधोसिंह ने मराठा सेनानायकों को समाप्त करके उनसे मुक्ति पाने का प्रयास किया और इसके लिए उसने कुछ ष्ड्यंत्र रचे, किन्तु किसी–न–किसी कारणवश वे सभी विफल रहे। परन्तु 10 जनवरी, 1751 ई. को उसे मौका किल गया। उस दिन लगभग चार हजार किया। माधोसिंह ने क्रूर तरीका अपनाया। दोपहर को उसने नगर के सब दरवाजे बन्द कर दिये और फिर राजपूत सैनिकों तथा नागरिकों ने मराठों का कत्ले–आम शुरू कर दिया। केवल 70 मराठा सैनिक नगर के परकोटे से कूदकर अपने प्राण बचा पाये, परन्तु उन्हें भी अपने हाथ–पैर तुड़वाने पड़े। मराठों की समस्त सम्पत्ति लूट ली गई। राजधानी के बाहर भी अपने हाथ–पुट मराठों को मौत के घाट उतार दिया गया। अपर्याप्त सेना के कारण मराठा सेनानायकों ने इस समय बदला लेना उचित नहीं समझा। इस समय दिल्ली के वजीर का बंगश और रोहिले अफगानों के बीच युद्ध चल रहा था। उसका प्रतिनिधि राजा रामनारायण इस समय मराठा शिविर में उपस्थित था और वजीर की सहायता के लिए चलने पर दबाव डाल रहा था। वजीर ने मराठों को इस समय सहायता देने के लिए 50 लाख रूपये देने का आकर्षक प्रस्ताव रखा था। इधर माधोसिंह से निकट भविष्य में कुछ मिलने की उम्मीद भी न थी। अतः फरवरी, 1751 ई. के आरम्भ में मराठों ने आगरा की तरफ कूच कर दिया। लेकिन माधोसिंह की कारगुजारी से राजपूतों और मराठों के बीच पारस्परिक अविश्वास और घृणा का बीजारोपण हो गया। राजस्थान की राजनीति में राजपूत–मराठा संघर्ष की एक नयी उलझन यही से आरम्भ हुई, जो आगे चलकर दोनों के लिए घातक सिद्ध हुई। अब माधोसिंह मराठों के विरूद्ध रोहिले अफगानों तथा अहमदशाह दुर्रानी की तरफ देखने लगा।

माधोसिंह ने सिंहासन पर बैठाने के लिए मराठों को 10 लाख रूपये देने का वचन दिया था। लगभग 4,000 मराठों की हत्या करने तथा उनकी सम्पत्ति को लूटने के लिए उस पर 5 1/2 लाख का जुर्माना थोपा गया। नवम्बर, 1753 ई. में पेशवा के भाई रघुनाथ राव के प्रथम बार जयपुर की तरफ आने पर 1 1/2 लाख रूपया नजराना का जोड़ दिया गया। अप्रैल, 1755 ई. में जयपुर राज्य ने जयप्पा सिन्धिया को 7,35,074 रूपया नकद और 3 लाख की हुंडियां साहूकारों के नाम लिखकर दे दी। फिर भी 6,14,926 रूपया देना बाकी रह गया। जुलाई, 1755 ई. में जयप्पा सिन्धिया की मृत्यु के बाद माधोसिंह ने अपने सेनापति अनिरूद्धसिंह को मराठों के विरूद्ध भेजा, परन्तु वह परास्त हुआ और बन्दी बना लिया गया। उसकी मुक्ति के लिए माधोसिंह को 5 लाख रूपया देने का वायदा करना पड़ा। मार्च, 1757 ई. में रघुनाथराव ने जयपुर आकर बकाया रूपयों की मांग की, परन्तु माधोसिंह ने कोई ध्यान नहीं दिया। तब मराठों ने बरवाड़ा पर अधिकार कर लिया। जयपुर के मन्त्री कन्हीराम ने बकाया रकम चुकाने का वचन दिया। परन्तु रघुनाथ राव ने 40 लाख रूपये नकद तथा जयपुर के कुछ इलाकों की मांग की जिसे माधोसिंह ने ठुकरा दिया। तीन महीने की निरर्थक लड़ाई के बाद रघुनाथ राव ने 11 लाख रूपयों पर समझौता कर लिया। इनमें से 6 लाख रूपया दे दिया गया और 5 लाख रूपया बकाया रकम में जोड़ दिया गया। सितम्बर, 1758 ई. में जनकोजी सिन्धिया ने 36 लाख रूपया जुर्माना थोप दिया गया। मराठों के हिसाब से माधोसिंह से कुल मिलाकर 55,14,926 रूपया वसूल करना बाकी रह गया।

जुलाई, 1759 में पेशवा ने राजपूत राज्यों से बकाया धनराशि वसूल करने के लिए मल्हार राव होल्कर को सख्त हिदायत देकर भेजा। वह अक्टूबर, 1759 को जयपुर पहुंच गया। माधोसिंह ने दुर्गबन्दी से सुसज्जित जयपुर नगर में रहकर बहादुरी के साथ मराठों की घेराबंदी का सामना किया। चूंकि वह अहमदशाह दुर्रानी के सम्पर्क में था, अतः उसे विश्वास था कि दुर्रानी की भारत प्रवेश करते ही मराठों को वहां से हटना ही पड़ेगा और ऐसा ही हुआ। 2 जनवरी, 1760 ई. को मल्हार को घेरा उठाकर दिल्ली की तरफ कूच करना पड़ा आगामी एक वर्ष तक मराठों का सितारा अस्त रहा। पानीपत के तीसरे युद्ध में मराठों को बुरी तरह से पराजित होना पड़ा। माधोसिंह को मराठों से मुक्ति मिल गई। अन्य राजपूत राजाओं को भी मराठों की पराजय से अपार खुशी हुई।

जौधपुर और मराठे– 1724 ई. से 1740 ई. तक जौधपुर राज्य पर महाराजा अभयसिंह का शासन रहा। उसका भाई बख्तसिंह जो नागौर का शासक थ, अभयसिंह को पदच्युत करने के लिए हमेशा अवसर की ताक में रहता था। इस स्थिति का लाभ उठाते हुए अप्रैल, 1735 ई. को रानोजी सिन्धिया और मल्हार राव होल्कर ने जौधपुर पर आक्रमण कर दिया। उन्होंने

मेंड़ता शहर को लूटा और दुर्ग का घेरा डाल दिया। परन्तु राठौड़ों ने जबरदस्त संघर्ष के बाद मराठों को वहां से खदेड़ दिया। इस पर पेशवा ने उन दोनों को वापस बुला लिया। जून, 1749 ई. में अभयसिंह की मृत्यु के बाद उसका लड़का रामसिंह जोधपुर का राजा बना। नवम्बर, 1750 ई. में बख्तसिंह ने उसे परास्त कर जौधपुर राज्य को हथिया लिया। उधर 1752 ई. में बख्तसिंह ने अजमेर को जीत लिया। इससे मराठे नाराज हो गये क्योंकि वे स्वयं अजमेर को अपने अधिकार में रखना चाहते थे। जयप्पा सिन्धिया ने रामसिंह को सहायता देने का आश्वासन दे दिया था। जब वह निजाम के पुत्र गाजीउद्दीन को लेकर दिल्ली जा रहा था तो जून, 1752 ई. में वह राजस्थान में आया और रामसिंह की प्रार्थना पर थोड़े–से मराठे सैनिक बख्तसिंह पर आक्रमण करने के लिए भिजवा दिये जिन्हें बख्तसिंह ने मार भगाया। चूंकि सिन्धिया को दक्षिण जाना था, अतः इस समय उसने झगड़े को आगे नहीं बढ़ाया। सितम्बर, 1752 ई. में बख्तसिंह की मृत्यु हो गई और उसका लड़का विजयसिंह जौधपुर का शासक बना। रामसिंह ने मराठों की सहायता प्राप्त करने का प्रयास जारी रखा।

जून, 1754 ई. में रघुनाथराव ने जयप्पा सिन्धिया को रामसिंह की सहायता के लिए विजयसिंह के विरूद्ध भेजा। रामसिंह भी अपने समर्थक सरदारों के सैनिक दस्तों के साथ जयप्पा के संग ही चला। 15 सितम्बर, 1754 ई. को मेड़ता के निकट जबरदस्त युद्ध लड़ा गया जिसमें विजयसिंह बुरी तरह से पराजित हुआ, पराजित विजयसिंह ने नागौर दुर्ग में शरण ली। जयप्पा ने तत्काल नागौर दुर्ग का घेरा डाल दिया। मराठों की सख्त नाकेबन्दी के कारण दुर्ग में घिरे विजयसिंह और उसके सैनिकों का जीवन विषम हो गया। रसद सामग्री कम हो गई और पेयजल संकट आ खड़ा हुआ। फिर भी, विजयसिंह बहादुरी के साथ डटा रहा। परन्तु जयप्पा के सैनिक समूचे राज्य में तबाही मचा रहे थे। अजमेर और जालौर जैसे स्थानों पर मराठों ने अधिकार जमा लिया। जोधपुर नगर पर भी आक्रमण किया गया। मराठों की इन समस्त कार्यवाहियों का अभिप्राय विजयसिंह को घुटने टेकने के लिए विवश करना था। परन्तु विजयसिंह ने एक मंजे हुए राजनीतिज्ञ की भांति सिन्धिया से नियमित वार्ता जारी रखी। अन्त में जयप्पा को मौत के घाट उतार दिया गया। लेकिन इससे राजपूतों को कोई लाभ नहीं मिल पाया। जयप्पा के भाई दत्ताजी ने तत्काल स्थिति को सम्भाल लिया और घेराबन्दी को जारी रखा। विजयसिंह ने मराठों के विरूद्ध मुगल बादशाह, जाटों, रूहेलों व अन्य राजपूत राजाओं से सहायता प्राप्त करने का अथक प्रयास किया, परन्तु कहीं से उसे सहायता न मिली। अन्त में विवश होकर विजयसिंह को मराठों की सारी शर्ते स्वीकार करनी पड़ी। शर्तो के अनुसार उसे अजमेर का दुर्ग और सूबा मराठों को सौंपना पड़ा, 50 लाख रूपये जुर्माने के तौर पर देने का वचन देना पड़ा, 25 लाख की पहली किस्त पहले वर्ष में और शेष रकम दो वार्षिक किश्तों में, जालौर का नगर और आधा मारवाड़ रामसिंह को देने का वचन देना पड़ा।

सन्धि के बाद दत्ताजी वापस लौट गया परन्तु विजयसिंह को अब यह भय सताने लगा कि कहीं रामसिंह उसे पदच्युत न कर दे। अतः उसने रामसिंह को दिये गये परगनों को वापस लेने का प्रयास किया, परन्तु मराठों के दबाव के कारण उसे सफलता नहीं मिली। परन्तु 1722 ई. में रामसिंह की मृत्यु के बाद उसे इस काम में सफलता मिल गई।

मेवाड़ और मराठे– मालवा में मरातों का प्रवेश मेवाड़ राज्य की सुरक्षा के लिए एक खतरा बन गया था। इस तथ्य की तरफ मेवाड़ के महाराणा संग्रामसिंह ने बार–बार मुगल दरबार के उत्तरदायी राजनीतिज्ञों का ध्यान आकर्षित किया था। किन्तु मुगल सरकार मालवा में मराठों की बढ़ती हुई शक्ति को रोकने में विफल रही। मालवा में अपनी शक्ति को सुदृढ़ बनाने के बाद मराठों ने राजस्थान की ओर कदम बढ़ाये। बून्दी के गृह–कलह ने उन्हें एक पक्ष के सहयोगी के रूप में राजपूतों की राजनीति में हस्तक्षेप करने का अवसर प्रदान कर दिया और इससे उन्हें राजपूत शासकों की निर्बलता का भी आभास हो गया। तत्पश्चात् पेशवा बाजीराव अक्टूबर, 1735 ई. में उत्तर भारत की ओर बढ़ा और उदयपुर पहुंचा। महाराणा को पहली बार मराठों को चौथ देना स्वीकार करना पड़ा। 1741 ई. के शाही फरमान द्वारा मराठों को मालवा का सूबा मिल गया तो मराठे मेवाड़ की सीमा में प्रवेश कर लूटमार करने लगे, परन्तु आरम्भ में मेवाड़ी सेना उन्हें अपनी सीमा से खदेड़ने में सफल रही। परन्तु सवाई जयसिंह की मृत्यु के बाद जयपुर में आरम्भ हुए गृह–युद्ध में महाराणा जगतसिंह ने अपने भानजे, जयसिंह के छोटे पुत्र माधोसिंह का पक्ष लिया और मराठो को भारी आर्थिक लालच देकर माधोसिंह की सहायता के लिए बुलाकर मेवाड़ में मराठा हस्तक्षेप का मार्ग प्रशस्त कर दिया।

महाराणा राजसिंह की मृत्यु के बाद महाराणा प्रतापसिंह (1751 ई.–1754 ई.) तथा उसके सरदारों में पारस्परिक विरोध बना रहा। तत्पश्चात् महाराणा जयसिंह द्वितीय (1754–61) की बाल्यावस्था के कारण मेवाड़ की रही–सही शक्ति भी अधिकाधिक क्षीण हो गई और मराठों को रूपयों का लालच देकर मेवाड़ से दूर रखने का रास्ता अपनाना पड़ा। राजसिंह के बाद उसका चाचा अड़सी (अरिसिंह) मेवाड़ का महाराणा बना। लेकिन उसके दुर्व्यव्यवहार के कारण मेवाड़ के अनेक प्रमुख सरदार उसके विरोधी बन गये और उन्होंने महाराणा राजसिंह के मरणोपरान्त उत्पन्न उसके पुत्र रतनसिंह को मेवाड़ की गद्दी

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

के दावेदार के रूप में खड़ा कर दिया। अब दोनों पक्षों ने मराठों से सहायता प्राप्त करने का प्रयत्न किया। महाराणा अड़सी ने मराठों को 20 लाख रूपये का वायदा किया। रतनसिंह के समर्थक सरदारों ने महादजी सिन्धिया को 50 लाख रूपये तथा मराठों के बकाया धन को चुकाने का आश्वासन दिया। इतने बड़े प्रलोभन के फलस्वरूप 14 दिसम्बर, 1768 ई. को सिन्धिया ने उज्जैन से प्रस्थान किया और उदयपुर पर चढ़ाई करने की तैयारी करने लगा। जब महाराणा अड़सी को इसकी जानकारी मिली तो उसने अपने कुछ सरदारों को महादजी को समझाने–बुझाने तथा उसके साथ समझौता करने के लिए भेजा। जब महादजी ने अड़सी पक्ष वालों की बातों पर ध्यान दिया तो वे भी युद्ध की तैयारी करने लगे। उज्जैन ने पास क्षिप्रा नदी के किनारे दोनों पक्षों में घमासान युद्ध हुआ, जिसमें महादजी विजयी रहा। अड़सी भागकर उदयपुर आ गया। लेकिन अप्रैल, 1769 ई. में महादजी ने उदयपुर नगर को घेर लिया। तब विवश होकर महाराणा अड़सी को सन्धि की वार्ता शुरू करनी पड़ी। अन्त में 21 जुलाई, 1769 ई. को महादजी और अड़सी के मध्य समझौता हो गया। समझौते के अनुसार अड़सी ने महादजी को युद्ध के हर्जाने के रूप में 60 लाख रूपये तथा दफ्तर खर्च के साढ़े तीन लाख रूपये देना स्वीकार किया। रतनसिंह को 75 हजार रूपये वार्षिक आय की जागीर तथा मन्दसौर का परगना देना स्वीकार हुआ। मराठों को दी जाने वाली रकम में से 8 लाख रूपये नकद, 17 लाख 75 हजार का सोना, चाँदी तथा आभूषण दिये गये और शेष रकम के बदले नीमच, जावद, जीरण और मोरवण के परगने इस शर्त पर मराठों के पास गिरवी रखे गये कि इन परगनों की वार्षिक आय प्रतिवर्ष जमा होगी और जब कुल रकम जमा हो जायेगी तब ये परगने वापस महाराणा को लौटा दिये जायेंगे। किन्तु मराठों ने ये परगने महाराणा को कभी नहीं लौटाये और ये सदा के लिए मेवाड़ राज्य से अलग हो गये।

मराठों के हस्तक्षेप के बाद तो मेवाड़ में मराठों की निरन्तर लूटमार आरम्भ हो गई। ऐसी स्थिति में मेवाड़ में चूंडावतों और शक्तावतों का पारस्परिक संघर्ष आरम्भ हो गया, जिससे मराठों को कभी एक का पक्ष तो कभी दूसरे का पक्ष ग्रहण करने का अवसर मिल गया। फलस्वरूप राज्य का रहा–सहा शक्तिहीन शासन भी समाप्त हो गया। व्यवस्था और अनुशासन तो नाममात्र के लिए भी शेष नहीं रहा ओर समूचे राज्य में अराजकता फैल गई। राजस्थान में अंग्रेजों की सार्वभौम सत्ता की स्थापना के बाद ही उसका अन्त हो सका।

कोटा और बून्दी के राज्यों में भी मराठों के हस्तक्षेप के कारण शासन–व्यवस्था अस्त–व्यस्त हो गई और दोनों राज्यों की आर्थिक स्थिति बर्बाद हो गई। जैसलमेर–बीकानेर जैसे राज्य मराठों के उत्पात से बचे रहे।

20.13. मराठा आक्रमणों के परिणाम :

20.13.1. राजपूत राज्यों का मराठा प्रभुत्व की स्थापना – जयपुर–बून्दी संघर्ष के दौरान राजस्थान में मराठों का प्रवेश एक आक्रमणकारी की अपेक्षा एक भाड़ैत सैनिक सहयोगी के रूप में हुआ था। बाद में जयपुर, जौधपुर और मेवाड़ के उत्तराधिकारी संघर्षो में उनका प्रवेश किसी–न–किसी पक्ष के भाड़ैत सहयोगी के रूप में ही हुआ था। परन्तु जब विजयी पक्ष अपने वायदे के अनुसार मराठों को धन नहीं चुका सके, तब मराठों को सैनिक शक्ति द्वारा धन वसूल करने का मार्ग अपनाना पड़ा। इसके बाद वे राजपूत राज्यों से नियमित रूप से 'चौथ' अथवा 'खिराज' के रूप में धन वसूल करने लगे। इस कार्य के लिये राजपूत राज्यों में उन्होंने अपने अधिकारियों को नियुक्त किया। ये अधिकारी समय–समय पर राज्यों के आन्तरिक मामलों में भी हस्तक्षेप करते रहे। इस प्रकार, जैसलमेर और बीकानेर के अलावा अन्य सभी छोटे–बड़े राजपूत राज्यों पर मराठों का राजनीतिक वर्चस्व स्थापित हो गया।

20.13.2. आर्थिक दुर्दशा – राजस्थान की भूमि पहले से ही अधिक उपजाऊ नहीं थी और यहां का व्यापार भी नगण्य था। मराठों के निरंतर आक्रमण तथा उनकी लूटमार और राजाओं तथा उनके सामन्तों के आपसी झगड़ों के कारण सभी राज्यों की आर्थिक स्थिति दिनों–दिन बिगड़ती चली गई। मुगलों के पतन के बाद वैसे भी राजपूत राजाओं एंव उनके सरदारों की आय के स्रोत सूख गये थे। ऐसे में मराठों की निरंतर बढ़ती हुई और कभी न समाप्त हाने वाली आर्थिक मांगों के कारण राजपूत राज्यों की आर्थिक स्थिति शोचनीय हो गई। ज्यों–ज्यों समय गुजरता गया राजपूत राज्य दिनों–दिन बर्बाद होते गये।

20.13.3. सैनिक शक्ति का पराभव – राजपूत राज्यों के आपसी संघर्षो तथा एक के बाद एक उत्पन्न उत्तराधिकारी संघर्षो ने राजपूत राज्यों की सैनिक शक्ति को निर्बल बना दिया। इन संघर्षो में हजारों शूरवीर राजपूत सैनिकों को अपने प्राणों से हाथ धोना पड़ा। दिन–प्रतिदिन बिगड़ती आर्थिक स्थिति के कारण वे अपनी सेना को पुर्नसंगठित करने अथवा आधुनिक अस्त्र–शस्त्र एवं उत्तम कोटि के घोड़ों को खरीदने लायक स्थिति में भी नहीं रह पाये। राज्यों में आन्तरिक शान्ति एंव व्यवस्था बनाये रखना भी कठिन हो गया। उनकी इस स्थिति का मराठों ने और बाद में अंग्रेजों ने पूरा–पूरा लाभ उठाया।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

यह भाग्य की विडम्बना ही थी कि जिन राजपूतों ने अपने शौर्य एवं पराक्रम से मुगल साम्राजय का विस्तार किया था, वे अपने राज्यों को बाह्य आक्रमणों से बचा पाने में असहाय अनुभव करने लगे थे।

20.13.4. शासकों और सामन्तों के आपसी झगड़े – मुगल संरक्षणकाल में राजपूत राजाओं ने अपने सामन्तों को दबाये रखा और मुगल बादशाहों के भय से सामन्त भी आज्ञाकारी बने रहे। मुगल सत्ता के पतन और मराठों के सम्मुख राजाओं की असहायता ने सामन्तों की अपनी शक्ति बढ़ाने का अवसर प्रदान कर दिया। फलस्वरूप राजाओं और सामन्तों में तनाव बढ़ने लगा जो कभी–कभी लूटमार और खूनी संघर्ष में बदल जाता था। ऐसे अवसरों पर राजा और सामन्त–दोनों ही पक्ष एक–दूसरे के विरूद्ध मराठों का सैनिक सहयोग क्रय करने लगे। मराठों ने इस प्रकार के विवादों का भरपूर फायदा उठाया। परन्तु राजपूत राज्यों को इसकी भारी कीमत चुकानी पड़ी। इसका विस्तृत विवरण आगे के इकाई में किया गया है।

20.13.5. मराठों का राजपूतों के सहयोग से वंचित होना – मराठे अपनी सैनिक शक्ति के बल पर राजपूत राज्यों पर एकपक्षीय ढंग से खिराज, नजराना, चौथ, जुर्माना आदि की रकमें थोपते गये और समय–समय पर धावे मारकर धन वसूल भी करते गये। चूंकि राजपूत राजाओं में उनसे मुकाबला करने की शक्ति नहीं थी अतः वे चुपचाप जहर के घूंट पीते गये। परन्तु और 'लूटेरे' जैसे धृणित शब्दों से सम्बोधित करने लगी। जब पानीपत का तीसरा युद्ध लड़ा गया उस अवसर पर किसी भी राजपूत शासक ने उनका साथ नहीं दिया। जब उन्हें मराठों की पराजय का समाचार मिला तो लगभग सभी राज्यों में हर्ष व्याप्त हो गया।

20.13.6. राजपूतों को अंग्रेजी संरक्षण में धकेलना – पानीपत के तीसरे युद्ध में मराठे बुरी तरह से पराजित हुए। परन्तु कुछ ही वर्षो बाद होल्कर और सिन्धिया ने राजपूत राज्यों पर चढ़ाइयां कर पुनः अपना वर्चस्व स्थापित कर लिया और बकाया धनराशि को वसूल करने के लिये लूट–खसोट शुरू कर दी। उनके इस प्रकार के व्यवहार ने राजपूत राजाओं को अत्यधिक अपमानजनक स्थिति में धकेल दिया और वे उनके विरूद्ध नवोदित ईस्ट इण्डिया कम्पनी से सहायता एवं संरक्षण की मांग करने लगे। अन्त में, काफी समय बाद अंग्रेजों ने उन्हें संरक्षण देना स्वीकार किया। तभी उन्हें मराठा आतंक से मुक्ति मिल गई।

20.14. सारांश :

इस प्रकार, राजस्थान में मराठों का प्रवेश हुआ। पेशवा की तरह उसके सरदार भी ऋण–भार से दबे जा रहे थे और इसे चुकाने के लिए उन्हें राजपूत राज्य ही दिखाई पड़ रहे थे। अतः वे इन राज्यों से अधिक–से–अधिक धन वसूल करने के लिए उत्सुक थे और प्रतिवर्ष किसी–न–किसी बहाने इन राज्यों पर आक्रमण करते रहते थे। राजपूत राजाओं ने समय–समय पर जो धन देने का वायदा किया था उसे वे स्वेच्छा से देने को तैयार नही थे। इसलिए मराठों को उसकी वसूली के लिए सैनिक दबाव डालना अत्यावश्यक हो जाता था। दिन प्रतिदिन राजपूत शासकों को बिगड़ती हुई आर्थिक परिस्थिति के कारण मराठों के लिए इस प्रकार की नीति को अपनाने के अलावा अन्य कोई विकल्प भी न था। धीरे–धीरे अधिकांश राजपूत राज्यों पर मराठों का एकाधिपत्य स्थापित हो गया। राग–रंग में डूबे हुए, मदिरा की मस्ती में चूर अथवा अफीम की पिनक में पड़े राजपूत शासक कूप–मण्डूक बने हुए थे। विदेश की बात तो दूर रही, देश और प्रान्त की बदलती हुई राजनीति से भी वे सर्वथा अनभिज्ञ थे। यूरोपीय सेनानायकों द्वारा प्रशिक्षित सेनाओं की सफलता को देखकर भी राजपूत राजाओं ने अपनी सेना में आवश्यक परिवर्तन करना आवश्यक नहीं समक्षा। अतः उनमें से कोई भी मराठा सेना का सामना करने का साहस नहीं जुटा पाया।

20.15. बोध प्रश्न :

प्रश्न 1 शाहू महाराष्ट का शासन कौन से वर्ष में बना?

अ. 1705 ई. ब. 1706 ई. स. 1707 ई. द. 1708 ई.

उत्तर – ....

प्रश्न 2 हुरड़ा सम्मेलन पर टिप्पणी लिखिए।

उत्तर – ....

प्रश्न 3 राजस्थान में मराठों के हस्तक्षेप के कारण एवं परिणाम बताइये।

उत्तर – ....

इकाई –21

राजस्थान में 1818 ई. की संधियाँ विशेषतः मेवाड़, मारवाड़ एवं कोटा राज्यों के सन्दर्भ में

संरचना

21.0 उद्देश्य

21.1 प्रस्तावना

21.2 सन्धि के कारण

- 21.2.1 राजस्थानी शासकों में व्याप्त गृह–कलह
- 21.2.2 पिण्डारी – मराठा उपद्रव
- 21.2.3 मराठा आक्रमण और लूटमार
- 21.2.4 दयनीय आर्थिक दशा और खिराज से मुक्ति की आकांक्षा
- 21.2.5 सामन्तों का प्रभुत्व
- 21.2.6 कृष्णा कुमारी के विवाह की समस्या
- 21.2.7 अंग्रेजों को आवश्यकता
- 21.2.8 कम्पनी की आर्थिक अवस्था में सुधार करना
- 21.2.9 कम्पनी की सैन्य शक्ति को सुदृढ़ करना
- 21.2.10 मेटकॉफ का योगदान

21.3 सन्धियों का प्रस्ताव

21.4 कोय राज्य

21.5 गुप्त धाराए

21.6 जौधपुर राज्य

21.7 मेवाड़ राज्य

21.8 सन्धियों की समीक्षा एवं परिणाम

- 21.8.1 राज्यों के शासन में कम्पनी का हस्तक्षेप
- 21.8.2 राज्यों की आर्थिक अवस्था का दयनीय होना
- 21.8.3 नरेशों तथा सामन्तों में फूट उत्पन्न करना
- 21.8.4 नरेशों का प्रशासन शिथिल होना
- 21.8.5 उत्तराधिकार के प्रश्न में हस्तक्षेप
- 21.8.6 सामन्तों के प्रति उनकी घातक नीति

21.9 निष्कर्ष

21.10 बोध प्रश्न

21.0 उद्देश्य :

इस इकाई में राजस्थान में ब्रिट्रिश सत्ता की स्थापना मेवाड़, मारवाड़ तथा कोटा राज्यों से हुई सन्धियों के कारण, परिणाम व परिस्थितियाँ तथा प्रत्येक राज्य के साथ हुई सन्धि की गुप्त धाराओं को विवेचित किया गया है।

21.1 प्रस्तावना :

अपनी वीरता तथा गौरवपूर्ण गाथाओं के लिए प्रसिद्ध राजपूत 18वीं शताब्दी के अन्त तक पतन के ऐसे गर्त में निरूतित हो चुके थे कि उनमें अपनी आत्म–रक्षा तक का साहस तथा बल शेष नहीं रह गया था। पारस्परिक गृह–कलह की अग्नि

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

ने उन्हें भस्मीभूत कर दिया था। विभिन्न राजपूत शासकों की व्यक्तिगत महत्त्वाकांक्षाओं तथा पारस्परिक प्रतिस्पर्धाओं के कारण उनमें जघन्य व पाशविक प्रवृत्तियां घर कर चुकी थीं। यह वह समय था जबकि मुगलों की केन्द्रीय शक्ति केवल एक छाया मात्र रह गई थी। फलतः कोई ऐसी सर्वोच्च सत्ता देश में नहीं थी जो इनके आपसी झगड़ों को मध्यस्थता कर सुलझा सकती थी। ऐसी दशा में राजपूतों ने मराठों को अपनी सहायता के लिए आमन्त्रित किया। मराठों ने परिस्थितियों का लाभ उठाकर राजपूत राज्यों पर अपना राजनीतिक तथा आर्थिक प्रभाव स्थापित करने के लिए आन्तरिक हस्तक्षेप करना प्रारम्भ किया। परिणामतः राजस्थान के राजपूत राज्य मराठों की लूटमार के केन्द्र बन गये। मराठा राजपूत राजाओं से चौथ वसूल करते और चौथ न मिलने पर वे उनके राज्यों को लूटते थे। इस लूट में उनका साथ पिण्डारियों ने भी दिया। मराठों, पिण्डारियां तथा पठानों ने मिलकर राजस्थान में त्राहि–त्राहि मचा दी। 17 जुलाई, 1734 ई. में मेवाड़ के महाराणा जगतसिंह की अध्यक्षता में राजस्थान के सभी राजा 'हुरड़ा' नामक स्थान पर मिले, जहां उन्होंने एक समझौते द्वारा संयुक्त रूप से मराठों का सामना करने का निर्णय लिया। किन्तु इस समझौते की स्याही अभी सूखने भी न पाई थी कि कुछ राजपूत राजा अपनी आपसी ईर्ष्या के कारण इस समझौते से विलग हो गये। अतः यह समझौते की स्याही अभी सूखने भी न पाई थी कि कुछ राजपूत राजा अपनी आपसी ईर्ष्या के कारण इस समझौते से विलग हो गये। अतः यह समझौता क्रियान्वित नहीं किया जा सका। इस प्रकार की दयनीय स्थिति अस्सी वर्षों तक राजस्थान में चलती रही। हुरडा सम्मेलन (1734 ई.) में जयपुर नरेश सवाई जयसिंह राजस्थान की सुरक्षा के प्रति अपनी उदासीनता दर्शा चुका था। राजस्थान के नरेशों को अन्य योग्य नेता न मिलने के कारण वे मराठों की लूट का शिकार बनते रहे। वे अब लड़खड़ाते मुगल शासन के भरोसे अपने को सुरक्षित नहीं समझ सकते थे। वे अब लड़खड़ाते मुगल शासन के भरोसे अपने को सुरक्षित नहीं समझ सकते थे। ऐसी परिस्थितियों में उनके सामने अंग्रेजों का संरक्षण प्राप्त करने तथा उनके (अंग्रेजी) साम्राज्यवाद का समर्थन करने के अतिरिक्त अन्य कोई विकल्प नहीं रहा था।

इधर राजस्थान में जब इस प्रकार की अराजकता व्याप्त थी तो उधर अंग्रेजों ने फ्रांसीसियों को परास्त कर भारत में अपना राज्य–विस्तार–मार्ग निष्कंटक बना लिया था। 1765 में इलाहाबाद की सन्धि से वे बंगाल, बिहार व उड़ीसा के स्वामी बन बैठे थे। दक्षिण भारत में उनका प्रभाव इससे पूर्व ही स्थापित हो चुका था। मराठों व पिण्डारियों के विरूद्ध भी उन्होंने कदम उठाना आरम्भ कर दिया था और उसमें उन्हें सफलता भी मिल रही थी। उनकी इस कार्य–क्षमता से प्रभावित हो राजपूत नरेशों ने भी अपने को आतताई मराठों व पिण्डारियों के आक्रमणों से बचाने हेतु अंग्रेजों की सहायता लेना ही श्रेयस्कर समझा। 1781 ई. में इसी आशय से जोधपुर नरेश विजयसिंह ने लार्ड हैस्टिंग्ज से पत्र व्यवहार किया। परन्तु मराठों से 'सालबाई' की सन्धि ा हो जाने के कारण लार्ड हेस्टिंग्ज इस ओर कदम नहीं उठा सका। उसके इंग्लैण्ड चले जाने के उपरान्त गवर्नर जनरल लार्ड कार्नवालिस अहस्तक्षेप की नीति के कारण राजपूत नरेशों की सहायता नहीं कर सका। परन्तु उसके इंग्लैण्ड लौटने पर वेलेजली भारत का गवर्नर जनरल बनकर आया। वह साम्राज्यवादी था। अतः उसकी साम्राज्यवादी मनोवृत्ति तथा नेपोलियन के यूरोप में आक्रमणों से उत्पन्न तत्कालीन परिस्थितियों ने उसे 'अहस्तक्षेप' (Policy of non-intervention) की नीति का परित्याग करने को विवश कर दिया। उधर जयपुर नरेश प्रताप सिंह ने वेलेजली के दूत कर्नल कालिन्स के माध्यम से मराठों के विरूद्ध अंग्रेजों से सहायता लेने के प्रयास आरम्भ कर दिये थे।

'सहायक–प्रथा' को लागू करके वेलेजली ने प्रथम निजाम, मराठा व टीपू सुल्तान को अपने प्रभुत्व में लिया। इसके उपरान्त 1803 ई. में उसने भरतपुर के राजा के साथ सन्धि करके सहायक प्रथा को राजस्थान के क्रियान्वित करने का प्रयास किया। अलवर व जयपुर नरेशों ने सहायक–प्रथा स्वीकार कर अपने को कम्पनी के संरक्षण मे दे दिया। भरतपुर, अलवर, जयपुर आदि राज्यों से सन्धि करके वेलेजली राजस्थान में सिन्धिया के शक्ति–साधनों को समाप्त करना चाहता था। इस प्रकार जब वह 'सहायक प्रथा' को सफलतापूर्वक राजस्थान में क्रियान्वित कर रहा था कि 1805 में कम्पनी के संचालकों ने उसे वापिस इंग्लैण्ड बुला लिया और जार्ज बार्लो को उसके स्थान पर भेज कर कम्पनी ने पुनः 'अहस्तक्षेप' की नीति को लागू कर दिया। इसका खास कारण यह था कि कम्पनी के संचालक अपने आर्थिक हितों की अवहेलना कर देशी राज्यों के झमेलों में नहीं पड़ना चाहते थे। कम्पनी की निर्दिष्ट नीति पर आचरण करते हुए जार्ज बार्लो ने 1805 ई. में सिन्धिया से सन्धि कर राजस्थान के राजपूत–राज्य पुनः उसके संरक्षण में दे दिये।

उसके इंग्लैण्ड लौटने पर जब लार्ड हैस्टिंग्ज ने उसका पद सम्भाला तो 'अहस्तक्षेप' की नीति के दुष्परिणाम उसके सामने आने लगे। मराठा व पिण्डारियों ने पुनः उत्तरी भारत में लूट मचाना आरम्भ कर दिया। इससे राजस्थान के नरेश पुनः परेशान हो उठे। उनके पारस्परिक संघर्ष उन्हें पहले ही परेशान कर रहे थे। अतः दोनों व्याधियों से छुटकारा पाने हेतु उन्होंने अंग्रेजों के शरणागत होना ही श्रेयस्कर समझा। उधर लार्ड हेस्टिंग्ज के विचार भी साम्राज्यवादी थे। वह भारत में कम्पनी की सत्ता को सर्वोच्च बनाना चाहता था।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

ईस्ट इण्डिया कम्पनी मराठों व पिण्डारियों के उत्पातों से पहले ही परेशान थी। लार्ड हैस्टिंग्ज ने भारत आने पर जब उनका प्रबल आक्रामक रूख देखा तो उसने दोनों आतताई शक्तियों को कुचलने का मानस बनाया। परन्तु इस उद्देश्य की पूर्ति में राज्यों को भी अपने संरक्षण में लेकर वह भागीदार बनाना चाहता था। राज्य भी इसके लिए सहमत हो गये। परन्तु इसके लए राज्यों के सामने उसने दो शर्ते रखीं–प्रथम राजा आपसी झगड़ों को तय कराने में अंग्रेजों को मध्यस्थ बनावेगा। दूसरे आवश्यकता पड़ने पर वे कम्पनी को सैनिक सहायता देंगे। इस प्रकार वह मराठों व पिण्डारियों के दमन के साथ–साथ लार्ड वेलेजली की भांति कम्पनी के संचालकों को भारत की तत्कालीन विस्फोटक राजनीतिक परिस्थितियों से अवगत करा कर उनसे 'हस्तक्षेप' की नीति अपनाने की अनुमति प्राप्त कर ली। वी. डी. वसु का तो कहना है कि कम्पनी के संचालकों ने लार्ड हैस्टिंग्ज को भारत में अंग्रेजी राज्य की सीमाओं का विस्तार करने ही भेजा था। अतः उसने अपने दूत को राजस्थान के राजाओं के पास सन्धि प्रस्ताव लेकर भेजना आरम्भ कर दिया। विवशता में राजस्थान के नरेशों ने कम्पनी से ऐसी सन्धियां (1818) कर लीं जिनकी शर्तो पर आचरण कर वे अंग्रेजों की दासता में चले गये। इस दृष्टि से 1817–18 ई. में राजपूत राज्यों के साथ की गई सन्धियां वेलेजली द्वारा प्रतिपादित 'सहायक प्रथा' को सफल बनाने के कारण बन गई।

21.2 सन्धि के कारण :

21.2.1. राजस्थानी शासकों में व्याप्त गृह–कलहः – 18 वीं शमाब्दी में राजस्थानी शासकों में प्रायः उत्तराधिकार के मामले को लेकर गृह–युद्ध प्रारम्भ हो गये।तब यहाँ के शासकों ने मराठा–शक्ति से सहयोग प्राप्त करने की नीति अपनाई। इसके फलस्वरूप गद्दी के दोनों ही दावेदार अपनी–अपनी सामर्थ्य के अनुसार उन्हें अपने सहयोग हेतु आमंत्रित करते थे। इन दोनों ही पक्षों द्वारा मराठों को दिया गया द्रव्य अंततः उस राज्य विशेष पर आर्थिक बोझ के रूप में ही होता था। साथ ही लड़े जाने वाले युद्धों में धन के साथ–साथ जन की हानि भी कोई कम नहीं होती थी। ऐसे गृह–कलहों में बूंदी के बुद्धसिंह एवं दलेलसिंह के बीच का झगड़ा, जोधपुर में अभयसिंह और उनके भाई बख्तसिंह के मध्य गद्दी का विवाद, मेवाड़ के महाराणा अरिसिंह एवं रतनसिंह के बीच का झगड़ा जयपुर में ईश्वरीसिंह एवं माधोसिंह के बीच हुआ झगड़ा विशेष उल्लेखनीय थे। निःसंदेह गृह–कलह से इन शासकों की स्थिति इतनी पंगु हो गई कि वे अपनी रक्षा करने में असमर्थ हो गये तब उन्हें अंग्रेजों के संरक्षण के अतिरिक्त और कोई विकल्प नजर नहीं आया।

21.2.2. पिण्डारी–मराठा उपद्रवः – उपर्युक्त गृह कलह के कारण होल्कर और सिन्धिया के स्थान पर पिण्डारी अमीरखां का प्रभाव यहाँ बढ़ता गया। वास्तव में 1810 से 1818 ई. के युग को राजस्थान में अमीरखां के युग की संज्ञा दें तो भी अनुपयुक्त नहीं होगा। अमीरखां राजस्थान में होल्कर के अधीनस्थ सेनानायक के रूप में आया परन्तु 1810 ई. में वह सर्वेसर्वा हो गया। 1811 ई. में यशवन्तराव होल्कर की मृत्यु के बाद, उसका उतराधिकारी चार वर्ष का बालक था। अतः होल्कर की विधवा तुलसीबाई ने सारा प्रशासन अपने हाथ में ले लिया। अमीरखां जो अब तक अर्द्धस्वतंत्र था डॉ. रघुवीरसिंह के शब्दों में, "अब स्वतंत्र होकर घराने पर उसने अपना प्रभाव स्थापित कर दिया।" सिंधिया अभी भी प्रभावशाली था किन्तु उसके आंतरिक झगड़ों के कारण राजस्थान की ओर ध्यान नहीं दे पा रहा था। उसके सेनानायक उसके लिए एक समस्या हो गये थे। वे राजस्थान में मनमाने तरीके से धन वसूल कर रहे थे। दौलतराव का शासन संगठन अस्त–व्यस्त था। अमीरखां को राजस्थान से निकालना उसके लिए भी असंभव था। अमीरखां ने विभिन्न राज्यों में अपने प्रतिनिधि नियुक्त कर दिये जिन्होंने अत्याचारों के अलावा कुछ नहीं किया जैसे 1810 ई. में मेवाड़ में जाने से पूर्व उसने जमशेदखां को अपने प्रतिनिधि के रूप में नियुक्त किया। उसने मेवाड़ में इतनी लूटपाट की कि उसका काल आज भी मेवाड़ में 'जमशेदगर्दी' के नाम से मशहूर है। इसी भाँति उसके दूसरे प्रतिनिधि मुहम्मद शाहखान ने जयपुर व जोधपुर में अत्याचारों में कोई कमी नहीं की। अमीरखां ने राज्यों के आंतरिक मामलों में हस्तक्षेप ही नहीं किया अपितु पदाधिकारियों की हत्या की राजनीति का भी सूत्रपात किया। जोधपुर से अमीरखा की मित्रता होते हुए भी धन वसूल करने में मुहम्मदखान ने किसी भी प्रकार की रियायत नहीं बरती। मेवाड़ की स्थिति तो इतनी खराब हो गई थी कि अपने निजी दैनिक व्यय के लिए भी कोटा के जालिमसिंह झाला पर निर्भर रहना पड़ता था। अमीरखां व उसके प्रतिनिधि और मराठा सेनानायकों के अत्याचारों से उत्पीड़ित होकर जयपुर व अन्य राज्यों के शासकों ने 1812 ई. में अंग्रेजों से संधि करने के प्रस्ताव भेजे, किन्तु अंग्रेजों की अहस्तक्षेप की नीति के कारण इसका कोई परिणाम नहीं निकला। अमीरखां के हौंसले अब और भी बढ़ गये। अमीरखां ने जयपुर, किशनगढ़, बूंदी तथा अन्य स्थानों के शासकों को धनराशि देने के लिए बाध्य किया। 1813 ई. में अमीरखां के जयपुर छोड़ने से पूर्व ही बापूजी सिंधिया ने वहाँ आक्रमण कर राज्य की बड़ी बर्बादी की। बापूजी जयपुर से मेवाड़ की ओर आया। उसने महाराणा की स्थिति बड़ी दयनीय बना दी। बापू के अतिरिक्त जसवन्तराव भाऊ व अन्य मराठों ने भी सैनिक अभियान जारी रखा। महाराणा भीमसिंह ने भी ब्रिटिश सहायता

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

के लिए प्रयास किये किन्तु कोई परिणाम नहीं निकला। अमीरखां पिंडारी व मराठों की लूट दिन–प्रति–दिन बढ़ती गई। समस्त राजस्थान इससे त्रस्त था, अतः यहाँ के शासकों को ईस्ट इण्डिय कम्पनी के साथ संधि करने में ही अपना भला नजर आ रहा था।

21.2.3 मराठा आक्रमण और लूटमार – यद्यपि यह सत्य है कि 18 वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध और 19वीं शताब्दी के आरम्भ में राजस्थानी राज्य मराठों के आक्रमणों और लूटमार को इन सन्धियों का कारण नहीं माना जा सकता क्योंकि 1791 ई. के बाद मराठा शक्ति का गौर सूर्य अस्ताचल की ओर अग्रसर हो चुका था और मराठा राजनीति के सभी दोष एक एक साथ उभर कर सामने आ गये थे। वरिष्ठ मराठा नेताओं–महादाजी सिन्धिया और अहिल्याबाई होल्कर की मृत्यु से सिन्धिया परिवारों का नेतृत्व अपरिपक्व और अनुभवहीन युवकों के हाथ में आ गया था। सिन्धिया और होल्कर परिवारों में होने वाले गृहयुद्धों और वरिष्ठ मराठा ने तो नाना फड़नवीस के कुचक्रों के कारण राजस्थान में मराठों की गतिविधियों में न तो किसी निश्चित नीति का क्रियान्वयन हो रहा था और ना ही उनमें कोई समन्वय था। वस्तुतः 19 वीं शताब्दी के आरम्भ में मेवाड़ को छोड़कर शेष राजस्थान में मराठों की सक्रिय और निर्णायक भूमिका समाप्त हो चुकी थी। यहीं नहीं राजस्थान के अधिकांश राज्यों द्वारा अंग्रेजों से सन्धि किये जाने के पूर्व ही मराठों की शक्ति को पूर्णतः पंगु बना दिया गया था। सिन्धिया द्वारा नवम्बर, 1817 ई. में अंग्रेजों के साथ नयी सन्धि करने के बाद राजस्थान में उसका प्रभाव समाप्त हो चुका था, भोंसले परास्त होकर जोधपुर का शरणार्थी था और होल्कर भी दिसम्बर, 1817 ई. की सन्धि के द्वारा अंग्रेजों के समक्ष आत्मसमर्पण कर चुका था। मराठा शक्ति की इस दयनीय स्थिति में राजस्थानी राज्यों द्वारा मराठों के आक्रमणों के भय से अंग्रेजों के साथ सन्धि और उनका सरंक्षण स्वीकार करना युक्तिसंगत प्रतीत नहीं होता। यही नहीं जैसलमेर और बीकानेर राज्य तो मराठों के हस्तक्षेप और लूटमार से भी मुक्त थे , फिर भी इन राज्यों ने अंग्रेजों से सन्धियाँ की , इससे भी स्पष्ट है कि मराठे इन सन्धियों के हेतु नहीं थे।

21.2.4. दयनीय आर्थिक दशा और खिराज से मुक्ति की आंकाक्षा – यह भी सत्य है कि 18 वीं शताब्दी में उत्पन्न अराजकता और मराठों की लूटमार और उन्हें दिये जाने वाले खिराज से राजस्थानी राज्यों की आर्थिक दशा अत्यन्त दयनीय हो चुकी थी। किन्तु आर्थिक दशा में सुधार और मराठों को दी जाने वाली खिराज से मुक्ति की आंकाक्षा भी सन्धियों का कारण नहीं थीं क्योंकि किसी भी राजपूत राज्य के साथ हुई सन्धि में अंग्रेजों ने उस राज्य की आर्थिक दशा सुधारने में सहयोग या सहायता का वचन नहीं दिया था। यहीं नहीं मराठों को दिये जाने वाले खिराज से राहत को भी इन सन्धियों का कारण नहीं माना जा सकता क्योंकि अंग्रेजों के साथ हुई सन्धियों में भी इन राज्यों को , मराठों को दिये जाने वाले खिराज के बराबर या उससे अधिक राशि ही खिराज के रूप में अंग्रेजों को देनी थी। यही नहीं मराठों को दिये जाने वाले खिराज में नियमितता नहीं थी, किन्तु अंग्रेजों को तो खिराज का प्रतिवर्ष नियमित रूप से और पूर्ण भुगतान किया जाना था।

21.2.5. सामन्तों का प्रभुत्व – सामन्त प्रथा राजस्थान में अति पुरातन थी। राजस्थान के राजा अपने भ्राता तथा अपने निकट सम्बन्धियों को जीविका उपार्जन के साधन के रूप में जागीरे देते थे। जागीरदार राजा को अपना स्वामी न समझकर अपना परिवारजन ही समझते थे। इस कारण सामन्त नरेशों के नियन्त्रण में सेवक रूप में नहीं रहते थे। वे यदा–कदा राजा का मुकाबला या विरोध भी कर बैठते थे। मुगल सम्राट इस प्रकार के गृह–कलहों को प्रोत्साहन देते थे ताकि राजा और सामन्त दोनो उनके प्रभुत्व में रहें तथा उन्हें मध्यस्थ बनाते रहें। परन्तु औरंगजेब के निर्बल उत्तराधिकारियों की क्षमता मध्यस्थता करने की नहीं रही। फलतः सामन्त शक्तिशाली हो गये। इसी प्रकार मराठों की धन लोलुपता ने भी इन सामन्तों को अनियन्त्रित तथा अनुशासनहीन बनाने में सहयोग प्रदान किया। धन के लोभ में आकर उचित व अनुचित का विचार किये बिना वे उनमें से हर किसी की सहायता देने के लिये तैयार हो जाते थे। उधर मुगल दरबार में सेवाओं के अवसर कम हो जाने के कारण राजाओं की आर्थिक अवस्था दयनीय हो गई थी।आर्थिक अवस्था दयनीय हो जाने के कारण नरेश पर्याप्त मात्रा में न तो शस्त्र ही रख सकते थे और न खुद के सैनिक ही । इस कारण वे सामन्तों को अपने नियन्त्रण में रखने में अक्षम हो गये थे। उधर सामन्त दिन पर दिन प्रबल होते जा रहे थे। प्रत्येक राज्य के सामन्तों में गुट–बन्दियां बन गई थी। नरेशों व सामन्तों की प्रतिद्वन्द्विता ने राज्यों में अराजकता व अशान्ति उत्पन्न कर दी। उदाहरणार्थ–मेंवाड़ में चूड़ावत व शक्तावतों के बीच प्रतिद्वन्द्विता उत्पन्न हो गई थी जिससे वहां के राणा को जटिल समस्या का सामना करना पड़ा था। इसी प्रकार 1794 ई. में जोधपुर के शासक भीमसिंह को ठाकुर सवाई सिंह के विरोध का सामना करना पड़ा जो कि पोकरण का सामन्त था। 1795 ई. में जयपुर नरेश को शेखावतों के प्रकोप का भागीदार बनना पड़ा क्योंकि वे अपने नरेश की प्रत्येक बात में प्रभुता स्वीकार करने को तैयार नहीं थे। इसी प्रकार के अन्य राज्यों में भी सामन्तों के उनके स्वामी नरेशों के विरूद्ध बगावत करने के अनेक उदाहरण मिलते है। विद्रोही सामन्तों ने अपने राज्यों में प्राशासनिक कठिनाइयां तथा अराजकता उत्पन्न कर दी।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

इस प्रकार जब राजपूत सामन्त उदण्ड हो गये और उन्होंने समय पर अपने स्वामी राजा को सैनिक सहायता देना बन्द कर लिया तो नरेश उदण्ड सामन्तों को दबाने में अपने को अक्षम समझने लगे। इसके अलावा जब राजपूत सामन्तों में धन देकर अपने स्वामी राजा के विरूद्ध मराठों से सैनिक सहायता लेना आरम्भ कर दिया तो राजस्थान के नरेश और भी आतंकित हो उठे। मुगल शक्ति पहले ही क्षीण हो चुकी थी। ऐसी परिस्थिति में राजपूत नरेशों के आगे कम्पनी से सन्धि करके अपनी सुरक्षा पाने के अतिरिक्त अन्य कोई चारा नहीं रहा।

21.2.6. कृष्णा कुमारी के विवाह की समस्या– जैसा कि इससे पूर्व बताया जा चुका है कि कृष्णा कुमारी के विवाह के सन्दर्भ में भी अमीर खां की भूमिका बड़ी वीभत्स रही। कृष्णा कुमारी मेवाड़ के महाराणा भीमसिंह की एक अति सुन्दर राजकुमारी थी। महाराणा ने उसका विवाह जोधपुर नरेश व भीमसिंह के साथ तय कर दिया। सगाई का नारियल भीमसिंह द्वारा स्वीकार (1798 ई.) कर लिया गया। दुर्भाग्यवश नारियल स्वीकार करने के कुछ दिनों बाद ही राव भीमसिंह इस लोक से चल बसा। इस पर महाराणा ने सगाई का नारियल (1806 ई.) जयपुर नरेश जगत सिंह के पास भेजा। जगत सिंह उसके सौन्दर्य की प्रशंसा पहले ही सुन चुका था। जब इसकी सूचना जोधपुर पहुंची तो राव भीमसिंह के उत्तराधिकारी मानसिंह ने इसका कड़ा विरोध किया और महाराणा को कहलाया कि सगाई का नारियल जौधपुर द्वारा पहले ही ग्रहण कर लिया गया है। अतः कृष्णा कुमारी वधु के रूप में जोधपुर ही आवेगी और स्वयं राव मानसिंह कृष्णा कुमारी के साथ विवाह रचायेंगे। इस पर जगतसिंह ने अमीरखां की सैनिक सहायता से जोधपुर पर आक्रमण कर दिया। गिंगोली के युद्ध में राव मानसिंह परास्त हो गया और वह जोधपुर के दुर्ग में शरणागत हो गया। जयपुर नरेश जगतसिंह ने जौधपुर में घेरा डाल दिया। इस अन्तराल में अमीर खां अधिक धन लेकर मानसिंह का सहायक बन बैठा और उसने पीछे से जयपुर में लूटमार मचा दी। इस पर जगतसिंह को जयपुर लौटना पड़ा और उसने मानसिंह के साथ यह समझौता कर लिया कि उन दोनों में से कोई भी कृष्णा कुमारी के साथ विवाह नहीं करेगा। परन्तु मानसिंह इससे आश्वस्त नहीं हुआ। उसने अमीर खां को पैसा देकर कृष्णा कुमारी को सदा के लिए इस लोक से विदा कराना चाहा। धन को लोभी पिण्डारी लिया। राणा के समक्ष भयंकर समस्या प्रस्तुत थी। परन्तु व क्रूर अमीर खां से अत्यन्त भयभीत हो चुका था। इसीलिए वह अमीर खां का अपयशकारी प्रस्ताव स्वीकार करने को उद्यत हो गया था। परन्तु राजकुमारी का वध करने को कोई सामन्त राजी नहीं हुआ। अन्त में विष पिलाकर राजकुमारी को इस जहां से विदा कर दिया।

मेवाड़ के गौरव पर यह एक महान कलंक था। परन्तु दुष्ट अमीर खां की क्रूरता से महाराणा भयभीत था। उधर जगत सिंह भी अमीर खां से भयातुर होने के कारण सेना लेकर राजकुमारी की रक्षा के लिए नहीं जा सका। एक अमीर से तीनों प्रमुख राजा आतंकित थे। तीनों नरेशों से अमीर खां ने धन भी लिया और किसी की मुराद पूरी नही होने दी। परन्तु कृष्णा कुमारी की आत्म–हत्या ने तीनो नरेशों को सुरक्षा की चिन्ता में निमग्न कर दिया। सिन्धिया व होल्कर के कलह ने मराठों को भी निर्बल बना दिया था। अतः घटना के उपरान्त ही राजस्थान के राजपूत नरेश कम्पनी सरकार की शरण में जाने की दिल से सोचने लगे।

21.2.7. अंग्रेजों की आवश्यकता – लार्ड वेलेजली के बाद उसके उत्तराधिकारियों ने हस्तक्षेप की निति अपनाई। अलवर और भरतपुर को छोड़कर कम्पनी ने 1805 ई. में अन्य राजस्थानी राज्यों से संधि–विच्छेद कर लिया। इन राज्यों के बहुत प्रयासों के उपरान्त भी अंग्रेजों ने अपनी नीति में परिवर्तन नहीं किया। यद्यपि अंग्रेज पदाधिकारियों का एक वर्ग अहस्तक्षेप की नीति से सहमत नहीं था जैसा कि चार्ल्स मेटाकाफ ने पिण्डारियों की गतिविधियों को देखकर 1811 ई. में उच्च अधिकारी को लिखा कि अफसोस है कि राजपूत राज्य हमारे संरक्षण में नहीं है। वे तो अहस्तक्षेप की नीति के निरंतर जारी रहने को आत्महत्या के समान मानते थे। 1813 ई. में लार्ड हेस्टिंग्ज के गवर्नर जनरल बनने के बाद नीति में परिवर्तन की संभावनायें दिखने लगीं। वेलेजली ने जैसा कि डॉ. एम. एस. मेहता ने लिखा है–भारत में अंग्रजों की श्रेष्ठता स्थापित की तो हेस्टिंग्ज सार्वभौमिकता स्थापित करना चाहता था। इस उद्देश्य में राजपूत राज्य उसको स्वाभाविक मित्र प्रतीत हुए, क्योंकि इनके साथ संधि होने से सिंधिया, होल्कर और अमीरखां के प्रभाव को सीमित किया जा सकता था। साथ ही साथ कम्पनी को मध्य भारत में सामरिक तथा राजनीतिक लाभ मिल सकते थे। राजपूतों से मित्रता होने पर वहां के साधनों का उपयोग कम्पनी के आंतरिक व बाह्य शत्रुओं के खिलाफ आक्रामक व प्रतिरक्षात्मक उद्देश्यों के लिये किया जा सकता था। इसी वजह से हेस्टिंग्ज ने फरवरी, 1814 ई. में गृह सरकार को पत्र लिखा किन्तु तब भी गृह सरकार नीति में परिवर्तन करने को तैयार नहीं थी। अगले वर्ष जब राजस्थान के राज्यों से मित्रता के संदेश मिलने लगे तब उसने पुनः गृह सरकार को लिखा। इस बार उसको नीति में परिवर्तन करने के लिए स्वीकृति दे दी गई। परंतु नेपाल युद्ध में व्यस्त होने के कारण उसने इस ओर कदम नहीं बढ़ाया। गोरखा या

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

नेपाल के युद्धों से मुक्त होने के बाद राजपूत राज्यों की मित्रता की आवश्यकता और अधिक तीव्र हुई। पिण्डारी बिटिश ईस्ट इण्डिया कम्पनी के लिए भी सिरदर्द बनने लग गये थे। 1818 ई. में उन्होंने दक्षिण में पूरी शक्ति से आक्रमण किया। निजाम के राज्य को काफी हानि उठानी पड़ी थी। कम्पनी की मद्रास प्रेसीडेंसी में भी पिण्डारियों ने काफी धन–जन की क्षति की। इसके समाचार इंगलैण्ड में जब बोर्ड ऑफ डायरेक्टर्स के पास पहुंचे तो वे इतने उत्तेजित हुए कि उन्होंने पिण्डारियों के खिलाफ कठोर नीति के पालन के लिए हेस्टिंग्ज को छूट दी और इस कार्य के लिए भारतीय शासकों के सहयोग के लिए उसको स्वतंत्र किया और इस प्रकार हेस्टिंग्ज को अपनी नीति को क्रियान्वित करने का एक अच्छा अवसर मिला।

21.2.8. कम्पनी की आर्थिक अवस्था में सुधार करना – राजपूत राज्यों में सन्धि करने के पीछे लार्ड हैस्टिंग्ज का एक उद्देश्य कम्पनी के आर्थिक साधनों में वृद्धि करना भी था। वैसे तो ईस्ट इण्डिया कम्पनी की आर्थिक दशा सदा दयनीय रही और वह ब्रिटिश सरकार से निरन्तर कर्ज लेती रही। परन्तु लार्ड वेलेजली के समय में लड़ी गई अनेक लड़ाइयों से कम्पनी की आर्थिक दशा और भी शोचनीय हो गई थी। लार्ड हैस्टिंग्ज उस शोचनीय आर्थिक अवस्था में सुधार राजस्थान के नरेशों के साथ सन्धियां करके करना चाहता था। उसे इन सन्धियों से धन भी मिलने की आशा थी। इसके अतिरिक्त बीकानेर व बांसवाड़ा राज्य कम्पनी के मुख्य व्यापारिक मार्गो पर स्थित थे। बीकानेर उत्तर–पश्चिम प्रदेशों के मुख्य मार्ग पर था तथा बांसवाड़ा गुजरात–मालवा मार्ग पर स्थित था। ब्रिटिश व्यापार व वाणिज्य की वृद्धि के लिये इन मार्गो पर कम्पनी का नियंत्रण रखना आवश्यक था। इस उद्देश्य की पूर्ति राजस्थान के नरेशों के साथ सन्धियां करने पर ही हो सकती थी।

21.2.9. कम्पनी की सैन्य शक्ति को सुदृढ़ करना – निःसन्देह उस समय भारत में कम्पनी की सैन्य शक्ति भारत में सर्वाधिक सुदृढ़ थी। परन्तु यदि वेलेजली से परास्त मराठा ही एक साथ मिलकर एक जगह लार्ड हैस्टिंग्ज का मुकाबला कर बैठते तो कम्पनी की सेना में वह शक्ति नहीं थी जो इन पर विजय प्राप्त कर सकती। लार्ड हैस्टिंग्ज कम्पनी की सैन्य–शक्ति की क्षमता से भली–भांति परिचित था। कम्पनी को सैनिक दृष्टि से सुदृढ़ करने के लिये यह आवश्यक था कि देशी राज्यों में भी एक अंग्रेज–भक्त सेना और तैयार की जाये। वह सेना भी ऐसी चाहता था कि जिसका खर्चा तो राज्यों के नरेश वहन करें और वह काम कम्पनी की सुरक्षा में आवे। यह तभी सम्भव हो सकता था जबकि वह देशी नरेशों को सहायक–प्रथा के अन्तर्गत सन्धि करने को बाध्य कर दे।

21.2.10. मेटकॉफ का योगदान – 1811 ई. में मेटकॉफ दिल्ली का रेजीडेन्ट बना। बह देशी राजाओं का एक संघ बना कर मराठों व पिण्डारियों के विरूद्ध कम्पनी की सैन्य शक्ति को और भी प्रबल बनाना चाहता था। अतः उसने तत्कालीन गवर्नर जनरल मिण्टो को इस दिशा में पहल करने की सलाह दी। परन्तु मिण्टो देशी रियासतों के साथ सन्धि करके कम्पनी का सुरक्षा सम्बन्धी उत्तरदायित्व नहीं बढ़ाना चाहता था। परन्तु 1813 ई. में पिण्डारियों की बढ़ती सैनिक शक्ति ने कम्पनी को अपनी नीति में परिवर्तन करने को बाध्य किया। कम्पनी संचालक स्वयं पिण्डारियों की बढ़ती ताकत से परेशान थे। भाग्यवश इसी समय लार्ड हैस्टिंग्ज के समक्ष भी प्रस्तुत की। गवर्नर जनरल ने नरेशों के साथ संघ निर्माण योजना को रद्द कर दी और वेलेजली की नीति पर आचरण करने उद्यत हो गया। परन्तु नेपाल के विरूद्ध युद्ध में व्यस्त होने के कारण वह इस ओर ध्यान 1817 ई. के अन्त में दे सका। लेकिन उसका इस ओर ध्यान मोड़ने वालों में मेटकाप, भी एक पात्र था।

21.3 संधियों का प्रस्ताव :

हेस्टिंग्ज ने मेटकार्फ को इन शासकों से संधि के बारे में बातचीत शुरू करने के आदेश दिये। चार्ल्स मेटकार्फ राजस्थानी राज्यों के साथ संधि करने को काफी उत्सुक था। अतः मेटकार्फ ने राजस्थानी शासकों को एक परिपत्र भेजा जिसमें उसने उनके प्रतिनिधियों को कम्पनी से संधि–वार्ता के लिए दिल्ली भेजने के लिए आमन्त्रित किया। परिपत्र में निम्नांकित बातें थीं–

1. मराठों को दिया जाने वाला कर अंग्रेजों को दिया जायेगा।
2. अंग्रेज इसका हिसाब मराठों से करेंगे।
3. कोई संधिकर्ता राज्य अन्य शक्तियों से राजनैतिक संबंध नहीं रखेगें।

लेकिन राजपूतों से सीधी संधि करने में एक बड़ी कठिनाई थी। 1805ई. की संधि के अनुसार मेवाड़, जयपुर, जोधपुर आदि राजस्थानी राज्यों को मराठों के प्रभाव क्षेत्र में मान लिया गया था। इन शर्तों में जब तक परिवर्तन न हो राजपूत राज्यों से सीध ा सम्बन्ध स्थापित करना संधि का उल्लंघन होता। अतः हेस्टिंग्ज ने राजस्थान के राज्यों से संधिवार्ता के साथ–साथ सिंधियाँ से शर्तो में परिवर्तन करने के लिये जोर देना शुरू किया। गवर्नर जनरल का यह स्पष्ट मत था कि मराठा परिवर्तन के लिये तैयार

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

न हों तो भी मराठों से हुई संधि की शर्तों की उपेक्षा कर राजपूत राज्यों से समझौता किया जाय। सिंधिया पर दबाव डालने के लिए अंग्रेजों ने एक सैनिक योजना बनाई जिससे भयभीत होकर दौलतराव सिंधिया ने 5 नवम्बर, 1817 ई. को अंग्रेजों से नई संधि की जिसमें यह स्वीकार कर लिया कि ब्रिटिश सरकार उदयपुर, जोधपुर, कोटा, बूंदी तथा अन्य चम्बल के बायें क्षेत्र के राज्यों से समझौता करने के लिए पूर्ण स्वतंत्र है। सिंधिया ने यह भी स्वीकार किया कि बिना ब्रिटिश स्वीकृति के किसी भी रूप में इन राज्यों के मामलों में हस्तक्षेप नहीं करेगा। इस प्रकार से यह संधि होना हेस्टिंग्ज की एक महान् उपलब्धि थी। अब कम्पनी राजपूत राज्यों से समझौता करने में स्वतंत्र हो गई। राजपूत राज्य भी समझौता करने को उत्सुक थे। अतः सभी प्रमुख राज्यों ने अपने प्रतिनिधि बातचीत के लिए दिल्ली भेजे। इस प्रकार मराठा और पिंडारियों के अत्याचारों से सामन्तों का विरोध तथा अंग्रेजों की आवश्यकता के कारण अधिकांश राजपूत राज्यों और कम्पनी के बीच एक ही वर्ष में संधियाँ हो गई। विभिन्न राज्यों से होने वाली शर्तें करीब–करीब सभी के बीच एक समान थी। इन संधियों के अनुसार राजपूत राज्यों ने अधीनस्थ के रूप में ब्रिटिश सरकार को सहयोग देना स्वीकार किया। ब्रिटिश सरकार की सार्वभौमिकता को स्वीकार कर लिया। इन संधियों के अनुसार इन राज्यों ने यह भी स्वीकार किया कि–

1. वे अन्य किसी शासक व राज्य से बिना ब्रिटिश सरकार की स्वीकृति और पूर्व सूचना के समझौता नहीं करेंगे।

2. इन राजपूत राज्यों ने ब्रिटिश सरकार को किसी भी प्रकार के झगड़े को सुलझाने के लिए मध्यस्थ स्वीकार किया।

3. मराठों को दिया जाने वाला कर अंग्रेज सरकार को दिया जायेगा।

4. सरकार की मांग पर राज्य सामर्थ्य के अनुसार सैनिक सेवायें भी प्रदान करेंगे। परंतु आंतरिक मामलों में सम्पूर्ण अधिकार शासक के होंगे तथा अंग्रेजी कानून उन राज्यों पर लागू नहीं होंगे।

ब्रिटिश सरकार ने बाह्य आक्रमणों से रक्षा का वचन भी दिया। विभिन्न राज्यों से दिया जाने वाला कर इस प्रकार निश्चित किया– उदयपुर दो लाख रूपये, जयपुर चार लाख रूपये, जोधपुर एक आठ हजार रूपये, कोटा एक लाख 87 हजार रूपये, बूंदी एक लाख 20 हजार रूपये, झालावाड़ 80 हजार रूपये आदि।

21.4. कोटा राज्य :

यद्यपि 1803 में अलवर राज्य ने अंग्रेजों से संधि की थी इसके पश्चात अंग्रेजों से संधि करने में सबसे पहला राज्य कोटा था। यहाँ सबसे अच्छी प्रशासनिक व्यवस्था होते हुए भी राज्य ने सबसे पहले 26 दिसम्बर, 1817 ई. को संधि की। संधि की ये शर्तें ही अन्य राज्यों के लिए आधार बनी। कोटा की प्रशासनिक व्यवस्था जालिमसिंह झाला के हाथों में थी। तब कोटा राज्य में यही सर्वेसर्वा था। उसने कठिन परिस्थितियों में भी अपनी बुद्धिमता और कूटनीतिज्ञता के आधार पर कोटा को सुरक्षा प्रदान की। सारे राजस्थान में उसका प्रभाव फैला हुआ था। जालिमसिंह की प्रसिद्ध भटवाड़ा–युद्ध (17 दिसम्बर, 1761 ई.) के बाद तेजी से फैली। अंग्रेजों की शक्ति का पूर्वानुमान लगाते हुए उसने शीघ्र समझौता करना ही श्रेयस्कर समझा। अंग्रेजों से उसका सम्पर्क द्वितीय आंग्ल–मराठा युद्ध के समय से ही शुरू होता है। कर्नल मॉनसन की करारी पराजय के बाद जालिमसिंह के कारण ही उसकी सेनायें सकुशल निकल सकीं। फलतः होल्कर जालिमसिंह से बड़ा नाराज भी हुआ। अगले दस वर्षों तक जालिमसिंह का ईस्ट इण्डिया कम्पनी से कोई औपचारिक सम्पर्क नहीं रहा। जालिमसिंह की पिंडारियों के प्रति मित्रता की नीति थी। किन्तु जब अंग्रेजों ने पिंडारी विरोधी अभियान किया तो जालिमसिंह ने समस्त शक्ति से अंग्रेजों को सहायता दी जिसकी लार्ड हेस्टिंग्ज वगैरह ने बड़ी प्रशंसा की। अब मेटकार्फे के परिपत्र को स्वीकार कर सबसे पहले कोटा ने अपने प्रतिनिधि को दिल्ली भेजा और संधि पर हस्ताक्षर किये। संधि–पत्र में ग्यारह धाराएँ थीं। ग्यीहवीं धारा में संधि पर हस्ताक्षर करने वालों के नाम हैं तथा अन्य शर्तें इस प्रकार थीं–

1. ब्रिटिश सरकार व कोटा के बीच परस्पर मैत्री व सद्भाव सदैव बने रहेंगे।

2. एक पक्ष का मित्र व शत्रु दूसरे का मित्र व शत्रु समझा जायेगा।

3. ब्रिटिश सरकार कोटा राज्य को अपने संरक्षण में लेना स्वीकार कर उसकी सुरक्षा का वचन देती है।

4. महाराव तथा उसके उत्तराधिकारी सदैव ब्रिटिश सरकार की अधीनता में रहते हुये हमेशा सहयोग देते रहेंगे।

5. ब्रिटिश सरकार से पूछे बिना कोटा किसी भी शक्ति से संधि या मित्रता नहीं करेगा परंतु अपने मित्रों एवं संबंधियों के साथ उनका मित्रतापूर्ण पत्र–व्यवहार पूर्ववत् जारी रहेगा।

6. महाराव तथा उसके उत्तराधिकारी किसी भी राज्य पर आक्रमण नहीं करेंगे तथा किसी अन्य के साथ विवाद हो जाने पर उसे ब्रिटिश सरकार ही निपटायेगी।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

7. कोटा राज्य अब तक मराठों को जो कर दे रहा था वह अब ब्रिटिश सरकार को दिल्ली में देगा।

8. अंग्रेजों के सिवाय कोई अन्य शक्ति कोटा से कर लेने का दावा नहीं करेगी। यदि किसी शक्ति ने ऐसा किया तो ब्रिटिश सरकार उसे जवाब देगी।

9. ब्रिटिश सरकार की मांग पर कोटा राज्य अपनी सामर्थ्य के अनुसार सैनिक सहायता देगा।

10. महाराव तथा उसके उत्तराधिकारी पूर्णतः अपने राज्य के शासक रहेंगे तथा वहाँ ब्रिटिश सरकार के दीवानी व फौजदारी नियम लागू नहीं किये जायेंगे।

21.5. गुप्त धाराएँ :

जालिम सिंह झाला इस समय तक वृद्व हो चुका था। कोटा के हाड़ा जागीरदार तथा राजकुमारों के मन में उसके प्रति काफी ईर्ष्या थी। जालिमसिंह ने यद्यपि अंग्रेजों से दी जाने वाली सनद स्वीकार नहीं की तथापि वह अपने उत्तराधिकारियों के लिए चिंतित अवश्य था। अंग्रेजों की उसने कठिन समय में मदद की। डॉ. रामप्यारी शास्त्री ने तो इतना लिखा है कि राजपूताना , मध्यभारत और वास्तव में दक्षिण व पूर्व से किसी व्यक्ति ने निरन्तर अंग्रेजों के प्रति इतना सद्भाव नहीं रखा जितना जालिमसिंह ने। निःसंदेह जालिमसिंह ने अंग्रेजों को महत्वपूर्ण सेवायें दीं और जिस शीघ्रता से संधि की शर्तों को स्वीकार किया उसके कारण अंगेजों के मन में उसके प्रति विशेष सद्भाव था। अतः ईस्ट इण्डिया कम्पनी भी उसके प्रति काफी उदारता बताई। कोटा के महाराव से हुई संधि में दो धाराओं वाली गुप्त शर्तों का भी समावेश कर दिया था, जिसके अनुसार–

(1) महाराव उम्मेदसिंह तथा उसके उत्तराधिकारी कोटा राज्य के राजा स्वीकार किये गये।

(2) कोटा राज्य में जालिमसिंह को जो विशिष्ट अधिकार और शक्तियाँ थीं उसके उत्तराधिकारियों के लिये भी स्वीकृति कर दीं।

इस पूरक धारा पर 6 व्यक्तियों के हस्ताक्षर थे। हस्ताक्षर की तारीख 20 फरवरी 1818 ई. है और 7 मार्च को संधि मान्य हो गई। डॉ. शास्त्री का मानना है कि इस सारे समझौते में कुछ असंगतियाँ हैं। कोटा और यहाँ के शासकों के लिये भी यह संधि उपयुक्त नहीं थी। जालिमसिंह के लिये भी यह संधि प्रतिष्ठा बढ़ाने वाली नहीं थी। कोटा में वह और अधिक अलोकप्रिय हो गया। महाराव उम्मेदसिंह की मृत्यु के बाद जालिमसिंह के अधिकारों को भी चुनौती दी जाने लगी। नवीन शासक किशोरसिंह का उससे आये दिन झगड़ा होने लगा। महाराव अपना राजमहल छोड़कर कोटा के दक्षिण में पांच मील दूर रंगवाड़ी में जाकर रहने लग गया। कर्नल टॉड तब कोटा में ही था किन्तु वह भी उन दोनों के बीच के झगड़ों को रोक नहीं सका। महाराव को भाग कर बूंदी में शरण लेनी पड़ी। 1 अक्टूबर, 1821 ई. को मंगरोल में दोनों के बीच युद्व हुआ जिसमें अंग्रेजों की सहानुभूति जालिमसिंह के प्रति रही। अतः जालिमसिंह का पलड़ा भारी रहा और महाराव को नाथद्वारा की ओर जाना पड़ा। जालिमसिंह की स्थिति दिन–प्रति दिन खराब होती जा रही थी। अतः 1822 ई. में एक नया समझौता हुआ जिसके अनुसार संधि की गुप्त शर्त रख ली गई और महाराव को कुछ अधिक विशेषाधिकार प्रदान किये गये। किशोरसिंह को पुनः कोटा लाया गया किन्तु कुछ समय बाद ही जुलाई , 1824 ई. में जालिमसिंह की मृत्यु हो गई। उसकी मृत्यु से कोटा में एक युग की समाप्ति हो गई। अतं में जाकर उसके उत्तराधिकारियों के लिए स्वतंत्र झालावाड़ राज्य की स्थापना हुई।

21.6. जोधपुर राज्य :

इसी भाँति जोधपुर से 6 जनवरी , 1818 ई. को संधि हुई। संधि की शर्तें 10 थीं परन्तु उनमें से प्रमुख निम्नांकित थीं

1. ईस्ट इण्डिया कम्पनी और महाराजा मानसिंह तथा उनके उत्तराधिकारियों के बीच मित्रता रहेगी। दोनों पक्ष एक दूसरे के शत्रु और मित्र को अपना मित्र अथवा शत्रु समझेंगे।

2. अंग्रेज सरकार मारवाड़–राज्य की सुरक्षा का उत्तरदायित्व लेती है।

3. महाराजा मानसिंह और उनके उत्तराधिकारी अंग्रेजी सरकार के अधिकार युक्त सहयोग से कार्य करेंगे और भविष्य में दूसरे राजाओं या राज्यों से कोई सरोकार नहीं रखेंगे।

4. महाराजा , उनके वंशज, अंग्रेजी सरकार को सूचित किये बिना या उनकी आज्ञा के बिना किसी राजा या राज्य से बातचीत नहीं करेंगे। परन्तु उनकी साधारण लिखा–पढ़ी अपने मित्रों और सम्बन्धियों के साथ जारी रहेगी।

5. सिंधिया को दिया जाने वाला कर ब्रिटिश सरकार को दिया जायेगा।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

6. जोधपुर राज्य ब्रिटिश–सरकार के कार्य के लिए 1500 सवार रखेगा। आवश्यकता पड़ने पर राज्य की सारी शक्ति से अंग्रेज सरकार को मदद करेगा।

7. आन्तरिक मामलों में ब्रिटिश सरकार का किसी प्रकार का हस्तक्षेप नहीं रहेगा।

संधि में महाराजा मानसिंह को दो विशेषाधिकार प्रदान किये गये थे–

1. जोधपुर की सेनाएँ नर्मदा नदी पर दक्षिण भारत में अंग्रेजों की सेवा के लिए नहीं बुलाई जायेगी।

2. अंग्रेजो ने यह आश्वासन दिया कि वे जोधपूर के जागीरदारों के साथ कोई सीधा सम्पर्क स्थापित नहीं करेगें। इसी के साथ चार्ल्स मैटकाफ ने अंग्रेजी ईस्ट इण्डिया कम्पनी की ओर से आश्वासन दिया कि वे जोधपूर की प्रशासनिक व्यवस्था में कोई हस्तक्षेप नहीं करेंगे।

इस संधि के सन्दर्भ में डॉ. एम. एस. मेहता का मानन है कि इससे ईस्ट इण्डिया कम्पनी की राजनैतिक प्रतिष्ठा बढ़ी क्योंकि जोधपुर एक महत्वपूर्ण राज्य था जिसका पश्चिमी राजस्थान में विस्तृत क्षेत्र था। कम्पनी ने जोधपुर के साथ की गई संधि को पुनः दोहराते हुए जोधपुर महाराजा को 1500 सैनिक ईस्ट इण्डिया कम्पनी को सहायतार्थ भेजने को विवश किया।

21.7. मेवाड़ राज्य :

जोधपूर से संधि हो जाने के एक सप्ताह बाद में ही 13 जनवरी, 1818 ई. को मेवाड़ से भी ब्रिटिश सरकार की संधि हो गई जिसके अनुसार महाराणा ने ब्रिटिश सरकार की अधीनता एवं सर्वोच्चता स्वीकार कर ली और ब्रिटिश सरकार की जानकारी और स्वीकृति के लिये बिना, किसी राज्य से संबंध न रखने का भी वचन दिया। कम्पनी ने यह वचन दिया कि मेवाड़ से छिने हुये प्रदेशों के बारे में जाँच–पड़ताल कर पुनः दिलाने का ध्यान रखेंगे। इस संधि पर टिप्पणी करते हुए डॉ. एम. एस. मेहता ने लिखा है कि मेवाड़ ने इतना सम्पूर्ण समर्पण किसी शक्ति के आगे इसके पूर्व नहीं किया। मेवाड़ संधि के लिए बहुत अधिक उत्सुक था। यहाँ तक कि मैटाकाफ को भी कुछ आपत्ति होने का संदेह था किन्तु मेवाड़ के प्रतिनिधि ठाकुर अजीतसिंह ने कोई परिवर्तन का सुझाव नहीं दिया। अतः बिना विशेष अवरोध के समझौता हो गया। समझौते की मुख्य शर्तें निम्नांकित थी :–

1. दोनों पक्ष एक दूसरे के शत्रु और मित्र को अपना शत्रु अथवा मित्र समझेंगे।

2. अंग्रेज सरकार , मेवाड़ राज्य की सुरक्षा का उत्तरदायित्व लेती है।

3. महाराणा तथा उसके उत्तराधिकारी सदैव ब्रिटिश सरकार की अधीनता रहते हुए हमेशा सहयोग देते रहेंगे।

4. ब्रिटिश सरकार को सूचित किये बिना मेवाड़–राज्य किसी भी शक्ति से संधि या मित्रता नहीं करेगा, परन्तु अपने मित्रों एवं संबंधियों के साथ उनका मित्रतापूर्ण व्यवहार पूर्ववत् जारी रहेगा।

5. महाराणा तथा उसके उत्तराधिकारी किसी भी राज्य पर आक्रमण नहीं करेंगे तथा किसी अन्य के साथ विवाद होने पर उसे ब्रिटिश सरकार निपटायेगी।

6. प्रथम पॉच वर्ष तक राज्य की आय का एक–चौथाई भाग प्रतिवर्ष अंग्रेज सरकासर को कर के रूप में दिया जायेगा और इसके पश्चात् प्रतिवर्ष 3/8 भाग देना होगा। अन्य कोई शक्ति मेवाड़ से कर प्राप्त करने का दावा नहीं करेगी।

7. मेवाड़ के भूभाग पर अन्य शक्तियों के अन्यायपूर्ण अधिकार को समाप्त कर पुनः दिलाने में ब्रिटिश सरकार ने असमर्थता बताई परन्तु राज्य की समृद्धि के लिए सरकार ने ध्यान रखने को कहा तथा अंग्रेज सरकार की सहायता से मेवाड़ को प्राप्त होने वाले क्षेत्र की आय का 3/8 भाग प्रतिवर्ष अंग्रेज सरकार को दिया जायेगा।

उसी प्रकार किशनगढ़ ,बीकानेर , डूँगरपुर , बांसवाड़ा , प्रतापगढ़ से भी ब्रिटिश सरकार की संधियाँ हो गई। जैसलमेर से हुई संधि में किसी प्रकार को खिराज लेने की व्यवस्था नहीं थी क्योंकि यह राज्य मराठों को खिराज नहीं देता था।

21.8. सन्धियों की समीक्षा एवं परिणाम :

उपर्युक्त सन्धियों के सम्पन्न होने के लगभग एक ही वर्ष में राजपूताने के समस्त राज्य ईस्ट–ईण्डिया कम्पनी के प्रभाव में चले गये। सन्धियां सब राज्यों के साथ लगभग एक ही स्तर पर की गई थी। यदि उनमें कुछ साधारण यत्र–तत्र परिवर्तन भी किये गये तो वे भी कम्पनी के हित को विचारते हुए किये गये थे। कुछ राज्यों को विराज न देने की सुविधा भी प्रदान की गई; परन्तु अंग्रेजों द्वारा दी गई यह सुविधा अस्थायी सिद्ध हुई। सन्धियों की शर्तें कुछ तो आकर्षक थीं जिनके कारण राजपूत

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

नरेश शीघ्रता से उन सन्धियों पर हस्ताक्षर करने को उद्यत हो गये। इसके अलावा उपरोक्त सन्धियां राजपूताने ने नरेशों के सम्मुख इस प्रकार की परिस्थितियों में रखी गई थीं कि राजाओं के सामने उस समय उन पर हस्ताक्षर करने के अलावा अन्य कोई चारा शेष नहीं रहा था। राजाओं को यह विश्वास दिलाया गया कि गद्दी पर उनका पैतृक अधिकार बना रहेगा। उनका शासन भी निरंकुश रूप से चलता रहेगा। कम्पनी उनके किसी भी आन्तरिक कार्य में हस्तक्षेप नहीं करेगी। इसके विपरीत यदि उनके राज्य की सुरक्षा के लिए यदि कोई बाह्य संकट होगा तो कम्पनी उसे सुरक्षा प्रदान करेगी। इन सन्धियों को राजपूत नरेशों के सम्मुख इस प्रकार से रखा गया कि राजाओं ने कम्पनी की ईमानदारी में कोई शंका न रखते हुए तत्परता से उन्हें स्वीकार कर लिया।

परन्तु सन्धियों में निर्धारित शर्तो को कम्पनी के अधिकारियों ने ज्यों ही क्रियान्वित करना आरम्भ किया तो राजाओं की कम्पनी के प्रति उत्पन्न श्रद्धा निर्मूल सिद्ध हुई। उनके वंशानुगत अधिकार पर भी कुठाराघात किया गया तथा उनके शासन–संचालन में भी यदा–कदा बाधाएं उत्पन्न कर उसे पूर्णरूपेण नरेशों की इच्छानुकूल नहीं चलने दिया। इस प्रकार देखा जाये तो राजपूताना ने नरेश अपने राज्य में ही प्रभुत्व सम्पन्न शासक न रहकर कम्पनी के सामन्त व जमींदार बन गये। कम्पनी के दिल में इस प्रकार के शासन को नियन्त्रित करने की इच्छा तो पहले से ही थी परन्तु कम्पनी के सामने उस समय मराठों व पिण्डारियों को दबाने की समस्या प्रस्तुत थी जिसके कारण उसे इन राजाओं का सहयोग लेना परम–आवश्यक हो गया था। इसीलिये अंग्रेजों ने सन्धि की शर्तो को इतनी चतुराई व कूटनीति से तैयार किया था कि राजा इन शर्तो के सही मन्तव्य को ठीक तरह से नहीं समझ सके। अतः इसके दुष्परिणाम उनको थोड़े समय बाद ही भुगतने पड़े। उन दुष्परिणामों की संक्षेप में समीक्षा इन निम्न बिन्दुओं के अन्तर्गत करते है–

21.8.1. राज्यों के शासन में कम्पनी का हस्तक्षेप – कम्पनी ने राजपूत नरेशों के साथ सन्धिया करते समय इस बात का स्पष्ट आश्वासन दिया था कि वे अपने राज्यों के पूर्णरूपेण सार्वभौमिक शासक बने रहेंगे। कम्पनी सरकार इन राज्यों के आन्तरिक प्रशासन में किसी प्रकार का हस्तक्षेप नहीं करेगी। परन्तु कम्पनी ने राज्यों के क्या आन्तरिक व क्या बाह्य कार्यो में हस्तक्षेप करना आरम्भ कर दिया। सन्धि की शर्तो के अन्तर्गत कम्पनी ने राजपूत नरेशों को बाध्य किया कि एक नरेश दूसरे नरेश से राजनीतिक सम्बन्ध स्थापित नहीं करेगा तथा एक राज्य दूसरे से किसी भी प्रकार का झगड़ा मोल नहीं लेगा। यदि किन्हीं परिस्थितियों में दो रियासतों के बीच कभी संघर्ष हो भी तो दोनों राज्यों को कम्पनी की मध्यस्थता स्वीकार करनी पड़ेगी। कम्पनी का निर्णय उन दोनों सम्बन्धित राज्यों को मान्य होगा और वह अन्तिम होगा। राजाओं की सैनिक शक्ति तो कम्पनी द्वारा सुरक्षा के आश्वासन देने पर पहले ही कम हो गई थी। अतः यदि राज्यों का मामला बढ़कर सैनिक कार्यवाही तक भी आता तो कम्पनी की सेना ही जाकर उन राज्यों का मामला बढ़कर सैनिक कार्यवाही तक भी आता तो कम्पनी की सेना ही जाकर उन राज्यों के संघर्ष का समाधान कर सकती थी। इस प्रकार स्पष्ट है कि आन्तरिक व बाह्य दोनों मामलों में राजपूताने के राज्य कम्पनी की सैनिक शक्ति पर आश्रित हो गये।

इसमें कोई सन्देह नहीं कि कम्पनी ने सन्धियों के अन्तर्गत नरेशों को आन्तरिक व बाह्य दोनों मामलों में सुरक्षा प्रदान करने का आश्वासन दिया और सम्भवतः यही शर्त राजाओं को सर्वाधिक आकर्षक लगी थी। इसी कारण राजाओं ने इन शर्तो को शीघ्रता से अंगीकार भी किया। इसमें भी कोई सन्देह नहीं सन्धियां राजाओं को समयानुकूल सिद्ध हुई। उन्हें मराठों तथा पिण्डारियों से राहत मिली। जनता भी उन आतताइयों की लूट–खसोट से मुक्त हुई। परन्तु सैनिक दृष्टि से ये सन्धियां राजाओं को कालान्तर में हानिकारक ही सिद्ध हुई। कम्पनी से सुरक्षा का आश्वासन मिल जाने पर राजा अपनी सैन्य शक्ति के प्रति उदासीन हो गये। सामन्तों से भी सैनिक सहयोग मिलना बन्द हो गया। इसके विपरीत सामन्तों ने तो उत्पात मचाकर अपने स्वामी राजाओं के सामने सैनिक समस्या और उत्पन्न कर दी।

21.8.21. राज्यों की आर्थिक अवस्था का दयनीय होना – आर्थिक दृष्टि से भी सन्धियां राजाओं को राहत देने वाली प्रतीत हुई थी; क्योंकि अब वे मराठों व पिण्डारियों की निरन्तर आर्थिक मांगों से मुक्त हो गये थे। परन्तु यह आर्थिक राहत भी उनके लिए चिरस्थायी नहीं रही, क्योंकि कम्पनी ने प्रारम्भ से ही खिराज की प्रथा लागू कर शोषण की नीति अपना ली थी। यदि खिराज का भुगतान समय पर नहीं होता था तो कम्पनी उन पर चक्र–वृद्धि ब्याज (Compound Interest) लगाकर खिराज वसूल करती थी। खिराज के अतिरिक्त भी कम्पनी शान्ति व्यवस्था स्थापित करने के नाम पर राजाओं से धन वसूल करती थी। युद्ध की परिस्थितियों में भी राजाओं को धन देने के लिए बाध्य किया जाता था। इस धन राशि के अलावा राजाओं को अपने खर्च पर कम्पनी के लिए सेना रखनी पड़ती थी। यदि राजा उस सैनिक खर्च को वहन करने में

असमर्थता दिखाता तो उसके राज्य का कुछ भाग कम्पनी अपने अधीन कर लेती थी। इसके अलावा शान्ति–सुरक्षा के नाम पर यदि कम्पनी अपने सैनिक उस राज्य को भेजती तो मराठों की भांति वह भी राजाओं से उन सैनिकों का खर्च वसूल करती थी। उदाहरणार्थ–जब जयपुर नरेश ने शेखावाटी में राजमाता के समर्थक सामन्तों के कुचलने के लिए ब्रिटिश सैनिक–सहायता ली तो कम्पनी अपने सैनिकों का खर्चा मांगा और जब जयपुर नरेश खर्चा देने में असमर्थता व्यक्त की तो कम्पनी ने सांभर झील को अपने अधीन कर लिया। इसी प्रकार जब जोधपुर में अशांति व अव्यवस्था फैली तो 1853 में वहां 'जोधपुर लीजियन' का गठन किया गया और उसके खर्च के लिए 1 लाख 15,000 रू. वार्षिक राजा से लिया जाने लगा। इसी प्रकार 1825–30 के अन्तराल में भीलों के दमन के लिए ब्रिटिश सैनिकों ने कार्यवाही की तो अभियान का सम्पूर्ण खर्च महाराणा के नाम पर ऋणरूप में लिख दिया गया और फिर 6 प्रतिशत का ब्याज लगा कर वह राशि वसूल की गई।

21.8.3. नरेशों तथा सामन्तों में फूट उत्पन्न करना – फूट डालकर राज्य करने की नीति तो अंग्रेजों की परम्परागत चली आ रही थी। परन्तु इस नीति को प्रयुक्त राष्ट्रीय व अन्तर्राष्ट्रीय मामलों में ही किया जाता था। कूटनीतिज्ञ अंग्रेजों ने इस नीति को इन राज्यों में ही प्रयुक्त कर सामन्तों व उनके स्वामी राजाओं के बीच वैमनस्य उत्पन्न कर दिया। जिसके परिणामस्वरूप दोनों आपस में लड़ने लगे। इन संघर्षो से भी राजाओं को आर्थिक दृष्टि से दुष्परिणाम ही भुगतने पड़े। प्रथम तो सामन्तों ने खालसा भूमि को लूटना आरम्भ कर दिया और दूसरा इस प्रकार राजा की आय में कमी कर दी। दूसरी ओर सामन्तों के उत्पातों को दबाने के लिए उनको अंग्रेजों का मुंह ताकना पड़ता था और कम्पनी से सैनिक सहायता मिलने पर उन्हें इसके बदले काफी धन देना पड़ता था। इसी प्रकार कम्पनी सरकार ने सन्धि की शर्तो के माध्यम से नरेशों में फूट व वैमनस्य उत्पन्न कर दिया। राजस्थान के नरेशों में सद्भावना घर नहीं कर सकी।

21.8.4. नरेशों का प्रशासन शिथिल होना – प्रशासन में नरेश अपने रेजीडेण्ट की मंत्रणा पर कार्य करने लगे। परिणामतः प्रशासन में शनैःशनैः रेजीडेण्ट ने अपने मन पसन्द के अधिकारी नियुक्त करना आरम्भ कर दिया। नरेश प्रशासन के प्रति पूर्णतः उदासीन हो गये। वे अपना समय रंग–रेलियों में गुजारने लगे। वे सुरा और सुन्दरी के दास हो गये। उनके प्रासादों में रानियों के स्थान पर वैश्यायें गौरव पाने लगी। उदाहरणार्थ–हम जयपुर के नरेश जगतसिंह व जोधपुर के मानसिंह को ले सकते है। जगतसिंह ने तो अपनी प्रिय वैश्या रस कपूर के नाम पर सिक्के तक चला दिये थे।

21.8.5. उत्तराधिकार के प्रश्न में हस्तक्षेप – सन्धि करते समय कम्पनी सरकार ने नरेशों को विश्वास दिलाया था कि वह उनके परम्परागत शासन में किसी प्रकार हस्तक्षेप नही करेगी। परन्तु अंग्रेजों की सर्वोच्चता की अभिलाषा का नग्नरूप तो राज्यों के उत्तराधिकार के प्रश्नों से ही देखने को मिलता है। सन्धि की किसी शर्त के अन्तर्गत उन्हें उत्तराधिकार के प्रश्न पर हस्तक्षेप करने का अधिकार नहीं दिया गया था। परन्तु राज्य में शान्ति व व्यवस्था बनाये रखने के बहाने कम्पनी उत्तराधिकार के प्रश्न पर खुल्लम–खुल्ला हस्तक्षेप करने लगी। अपनी मर्जी के उम्मीदवारों को उत्तराधिकारी के रूप में थोपने लगी तथा वहा अप्रत्यक्ष रूप से अपनी राजनीतिक प्रभुता स्थापित करने लगी। यदि उत्तराधिकारी अल्पवयस्क होता तो ए.जी.जी. व उस राज्य को रेजीडेण्ट अपने समर्थकों को कौन्सिल का वहां गठन करते थे। इस अन्तराल में वे राज्यों का शोषण करते तथा अपने आदमियों को उत्तरदायी पदों पर नियुक्त कराते थे। गोद लेने के प्रश्न पर अपना निर्णय लादने का प्रयास रेजीडेण्ट द्वारा किया जाता था। इसके स्पष्ट दृष्टान्त उन्नीसवीं सदी के प्रारम्भ में ही जयपुर, भरतपुर व अलवर में देखने को मिलते है। रेजीडेण्ट के अदेशानुसार कार्य न करने पर योग्य नरेश को अयोग्य करार कर गद्दी से च्युत कर दिया जाता था और अपने समर्थक अयोग्य को भी योग्य ठहरा कर गद्दी पर बिठा दिया जाता था। उदाहरणार्थ–हम झालावाड़ के शासक राजराणा जालिमसिंह को ले सकते है। उसकी झालावाड़ के पोलिटीकल एजेण्ट इवान्स गार्डन से नहीं बनी। अतः गार्डन ने उसे एक अयोग्य शासक सिद्ध कर गद्दी से उतार दिया। इसी प्रकार करौली के नरेश नरसिंह पाल के उपरान्त उसके पुत्र मदनपाल को चार वर्ष तक इसीलिए शासक नहीं बनने दिया गया क्योंकि वह कम्पनी के सिफारिश व्यक्ति को अपना मन्त्री नहीं बनाना चाहता था।

21.8.6. सामन्तों के प्रति उनकी घातक नीति – सामन्तों को भी राज्यों में अशान्ति फैलाने का अंग्रेजों ने अच्छा साधन बनाया क्योंकि इससे भी उनको आन्तरिक हस्तक्षेप करने का अवसर मिलता था। एक तरफ तो वे सामन्तों को उच्च पदों से वंचित कर उन्हें शक्तिहीन बना कर उनके स्थान पर अपने समर्थक अधिकारियों की नियुक्ति कराना चाहते थे तो दूसरी ओर सामन्तों के सैनिक साधन समाप्त कर वे राजाओं को पूर्णतः अपने आश्रित बनाना चाहते थे। इन दिनों ही साधनों को अपनाने से उनका राज्यों में हस्तक्षेप उत्तरोत्तर बढ़ता ही चला गया; जबकि कम्पनी ने राजाओं से सन्धि में यह

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

तय किया था कि उनके विद्रोही सामन्तों को दबाकर वहां शान्ति स्थापित की जायेगी और सामन्तों द्वारा अधीनस्थ किये गये प्रदेश उन्हें वापिस दिलाए जावेंगे। लेकिन कम्पनी ने इसके विपरीत आचरण किया और इसका एक मात्र यही कारण था कि वे राज्यों के आन्तरिक मामलों में अधिकाधिक हस्तक्षेप कर वहां पर अपना राजनीतिक प्रभाव जमाना चाहते थे।

इन सन्धियों के प्रस्तावों के सन्दर्भ में अपना मत व्यक्त करते हुए मार्शमैन ने लिखा है कि इन सन्धियों के स्वीकार करने से राजपूत नरेशों में प्रसन्नता की लहर दौड़ गई। वह कहता है कि मराठों व पिण्डारियों के अत्याचारों से त्रस्त राजपूत नरेशों ने ब्रिटिश सरकार से सुरक्षा का आश्वासन पाकर उन सन्धियों के प्रस्तावों को बिना ध्यान से देखे स्वीकार कर लिया। परन्तु यदि हम उनसे उत्पन्न परिणामों को देखें तो ये सन्धियां इन राजपूत नरेशों पर अपनी सर्वोच्च प्रभुता स्थापित करने में ही सहायक सिद्ध हुई। इन सन्धियों की शर्तो ने वास्तव में कम्पनी सरकार के लिए इन राज्यों के आन्तरिक मामलों से सुगमता से हस्तक्षेप करने का मार्ग प्रशस्त कर दिया। कम्पनी ने अपने अधिकारों का क्षेत्र स्पष्ट न करके उन्हें इंग्लैण्ड के संविधान की भांति परम्पराओं के आधार पर छोड़ दिया। यह इसी का परिणाम था कि राज्यों में अंग्रेजों का हस्तक्षेप, जिसका राजपूत नरेश प्रारम्भ में आभास भी नहीं कर सके थे, उत्तरोत्तर बढ़ता ही चला गया और कालान्तर में वह एक सुसंस्थापित तथ्य बन गया। इसी के फलस्वरूप राजपूताना के नरेश इन सन्धियों का अंगीकार कर न केवल बाह्य सुरक्षा में ही अंग्रेजों के अधीन हुए वरन् वे अपनी आन्तरिक स्वतंत्रता को भी खो बैठे और 19वीं शताब्दी के अन्त तक तो वे अंग्रेजों पर इतने आश्रित हो गये कि उन पर ब्रिटिश सरकार अपना पूर्ण वर्चस्व स्थापित करने में सफल हो गई। इन सन्धियों के फलस्वरूप ही नरेशों पर अधि सत्ता (Paramountcy) स्थापित हो गई। जिससे वे पूर्णतः ब्रिटिश सरकार के अधीन हो गये और प्रशासन के किसी भी क्षेत्र में कार्य करने में स्वतन्त्र नहीं रहे। उनकी यह अवस्था भारत के स्वतंत्र होने तक बनी रही।

21.9. निष्कर्ष :

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि ब्रिटिश संरक्षण के बदले राजपूत शासकों को न केवल अपनी बाह्य सत्ता अंग्रेजों को सौंपनी पड़ी, बल्कि अपनी आन्तरिक स्वाधीनता का भी बलिदान करना पड़ा। अपनी आन्तरिक कमजोरियों से विवश होकर राजपूत शासकों को सर्वोच्च सत्ता के साथ समानता के दावे को छोड़ते हुए ब्रिटिश सत्ता के प्रति अधीनस्थता की नीति अपनानी पड़ी। राजपूत शासकों ने इससे पूर्व इतने प्रभावकारी और निश्चित रूप से अपनी स्वाधीनता, अन्य किसी शक्ति को, यहां तक कि मुगल–सत्ता को भी समर्पित नहीं की थी. जैसा कि उन्हें 1818 ई. में उन्हें कम्पनी सरकार को करना पड़ा। यद्यपि इन संन्धियों में इस बात का स्पष्ट उल्लेख था कि राजपूत शासकों के आन्तरिक प्रशासन में कम्पनी सरकार किसी प्रकार हस्तक्षेप नहीं करेगी तथा राजपूत शासक अपने राज्यों के शासक बने रहेंगे, लेकिन सन्धियों में ऐसी धाराओं का समावेश था, जो राज्य के आन्तरिक शासन में ब्रिटिश हस्तक्षेप का मार्ग प्रशस्त करने वाली थी। फलस्वरूप ब्रिटिश संरक्षण स्वीकार करने के बाद ब्रिटिश अधिकारियों ने इन राजपूत राज्यों में धीरे–धीरे अपना हस्तक्षेप आरम्भ किया और उन्नीसवीं शताब्दी के अन्त तक तो उन्होंने सभी राजपूत रियासतों पर अपना पूर्ण वर्चस्व स्थापित कर लिया।

21.10 बोध प्रश्न :

प्रश्न 1 मेटकॉफ दिल्ली का रेजीडेन्ट कब बना?

अ. 1810 ई. ब. 1811 ई.

स. 1812 ई. द. 1813 ई.

उत्तर – ....

प्रश्न 2 कृष्णा कुमारी से विवाह की समस्या क्या थी?

उत्तर – ....

प्रश्न 3 राजस्थान में ब्रिटिश सत्ता की स्थापना व परिणाम बताइये।

उत्तर – ....

इकाई – 22
राजस्थान में 1857 ई. का विद्रोह

संरचना

22.0 उद्देश्य
22.1 पृष्ठभूमि
22.2 1857 ई. में राजस्थान की स्थिति
22.3 राजस्थान में ब्रिटिश सत्ता का प्रतिरोध
22.4 विद्रोह के कारण
  22.4.1 शासकों में असन्तोष
  22.4.2 सामन्तों की मनोदशा
  22.4.3 सामान्य जनता की भावना
22.5 विद्रोह का प्रारम्भ
22.6 विद्रोह का सूत्रपात
22.7 1857 ई. के विद्रोह का राजस्थान में प्रसार
  22.7.1 नसीराबाद
  22.7.2 नीमच
  22.7.3 देवली
  22.7.4 आउवा
  22.7.5 कोटा
  22.7.6 एरीनपुरा
  22.7.7 सलूम्बर
  22.7.8 कोठारिया
  22.7.9 अन्य स्थानों पर क्रान्ति
22.8 असफलता के कारण
22.9 विद्रोह के परिणाम
22.10 विद्रोह का स्वरूप एवं सारांश
22.11 बोध प्रश्न

22.0 उद्देश्य :

इस इकाई में भारत में हुये 1857 के विद्रोह का राजपूताने में विद्रोह के सैनिक सामन्ती, कारणों को विवेचित किया गया है तथा इस विद्रोह का प्रसार केन्द्र मुख्यतः नीमच, नसीराबाद, देवली, आउवा, कोटा, एरीनपुरा आदि की घटनाओं को भी परिणामों के साथ विस्तार से बताई जायेगी।

22.1 पृष्ठभूमि :

1857 में भारतीयों द्वारा ब्रिटिश सत्ता का विरोध, आधुनिक भारतीय इतिहास की एक अभूतपूर्व घटना है। यद्यपि अधिकांश अंग्रेज इतिहासकारों ने मात्र सैनिकों के असंतोष को विप्लव का कारण बताया है, किन्तु यह एकमात्र कारण नही था। अंग्रेज सरकार की नीतियों के परिणामस्वरूप भारत की परम्परागत संस्थाएं एंव परम्पराएं समाप्त हो रही थी और ब्रिटिश प्रशासन के प्रति जनसाधारण की सहानुभूति भी जाती रही थी। डलहौजी के गोद निषेध सिद्धांत से भारतीय राजाओं को गहरा आघात लगा था और वे अपने अस्तित्व के प्रति सन्देह प्रकट करने लगे थे। मुगल सम्राट बहादुरशाह द्वितीय के साथ किय

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

गये दुर्व्यवहार से समूचे देश में ब्रिटिश प्रशासन के विरूद्ध अस्न्तोष एंव विद्वेष फैल गया था। भारतीयों के प्रति अंग्रेजों ने जो भेदभाव तथा असमानता की नीति अपनाई थी, उससे भी भारतीय जनता क्रोधित थी। समाज सुधार के नाम पर ब्रिटिश प्रशासन ने सामाजिक क्षेत्र में हस्तक्षेप कर उसे और भी अधिक असन्तुष्ट बना दिया। अंग्रेजों ने भारत को ईसाईयत के रंग में रंगने का भी प्रयास किया जिससे भारतीयों के मन में अंग्रेजों के प्रति शंका और घृणा उत्पन्न हो गई। अंग्रेजों की आर्थिक शोषण की नीति से भारतीयों में निर्धनता बड़ी तेजी से बढ़ने लगी। भारतीय और ब्रिटिश सैनिकों के प्रति भेदभावपूर्ण नीति तथा भारतीय सैनिकों के धर्म पर प्रहार ने भारतीय सैनिकों के मन में अंग्रेजों के प्रति घृणा उत्पन्न कर दी।

1857 के विकल्प का तात्कालिक कारण एनफील्ड राइफल का भारत में प्रयोग करना था। इस राइफल में एक विशेष प्रकार का कारतूस प्रयोग में लिया जाता था, जिसको चिकना करते हेतु गाय व सूअर की चर्बी का प्रयोग होता था। राइफल में डालने के पूर्व इसकी टोफी को मुंह से काटना पड़ता था। इससे भारतीय सैनिकों के मन में यह बात जम गई कि अंग्रेज लोग धर्म भ्रष्ट कर उन्हें ईसाई बनाना चाहते है। इसके साथ ही उनमें अंग्रेजों के विरूद्ध विद्रोह की भावना भड़क उठी। 26 फरवरी, 1857 को बरहामपुर छावनी के सैनिकों ने इन कारतूसों का प्रयोग करने से इन्कार कर दिया। सरकार ने उस सैनिक टुकड़ी को भंग कर दिया। इससे अन्य सैनिक टुकड़ियों में भी असंतोष फैल गया। 29 मार्च, 1857 को 37वीं रेजीमेंट के मंगल पांडे नामक एक सिपाही ने बैरकपुर छावनी में ब्रिटिश अधिकारियों पर गोली चला दी, जिससे एक ब्रिटिश अधिकारी मारा गया और दो घायल हो गये। मंगल पांडे को इसके लिए मौत की सजा दी गई। जब यह सूचना लखनऊ पहुंची तो वहां के भारतीय सैनिकों ने भी नये कारतूसों का प्रयोग करने से मना कर दिया। इसके बाद 10 मई को मेरठ में भी सैनिकों ने अंग्रेज अधिकारियों पर आक्रमण कर उनमें से कुछ को मौत के घाट उतार दिया। मेरठ छावनी के अधिकांश भारतीय सैनिकों ने विद्रोह कर दिया और वे दिल्ली की तरफ बढ़े। ब्रिटिश शासन से असन्तुष्ट कुछ भारतीय नेताओं विशेषकर नाना साहब ने इस स्थिति का पूरा लाभ उठाया और मुगल सम्राट के नेतृत्व में ब्रिटिश सत्ता के उखाड़ फेंकने का निश्चय किया। परिणाम यह निकला कि सैनिकों के विद्रोह ने शीघ्र क्रांति का रूप ले लिया और यह संघर्ष तेजी के साथ सम्पूर्ण उत्तरी भारत में फैल गया। राजस्थान के राज्य भी इस संघर्ष के प्रभाव से अछूते नहीं रह गये।

22.2 1857 ई. में राजस्थान की स्थिति :

यद्यपि राजस्थान के लगभग सभी शासक ब्रिटिश सत्ता के अनन्य भक्त थे तथापि राजस्थान में ब्रिटिश विरोधी तत्वों का अभाव न था। 1857 के विप्लव से काफी समय पूर्व जोधपूर के महाराजा मानसिंह ने ब्रिटिश विरोधी तत्वों का प्रतिनिधित्व किया था और वह जीवनपर्यन्त ब्रिटिश हस्तक्षेप का विरोध करता रहा। जब ब्रिटिश सरकार ने डूंगरपुर के महाराजा को सिंहासन से च्युत कर दिया तब भी जनता में अंग्रेजों के विरूद्ध असन्तोष भड़क उठा था। इसी प्रकार, जयपुर में क्रोधित जनता ने कप्तान ब्लैक की हत्या कर दी। कहा जाता है कि ब्लैक की हत्या, राज्य के उच्चाधिकारियों, राजमाता तथा कुछ लोगों के पूर्व नियोजित षड्यंत्र का परिणाम थी। हत्या का कारण राज्य प्रशासन में ब्रिटिश अधिकारियों के अनुचित दावों का समर्थन किया जिससे समस्त हाड़ा राजपूतों में असंतोष भड़क उठा था और उन्होंने मांगरोल के निकट अंग्रेज सेना से सशस्त्र मुकाबला किया था।

विप्लव के पूर्व, राजपूत सामन्तों का एक वर्ग भी ब्रिटिश सत्ता का विरोधी बन चुका था। अंग्रेजों ने राज्यों में शांति एंव व्यवस्था स्थापित करने के नाम पर जो सैनिक ब्रिगेड़ें कायम कीं, उनका उपयोग राज्य–विरोधी सामन्तों की शक्ति को कुचलने के लिए किया गया। इससे सामन्तों का असन्तुष्ट होना स्वाभाविक ही था। 1857 के समय इन असन्तुष्ट सामन्तों ने ब्रिटिश सत्ता का जोरदार प्रतिरोध किया। सम्भव है, इन सामन्तों ने अपने स्वार्थो के वशीभूत होकर ब्रिटिश सत्ता से संघर्ष किया हो, परन्तु उन्हें जन–साधारण का जो सहयोग मिला, उससे इन तथ्य की पुष्टि होती है किय 1857 के पूर्व ही जन–साधारण में ब्रिटिश विरोधी भावना विद्यमान थी।

22.3. राजस्थान में ब्रिटिश सत्ता का प्रतिरोध :

1857 का विप्लव आरम्भ होने के समय राजपूताना में 6 ब्रिटिश सैनिक छावनियां थी। अजमेर से 10 मील की दूरी पर नसीराबाद, नसीराबाद से लगभग 120 मील की दूरी पर नीमच, नसीराबाद से लगभग 60 मील की दूरी पर देवली, अजमेर से लगभग 35 मील की दूरी पर ब्यावर, अजमेर से लगभग 100 मील की दूरी पर एरिनपुरा और उदयपुर से लगभग 50 मील पर खैरवाड़ा की छावनी स्थित थी। इन छावनियों में पांच हजार भारतीय सैनिक थे, किन्तु किसी भी छावनी में कोई यूरोपीय सैनिक नहीं था।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

मेरठ में हुए विद्रोह की सूचना राजस्थान के ए. जी. जी. (एजेन्ट टू गवर्नर–जनरल) जार्ज पैट्रिक लारेन्स को 19 मई, 1857 को प्राप्त हई। सूचना मिलते ही उसने राजपूताना के सभी शासकों को हिदायत भेजी कि वे अपने–अपने राज्य में शान्ति बनाये रखें तथा अपने राज्यों में विद्रोहियों को न घुसने दें तथा यदि विद्रोहियों ने प्रवेश कर लिया तो उन्हें तत्काल बन्दी बना लिया जाय। ए. जी. जी. के सामने इस समय अजमेर की सुरक्षा की समस्या सबसे अधिक महत्वपूर्ण थी, क्योंकि अजमेर शहर में भारी मात्रा में गोला–बारूद, सरकारी खजाना और सम्पत्ति थी। यदि ये सब विद्रोहियों के हाथ पड़ जाता तो उनकी स्थिति अत्यन्त सुदृढ़ हो जाती। अजमेर में भारतीय सैनिकों की केवल दो कम्पनियां थी, परन्तु इन दोनों में ए. जी. जी. का विश्वास न रहा था। इस समय अजमेर में 15वीं बंगाल नेटिव इन्फैन्ट्री थी, जो अभी–अभी मेरठ से यहां बुलाई गई थी। अतः ए. जी. जी. ने सोचा कि सम्भव है यह इन्फैन्ट्री मेरठ से विद्रोह की भावना लेकर आई हो। अतः इस इन्फैन्ट्री को नसीराबाद भेज दिया तथा ब्यावर से दो मेर रेजीमेन्ट बुला ली गई। तत्पश्चात् उसने डीसा से एक यूरोपियन सेना भेजने का लिखा। कोटा पलटन को भी तत्काल पहुंचने के आदेश दिये गये।

22.4 विद्रोह के कारण :

अंग्रेजों से संधि के बाद राजस्थान में आंतरिक शांति स्थापित हुई ,आर्थिक क्षेत्र में भी प्रगति हुई इसके बावजूद भी राजस्थान का जनमानस अंग्रेजों के विरूद्ध था। निःसंदेह विभिन्न संधियों से शांति तो अवश्य स्थापित हुई किन्तु उनकी स्वतंत्रता समाप्त हो गई। अतः प्रदेश के सभी वर्गो–शासक, सामन्त , सामान्य जनता में अंग्रेजो के प्रति प्रतिरोधकी भावना पनपने लगी।

22.4.1. शासकों में असंतोष – अंग्रेजों से संधि का सीधा लाभ शासकों को प्राप्त हुआ। उन्हें मराठा , पिंडारी आदि की अराजकता से मुक्ति प्राप्त हुई तथापि अंग्रेजों के प्रति असंतोष की भावना उनमें कम नहीं थी। इस असंतोष का प्रमुख कारण संधि की शर्तो की मूल भावना के विपरीत आचरण है। संधि की शर्तों में शासकों की आंतरिक स्वतंत्रता का स्पष्ट प्रावधान था परंतु वास्तविक स्थिति इससे बिल्कुल भिन्न थी। करीब–करीब सभी राजस्थानी राज्यों में अंग्रेजी हस्तक्षेप दिन–प्रति–दिन बढ़ता जा रहा था। इस हस्तक्षेप का रूप प्रशासन , उत्तराधिकार प्रश्न , राज्य में प्रमुख पदों की नियुक्तियाँ आदि को लेकर विशषतया था। मेवाड़ में कर्नल टॉड सर्वेसर्वा था। भरतपुर , डूंगरपुर आदि राज्यों में उत्तराधिकार में अंग्रेजों की मनमानी रही। मारवाड़ के मानसिंह ने अंग्रेज–विरोधी भावना स्पष्ट व्यक्त की। जयपुर में झूठराम में सहायक सिद्ध हुई।

22.4.2. सामन्तों की मनोदशा – अंग्रेजो से संधि का सबसे महत्वपूर्ण प्रभाव सामन्तो की स्थिति पर पड़ा। संधि के पूर्व तक शासक को मुख्यतः सामन्तों पर ही निर्भर रहना पड़ता था। अतः संधि के पश्चात् सामन्तों पर उसकी निर्भरता समाप्त प्रायः हो गई। अंग्रेज सामान्यतः शासक–सामन्त संघर्ष में शासकों का पक्ष लेते थे। परिणामस्वरूप सामन्तों की दशा और अधिक दयनीय हो गई थी। मारवाड़ के मानसिंह ने अपने सामन्तों के प्रति बहुत ही कठोर नीति अपनाई किन्तु निरंतर प्रयासों के उपरान्त भी उन्हें अंग्रेजी सत्ता से कोई सहायता नहीं मिली। तब लगभग सभी राज्यों में इसी प्रकार की दशा विद्यमान थी। सामंत अपनी दुःखद स्थिति का उत्तरदायी मुख्यतः अंग्रेजों को ही मानते थे अतः उनके प्रति भी सामन्तों का रोष कोई कम नहीं था। आउवा और सलूम्बर ठिकाने तो इसके प्रत्यक्ष उदाहरण हैं।

22.4.22. सामान्य जनता की भावना – आम जनता में भी अंग्रेज–विरोधी भावना तीव्रतर थी। अंग्रेजों की ईसाई–धर्म प्रचार नीति, सामाजिक सुधार आदि को राजस्थान को साधारण जनता ने अपने धर्म व जीवन में अंग्रेजों के हस्तक्षेप की संज्ञा दी। नमक उत्पादन तथा अफीम की खेती संबंधी नियमों ने जनता में यह स्पष्ट भावना भर दी कि आर्थिक उन्नति में अंग्रेज बाधा उत्पन्न रूप क्रांतिकारियों के प्रति जनता में देखा जा सकता है। डूँगजी और जवाहर जी द्वारा नसीराबाद की छावनी को लूटना आम जनता में बहुत ही प्रसन्नता का कारण बना। डूँगजी जवाहर जी के कार्यों पर अनेक गीत रचे गये थे। अंग्रेज बिरोधी शासक व सामन्तों– जोधपुर में मानसिंह, सलुम्बर में केशरसिंह की प्रशंसा में साहित्य का निर्माण हुआ।

इस प्रकार भारत व्यापी विद्रोह होने के पूर्व सम्पूर्ण राजस्थान में ब्रिटिश विरोधी भावना व्याप्त थी और विद्रोह के समय राजस्थान भी पीछे नहीं रहा और यहाँ विद्राह का शुभारंभ हो गया।

22.5. विद्रोह का प्रारम्भ :

मेरठ से जब 1857 ई. की क्रांति शुरू हुई तब मेवाड़ मारवाड़ एवं जयपुर में क्रमशः मेजर शावर्स, मेक मेसन, कर्नल ईडन पोलिटिकल एजेन्ट नियुक्त थे। ये सभी जार्ज पैट्रिक लारेंज जो एजेन्ट टू दी गवर्नर जनरल के पद पर कार्यवाहक के रूप में कार्य कर रहा था, के अधीन थे। ए.जी.जी. अजमेर में रहता था। राजस्थान में तब निम्नांकित 6 ब्रिटिश छावनियाँ थीं–

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

नसीराबाद, देवली, ब्यावर, एरिनपुर, नीमच और खैरवाड़ा। इन सैनिक छावनियों में पांच हजार भारतीय सैनिकों के अतिरिक्त कोई यूरोपियन सैनिक नहीं थे, अतः ए.जी.जी. के लिए इन्हें नियंत्रण में रखना एक गंभीर चिन्ता का विषय था।

19 मई, 1857 ई. को ए.जी.जी. लारेंस को मेरठ–विद्रोह की सूचना माउण्ट आबू में मिली। लारेंस ने तत्काल राजस्थानी शासकों के नाम अपने–अपने क्षेत्र में शांति बनाये रखते हुए विद्राहियों को किसी भी प्रकार का सहयोग न करने संबंधी घोषणा–पत्र जारी किया। फिर भी उसके मानस में चिंता तो थी ही। अंततः नसीराबाद से विद्रोह का आरंभ हो ही गया।

22.6. विद्रोह का सूत्रपात :

राजस्थान में विप्लव का सूत्रपात नसीराबाद से हुआ। नसीराबाद में विप्लव का सूत्रपात होने के मुख्य कारण निम्नलिखित थे–

(1) ए. जी. जी. ने 15वीं बंगाल इन्फैक्ट्री, जो अजमेर में थी, उसे अविश्वास के कारण नसीराबाद में भेज दिया था। इससे सैनिकों के मस्तिष्क में यह धारणा उत्पन्न हो गई कि ए. जी. जी. का उसमें विश्वास नहीं है, इसलिए उन्हें अजमेर से हटा कर मेर रेजीमेन्ट को बुलाया गया है। अतः वे अंग्रेजों से नाराज हो गये।

(2) उस समय नसीराबाद में 15वीं और 30वीं नेटिव इन्फैक्ट्री, भारतीय तोपखाना की टुकड़ी और फर्स्ट बम्बई लांसर्स के सैनिक थे। मेरठ में हुए विद्रोह की सूचना के कारण यद्यपि नसीराबाद छावनी के सैनिक बगावत के लिए अत्यधिक उत्सुक थे। उन्होंने सैनिक केन्द्र की रक्षा के लिए छावनी फर्स्ट बम्बई लांसर्स के उन सैनिकों से, जो वफादार समझे जाते थे, गश्त लगवाना आरम्भ किया तथा गोले भर कर तोपें तैयार रखी गई। अतः नसीराबाद में जो 25वीं नेटिव इन्फैक्ट्री थी उसके सैनिकों ने सोचा कि अंग्रेजों ने यह कार्यवाही भी भारतीय सैनिकों को कुचलने के लिए की है तथा गोला–बारूद से भरी तोपें उनके विरूद्ध प्रयोग करने के लिए तैयार की गई है। अतः उनमें विद्रोह की भावना जागृत हुई।

(3) इन दिनों बाजारों और छावनियों में बगांल और दिल्ली से सन्देशवाहक साधु और फकीरों का वेश बनाकर राजस्थान आये और उन्होंने चर्बी वाले कारतूसों के विरूद्ध प्रचार कर विद्रोह का संदेश प्रसारित किया, जिससे अफवाहों का सर्वत्र बाजार गर्म हो गया। सरकार ने चर्बी वाले कारतूसों को हटा लेने के आदेश दिये, सैनिकों में और अधिक सन्देह उत्पन्न हो गया। 28 मई, 1857 को दिन के 3 बजे 15वीं नेटिव इन्फैक्ट्री के सैनिकों ने तोपखाने के सैनिकों को अपनी तरफ मिलाकर तोपों पर अधिकार कर लिया। 30वीं नेटिव इन्फैक्ट्री के जवानों ने उन्हें ललकारा तो वह भी उनके साथ मिल गई। विद्रोही सैनिकों ने छावनी को लूट लिया तथा अंग्रेज अफसरों के मकानों पर आक्रमण किया। बम्बई लांसर्स, जिसके बार में मान्यता थी कि वे वफादार बने रहेंगे, ने विद्रोहियों के विरूद्ध कोई कार्यवाही नहीं की। विद्रोही तोपों से पहला गोला दागते ही लांसर्स ने भी अपनी कतारें भंग कर दीं और इधर–उधर बिखर गये। जो भी अंग्रेज अफसर उन्हें समझाने के लिए आगे बढ़े वे मारे गये अथवा घायल हुए। इन अफसरों में एक अफसर न्यूबरी के विद्रोहियों ने टुकड़े–टुकड़े कर दिये। इससे छावनी के अंग्रेज अधिकारी भयभीत हो उठे और वे अपने बीवी–बच्चों के प्राणों की रक्षा हेतु ब्यावर की ओर भाग गये। अंग्रेजों के छावनी से भागते ही वहां अराजकता फैल गई। उनके घेरों को आग लगा दी गई, तिजोरियां तोड़ दी गई और प्राप्त धन विद्रोही सैनिकों ने वेतन के रूप में बांट लिया। छावनी को तहस–नहस करने के बाद विद्रोही सैनिक दिल्ली की तरफ रवाना हुए। लेफ्टिनेन्ट वाल्टर तथा हीथकोट ने जोधपुर और जयपुर की सेनाओं की मदद से इन्हें घेर कर खेदड़ने का प्रयत्न किया, परन्तु असफल रहे। इन विद्रोही सैनिकों ने 18 जून को दिल्ली पहुंच कर अंग्रेज पलटन पर, जो दिल्ली का घेरा डाले हुई थी, पीछे से आक्रमण किया। दूसरे दिन दोनों के बीच कड़ा संघर्ष हुआ, जिसमें अंग्रेज सेना पराजित हुई।

22.7. 1857 ई. के विद्रोह का राजस्थान में प्रसार :

22.7.1. नसीराबाद – ए.जी.जी. के प्रति अविश्वास, बंगाल इन्फेन्ट्री को नसीराबाद भेजने तथा चर्बी वाले कारतूसों के समाचार फैलने पर 28 मई, 1857 ई. को नसीराबाद में सैनिकों ने विद्रोह कर दिया। भारतीय सैनिकों ने तोपखाने के सैनिकों को अपनी तरफ मिलाकर तोपों पर अधिकार कर लिया। विद्रोही सैनिकों ने छावनी को लूट लिया तथा अंग्रेज अधिकारियों के मकानों पर आक्रमण किये। विद्रोहियों पर गोली चलाने के आदेश की पालना केवल हवाई फायर करके की गई तो छावनी में अफरा–तफरी मच जाना स्वाभाविक था। भयभीत अंग्रेज अधिकारी अपने बीबी बच्चों की सुरक्षार्थ भागने लगे। अतः उनके घरों को आग लगा दी और तिजोरियां तोड़ कर प्राप्त धन विद्रोही सैनिकों ने वेतन स्वरूप परस्पर बांट लिया। छावनी को बर्बाद कर नसीराबाद के विद्रोही सीधे दिल्ली की ओर रवाना हुये। यह एक आश्चर्य है कि अजमेर इतना पास स्थित होते

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

हुये भी सैनिकों ने अजमेर को अपने अधिकार में नहीं किया, यह इसलिए भी आश्चर्यजनक है कि उस समय अंग्रेजों द्वारा उनकी रक्षा का उपयुक्त प्रबंध भी नहीं किया गया था। ट्रेवर का मत है कि अजमेर लेने में इनको भय था। अतः इन्होंने अपनी शक्ति इधर लगाना ठीक नहीं समझा। डीसा व बम्बई से सैनिक पहुंचने के समाचारों से भी वे भयभीत थे। ट्रेवर ने तो यह भी लिखा है कि उनकी लूट की प्रवृत्ति के कारण भयभीत व्यक्तियों से उनका संघर्ष भी होने की संभावना थी इसलिए अजमेर के बजाय दिल्ली की ओर चले परन्तु नाथूराम खड़गावत ने ट्रेवर के इस मत का खण्डन किया है। उसके अनुसार दो कारणों से प्रेरित होकर वे दिल्ली की ओर गये।

(1) दिल्ली में उनकी सहायता की तीव्र आवश्यकता थी।

(2) अपने कार्य को वैधानिक रूप देना चाहते थे। वे मुगल बादशाह बहादुरशाह से फरमान प्राप्त करना चाह रहे थे, क्योंकि सभी ने बहादुरशाह को अपने बादशाह के रूप में स्वीकार किया था। वाल्टर व हैथकोट ने मेवाड़ के सैनिकों की सहायता से इनका पीछा किया परन्तु उन्हें सफलता प्राप्त नहीं हुई। संभवतः इसका कारण यह था कि मेवाड़ व मारवाड़ के जागीरदारों ने नसीराबाद के क्रांतिकारियों को अपने प्रदेश में से आसानी से गुजर जाने दिया। यह तथ्य इस बात का संकेत है कि मेवाड़ व मारवाड़ की सहानुभूति इनके साथ की।

22.7.2. नीमच – नसीराबाद–विद्रोह के समाचार जब नीमच पहुंचे तो कर्नल एबाट काफी चिन्तित थे। उसने भारतीय सैनिक अधिकारियों को अपने कर्त्तव्य के प्रति वफादार रहने की शपथ दिलवाई साथ ही 2 जून, 1857 ई. को परेड़ लेते समय सभी सैनिकों से भी शपथ लेने के लिए कहा। तब एक सैनिक मोहम्मद अली बेग ने कर्नल एबाट को चुनौती के साथ कहा कि अंग्रेजों ने अवध के मामले में कहां तक शपथ का पालन किया अतः हम भी इसके लिए बाध्य नहीं हैं। इसी क्रम में 3 जून, को नसीराबाद से क्रांति की सूचना सैनिकों को मिल गई और रात्रि 11 बजे वहां भी विद्रोह प्रस्फुटित हो गया। क्रांतिकारियों ने भागते हुए अंग्रेज अधिकारियों का पीछा भी किया और डूंगला पहुँचे; किन्तु कप्तान शावर्स बेदला के राव बख्तसिंह के नेतृत्व में मेवाड़ की एक सेना लेकर डूंगला पहुँच गये। फलतः क्रांतिकारी वहां से भाग गये। तब डूंगला में शरण लिये हुए अंग्रेज अधिकारियों को राव बख्तसिंह ने सुरक्षित रूप से उदयपुर पहुँचा दिया, जहाँ उन्हें जगमंदिर में रखा गया। महाराणा स्वरूपसिंह ने उनकी पूर्ण सुरक्षा ही नहीं की अपितु उनकी देखभाल हेतु विशेष सहायता भी दी। उधर क्रान्तिकारी भी दिल्ली की ओर रवाना हो गये। अगस्त व सितम्बर में क्रांति का वातावरण राजस्थान में अपनी चरम सीमा पर था। नसीराबाद व नीमच के विद्रोह ने स्थानीय जनता को भी प्रभावित किया। शावर्स जो इस समय मेवाड़ में रेजीडेन्ट था उसको जनता ने सार्वजनिक रूप से अपमानित किया। स्वयं शावर्स स्वीकार करता है कि अंग्रेज विरोधी वातावरण ने न केवल अंग्रेजों, अपितु महाराणा को भी आश्चर्यचकित कर दिया था। नीमच की ओर भेजी हुई मेवाड़ी सेनाओं ने अंग्रेजों का विरोध तक करना शुरू कर दिया था। अर्जुनसिंह सहीवाला ने बड़ी कठिनाई से इस स्थिति में परिवर्तन किया। निम्बाहेड़ा शहर पर विद्रोहियों ने अधिकार कर लिया था जो मेवाड़ की सेना की सहायता से वापिस दिया जा सकता था। कप्तान शावर्स क्रान्तिकारियों का पीछा करते हुए निम्बाहेड़ा पहुँचा। ज्वालासहाय के अनुसार, " निम्बाहेड़ा के मुख्य पटेल को क्रांतिकारियों की सहायता करने के कारण फांसी दे दी गई थी।" शावर्स ने यह भी लिखा है कि भारत में होने वाली घटनाओं को राजस्थान इतना प्रभावित करने लग गया था कि शाहपुरा में क्रांतिकारियों का पीछा करते हुए अंग्रेज सैनिकों व पदाधिकारियों के लिये अपने शहर के दरवाजे बंद कर दिये गये। वहां के राजा ने उनका किसी प्रकार से स्वागत नहीं किया। वहीं दूसरी ओर नीमच से क्रांतिकारी छावनी को आग लगा कर लूट के माल को लकर बैंड बजाते हुए छावनी से रवाना हुए और रास्ते में चितौड़, हमीरगढ़ व बनेड़ा में सरकारी बंगलों को लूटते हुए तथा आगजनी करते हुए शहपुरा पहुँचे तो वहाँ के राजाधिराज ने उन्हें दो दिन तक अपने यहाँ रखा और उनके लिये रसद आदि की भी व्यवस्था की। टोंक में भी विद्राहियों का बड़ी आत्मीयता से स्वागत किया गया।

22.7.3. देवली – नीमच से पहुँचे क्रांतिकारियों के कारण देवली में भी क्रांति की ज्वाला फैल गई। क्रांति का भय तो पहले से ही था, अतः अंग्रेज वहां से चले गये थे। अंग्रेज अधिकारियों ने देवली के समीप भीलवाड़ा जिलेके जहाजपुर में शरण ली। फिर भी देवली एवं निकटवर्ती स्थानों की स्थिति काफी नाजुक थी।

22.7.4. आउवा – अंग्रेजों के विरूद्व विद्रोह का एक केन्द्र मारवाड़ में आउवा नामक स्थान था। यह गाँव जोधपुर से कोई 180 कि.मी. दूर पूर्व में स्थित है। यहाँ पर 9 वीं शताब्दी के दो मंदिर क्रमशः 'कामेश्वर महादेव' एवं 'सुगाली देवी' का मंदिर विद्राहियों के विशिष्ट केन्द्र थे। अगस्त में एरिनपुरा स्थित जोधपुर की सेनाओं ने विद्रोह कर दिया। विप्लवकारियों ने कई अंग्रेजों को बंदी बना लिया। ऐसे समय में आउवा के ठाकुर खुशालसिंह ने क्रांतिकारियों का साथ देना शुरू किया।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

इसका मुख्य कारण यह माना जाता है कि पिछले कुछ वर्षों में ठाकुर खुशालसिंह व जोधपुर के महाराजा के संबंध तनावूपर्ण थे और वर्तमान परिस्थितियों में खुशालसिंह ने अवसर से लाभ उठाना चाहा, परन्तु समकालीन पत्रों व परिस्थितियों को देखें तो उपर्युक्त मत नजर नहीं आता है। वास्तव में, आउवा में जो विद्रोह हुआ वह एक जन–जागृति का प्रतीक है। अन्य सामंतों ने भी अपनी पूर्ण सहानुभूति आउवा की विद्रोही जनता व सामन्त के साथ रखी। ज्वालासहाय ने तो लिखा है कि जोधपुर व बीकानेर में इतनी अधिक ब्रिटिश विरोधी भावना थी ब्रिटिश प्रांतों के कई लुटेरों को भी अपने यहां शरण देने हेतु इन शासकों को बाध्य होना पड़ा। जोधपुर लीजियन के सैनिकों ने शहर में घूम–घूम कर अंग्रेजों के विरूद्ध विद्रोह करने के लिये जनता को प्रोत्साहित किया। इसलिए आउवा का विद्रोह ब्रिटिश विरोधी भावना के कारण था न कि केवल मात्र दरिनपुरा के विद्रोहियों के कारण से। आउवा के अतिरिक्त और भी कई सामन्तों ने इनका साथ दिया। ठाकुर खुशालसिंह द्वारा विद्रोहियों को दी गई सहायता से मेवाड़ के सामंत भी काफी प्रेरित हुए। ठाकुर खुशालसिंह ने सलूम्बर के रावत को विद्रोहियों को सहायता देने के लिये पत्र लिखे थे। आउवा के विरूद्ध अंग्रेज सेनायें भी भेजी गई किन्तु पहली बार भेजी गई सेना को करारी हार का सामना करना पड़ा। क्रांतिकारियों ने एजेण्ट मॉकमसन का सिर धड़ से अलग कर दिया और आउवा के किले पर लटका दिया जो एक प्रकार से उनकी विजय का प्रतीक था। आज भी लोक गीतों में यह गूँज सुनाई देती है कि–

ढ़ोल बाजे, थाली बाजे, भेलो बाजे बाँकियों,
अजेन्ट ने मार ने दरवाजे न्हांकियो।
झूझे आउवो, हे ओ, आउवो।
आउवो मुलका में चावो ओ के झूझे आउवो।

परंतु निरंतर सेनाओं का सामना क्रांतिकारी नहीं कर सके व 19 जनवरी, 1853 ई. में आउवा पर ब्रिटिश सैनिकों का अधिकार हो गया। इस सैनिक कार्यवाही के दौरान अनेक निहत्थे नागरिकों की हत्या की गई तथा अंग्रेजों ने भयंकर अत्याचार किये। जनता को आतंकित किया गया। यहाँ विद्रोह तो समाप्त हो गया परंतु कोटा की ओर जन–विरोध जोरों से फूट पड़ा।

22.7.5. कोटा – उपर्युक्त वातावरण से कोटा में भी जन–विद्रोह तेजी से फैल रहा था। इस विरोध ने उग्र रूप उस समय ले लिया जब मेजर बर्टन नीमच से कोटा पहुँचा। इसके पहुँचने के दिन ही दिल्ली का पतन हुआ था। जनता में अंग्रेजों के विरूद्ध तीव्र जन आक्रोश था। 15 अक्टूबर, 1857 ई. को कोटा महाराव की दो सैनिक टुकड़ियों ने विद्रोह कर दिया। क्रान्तिकारियों ने डॉ. राडेलर और सेवील को मार दिया। मेजर बर्अन को तलवार से काट दिया गया और उसके सिर को शहर में घुमाने के बाद तोप से उड़ा दिया गया। जनरल लॉरेन्स की रिर्पाट के अनुसार यह विरोध इतना फैला कि उसके दो पुत्रों को भी जनता ने मौत के घाट उतार दिया। कोटा महाराव की स्थिति इतनी दयनीय हो गई कि वह अपने परिवार को उदयपुर भेजने की सोचने लग गया था। क्रांतिकारियों ने महाराव को नजरबंद कर के उस पर क्रांतिकारियों का अधिकार हो गया था। करौली से प्राप्त सैनिक सहायता से ही उनको महल से हटाया जा सका तथा बाद में अंग्रेज सैनिकों की सहायता से इस विद्रोह को समाप्त किया जा सकता।

ट्रेवर व लॉरेन्स यह स्वीकार करते हैं कि इस विद्रोह में कोटा के पदाधिकारीयों का पूरा हाथ था। इस संदर्भ में महाराव के वकील जयदयाल भटनागर का विशेष योगदान रहा था। उसने कोटा के रिसालदार मेहराब अली खाँ को अपनी तरफ मिलाते हुए कोटा ऐजेन्सी हाऊस पर अधिकार कर लिया। प्रारंभ में उनका विरोध अंग्रेजों के प्रति था और जब उनकों यह पता लगा कि महाराजा अंग्रेज सैनिकों को बुलाने का प्रयास कर रहा है तब उन्होंने अपना विरोध महाराव के प्रति भी प्रदर्शित किया। प्रारंभ में तो वे महाराव का नेतृत्व स्वीकार करने को तैयार थे, महाराव भी अपने राज्य में व्याप्त ब्रिटिश विरोध के प्रति सतर्क था इसलिए उसने बर्टन खड़गावत के मत से राजस्थान में व्याप्त अंग्रेज–विरोध का प्रतीक थी।

22.7.6. एरीनपुरा – 1835 ई. में अंग्रेज सरकार एवं जोधपुर राज्य के मध्य एक समझौता हुआ जिसके अनुसार जोधपुर राज्य ने सैनिक सहायता के बदले अंग्रेज सरकार को वार्षिक राशि देना स्वीकार किया। अतः अंग्रेज सरकार ने इस राशि से 1836 ई. में जोधपुर लीजियन नामक एक सेना तैयार की जो एरिनपुरा में रहा करती थी। अगस्त, 1857 में एरिनपुरा की यह सैनिक टुकड़ी आबू गई हुई थी तभी नसीराबाद–विद्रोह की सूचना इस सेना के सैनिक को मिली और अगस्त 21 को इसने विद्रोह कर दिया।

आबू स्थित अंग्रेज अधिकारियों पर आक्रमण किये किन्तु इसमें उन्हें कोई विशेष सफलता अर्जित नहीं हुई। अतएव इस सेना ने आबू से एरिनपुरा पहुँचकर जोधपुर लाजियम के उन्य सैनिकों को भी अपने साथ कर लिया और एरिनपुरा स्टेशन

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

को लूटा। इसके बाद मारवाड़ होते हुए दिल्ली की ओर प्रयाण कर रहे थे, तब पाली के पास आउवा ठाकुर खुशालसिंह इन सैनिकों से मिला और उन्हें अपने साथ आउवा ले गया।

22.7.7. सलूम्बर — मेवाड़ के सलूम्बर ठिकाने के रावत केसरीसिंह के वंशानुगत विशेषाधिकार को समाप्त कर देने से वह अंग्रेज सरकार एवं महाराणा के विरूद्ध था। अतः जब क्रांति प्रस्फुटित हुई तब रावत केसरीसिंह ने महाराणा से अपने परम्परागत अधिकारों की मांग की। महाराणा ने इसकी सूचना शावर्स को नीमच भेज दी। खैरवाड़ा की मेवाड़ भील कोर के अधिकारी कर्नल ब्रुक ने भी शावर्स को सूचित किया कि सलूम्बर रावत खेरवाड़ा की छावनी पर आक्रमण करने हेतु अन्य सामन्त सरदारों को उकसा रहा है। शावर्स ने रावत केसरीसिंह को धमकी भरा पत्र भी लिंखा किंतु सलूम्बर रावत ने कूटनीति से काम लेते हुए कहा कि आपको जो भी सूचना मिली वह गलत है। निःसंदेह क्रांतिकारी इस बात से भली भाँति परिचित थे कि रावत केसरीसिंह ब्रिटिश विरोधी भावना से प्ररित हैं। अतः ब्रिटिश सैनिक अधिकारियों द्वारा खदेड़े जाने या पीछा करने पर वे शरण टुकड़ी सलूम्बर में ठहरी आ जाते थे। कप्तान शावर्स को यह ज्ञात हुआ कि विद्राहियों की एक सैनिक टुकड़ी सलूम्बर में ठहरी हुई है तो उसने रावत को उस सैनिक टुकड़ी को रोके रखने एवं उसके कमाण्ड को बंदी बनाने के लिए लिखा। परंतु रावत ने इस तरफ कोई ध्यान नहीं दिया। उधर आउवा के टाकुर खुशालसिंह ने भी सलूम्बर रावत के पास जाना निश्चित किया। सलूम्बर रावत ने उसे अपने यहाँ रखा था किन्तु अंग्रेज अधिकारियों द्वारा अत्यधिक तंग किये जाने पर वह कोठारिया आ गया।

22.7.8. कोठारिया — श्री नाथद्वारा के पास स्थित कोठारिया के रावत जोधसिंह ने भी क्रांतिकारियों का सहयोग किया था। उसने सलूम्बर से आये आउवा के ठाकुर खुशालसिंह को अपने यहाँ शरण दी। इस पर 8 जून, 1853 ई. को अंग्रेज सेना अपने साथ जोधपुर महाराजा की सेना लेकर कोठारिया आ गई और आउवा के ठाकुर को ढूँढ़ा; किन्तु उसका कोई पता नहीं लगा। उधर विद्रोही सैनिकों का एक रसालदार बनेड़ा पहुँचा किन्तु अंग्रेज अधिकारियों द्वारा उसका पीछा कराया जा रहा था तो वह रसालदार कोठारिया के पास आ गया। रावत जोधसिंह से उसे बंदी बनाकर सौंपने को कहा गया किन्तु वह टस से मस नहीं हुआ और उस विद्रोही रसालदार को कोठारिया से अन्यत्र सुरक्षित रूप से भेज दिया। इतना ही नहीं कोठारिया रावत ने गंगापुर में नियुक्त अंग्रेज अधिकारियों की सम्पति लूटने वाले ममजी चारण को भी अपने यहाँ प्रश्रय दिया था। रावत जोधसिंह को कई बार इस विद्रोही को पुनः सौंपने के लिए कहा गया किन्तु उसने अंग्रेज सरकार के आदेशों या पत्रों की कभी कोई परवाह नहीं की।

22.7.9. अन्य स्थानों पर क्रांति — उपर्युक्त स्थानों के अलावा भी राजस्थान में कई ऐसे स्थल थे जहां से क्रांति का शंखनाद हों रहा था अथवा क्रांतिकारियों को शरण देकर इस पूर्णाहुति में अपना सहयोग कर रहे थे। बनेड़ा में विद्रोही सैनिकों का एक रसालदार पहुँचा तो उसे वहां शरण दी गई। इतना ही नहीं बनेड़ा क्रांतिकारियों का शरणस्थल बना हुआ था। भरतपुर के सैनिकों ने भी अंग्रेज अधिकारियों के विरूद्ध शस्त्र उठा लिये थे। मालसेन के अनुसार , "अंग्रेज अधिकारियों की सभी अनुनय– विनय व्यर्थ हो गई और विवश होकर अंग्रेज अधिकारियों ने उनके समक्ष समर्पण कर दिया। क्रांतिकारियों की जयघोष से वहाँ का वातावरण गूँज उठा। सैनिक शिविरों और बंगलों में आग लगा दी गई।" अलवर की सेना वहाँ के राज्य कर्मचारी एवं प्रशासनिक अधिकारियों की सहानुभूति पूर्णतया क्रांतिकारियों के साथ थी। सामोद का रावल शिवसिंह जो जयपुर में दीवान था वह तथा नवाब विलायत खां, मियां उस्मान खां तथा साइल्लाखां आदि जयपुर में क्रांति के पक्षधर लोग थे। धौलपुर का महाराजा भगतसिंह तो अंग्रेजों का समर्थक था किन्तु धौलपुर की सेना एवं कर्मचारियों की सहानुभूति क्रांति एवं क्रांतिकारियों के साथ थी। मेवाड़ के सामंतों ने विद्राहियों को जब भी वे उनकी जागीर से गुजरे, उन्हें सहायता दी। टोंक के नवाब वजीरखाँ की सहानुभूति अंग्रेजों के साथ थी किन्तु उसकी सेना का एक बड़ा हिस्सा क्रांतिकारियों के साथ था। इतना ही नहीं नवाब का मामा आलमखाँ तक क्रांतिकारियों की तरफ था। मध्य भारत का विद्रोही नेता नानासाहब मेवाड़ की ओर आया तब सलूम्बर, भीण्डर, बदनौर एवं आसीन्द के सामन्तों ने उनकी सहायता की। गूलर के ठाकुर बिशनसिंह , आलणियावास के ठाकुर अजीतसिंह और आसोप के ठाकुर शिवनाथ सिंह ने भी विद्रोहियों का साथ दिया था। इस प्रकार से 1857 की क्रांति का राजस्थान के गई गाँवों तक प्रसार हो गया था।

22.8. असफलता के कारण :

एक पाश्चात्य विद्वान् ने 1857 ई. के विप्लव की असफलता पर आश्चर्य व्यक्त करते हुये कहा है कि– 'यह सदा आश्चर्य का विषय बना रहना चाहिए कि इतनी छोटी सी सेना के असंख्य शत्रुओं को जो इतने विनाशकारी साहस से प्रेरित

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

थे, इतने कम समय में हरा दिया।' वस्तुतः 1857 ई. के भारतीय विप्लव के अन्तर्गत राजस्थान में हुये विप्लव की असफलता के कारण भी भारतीय विप्लव की असफलता के समान ही थे। रियासती शासकों का असहयोग, उचित नेतृत्व का अभाव, साधारण जनता का असहयोग, विप्लवकारियों में संगठन और निश्चित उद्देश्यों का अभाव, विप्लव का कुछ क्षेत्रों तक ही सीमित रहना, विप्लवकारियों के सीमित साधनों आदि कारणों के चलते राजस्थान में भी विप्लव असफल रहा।

22.9. विद्रोह के परिणाम :

यद्यपि 1857 ई. का विप्लव असफल रहा, किन्तु इसके परिणाम अत्यन्त व्यापक और स्थायी सिद्ध हुये। श्री के. एम. पन्निकर ने कहा है कि 1857 का विप्लव ''आधुनिक भारतीय की एक विशाल विभाजक रेखा थी।'' डॉ. आर.सी. मजूमदार का मत है कि ''1857 का महान् विस्फोट भारतीय शासन के स्वरूप और देश के भावी विकास में मौलिक परिवर्तन लाया। '' वस्तुतः 1857 ई. के विप्लव ने ब्रिटिश सरकार की आँखें खोल दीं। फलतः इसके पश्चात् उसने अपनी नीतियों सिद्धान्तों और शासन व्यवस्था में ऐसे परिवर्तन किये जिससे भारत की परम्परागत प्रशासनिक, सामाजिक, आर्थिक और साँस्कृतिक जीवन की धारा एक नवीन दिशा में अग्रसर हो गई। यहाँ हम 1857 के विप्लव के देशव्यापी परिणामों के परिप्रेक्ष्य में राजस्थान के परिणामों की चर्चा करेंगे–

(1) विप्लव के पूर्व ईस्ट इण्डिया कम्पनी ब्रिटिश सरकार के एजेण्ट के रूप में भारत पर शासन करती थी। किन्तु विप्लव की समाप्ति के बाद भारत पर ईस्ट इण्डिया कम्पनी का शासन समाप्त कर दिया गया और ब्रिटिश ताज के नाम पर भारत के शासन का दायित्व ब्रिटिश सरकार ने ग्रहण कर लिया। राजस्थान के देशी शासकों ने विप्लव के विस्तार को रोकने में बांध का कार्य किया था। अतः विप्लव काल में उनकी सेवाओं और सहायता के लिये उन्हें विभिन्न प्रकार से पुरस्कृत किया गया अन्य बातों के अतिरिक्त विक्टोरिया घोषणा में देशी रियासतों के सम्बन्ध में यह कहा गया कि –''ईस्ट इण्डिया कम्पनी के साथ देशी शासकों से हुई संधियों का पालन करते हुये उनके अधिकारों और प्रतिष्ठा की रक्षा की जायेगी तथा भविष्य में किसी देशी रियासत को जब्त करके ब्रिटिश साम्राज्य में नहीं मिलाया जायेगा। राजस्थानी शासकों को इससे बड़ी प्रसन्नता हुई क्योंकि अब उन्हें उनके राज्यों के जब्त होने की आंशका से मुक्ति मिल गई। यही नहीं 1861 ई. में राजस्थान के सभी शासकों को सनदें देकर उनके शासन को चिरस्थायी बना दिया गया और उनके निःसन्तान होने पर गोद लेने के अधिकार को भी मान्यता दे दी गई।

(2) ब्रिटिश सरकार ने राजस्थान के शासकों में ब्रिटिश सत्ता के प्रति स्वामीभक्ति और निष्ठा में वृद्धि के लिये 1861 ई. में 'स्टार आफ इण्डिया' आर्डर की स्थापना करके पारस्परिक प्रतिद्वन्द्विता उत्पन्न कर दी। इस आर्डर के अन्तर्गत सभी शासकों को विभिन्न उपाधियों और पदों से अलंकृत किया गया और उनके सम्मानार्थ दी जाने वाली तोपों की सलामी की संख्या निश्चित करके उसे पद और सम्मान का सूचक मान लिया गया। तोपों की संख्या ब्रिटिश सरकार की प्रसन्नता–अप्रसन्नता का मापदण्ड बन गई। ब्रिटिश सरकार के अप्रसन्न होने पर तोपों की संख्या में कमी और प्रसन्न होने पर वृद्धि कर दी जाती थी। कालान्तर में विभिन्न शासकों के महत्व के आधार पर उनके वायसराय के दरबार में बैठने के स्थान भी निर्धारित कर दिये गये। शासकों व राज्यों के इस सापेक्षिक महत्व निर्धारण से इनमें परस्पर प्रतिद्वन्द्विता उत्पन्न हो गई और इनमें से प्रत्येक अंग्रेजों के प्रति अधिक से अधिक निष्ठा प्रदर्शित कर अपने सम्मान में वृद्धि करवाने के लिए प्रयत्नशील हो उठा। यह प्रतिद्वन्द्विता अन्ततोगत्वा देशी राज्यों के लिये हानिप्रद सिद्ध हुई।

(3) विप्लव की समाप्ति के बाद प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष रूप से ब्रिटिश हस्तक्षेप में वृद्धि हुई। यद्यपि विक्टोरिया की घोषणा और उसके बाद ब्रिटिश सरकार देशी राज्यों को जब्त करने की नीति को त्यागकर तथा उनके गोद लेने के अधिकार को मान्यता और सनदें देकर देशी राज्यों को स्थायित्व ही नहीं दिया था वरन् उनकी आन्तरिक स्वतन्त्रता बनाये रखने का भी वचन दिया था। किन्तु यह सब एकमात्र ब्रिटिश ताज की भक्ति पर आश्रित था। ऐसा न होने पर ब्रिटिश सरकार हस्तक्षेप करने हेतु स्वतन्त्र थी। जैसा कि लार्ड केनिंग ने 30 अप्रैल , 1860 ई. के लेख में कहा था कि ''देशी सरकार के घोर दुर्व्यवहारों की दशा में, जिनसे देश के किसी भाग में अराजकता और शान्ति को भय हो जायेगा, उन्हें ठीक करने के लिये हस्तक्षेप में संकोच नहीं करेगी।'' यद्यपि राजस्थान में ऐसा नहीं हुआ। किन्तु यहाँ सुशासन या शासन सुधारों के नाम पर हस्तक्षेप में वृद्धि हुई। राज्य शासन में सामन्तों और मुसह्यियों के स्थान पर ब्रिटिश प्रान्तों से अपने विश्वस्त और स्वामिभक्त लोगों को लाकर राज्य के महत्वपूर्ण पदों पर नियुक्त करना आरम्भ कर दिया। 19वीं शताब्दी के अन्त तक विभिन्न राज्यों के महत्वपूर्ण पदों पर ऐसे नौकरशाहों का अधिकार हो चुका था। इन अधिकारियों की निष्ठा राज्य और शासक के प्रति न होकर ब्रिटिश सत्ता के प्रति

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

थी। अतः वे ब्रिटिश अधिकारियों के इशारों पर ब्रिटिश सरकार के लिये लाभकारी कार्य करते थे। यही नहीं शासकों के अधिकार भी अत्यन्त सीमित कर दिये गये थे। अब वे अंग्रेजों की स्वीकृति के बिना न तो आपस में और न किसी विदेशी शक्ति से संधि या व्यापार कर सकते थे।

(4) शासकों के पश्चात् राजस्थान में सामन्त वर्ग ही सर्वाधिक शक्तिशाली और सम्पन्न वर्ग था तथा विप्लव काल में सैनिकों के पश्चात् इसी वर्ग ने ब्रिटिश सत्ता का खुलकर विरोध किया था।अतः विप्लव की समाप्ति के बाद अंग्रेजों की नीति सामन्त वर्ग को शक्तिहीन करने की रही। अंग्रेजों ने विभिन्न माध्यमों से शासकों और जागीर क्षेत्र की जनता की दृष्टि में सामन्तों का महत्व और सम्मान कम करने का प्रयत्न किया। सुशासन् के नाम पर अन्य अधिकारियों को नियुक्त करके शासन पर सामन्तों के प्रभाव को समाप्त कर दिया गया। अंग्रेजों ने सामन्तों द्वारा शासकों को दी जाने वाली सैनिक सहायता के बदले उन्हें नकद राशि देने का विवश किया। इस राशि के भुगतान के बाद सामन्तों के लिये बड़े–बड़े सैनिक दस्ते रखना कठिन हो गया और विवश होकर उन्हें अपने सैनिक दस्ते भंग करने पड़े जिससे उनकी शक्ति और महता में कमी आई।सुशासन के नाम पर अंग्रेजों ने जागीर क्षेत्र के प्रशासन में हस्तक्षेप करके सामन्तों के न्यायिक और राजस्व अधिकारों को भी कम या समाप्त कर दिया जिससे उनके सम्मान में कमी आई और आर्थिक हानि हुई। यहाँ तक कि नये नियमों के अन्तर्गत न्यायालयों में साधारण जनता और सामन्तों के मध्य कोई भेद नहीं रहा जिससे उनका सार्वजनिक सम्मान समाप्त हो गया। विप्लव के पूर्व सामन्त व्यापारियों की सुरक्षा के बदले उनसे राहदारी, दाना–पानी आदि शुल्कवसूल करते थे। किन्तु अब उनके इस अधिकार को समाप्त कर, इस प्रकार का शुल्क वसूल करते थे। किन्तु अब उनके इस अधिकार को समाप्त कर, इस प्रकार का शुल्क लगाने तथा वसूल करने का एकमात्र अधिकार राज्य का मान लिया गया। पाश्चात्य कानूनों और आवागमन के साधनों के विकास से व्यापारी वर्ग पर भी सामन्तों का प्रभाव समाप्त हो गया क्योंकि अब वे सामन्तों के सहयोग की अपेक्षा न्यायालय के माध्यम से अपना ऋण वसूल कर सकते थे और न ही अब उन्हें अपने व्यापारिक माल की सुरक्षा के लिये सामन्त की सहायता की आवश्यकता थी।

(5) यातायात के सुगम मार्गों के अभाव में अंग्रेजों को विप्लव के समय अपनी सेनाएँ एक स्थान से दूसरे स्थान पर भेजने में अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ा था।अतः विप्लव की समाप्ति के बाद विभिन्न सैनिक छावनियों को सड़क मार्ग से जोड़ने लिये, उन्होनें 1865 ई. में जयपुर से अजमेर होते हुये डीसा तक और अजमेर से नसीराबाद होते हुये नीमच तक जाने वाली सड़कों का निर्माण आरम्भ करवाया जो 1875 ई. में पूरा हुआ। इसी के साथ राजस्थान में रेल लाइनें बिछाने का कार्य भी आरम्भ हुआ और 1881 ई. तक राजस्थान में 632 मील लम्बे रेल मार्ग का निर्माण हुआ जिसमें दिल्ली–अहमदाबाद रेल मार्ग प्रमुख था।इसकी एक शाखा अजमेर से नीमच की ओर जाती थी। 19वीं शताब्दी के अन्त तक राजस्थान में 1350 मील लम्बा रेल मार्ग बन गया था। यद्यपि यातायात के इन मार्गों के निर्माण के अनेक सुपरिणाम निकले, किन्तु इसके अनेक दुष्परिणाम भी हुये। नई सड़कों और रेल मार्गो के निर्माण के लिये ली गई भूमि के कारण अनेक किसानों के खेत टुकड़ों में बंट गये। नये मार्गों के निर्माण से पुराने व्यापारिक मार्गों पर स्थित समृद्ध बस्तियों और नगरों का महत्त्व कम हो गया तथा वे उजड़ने लगे। यातायात के साधनों के विकास में स्थानीय बाजारों में विदेशी सामान शीघ्र और बहुतायत में आने लगा जिससे स्थानीय उद्योग–धन्धे नष्ट हो गये। फलतः बेराजगारी औरनिर्धनता में वृद्धि हुई। वस्तुतः यातायात के साधनों के विकास से सम्पूर्ण राज्य का परम्परागत आर्थिक जीवन ही अस्त–व्यस्त हो गया।

(6) विप्लव के पश्चात् ब्रिटिश सरकार की नीतियों ने राजस्थान के परम्परागत सामाजिक ढांचे को भी परिवर्तित कर दिया। आधुनिक शिक्षा के प्रसार, मध्यम वर्ग के उदय, प्रशासनिक पदों पर योग्यता के आधार पर नियुक्तियों तथा सभी राज्यों में ब्रिटिश कानूनों के लागू होने से समाज में ब्राह्मणों और राजपूतों का महत्त्व पूर्वापेक्षा कम हो गया और इसके स्थान पर वैश्यों के महत्त्व में वृद्धि हुई। वस्तुतः अंग्रेजों ने अपने आर्थिक हितों को दृष्टिगत रखते हुए वैश्य समुदाय को संरक्षण देने की नीति अपनाई क्योंकि उन्हें कच्चा माल प्राप्त करने और तैयार माल बेचने के लिये थोक व्यापारियों और दलालों की आवश्यकता थी। वस्तुतः राजस्थान पर ब्रिटिश सरकार के प्रभावशाली नियन्त्रण का सर्वाधिक लाभ ही वैश्य वर्ग को हुआ था।

22.10. विद्रोह का स्वरूप एवं सारांश :

1857 ई. के भारत व्यापी विप्लव के स्वरूप के सम्बन्ध में विद्वानों में गम्भीर मतभेद है अतः भारतीय विप्लव के अन्तर्गत हुये राजस्थान ने 1857 ई. में हुये विप्लव के स्वरूप का निर्धारण भी अत्यन्त दुष्कर है। अंग्रेज इतिहासकारों ने इसे 'सैनिक विद्रोह' और राजाओं के विरुद्ध सामन्ती प्रतिक्रिया कहा है, किन्तु यह मत एकपक्षीय है। यद्यपि यह सत्य है कि विद्रोह का सूत्रपात

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

सैनिक विद्रोह के रूप में हुआ था, किन्तु यह विद्रोह सेना तक ही सीमित नहीं रहा। तदनन्तर उन सामन्तों ने, जो किसी न किसी कारण अपने शासकों से नाराज थे, इसे आगे बढ़ाया और विप्लव में भाग लेने वाले नागरिकों की संख्या अत्यन्त सीमित रही। किन्तु यदि विप्लव की घटनाओं का गहराई से विश्लेषण करे तो यह स्पष्टहो जाता है कि विप्लव में भाग लेने वाले सैनिकों और सामन्तों का दृष्टिकोण निश्चयात्मक रूप से ब्रिटिश ही था। चर्बी वाले कारतूसों का प्रयोग बन्द करने के आदेश के बाद भी सैनिक असन्तोष में कमी न होना, विद्रोही सामन्तों द्वारा अपने शासकों के स्थान पर अंग्रेजों का विरोध और ब्रिटिश विरोधी तत्वों को शरण व सहायता देना आदि ऐसे ही उदाहरण है। इसी प्रकार यह भी सत्य है कि इस विप्लव में साधारण जनता की प्रत्यक्ष और सक्रिय भागीदारी अत्यल्प रही और यह विप्लव अधिक व्यापक न होकर कुछ स्थानों पर ही केन्द्रीभूत होकर रह गया। किन्तु यहाँ यह उल्लेखनीय है कि जिन स्थानों पर जनता ने विप्लव में प्रत्यक्ष रूप से भाग नहीं लिया, वहाँ की जनता का नैतिक समर्थन और अप्रत्यक्ष सहयोग विप्लवकारियों के साथ था। मेवाड़ के पॉलिटिकल एजेन्ट शावर्स को राजमहल की ओर जाते हुये मार्ग में जनता द्धारा कर्कश शब्दों में धिक्करना, विप्लवकारियों के दमन हेतु नियुक्त कैप्टन हार्उकैसन को मार्ग में सर्वत्र गालियाँ देना तथा विप्लवकारियों का मार्ग में सर्वत्र स्वागत करना और सहायता देना नैतिक समर्थन ही था।यहीं नहीं जनता की ब्रिटिश विरोधी भावना के दबाव के कारण ही ब्रिटिश सत्ता का अनन्य भक्त होने पर भी मारवाड़ के शासक ने पॉलिटिकल एजेन्ट की मृत्यु पर न तो राजकीय शोक की परम्परा निभाई और ना ही उसके उत्तराधिकारी मॉरिसन का औपचारिक स्वागत किया। इसी प्रकार जन भावना के दबाव के कारण ही बीकानेर के शासक ने नाना साहब और तॉंत्या टोपे को सहायता दी थी। स्पष्ट है विप्लव में भाग लेने वाले प्रत्येक पक्ष की भावनाएँ ब्रिटिश विरोधी थी। फिर भी विप्लवकारियों का एकमात्र और निश्चित उद्देश्य न होने, परस्पर सहयोग और समन्वय के अभाव, विप्लव के सर्वव्यापी होने की अपेक्षा कुछ स्थानों पर केन्द्रीभूत होने तथा साधारण जनता की सक्रिय भागीदारी के अभाव में हम इस विप्लव को 'स्वतन्त्रता संग्राम' तो नहीं कह सकते, हाँ इसे 'राष्ट्रीयता के उदय के प्रारम्भिक चरण की प्रथम अभिव्यक्ति' अवश्य मान सकते हैं।

22.11 बोध प्रश्न :

प्रश्न 1 राजस्थान में 1857 ई. का विद्रोह सबसे पहले कहां हुआ?

अ. नसीराबाद ब. नीमच

स. देवली द. आउवा

उत्तर – ....

प्रश्न 2 राजस्थान में 1857 के विद्रोह की असफलता के कारण क्या थे?

उत्तर – ....

प्रश्न 3 राजस्थान में 1857 के विद्रोह के प्रसार एवं स्वरूप को बताते हुए इसके कारण एवं परिणाम बताइये।

उत्तर – ....

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

इकाई – 23
राजस्थान में राजनैतिक जनजागरण के कारण

संरचना

23.0 उद्देश्य
23.1 भूमिका
23.2 जनजागरण के कारण
23.3 किसान आन्दोलन
23.4 अंग्रेजी शिक्षा का योगदान
23.5 1857 का विप्लव
23.6 स्वामी दयानन्द और आर्य समाज का प्रभाव
23.7 प्रथम महायुद्ध का प्रभाव
23.8 समाचार पत्रों का योगदान
23.9 राजस्थानी प्रवासियों का योगदान
23.10 मध्यम वर्ग की भूमिका
23.11 क्रान्तिकारियों का अपूर्व सहयोग
23.12 विभिन्न संगठनों का योगदान
23.13 ब्रिटिश प्रान्तों में होने वाले आन्दोलनों का प्रभाव
23.14 क्रान्तिकारी गतिविधियों का प्रभाव
23.15 राजस्थान के स्वतन्त्रता संघर्ष की प्रकृति
23.16 राजस्थान में स्वतन्त्रता आन्दोलन
23.17 बोध प्रश्न

23.0 उद्देश्य :

इस इकाई में अंग्रेजों के भारत आगमन के पश्चात् तथा 1857 ई. विद्रोह के परिणाम स्वरूप जनता में जो जाग्रति हुई उसके विभिन्न कारणों का जैसे – अंग्रेजी शिक्षा का प्रभाव, पत्र–पत्रिकाएं, सामाजिक संस्थाओं का योगदान, राजनैतिक संगठन का योगदान आदि को विस्तारपूर्वक विवेचित किया गया है।

23.1. भूमिका :

मुगल पराभव के साथ ही राजस्थान मराठा आक्रमणों का केन्द्र हो गया। मराठों के साथ–साथ आतताई पिण्डारी राजस्थान में प्रवेश कर गये। दोनो ही लूट–खसोट में विश्वास करते थे। अतः दोनों आतताई जातियों ने राजस्थान के नरेशों को इतना आतंकित कर दिया कि उन्होंने सुरक्षा की दृष्टि से अपने को अंग्रेजों की झोली में डाल दिया। निःसन्देह अंग्रेजों ने राजस्थान के नरेशों व उनकी जनता को मराठा आक्रमणों व उनकी लूट से राहत दी पर इसके बदले उन्होंने राजपूत नरेशों का आर्थिक शोषण करना आरम्भ कर दिया। अंग्रेजों की शोषण व प्रशासन में आन्तरिक हस्तक्षेप की नीति से राजपूत नरेश अंग्रेजों के विरोध में सोचने अवश्य लग गये थे। परन्तु 1857 के आजादी के विप्लव में वे अंग्रेजों के समर्थक व सहायक ही बने रहे। इसका मूल कारण यह था कि मराठों ने उनकी आर्थिक अवस्था इतनी दयनीय बना दी थी कि वे अपनी सैन्य शक्ति को पुनः प्रबल नहीं बना सकते थे। अतः इस क्रान्तिकारी घटना के समय अधिकांश राजपूत नरेशों ने अपनी दासत्व की भावना का ही परिचय दिया। परन्तु इस विप्लव के उपरान्त भारत राजनीतिक अवस्था तेजी से बदलने लगी। 1885 में जब भारतीय

राष्ट्रीय कांग्रेस की स्थापना हो गई तो ब्रिटिश सरकार कुछ चौकन्ना हुई। कांग्रेस की स्थापना से भारत के अन्य भागों में तो राष्ट्रीय चेतना बीसवीं सदी के आरम्भ से ही प्रबल होने लग गई थी, परन्तु राजस्थान में इसने प्रबल रूप धारण नहीं किया था। इसका कारण यहां के राजपूत नरेशों का विलासी जीवन थ। वे सुरा–सुन्दरी के ही दास बने रहे। राजस्थान की तत्कालीन निष्क्रिय अवस्था का चित्रण करते हुए सुप्रसिद्ध कवि सूर्यमल मिश्र ने लिखा है जिस वन में गजेन्द्र, गेंडे और शूकर राह भूलकर भी नहीं जाते थे, उसी वन में आज गीदड़ बड़ी तत्परता के साथ उत्पात मचा रहे है।

23.2. जनजागरण के कारण :

अंग्रेजी प्रशासन ने राजपूत नरेशों को प्रजा–हितकारी कार्यो के प्रति इस प्रकार उदासीन बना दिया था कि ब्रिटिश भारत में बीसवीं सदी में क्या परिवर्तन हो रहे थे, उनकी उन्हें तनिक भी सुध नहीं थी। स्वतंत्रता की बलिवेदी पर तत्परता से प्राण न्यौछावर करने वाले राजपूत, गौरांग देवों की मनुहार करने में ही अपना गौरव समझते थे। उनकी इस नीति का परिणाम यह हुआ कि राजस्थान में राष्ट्रीयता की लहर विलम्ब से व मन्थर गति से पहुंची। परन्तु बीसवीं सदी के चौथे दशक में तो राजाओं के न चाहते हुए भी राजस्थान के बीर भूमि में स्वतंत्रता सेनानी तैयार होने लगे। 1942 के 'भारत छोड़ो' आन्दोलन में उन्होंने अपनी प्रबल राष्ट्रीयता का परिचय दिया। राजस्थान में राजनीतिक चेतना के कारण निम्नलिखित थे–

23.3. किसान आन्दोलन :

कतिपय विद्वानों की मान्यता है कि कृषक आन्दोलनों, विशेष रूप से बिजौलिया के किसान आन्दोलन ने राजस्थान की राजनीतिक जागृति में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। किन्तु यह कथन पूर्णतः सत्य नहीं है क्योंकि इन किसान आन्दोलनों का किसी राजनीतिक संगठन और गतिविधियों से काई प्रत्यक्ष सम्बन्ध नहीं था।यही नहीं वरन् कुछ स्थानों पर तो किसान आन्दोलनों ने राजनीतिक गतिविधियों से सम्बन्ध भी विच्छेद कर लिया था। 1838 ई. में बिजौलिया के किसानों ने अपने आपको मेवाड़ प्रजामण्डल से अलग घोषित कर दिया था। अलवर और भरत्पुर के मेव आन्दोलन मूलरूप से साम्प्रदायिक थे। मारवाड़ के किसान आन्दोलन को भी वहाँ की लोक परिषद् का समर्थन नहीं मिला। सीकर और बीकानेर के किसान आन्दोलनों में सीकर केकिसान आन्दोलन को उत्तरार्द्ध मेंजयपुर प्रजामण्डल ने और बीकानेर की प्रजा परिषद् ने वहाँ के किसान आन्दोलन का समर्थन किया। किन्तु राजनीतिक लक्ष्यों से रहित होते हुये भी राजनीतिक जागृति में किसान आन्दोलनों के योगदान को पूर्णतः स्वीकृत नहीं किया जा सकता। वस्तुतः किसान आन्दोलन का राजनीतिक जागरण में योगदान प्रत्यक्ष न होकर पूरक या सहायकके रूप में था। किसान आन्दोलनों ने प्रचलित सामन्ती व्यवस्था के दोषों को उजागर करके उसे बदलने की आवश्यकता पर बल दिया। राजनीतिक लक्ष्यों से प्रेरित न होने पर भी इन आन्दोलनों ने निरंकुशता के विरूद्ध आवाज उठाई जिससे प्रचलित राजनीतिक व्यवस्था की आलोचना का मार्ग प्रशस्त हुआ। वस्तुतः किसान आन्दोलनों ने राज्य में प्रचलित सम्पूर्ण राजनीतिक ढाँचे पर प्रश्न चिह्न लगा दिया। फलतः जनसाधारण को भी तात्कालिक व्यवस्थाओं का मूल्याकंन करके उनमें परिवर्तन के लिये प्रेरणा मिली। इस रूप में किसान आन्दोलनों ने जनसाधारण में राजनीतिक जागृति उत्पन्न करने में महत्वपूर्ण योगदान दिया।

23.4. अंग्रेजी शिक्षा का योगदान :

राजस्थान में राजनीतिक जागृति के विकास में अंग्रेजी शिक्षा (आधुनिक शिक्षा) के प्रचार–प्रसार ने भी महत्वपूर्ण योगदान दिया। उन्नीसवीं सदी के पूर्वार्द्ध तथा बीसवीं सदी के प्रारम्भिक दशकों तक राजपूताना के शासकों ने अपने–अपने राज्यों में अनेक अंग्रेजी शिक्षण संस्थाएं स्थापित की। जातीय पंचायतों ने भी अपनी–अपनी पृथक् शिक्षण संस्थाएं स्थापित की। यह सत्य है कि अंग्रेजी शिक्षा के प्रसार की रफ्तार काफी धीमी और जैसा कि डॉ. एम. एस. जैन ने लिखा है कि 1931 ई. में समस्त राजस्थान (अजमेर–मेरवाड़ा के अलावा) में एक प्रतिशत से भी कम लोग अंग्रेजी बोलना जानते थे और बहुत कम ही लोग राजस्थान से बाहर जाकर अंग्रेजी शिक्षा ग्रहण करते थे। परन्तु अंग्रेजी शिक्षा की उपाधियों से अलंकृत ये लोग अपने–अपने राज्यों में सरकारी नौकरी पाना चाहते थे परन्तु राजकीय सेवा में नियुक्तियां परिवार और राजनीतिक महत्व के आधार पर दी जाती थीं और इस सम्बन्ध में योग्यता को कोई विशेष महत्व नहीं दिया जाता था। सामन्तों के पुत्रों, भाई–भतीजों को बिना किसी योग्यता के भी उच्च पदों पर नियुक्त कर दिया जाता था। इसी प्रकार ब्रिटिश प्रान्तों से आये राज्य के उच्चाधिकारियों के सम्बन्धियों को भी आनन–फानन में राजकीय सेवा में ले लिया जाता था। इस प्रकार की नियुक्तियों से स्थानीय शिक्षित युवकों में असंतोष फैलना स्वाभाविक ही था चूँकि यह शिक्षित–वर्ग स्वतंत्रता एवं समानता का पाठ पढ़ चुका था, अतः उसका असंतोष राष्ट्रीय चेतना के विकास की मूलधार' से जुड़ता चला गया। उनके विचारों का प्रभाव सामान्य जनता पर भी पड़ने लगा। आगे चलकर इस वर्ग ने उत्तरदायी शासन की माँग बुलन्द की।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

23.5. 1857 का विद्रोह :

निःसन्देह 1857 के आजादी के संग्राम में राजस्थान के अधिकांश नरेशों ने अंग्रेजों का साथ दिया। उनकी सहायता के लिए उन्होंने अपने सैनिक भेजे तथा अंग्रेजों के परिवारों को अपने यहां शरण दी। बीकानेर नरेश सरदार सिंह 5000 अश्वारोहियों के साथ स्वयं अंग्रेजों की सहायता के लिए हांसी, सिरसा व हिसार के जिलों में पहुंच गया। जयपुर नरेश रामसिंह ने तन, मन व धन से अंग्रेजों की इस संकट काल में सहायता की। मेवाड़ के महाराणा स्वरूपसिंह ने अपने सैनिक नीमच और नीम्बाहेड़ा में विद्रोह को दबाने भेजे। बांसवाड़ा व डूंगरपुर के महारावलों ने अंगेजों का साथ दिया। अलवर नरेश बन्नेसिंह ने आगरे के किले में घिरे हुए अंग्रेजों की स्त्रियों व बच्चों को बचाने के लिए अपना तोपखाना भेजा। इसी प्रकार धौलपुर, कोटा, बूंदी, जैसलमेर, सिरोही व शाहपुरा के नरेशों ने भी अंग्रेजों का हाथ बंटाया। परन्तु जोधपुर नरेश मानसिंह ने अंग्रेज विरोधी भावना का प्रदर्शन अवश्य किया था।

परन्तु इसी राजस्थान की वीर भूमि में स्वतंत्रता प्रेमी राजपूत दूसरी तरह का भी अभिनय कर रहे थे। 21 अगस्त को एरिनपुरा में स्थित ब्रिटिश सेना के भारतीय सैनिकों ने बगावत का झण्डा ऊँचा कर दिया। अपनी छावनी से वे आबू पहुंच गये। वहां कर्नल हाल व अन्य अंग्रेज अधिकारियों को मौत, के घाट उतार दिया। यहां से वे मारवाड के ठिकाने आहूवा आये। यहां के ठाकुर कुशलपाल सिंह ने उन बागी सैनिकों का नेतृत्व किया। आसपास कई अन्य ठिकानेदार भी आ मिले। इस प्रकार इन बागी सैनिकों की संख्या 6,000 हो गई। इन सैनिकों ने लार्ड कैनिंग तक के रोंगटे खड़े पर दिये। इस प्रकार कोटा में विद्रोह हुआ। विद्रोहियों ने महारावल रामसिंह को बन्दी बना लिया जिसे बूंदी के महारावल मदनपाल ने अपनी सेना भेज कर मुक्त कराया। नसीराबाद की छावनी के सैनिकों ने भी विद्रोह कर दिया। कहने का तात्पर्य केवल इतना ही है कि राजस्थान के नरेशों द्वारा अंग्रेजों की सहायता करने पर भी यहां की सेना व राजपूत ठिकानेदारों ने अंग्रेजी हुकूमत को उखाड़ फैंकने का प्रयास किया। इससे स्पष्ट है कि 1857 के विप्लव के समय भी राजस्थानियों में राष्ट्रीय भावना थी और वह 1857 के संग्राम के असफल हो जाने पर भी सक्रिय रही। सामन्तों के द्वारा क्रान्तिकारियों को दिए जाने वाले इस सहयोग को देखकर 1857 के उपरान्त ब्रिटिश सरकार ने राजस्थान के नरेशों पर अपना नियंत्रण और सख्त किया। परन्तु राजस्थान के स्वतंत्रता सेनानियों के दिलों में राष्ट्रीय भावना उत्तरोत्तर प्रबल होती ही चली गई।

23.6. स्वामी दयानन्द और आर्य समाज का प्रभाव :

राजस्थान की जनता में राजनैतिक चेतना के जागृत होने तथा समूचे देश की मूलधारा के साथ सम्पर्क स्थापित करने के लिए उत्तरदायी कारणों में एक मुख्य कारण स्वामी दयानन्द सरस्वती की राजस्थान यात्रा तथा आर्य समाज की गतिविधियां थी। उन्होंने 1865 ई. में करौली राज्य के राजकीय अतिथि की रूप में राजस्थान की यात्रा की। करौली से वे जयपुर और वहां से अजमेर गये। उन्होंने भरतपुर, चूरू और उदयपुर की यात्रा भी की। इन सभी स्थानों पर शासकों, सरदारों और प्रतिष्ठित नागरिकों एवं सर्वसाधारण ने उनका स्वागत किया और राष्ट्रीय उत्थान के लिए उनके प्रयासों में पूरा–पूरा सहयोग देने का आश्वासन दिया। स्वामीजी, हिन्दू धर्म, समाज और राष्ट्र के पुनरूत्थान के महान् प्रयास में लगे हुए थे। शासकों, सामन्तों, प्रतिष्ठित नागरिकों एवं सर्वसाधारण के साथ अपनी बातचीत के दौरान स्वामीजी ने मुख्यतः चार बातों पर ध्यान दिया– स्वधर्म, स्वराज्य, स्वदेशी और स्वभाषा। उनकी शिक्षाओं ने न केवल राजस्थान के लोगों में अपितु भारत के अन्य भागों में भी राजनैतिक चेतना का विकास किया। 10 अप्रैल, 1875 ई. को उन्होंने बम्बई में 'आर्य समाज' की स्थापना की। 1880–90 की अवधि में राजस्थान में भी आर्य समाज की शाखाएँ स्थापित की गई। आर्य समाज के प्रचार–प्रसार की दृष्टि से इलाहाबाद से 'वैदिक मंत्रालय' नामक प्रिंटिंग प्रेस को अजमेर लाकर स्थापित किया गया। श्यामजी कृष्ण वर्मा के संचालन में प्रेस ने काफी अच्छा काम किया। फरवरी, 1883 ई. में स्वामी जी ने उदयपुर में 'परोपकारिणी सभा' नामक एक सामाजिक संस्थान की स्थापना की, जिसे कुछ समय बाद अजमेर स्थानान्तरित कर दिया गया। इसके सदस्यों में मुख्य थे– शाहपुरा नरेश, दीवान श्यामजी कृष्ण वर्मा और महादेव गोविन्द रानाडे। स्वामीजी कहना था कि वे राजाओं और महाराजाओं को सन्मार्ग पर लाना चाहते है और सम्पूर्ण आर्य जाति को पुनः एकता के सूत्र में बांधना चाहते है। इसके लिए सामाजिक सुधारों तथा राष्ट्रीय शिक्षा और राष्ट्रीय भाषा की आवश्यकता है। उन्होंने स्वशासन पर भी अत्यधिक जोर दिया। उनकी शिक्षाओं ने राजस्थान के लोगों को न केवल सामाजिक एवं धार्मिक सुधारों की आवश्यकता की ही अनुभूति करवा दी अपितु राजनैतिक सुधारों के प्रति उन्हें जागरूक बना दिया। इस प्रकार, स्वामी दयानन्द और बाद में आर्य समाज ने राजस्थान में राष्ट्रवाद और राजनैतिक चेतना की आधारशिला रख दी। इसको आगे बढ़ाने का काम स्थानीय जनता और उसके नेताओं ने किया।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

23.7. प्रथम महायुद्ध का प्रभाव :

राजस्थान के राज्यों के लोगों को प्रथम विश्वयुद्ध ने भी बहुत उद्वेलित कर दिया। इंग्लैण्ड द्वारा धुरी राष्ट्रों के विरूद्ध युद्ध की घोषणा के प्रत्युत्तर में राजपूत राजाओं ने असीम स्वामिभक्ति का परिचय दिया। बीकानेर नरेश गंगासिंह ने सबसे पहले यह घोषणा की कि वह अपने सैनिकों के साथ दुनिया के किसी भी स्थान पर जाकर साम्राज्य की सेवा में लड़ने को तैयार है। उसका अनुकरण करते हुए किशनगढ़, भरतपुर, राज्यों के तमाम साधन और सैनिक ब्रिटिश सरकार के उपयोग के लिए प्रस्तुत कर दिये। यहां तक कि ईडर और जोधपुर के 70 वर्षीय सर प्रताप ने भी युद्ध में जाने की इच्छा व्यक्त की। विश्वयुद्ध में भाग लेने गये राजपूत राज्यों के सैनिक बाह्य दुनिया के सम्पर्क में आये और अपनी जन्मभूमि से दूर इन देशों में स्वतंत्रता के नये विचारों और आदर्शों का अनुभव कर आश्चर्यचकित रह गये। स्वदेश लौटने पर उन्होंने अपने मित्रों, पड़ोसियों तथा अन्य लोगों को अपने अनुभवों से उन लोगों में स्वतंत्रता की ज्वाला प्रज्जवलित कर दी। राजपूत शासकों ने यद्यपि युद्धकोष में भारी धनराशि प्रदान की, परन्तु किसी ने भी अपनी व्यक्तिगत धनराशि में से एक पैसा भी खर्च नहीं किया। सारा भार जनता तथा राजकोष को उठाना पड़ा। राजस्थान की जनता पहले से ही करों के भार से दबी हुई थी, अब युद्धकोष में दिये जाने वाले चन्दे के भार ने उसकी वित्तीय कठिनाइयों को और अधिक बढ़ा दिया। अतः राजस्थानी जनता ने भी अपने असंतोष को व्यक्त करने के लिए आन्दोलनात्मक मार्ग अपनाने का निश्चय किया, क्योंकि ब्रिटिश प्रान्तों में यह उपाय कारगर सिद्ध हो रहा था।

23.8. समाचार पत्रों का योगदान :

राजस्थान के राजनीतिक जागरण में यहाँ प्रकाशित होने वाले समाचार पत्रों और पत्र–पत्रिकाओ का भी महत्वपूर्ण योगदान रहा है।वस्तुतः अत्याचार और शोषण अन्धकार और अज्ञान में ही पल्लवित होते हैं, जागरूक और शिक्षित लोगों को दीर्घकाल तक शोषित, पीड़ित और अधीन नहीं रखा जा सकता। 1920 ई. के पूर्व राजस्थान से प्रकाशित होने वाले समाचार पत्रों और पत्र–पत्रिकाओं की संख्या नगण्य सी थी। सर्वप्रथम उदयपुर से सज्जन कीर्ति सुधाकर नामक साप्ताहिक पत्र छपता था जिसमें शासन सम्बन्धी नियम प्रकाशित होते थे जिससे जनता को प्रशासनिक नियमों व उनमें हुये परिवर्तनों की जानकारी मिलती थी। जयपुर से प्रकाशित **रोजे–उल्ह–तामील** में सरकारी नीतियों का आलोचनात्मक विवरण प्रकाशित होता था। 1881 ई. में उदयपुर से प्रकाशित 'हरिश्चन्द्र चन्द्रिका' में सरकार के विरूद्ध लेख आदि प्रकाशित होते थे। 1885 ई. में अजमेर से **'राजपूताना गजट'** और 1889 ई. में राजस्थान समाचार नामक पत्र निकलने लगे जिनमें विभिन्न राज्यों में नियुक्त ब्रिटिश अधिकारियों के कार्यो की व्यापक आलोचना होती थी। किन्तु ये समाचार पत्र शीघ्र ही बन्द हो गये। किन्तु जैसे ही प्रथम विश्व युद्ध बाद समाचार पत्रों पर नियत्रंण समाप्त हुए राजस्थान में भी समाचार पत्रों के प्रकाशन की एक श्रृंखला आरम्भ हो गई। बिजौलिया आन्दोलन के समय 'प्रताप' द्वारा रियासतों द्वारा किये जा रहे शोषण और अत्याचारों को समाचार पत्रों के माध्यम से राष्ट्रीय स्तर पर प्रचलित–प्रसारित करने से प्रभावित होकर 1920 ई. में विजयसिंह पथिक ने पहले वर्धा और फिर अजमेर से 'राजस्थान केसरी' नामक साप्ताहिक पत्र का प्रकाशन आरम्भ किया।किन्तु यह थोड़े समय बाद ही बन्द हो गया। 1922 ई. में राजस्थान सेवा संघ ने 'नवीन राजस्थान' समाचार पत्र आरम्भ किया, जिसने बिजौलिया और बेगूँ के किसान आन्दोलनों और भोमट के भील आन्दोलन का समर्थन किया। 1923 ई. में इसे बन्द करना पड़ा। किन्तु शीघ्र ही **'तरूण राजस्थान'** के नाम से यह पुनः प्रकाशित होने लगा। श्री शोभा गुप्त, रामनारायण चौधरी और जयनारायण व्यास के द्वारा सम्पादित इस पत्र ने नीमूचाणा काण्ड सहित विभिन्न राज्यों के निरंकुश अत्याचारों के विरूद्ध आवाज उठाई। 1923 ई. में ही ऋषिदत्त मेहता ने ब्यावर से 'राजस्थान' नामक साप्ताहिक पत्र का प्रकाशन आरम्भ किया। 1930 ई. के बाद समाचार पत्रों की संख्या में उत्तरोत्तर वृद्धि हुई। 1932 ई. में 'प्रभात', 1935 ई. में **'जयपुर समाचार'**, 1936 ई. में **'नवज्योति'**, 1939 ई. में **'नवजीवन'**, 1943 में **'लोक वाणी'** और **'अलवर समाचार'** प्रकाशित होने लगे जिनमें रियासती शासकों के शोषण और अत्याचारों की व्यापक चर्चा और ब्रिटिश सरकार की छलकपट पूर्ण शासन प्रणाली की आलोचना होती थी। ये चर्चाएँ और आलोचनाएँ राजनीतिक जागृति में सहायक सिद्ध हुई। वस्तुतः इन समाचार पत्रों के माध्यम से लोगों को अपने नरेशों के विलासी और निष्क्रिय जीवन की जानकारी मिलने लगी तो उन्हें अपने शासकों व उनके संरक्षक अंग्रेजों से घृणा होने लगी और वे शासन में बदलाव को तत्पर हो उठे। यहीं नहीं इन समाचार पत्रों के माध्यम से विचारोंका आदान–प्रदान होने लगा जिससे लोग राष्ट्रीय नेताओं के विचारों से अवगत हुये, जिससे उनमें अपूर्व जनजागरण हुआ।

साहित्य कलम की धार तलवार से भी तीक्ष्ण होती है। समाचार पत्रों के अतिरिक्त राजस्थान के साहित्यकारों ने भी अपनी लेखनी से जनजागृति उत्पन्न की। राजस्थान के चारण तो अपनी ओजस्वी रचनाओं के लिये काफी प्रसिद्ध रहे हैं। इस

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

काल में केसरीसिंह बारहठ की रचनाओं ने राजस्थान के लोगों में क्रांति का शंख फूँक दिया। सूर्यमल्ल मिश्र की **'वीर सतसई'** भी क्रान्तिकारी विचारों से ओत–प्रोत थी। 20 वीं शताब्दी में जयनारायण व्यास की कविताओं और श्री हीरालाल शास्त्री के गीतों ने भी अंग्रेजों के विरूद्ध आक्रोश जागृत करने में उल्लेखनीय योगदान दिया।

23.9. राजस्थानी प्रवासियों का योगदान :

व्यापार के क्षेत्र मे तो राजस्थानियों ने विश्व में अपना नाम उजागर किया है। व्यापार से उन्होंने धन व मान जो अर्जित किया ही पर साथ में व्यापार के माध्यम से वे कूटनीतिज्ञ अंग्रेजों के सम्पर्क में भी अच्छा प्रकार से आये। वे यह भी जान गये कि अंग्रेज देश का भारी शोषण कर रहे है। अतः वे राजस्थान का क्या भला कर सकते हैं? अंग्रेजों के आर्थिक शोषण से उन्होंने अपने प्रदेशवासियों को भी अवगत कराया और यह भी बताया कि देश में अंग्रेजों के विरूद्ध क्या हवा चल रही है। इस प्रकार उन्होंने राजस्थान के लोगों में राष्ट्रीय चेतना की भावना उत्पन्न की और उन्हें आर्थिक सहायता दे कर उन्हें संगठित होने को प्रोत्साहित किया। राजस्थान में राष्ट्रीयता का शंखनाद करने में सेठ जमना लाल बजाज का नाम अग्रणी बनाया। बिड़ला बन्धु भी आर्थिक सहायता लेकर राष्ट्रीय आन्दोलन को गतिशील बनाया। बिड़ला बन्धु भी आर्थिक सहायता देकर राष्ट्रीय आन्दोलन को सफल बनाने के पीछे नहीं रहे।

23.10. मध्यम–वर्ग की भूमिका :

आधुनिक भारत का राष्ट्रीय आन्दोलन वस्तुतः अपना प्रारम्भिक अवस्था से ही मध्यम–वर्ग का संघर्ष रहा है जो अपने अस्तित्व की नई स्थिति तथा परिचय के लिए उत्सुक था। इस वर्ग में वकील, शिक्षक, इंजीनियर, वैज्ञानिक, चिकित्सक, साहित्यकार, बुद्धिजीवी और व्यवसायी तथा पत्रकार सम्मिलित थे और उनका मुख्य ध्येय भारतीयों में राजनैतिक तथा राष्ट्रीय चेतना उत्पन्न करना था। राजस्थान में भी इसी वर्ग ने जन–असन्तोष को नेतृत्व प्रदान किया। बिजौलिया के कृषक आन्दोलन ने भी तभी गति पकड़ी जबकि विजयसिंह पथिक, माणिक्यलाल वर्मा, रामनारायण चौधरी, हरिभाऊ उपाध्याय जैसे लोग इसमे सम्मिलित हुए थे। ये सभी लोग मध्यम–वर्ग के प्रतिनिधि थे और उनमें से कोई भी बिजौलिया का निवासी न था। जोधपुर राज्य में 'मास्टर साहब' के नाम से लोकप्रिय जयनारायण व्यास ने राजनैतिक चेतना की मशाल प्रज्जवलित की थी। बीकानेर में वकील रघुवरदयाल ने नेतृत्व प्रदान किया और अपने अनुयायियों को आन्दोलन का पाठ सिखाया। अलवर के मास्टर भोलानाथ और सिरोही के गोकुल भाई भट्ट भी इसी मध्यम–वर्ग के सदस्य थे। जयपुर के पं. हीरालाल शास्त्री और देपशंकर तिवारी आदि भी मध्यम–वर्ग के प्रतिनिधि थे।

वस्तुत उच्च–वर्ग जिसको प्रचलित सभी सुविधाएं उपलब्ध थी, को किसी प्रकार के राजनैतिक एवं आर्थिक परिवर्तनों के प्रति रूचि नहीं थी और न ही नेतृत्व प्रदान करने की योग्यता एवं क्षमता थी। इतना ही नहीं, अपितु इस वर्ग के अधिकांश लोग तो सर्वसाधारण को अज्ञान के अन्धेरे में ही रखना चाहते थे ताकि एक तरफ जो राजकीय नौकरियों पर उनके परिवारों का एकाधिकार बना रहे और दूसरी तरफ वे सर्वसाधारण का शोषण कर सकें। इस प्रकार, राजस्थान में राजनैतिक चेतना को जागृत करने का भार मध्यमवर्ग पर आ पड़ा। आधुनिक शिक्षा के प्रसार के फलस्वरूप इस वर्ग के शिक्षित युवकों का प्रजातंत्र, राष्ट्रवाद और स्वतंत्रता के महान् आदर्शो से सम्पर्क हुआ और वे राजस्थान की मध्ययुगीन निरंकुश सामन्ती व्यवस्था जो ब्रिटिश शासन की आधार–स्तम्भ बनी हुई थी, को उखाड़ फेंकने के लिए कटिबद्ध हो चुके थे।

23.11. क्रान्तिकारियों का अपूर्व सहयोग :

क्रान्तिकारियों का सफल संचालन योग्य नेतृत्व पर ही अवलंबित रहता है। भाग्यवश राजस्थान को भी समय–समय पर वीर क्रान्तिकारी नेताओं का नेतृत्व मिलता रहा। क्रान्तिकारी बातों में विश्वास करते नही हैं तथा काम करने में अधिक। भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस भी 1906 के उपरान्त इसी नीति पर आचरण करने लगी थी। अतः भारत में जगह–जगह क्रांति की आग सुलगने लगी थी। ऐसी परिस्थिति में राजस्थान भी क्रांति की उस अग्नि से किस प्रकार बच सकता था? भाग्यवश अजमेर उस समय क्रांतिकारियों की शरण–स्थली बन गया था। श्यामजी कृष्ण ने अजमेर को ही अपना केन्द्र बनाकर क्रान्तिकारी विचारों का प्रसार आरम्भ किया। आप स्वामी दयानन्द सरस्वती के परम शिष्य थे। 1897 में जब पूना के कमीश्नर रैण्ड को उनके साथियों के साथ मौत के घाट उतार दिया गया तो ब्रिटिश सरकार ने श्यामजी कृष्ण पर सन्देह किया और उन्हें बन्दी बनाने का प्रयास किया। परन्तु वे किसी प्रकार इंग्लैण्ड पहुंच गये और वहां जाकर उन्होंने इण्डिया हाउस ही स्थापना की। उनके बाद अर्जुनलाल सेठी, केसरी सिंह बारहठ, राव गोपालसिंह तथा विजयसिहं पथिक जैसे क्रांतिकारी आगे आये।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

श्री अर्जुनलाल सेठी ने भी अजमेर को ही अपने क्रिया–कलापों का केन्द्र बनाया। अजमेर को केन्द्र बनाने से पूर्व वे अपने जन्म स्थान जयुपर में ही थे। महाराजा कॉलेज से बी. ए. की परीक्षा उत्तीर्ण करते ही आप को राज्य की ओर से राजकीय सेवा में एक उच्च–पद देने का प्रस्ताव किया गया था। इसके प्रत्युत्तर में उन्होंने कहा, ''यदि अर्जुन लाल राज्य सेवा (नौकरी) करेगा तो अंग्रेजों को देश के बाहर निकाल फैंकने का काम कौन सकते है। प्रथम उन्होंने ''जैन शिक्षा सोसाइटी'' की स्थापना की । इस सोसाइटी के माध्यम से उन्होंने राजस्थानियों को राजनीति की शिक्षा दी। 1908 में इस संस्था को जयपुर हस्तांतरित कर दिया गया। यहां उन्होंने ''जैन वर्धन सोसाइटी'' की स्थापना की। श्री सेठी इतने क्रान्तिकारी विचारों के थे वे सभी साम्यवादियों की तरह साधन का श्रेष्ठता का विचार न करके येन–केन प्रकारेण उद्देश्य की प्राप्ति में विश्वास करते थे। इसीलिए अपनी आर्थिक समस्या के निवारण के लिए उन्होंने बनारस के एक महन्त की हत्या करवा दी। इस हत्या में राव प्रताप सिंह का भी हाथ था। अन्य साथी जोरावर सिंह भी इस काण्ड में लिप्त था। जब सरकार ने उन्हें बन्दी बनाने का प्रयास किया तो वे फरार हो गये और जीवन पर्यन्त फरार ही रहे। दिसम्बर, 1914 में जयपुर नरेश ने श्री सेठी को 5 साल के लिए बन्दी बनाकर वैल्लोर (मद्रास) जेल भेज दिया। 1930 में वे कांग्रेस के सदस्य हो गये और क्रान्तिकारी गतिविधियों से कुछ समय के लिए दूर हो गये। परन्तु अधिक समय तक वे कांग्रेस नीति के समर्थक नहीं रहे। अतः कांग्रेस से विलग होकर आप अजमेर में ख्वाजा शराफ की दरगाह में मुस्लिम बच्चों को पढ़ाने लगे। परन्तु उन्होंने राजस्थान में राष्ट्रीय भावना का प्रसार उस समय किया जबकि यहां न बोलने की स्वतंत्रता थी और न लिखने की।

केसरीसिंह बारहठ भी राजस्थान के एक उल्लेखनीय क्रान्तिकारी थे। आप का जनम 1872 में शाहपुरा (भीलवाड़ा) के समीप अपनी पैतृक जागीर के गांव देवपुरा में हुआ था। बंग–भंग (1905) से आप विक्षुब्ध थे तथा लोकमान्य तिलक के विचारों से वे सहमत थे। आप यहां बंगाल की तरह क्रांतिकारी गुप्त ओजस्वी कवि भी थे। आप अनेक भाषाओं के ज्ञाता थे। डिंगल भाषा के आप उत्कृष्ट कवि थे। आपने वीर–रसपूर्ण कविताओं के माध्यम से राजस्थानियों के दिलों में राष्ट्रीयता की लहर को उद्वेलित किया। 1903 में जब मेवाड़ के महाराणा फतहसिंह दिल्ली के लिए रवाना हुए तो अपनी ओजपूर्ण कविता 'चेतावनी के चुंगटिया' प्रेषित कर दिल्ली जाने से उन्हें रोक दिया। इसी प्रकार अन्य क्रान्तिकारी नेता राजस्थान में राष्ट्रीय भावना के उफान को प्रबल बनाते रहे और राजस्थानियों को स्वतंत्रता संग्राम के लिए तैयार करते रहे।

23.12. विभिन्न संगठनों का योगदान :

सार्वजनिक आलोचना जनजागरण और क्रांति कर जनक होती है। अतः प्रत्येक शासन सार्वजनिक आलोचना से सर्वाधिक भंयभीत रहता है। राजस्थान के जनसाधारण में सत्ताधारियों के विरूद्ध असंतोष तो दीर्घकाल से व्याप्त था, किन्तु उसकी अभिव्यक्ति के लिये उचित माध्यम या मंच का अभाव था। किन्तु 20वीं शताब्दी ई. के आरम्भ में राजस्थान में सेवा समितियों, हितकारिणी सभाओं (वाल्टर कृत को छोड़कर,) पुस्तकालायों, रात्रि विद्यालयों आदि के रूप में ऐसे अनेक संगठनों और संस्थाओं की स्थापना हुई जिन्होंने इस अभाव की पूर्ति ही नहीं की वरन् लोगों को जीवन की सामान्य घटनाओं के प्रति भी जागरूक बनाया। इन संस्थाओं में शासकों की निरंकुशता , पक्षपात, आपत्तिजनक नियमों और शासकों व ठिकानेदारों की विलासिता, फिजूलखर्ची तथा अन्याय और शोषण की चर्चाएँ होती थीं। राजस्थानी शासकों ने इस प्रकार की आलोचनाओं को अपने विशेषाधिकारें, सम्मान, प्रतिष्ठा और गौरव के प्रतिकूल मानकर इन संस्थाओं के मार्ग में अवरोध उत्पन्न किये जिससे लोगों में आक्रोश बढ़ा और जागृति उत्पन्न हुई। डॉ. एम. एस. जैन की मान्यता है कि ''यदि शासकों ने इन संस्थाओं के कार्यों को शक्ति के बल पर नियंत्रित करने की बजाय संयम से काम लिया होता तो यह जनजागरण इतना प्रभावशाली नहीं हो पाता।'' इन संस्थाओं के अतिरिक्त गोविन्द गिरि द्वारा स्थापित 'सम्पसभा' ने मेवाड़, बाँसवाड़ा, डूँगरपुर, सिरोही और गुजरात की भील–गिरासिया जनजातियों को संगठित करने और शोषण के विरूद्ध आवाज उठाने के लिये प्रेरित करने में महती भूमिका निभाई। 1915 ई. मेंविजयसिंह पथिक द्वारा स्थापित 'सेवा समिति' ने किसानों में नवीन जागृति उत्पन्न की। 1919 ई. में स्थापित 'राजस्थान सेवा संघ' ने जनता के कष्टों का निवारण करने, शासकों व जागीरदारों के न्यायोचित् अधिकारों का समर्थन करने और शासकों और प्रजा के मध्य सौहार्दपूर्ण संबंध विकसित करने का कार्य किया। 1919 ई. में ही स्थापित 'राजपूताना मध्य भारत सभा' ने भी रियासतों की जनता को कांग्रेस की गतिविधियों से परिचित करवाकर राजनीतिक चेतना विकसित करने का कार्य किया।

23.13. ब्रिटिश प्रान्तों में होने वाले आन्दोलनों का अभाव :

अपनी निरंकुशता और स्वेच्छाचार को निर्द्वन्द्व और अक्षुण्ण रखने के लिये राजस्थानी शासकों ने अपनी प्रजा को बाह्य प्रभाव से अछूता रखने का पूर्ण प्रयास किया। किन्तु परिवर्तन की लहर कृत्रिम अवरोधों को नहीं मानती। अतः पूर्ण प्रयासों के

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

बाद भी अखिल भारतीय कांग्रेस के नेतृत्व में ब्रिटिश भारत में ब्रिटिश सरकार के प्रति असंतोष की जो हवा चल रही थी, उससे राजस्थान की रियासतें भी अक्षुण्ण नहीं रही। ब्रिटिश भारत में जिन राजनीतिक अधिकारों की प्राप्ति के लिये संघर्ष चल रहा था, रियासती जनता में भी उसी प्रकार के अधिकारो को प्राप्त करने की आकांक्षा अंगड़ाई लेने लगी। इस रूप में 20वीं शताब्दी के प्रथम दो दशकों में ब्रिटिश भारत में होने वाले अहिंसात्मक आन्दोलनो ने रियासती प्रजा को सर्वाधिक प्रभावित किया। बंगाल विभाजन के निरस्तीकरण, रौलेट सत्याग्रह और असहयोग आन्दोलन से ब्रिटिश सरकार की सर्वोच्चता को गहरा आघात लगा था। इन आन्दोलनों से रियासती जनता में एक नवीन जागृति उत्पन्न हुई और उसने यह अनुभव किया कि यदि ब्रिटिश भारत में अंग्रेजों की सर्वोच्चता के विरूद्ध आन्दोलन चलाया जा सकता है तो राजस्थान की रियासतों में भी राजनीतिक अधिकारों के लिये आन्दोलन चलाना सम्भव है।

23.14. क्रान्तिकारी गतिविधियों का प्रभाव :

भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के ज्ञापन और याचिकाएँ प्रस्तुत करने की भिक्षावृत्ति की नीतियों से असंतुष्ट होकर कुछ राष्ट्रीय नेताओं ने उग्रवाद का आश्रय लिया। ये उग्रवादी प्रार्थना और ज्ञापनों के स्थान पर कर्म में विश्वास करते थे।फलतः देश मे स्थान–स्थान पर क्रान्तिकारी और आतंकवादी सक्रिय हो गये। यद्यपि एक–दो अपवादों को छोड़कर राजस्थान में कोई क्रान्तिकारी गतिविधि नहीं हुई, किन्तु राजस्थान भी इन क्रान्तिकारी आन्दोलनों से अक्षुण्ण नहीं रहा। वस्तुतः 20वीं शताब्दी में राजस्थान में श्यामजी कृष्ण वर्मा अर्जुनलाल सेठी, केसरीसिंह बारहठ, प्रतापसिंह बारहठ, गोपालसिंह खरवा, स्वामी गोपालदास, दामोदरदास राठी आदि उग्र विचारधारा के व्यक्तियों का उदय हुआ जिन्होंने विभिन्न संस्थाओं और निजी प्रयत्नों से उग्रवादी विचारधारा को प्रोत्साहित किया। यद्यपि इन्होनें किसी क्रांति या आतंकवादी गतिविधि का संचालन नहीं किया किन्तु ये लोग इस दृष्टि से क्रांतिकारी थे कि इन्होंने प्रचलित दृष्टिकोण और मूल्यों में परिवर्तन लाने का प्रयत्न किया।

23.15. राजस्थान के स्वतन्त्रता संघर्ष की प्रकृति :

राजस्थान के राज्यों में हुये स्वतन्त्रता संघर्ष के स्वरूप के संबंध में कतिपय विद्वानों की मान्यता है कि इन राज्यों में हुये आन्दोलनों का उद्देश्य संवैधानिक अधिकारों की प्राप्ति और उत्तरदायी शासन की स्थापना तक ही सीमित था, अतः इन आन्दोलनों को स्वतन्त्रता आन्दोलन की श्रेणी में नहीं रखा जा सकता। यद्यपि संकुचित दृष्टिकोण से तो यह मत ठीक है, किन्तु व्यापक दृष्टिकोण और व्यावहारिक रूप से यह मत उचित नहीं है क्योंकि केवल किसी विदेशी और बाह्य सत्ता के विरूद्ध होने वाला संघर्ष ही स्वतन्त्रता संघर्ष नहीं होता वरन् किसी भी निरंकुश सत्ता के विरूद्ध होने वाला संघर्ष भी स्वतन्त्रता संघर्ष ही होता है। इस दृष्टि से राजस्थान की रियासतों में निरंकुश राजतंत्र में सैवंधानिक अधिकारों की प्राप्ति और उत्तरदायी शासन की स्थापना के लिये होने वाला संघर्ष भी उसी प्रकार का स्वतन्त्रता संघर्ष था जिस प्रकार ब्रिटिश प्रान्तों में अंग्रेजी सत्ता को समाप्त करने के लिये किया जा रहा संघर्ष, स्वतन्त्रता संघर्ष था।

23.16. राजस्थान में स्वतन्त्रता आन्दोलन :

राजस्थान में हुये स्वतन्त्रता संघर्ष को उसके स्वरूप और गतिविधियों के आधार पर डॉ. एम.एस. जैन ने तीन चरणों में विभक्त किया है– (1) प्रथम चरण (1927 ई. के पूर्व तक)। (2) द्वितीय चरण (1927 ई. से 1938 ई. तक) और (3) तृतीय चरण (1938 से 1949 ई. तक)। स्वतन्त्रता संघर्ष का प्रथम चरण अन्य राज्यों की घटनाओं से अप्रभावित रहकर राजनीतिक लक्ष्यों से विहीन और केवल मानववादी और सामजिक समस्याओं पर केन्द्रित रहा क्योंकि 1920 ई में कांग्रेस ने यह प्रस्ताव पारित कर दिया था कि वह देशी रियासतों के मामलों में हस्तक्षेप नहीं करेगी।संघर्ष का द्वितीय चरण 1927 ई. में ऑल इण्डिया स्टेट्स पीपुल्स कान्फ्रन्स (अखिल भारतीय देशी राज्य लोक परिषद्) की स्थापना के साथ आरम्भ हुआ। इस संस्था की स्थापना के बाद विभिन्न राज्यों के कार्यकत्ताओं को अपनी समस्याओं और विचार दिशा मिली। संघर्ष का तृतीय चरण 1938 ई. में हरिपुरा अधिवेशन में कांग्रेस द्वारा पारित उस प्रस्ताव से आरम्भ हुआ जिसमें कांग्रेस ने देशी रियासतों को भारत का अभिन्न अंग मानते हुये, इन रियासतों में स्वतन्त्रता संघर्ष संबंधित राज्यों के लोगों द्वारा चलाने की बात कही गइ थी। तद्नुरूप 1938 ई. के पश्चात् विभिन्न राज्यों में राजनीतिक संगठन स्थापित किये गये जिन्हें किन्हीं रियासतों में 'प्रजामण्डल' और किन्हीं मे 'प्रजापरिषद्' का नाम दिया गया। इन संगठनों ने प्रत्येक राज्य में राजनीत्कि अधिकारों की प्राप्ति और उत्तरदायी शासन की स्थापना के लिये आन्दोलन किये। 1942 ई. में कांग्रेस द्वारा आरम्भ किये गये 'भारत छोड़ो आन्दोलन' में ब्रिटिश भारत के साथ अ.भा.दे. रा.लो.प. के नेतृत्व में देशी रियासतों के लोगों ने भी सक्रिय रूप से भाग लिया।वस्तुतः 1942 ई. के उपरान्त राजस्थान की रियासतों में हुआ स्वतन्त्रता संघर्ष कांग्रेस के आन्दोलन का ही एक भाग था। यहां हम राजस्थान के विभिन्न राज्यों में हुये तीन चरणीय

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

स्वतन्त्रता संघर्ष की चर्चा के पूर्व 1938 ई. में प्रजामण्डलों और प्रजापरिषदों की स्थापना के पहले बने राजनीतिक संगठनों का संक्षिप्त विवेचन करेंगे क्योंकि राजस्थान की विभिन्न रियासतों में होने वाले आन्दोलनों में इन संगठनों की परोक्ष और अपरोक्ष रूप में महती भूमिका थी।

राजस्थान में सक्रिय राजनीतिक संगठन (1938 ई. के पूर्व)—जैसाकि पूर्व में बताया जा चुका है कि 20वीं शताब्दी के द्वितीय दशक में अन्तराष्ट्रीय और राष्ट्रीय रंगमंच पर हुई घटनाओं यथा—प्रथम महायुद्ध 1917 की बोल्शेविक क्रान्ति और विश्व युद्ध में भाग लेकर लौटे सैनिकों द्वारा जनसाधारण को अपने अनुभव बताने,1918—21 ई. के मध्य हुये भारत में अहिंसात्मक आन्दोलनों, रौलेट सत्याग्रह, माण्टेग्यू घोषणा, खिलाफत और असहयोग आन्दोलन आदि के प्रभाव स्वरूप राजस्थान के राजनीतिक वातावरण में एक नई चेतना उत्पन्न हुई और यहां के लोग भी राजनीतिक अधिकारों की प्राप्ति के लिये ब्रिटिश भारत के अनुरूप अहिंसात्मक आन्दोलन चलाने को प्रेरित हुये। मान्टेग्यू—चेम्सफोर्ड सुधारों के बाद इसमें और वृद्धि हुई। प्रथम विश्व युद्ध के बाद सब कृत्रिम बाधाएं टूट गई और जनसाधारण में बेचैनी और असंतोष की स्वस्थ भावनाएं पनपना आरम्भ हो गई। मुख्यतः बुद्धिजीवी वर्ग में ब्रिटिश भारत की भांति रियासतों में भी संवैधानिक शासन और उत्तरदायी शासन की मांग धीरे—धीरे बढ़ने लगी। फलतः रियासती प्रजा ने स्वयं को कई माध्यमों से संगठित करना आरम्भ कर दिया।

राजस्थान सेवा संघ—इस दिशा में पहला कदम 'राजस्थान सेवा संघ' की स्थापना के रूप में उठाया गया। 191'9 ई. में विजयसिंह पथिक, रामनारायण चौधरी और हरिभाई किंकर ने गांधीजी की प्रेरणा में वर्धा में 'राजस्थान सेवा संघ' की स्थापना की। तदनन्तर 1920 ई. में इसे अजमेर में स्थानान्तरित कर दिया गया। यह कदम राजस्थान के लोगों में जनसाधारण उत्पन्न करने में महत्त्वपूर्ण सिद्ध हुआ। इस संस्था का उद्देश्य जनता की शिकायतों का निवारण, शासकों और जागीरदारों के उचित अधिकारों का समर्थन करना और जागीरदारों व प्रजा के मध्य सौहार्दपूर्ण संबंध स्थापित करना था। इस संस्था के तत्वावधान में बिजौलिया, बेगूं, बूंदी और सिरोही के किसानों की शिकायतों को प्रस्तुत किया गया। इस संस्था द्वारा विभिन्न समयों पर विभिन्न नामों के प्रकाशित 'राजस्थान केसरी, नवीन राजस्थान और 'तरुण राजस्थान' समाचार पत्रों ने भी राजनीतिक जागृति में महत्त्वपूर्ण योगदान दिया। किन्तु 1926—27 ई. में विजयसिंह पथिक और रामनारायण चौधरी के मण्य व्याप्त मतभेदों के चलते 'राजस्थान सेवा संघ' निर्जीव हो गया। तत्पश्चात् जमनालाल बजाज ने इसे पुनर्जीवित किया।

राजपूताना—मध्य भारत सभा — भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस ने विभिन्न कारणों से देशी रियासतों के प्रति अहस्तक्षेप की भांति अपना रखी थी। अतः 1919 ई. में कांग्रेस के दिल्ली अधिवेशसन के समय राजपूताना और मध्य भारत की 'देशी रियासतों' के वृद्ध कर्मठ कार्यकर्त्ताओं ने आपसी विचार—विमर्श के चांदनी चौक में स्थित मारवाड़ी पुस्तकालय में 'राजपूताना—मध्य भारत सभा' नामक एक संस्था स्थापित की और इसका मुख्यालय अजमेर में रखा गया। बजाज के अतिरिक्त सेठ गोविन्ददास (जबलपुर) गणेशशंकर विद्यार्थी (ग्वालियर), चांदकरण शारदा (अजमेर), स्वामी नरसिंह देव (जयपुर), केसरीसिंह बारहठा, अर्जुनलाल सेठी और विजयसिंह पथिक आदि इस सभा के प्रमुख कार्यकर्ता थे। इस सभा का उद्देश्य देशी रियासतों की प्रजा की दुर्दशा की और कांग्रेस का ध्यान आकृष्ट करना, अछूतोद्धार, शासकों व जागीरदारों के अत्याचारों के विरुद्ध आन्दोलनों का आयोजन और संचालन तथा इन आन्दोलनों के लिये प्रवासी राजस्थानियों का सहयोग प्राप्त करना था। देशी रियासतों की प्रज्ञा के कष्टों की ओर कांग्रेस का ध्यान आकृष्ट करने के लिये 1920 ई.में नागपुर में कांग्रेस अधिवेशन के समय इस संस्थान ने भी नागपुर में ही अपना अधिवेशन किया और वहां एक प्रदर्शनी लगाई जिसकें माध्यम से सामन्ती राजतन्त्र की अपव्ययता, जनता के प्रति उदासीनता, दण्ड देने के अमानवीय तरीकों, अन्याय की व्यापकता, कृषकों की गरीबी आदि को कुशलता से दर्शाकर कांग्रेस के सदस्यों को राजस्थान की दयनीय स्थिति से अवगत कराया। बेगार की व्यापकता का प्रदर्शन तो अत्यन्त ह्रदय विदारक था। इसके अतिरिक्त इस प्रदर्शनी में अस्पतालों के अभाव, आवागमन के साधनों की कमी, शिक्षा के प्रति राज्यों की उदासीनता से जनसामान्य को होने वाली कठिनाइयों को भी दर्शाया। यही नहीं विजयसिंह पथिक ने कांग्रेस के नाम एक खुला पत्र लिखकर उसे रियासती प्रजा के कष्टों में सहयोगी बनने का आह्वान किया। किन्तु 1920 ई. के बाद यह संस्था अधिक सक्रिय नहीं रही।

अखिल भारतीय देशी राज्य लोक परिषद् — राजस्थान के विभिन्न रियासतों में स्थापित विभिन्न संगठन किसी न किसी रूप में राजनीतिक चेतना जागृत करने के लिये प्रयत्नशील थे। भारत के अन्य भागों की देशी रियासतों में भी ऐसे ही संगठन सक्रिय थे। इन संगठनों के कार्यकर्ताओं के मध्य आपस में मुलाकात और विचार—विमर्श होता रहता था।किन्तु समान समस्याएँ और हित होते हुये भी रियासती कार्यकर्ताओं का कोई केन्द्रीय संगठन नहीं था। अतः रियासती राज्योंकी जनता को एकसूत्र में बांधने के लिये एक केन्द्रीय संगठन की आवश्यकता अनुभव की गई। इसी समय अखिल भारतीय स्तर पर

राजनीतिक परिस्थितियाँ तेजी से परिवर्तित हो रही थी।देशी राज्यों के शासकों का संगठन **'चेम्बर आर्फ प्रिन्सेज'** ब्रिटिश सरकार पर दबाव डालकर अपने सम्मान, प्रतिष्ठा और अधिकारों के प्रश्न पर विचार करने के लिये 'बटलर समिति' नियुक्त करवाने में सफल रहा था। इस समिति को देशी राज्यों के शासकों के अधिकारों और राज्यों की आर्थिक सुविधाओं के संबंध में रिर्पाट देनी थी। इसी समय ब्रिटिश भारत की संवैधानिक प्रगति के संबंध में रिपोर्ट देने के लिये 'साइमन कमीशन' की नियुक्ति हुई। इन घटनाओं से देशी राज्यों के कार्यकर्ताओं में भी अपने अधिकारों और स्वतन्त्रताएँ प्राप्त करने केलिये अपना भी एक केन्द्रीय संगठन बनाने की भावनाएँ बलवती हुईं।

इस प्रकार का संगठन बनाने का निश्चय 'राजपूताना मध्य भारत सभा' के मार्च, 1920 ई. के अजमेर अधिवेशन में किया गया। तत्पश्चात् दिसम्बर, 1920 ई. के नागपुर सम्मेलन में यह विचार व्यक्त किये गये कि अलग–अलग देशी राज्यों के संगठनों की बात को कांग्रेस कोई महत्व नहीं देती, किन्तु यदि देशी राज्यों का कोई केन्द्रीय संगठन हो तो कांग्रेस को उसकी बात सुननी पड़ेगी। 1920 ई. के पश्चात् राजपूताना मध्य भारत सभा की गतिविधियाँ तो मन्द पड़ गई ,किन्तु देशी राज्यो का केन्द्रीय संगठन बनाने की भावना ठण्डी नहीं पड़ी। 5, मार्च , 1922 ई. में देशी राज्यों के कुछ प्रतिनिधि बम्बई में मिले और देशी राज्यों का एक संगठन बनाने के लिये अगस्त या सितम्बर माह में इन राज्यों के प्रतिनिधियों का एक व्यापक सम्मेलन बुलाने का निश्चय किया। किन्तु आगामी चार वर्षों तक क्षेत्र में कोई प्रगति नहीं हुई। अन्ततः 1926 ई. में देशी राज्यों के प्रतिनिधियों ने एक अस्थाई समिति बनाई जिसने केन्द्रीय संगठन की स्थापना का प्रारूप तैयार किया। तत्पश्चात् अप्रैल, 1927 ई. में देशी राज्योंके प्रतिनिधियों की एक बैठक पूना में हुई जिसमें मई, 1927ई. में अखिल भारतीय देशी राज्य लोक परिषद् का प्रथम अधिवेशन बुलाने का निश्चय किया गया। किन्तु गुजरात में आई भंयकर बाढ़ के कारण इसका प्रथम अधिवेशन 17–18 दिसम्बर को बम्बई में हुआ, जिसमें 70 राज्यों के लगभग 1500 प्रतिनिधियों ने भाग लिया। इस प्रकार 'अखिल भारतीय देशी राज्य लोक परिषद्' की स्थापना हुई जिसका मुख्यालय बम्बई में रखा गया। इस परिषद् का मुख्य उद्देश्य देशी राज्यों के शासकों के तत्वाधान में उत्तरदायी शासन की स्थापना करना था। देशी राज्यों में उत्तरदायी शासन की स्थापना में इस संस्था का उल्लेखनीय योगदान रहा। परिषद् की कार्यसमिति ने 1931 ई. में अनेक महत्वपूर्ण प्रस्ताव पारित किये और देशी राज्यों में जनता के मौलिक अधिकारों को सम्मान देने और स्वतन्त्र न्यायालयों की स्थापना की मांग की। इस परिषद् ने राजाओ के अधिकारों पर विचार करने वाली बटलर समिति के समक्ष भी जनता का पक्ष रखने का प्रयास किया। किन्तु ब्रिटिश सरकार ने इसकी अनुमति नहीं दी। इसी प्रकार जब भारत के संघीय ढाँचे केसंविधान पर विचार के लिये गोलमेज सम्मेलन बुलाया गया तो परिषद् ने रियासती प्रजा के अधिकारों के बारे में एक स्मरण पत्र सम्मेलन में भाग लेने वाले प्रतिनिधियो में वितरित किया।

अखिल भारतीय देशी राज्यों की लोक परिषद् की स्थापना के बाद देशी राज्यों के प्रति अहस्तक्षेप की नीति अपनाने वाली कांग्रेस के दृष्टिकोण में भी परिवर्तन आया। 1928 ई. के कांग्रेस अधिवेशन में एक प्रस्ताव पारित करके भारतीय राज्यों के शासकों से अपने–अपने राज्यों में उत्तरदायी शासन स्थापित करने का अनुरोध किया तथा उत्तरदायी शासन के लिये राज्यों की जनता द्वारा किये जा रहे शान्तिपूर्ण आन्दोलनों के प्रति सहानुभूति प्रकट की गई। यही नहीं कांग्रेस ने अपने संविधान की उस धारा को भी हटा दिया जो देशी राज्यों में हस्तक्षेप के विरूद्ध थी। इस ऐतिहासिक कदम से देशी रियासतों के आन्दोलनों को नया बल मिला। किन्तु कांग्रेस ने इस दिशा में कोई सक्रिय कदम नहीं उठाया।दूसरी ओर देशी रियासतों के शासकों ने अपने यहाँ होने वाले आन्दोलनों को निर्ममतापूर्वक कुचलना शुरू कर दिया।किन्तु कांग्रेस ने प्रतिवर्ष प्रस्ताव पारित करने और औपचारिकता विरोध प्रदर्शन करने के अतिरिक्त कोई सक्रिय योगदान नहीं दिया। यह स्थिति 1935 ई. तक चलती रही। किन्तु 1936 ई. का वर्ष 'दोहरी ऐतिहासिक घटनाओं का वर्ष' था क्योकि एक ओर तो जुलाई, 1936 ई. में कांग्रेस के लखनऊ अधिवेशन के साथ उसकी नीति में परिवर्तन आया। इस अधिवेशन में कांग्रेस ने स्पष्ट किया कि उसकी राय में रियासती प्रजाजनों को भी शेष भारत में समान आत्मनिर्णय का अधिकार होना चाहिए। साथ ही कांग्रेस ने भारत के प्रत्येक भाग में होने वाले राजनीतिक और संवैधानिक आन्दोलन का समर्थन करने की बात दोहराई। दूसरी ओर जुलाई, 1936 ई. में कांग्रेस अध्यक्ष पट्टाभि सीतारामैया की अध्यक्षता में अ.भा.दे.रा.लो.प. का अधिवेशन कराँची में हुआ जिसमें देशी राजाओं के संरक्षण में उत्तरदायी शासन की स्थापना का प्रस्ताव पारित हुआ। इसी के साथ देशी राज्यों में उत्तरदायी शासन की स्थापना में कांग्रेस का समर्थन प्राप्त करने के प्रयत्नों में ओर तीव्रता आयी। अन्ततः कांग्रेस ने देशी राज्यों के सहयोग के बिना देशी राज्यों के आन्दलनो की सफलता को संदिग्ध जानकर अपने 1938 ई के हरिपुरा अधिवेशन में एक प्रस्ताव पारित किया जिसमें कहा गया था कि – ''कांग्रेस शेष भारत की भाँति देशी रियासतों मे भी राजनीतिक, आर्थिक और सामाजिक स्वतन्त्रताओं का समर्थन करती है।। वह रियासतों को भारत का अभिन्न अंग मानती है जिन्हें अलग नहीं किया जा सकता पूर्ण स्वराज्य का कांग्रेस का लक्ष्य

देशी रियासतों सहित समस्त भारत के लिये है।'' कांग्रेस की इस नवीन नीति ने रियासतों और ब्रिटिश प्रान्तों के स्वतन्त्रता आन्दोलनों में संयोजन उत्पन्न कर दिया। साथ ही कांग्रेस की इस नवीन नीति से रियासतों में होने वाले आन्दोलनों को एक नया जोश, तेजस्विता और तीव्रता प्रदान की। वस्तुतः कांग्रेस के हरिपुरा प्रस्ताव ने रियासती प्रजा के संघर्ष को नया मोड़ दे दिया जिसकी परिणिति स्वतन्त्रता प्राप्ति के रूप में हुई।

राजस्थान में देशी राज्य लोक परिषद् – अखिल भारतीय देशी राज्य लोक परिषद् के प्रथम अधिवेशन में राजस्थान की अनेक रियासतों के कार्यकर्ताओं ने सक्रिय रूप से भाग लिया और विजयसिंह पथिक को इस संस्था का उपाध्यक्ष और रामनारायण चौधरी को राजपूताना और मध्य भारत का प्रान्तीय सचिव बनाया गया तथा कन्हैयालाल कलन्त्री (जोधपुर), रामदेव पोद्दार और बालकिशन पोद्दार (बीकानेर) इसकी कार्यकारिणी के सदस्य बनाये गये। बम्बई अधिवेशन से वापस लौटकर राजस्थान के विभिन्न राज्यों में होने वाले जन आन्दोलनों में समन्वय करने के लिये रामनारायण चौधरी, जयनारायण व्यास आदि नेताओं ने अपने–अपने स्तर पर इस संस्था की क्षेत्रीय परिषद् गठित करने के प्रयास किये। किन्तु इन नेताओं में मतैक्य के अभाव में यह प्रयास विफल रहे। अतः राजस्थान के विभिन्न नेताओं ने अपने–अपने राज्यों में अपने ही साधनों से आन्दोलन चलाने का निश्चय किया। किन्तु प्रारम्भ में तो रियासती सरकारों की दमन नीति, कांग्रेस की उदासीनता तथा निश्चित लक्ष्यों, साधनों और विचारों के अभाव में इन रियासती आन्दोलनों को आंशिक सफलता ही मिली। किन्तु 1938 ई. के हरिपुरा अधिवेशन में कांग्रेस द्वारा देशी रियासतों के संबंध में पारित प्रस्ताव ने रियासती प्रजा के संघर्ष को नया मोड़ दे दिया। कांग्रेस द्वारा मिले खुले समर्थन के बाद उत्तरदायी शासन की स्थापना के लिये आन्दोलन करने हेतु विभिन्न राज्यों में **अ.भा.दे.रा.लो.प** की स्थानीय संवर्गयाँ– **प्रजामण्डल, प्रजा परिषद्** या **लोक परिषद्** गठित की गई तथा कुछ राज्यों में पहले से स्थापित इन संवर्गयों को सक्रिय किया गया।

23.17. बोध प्रश्न :

प्रश्न 1 आर्य समाज की स्थापना किसने की?

अ. दयानन्द सरस्वती   ब. राजाराम मोहनराय

स. ईश्वरचन्द्र विद्यासागर   द. विवेकानन्द

उत्तर – ....

प्रश्न 2 राजस्थान में राजनैतिक जनजागरण में मध्यम वर्ग की भूमिका बताइये।

उत्तर – ....

प्रश्न 3 राजस्थान में राजनैतिक जनजागरण के कारणों का विवेचन कीजिए।

उत्तर – ....

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

संवर्ग – 5

इकाई – 24

राजस्थान बिजोलिया किसान आन्दोलन एवं जनजातीय आन्दोलन

संरचना

24.0 उद्देश्य
24.1 प्रस्तावना
24.2 बिजोलिया किसान आन्दोलन
24.3 विजय सिंह पथिक तथा बिजोलिया आन्दोलन
24.4 1922 ई. के समझौते का क्रियान्वित न होना
24.5 समीक्षा
24.6 गोविन्द गिरि का नेतृत्व
24.7 मोतीलाल तेजावत का नेतृत्व
24.8 सिरोही हत्याकाण्ड
24.9 सारांश
24.10 बोध प्रश्न

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

24.0 उद्देश्य :

इस इकाई में राजपूताने में हुये विभिन्न किसान आन्दोलन की भूमिका बताते हुये बिजोलिया किसान आन्दोलन तथा जनजातीय आन्दोलन को विवेचित किया गया है। इन आन्दोलनों का सूत्रपात करने वाले गोविन्द गिरि तथा मोतीलाल तेजावत ने किस प्रकार इन आन्दोलनों को अपना योगदान प्रदान किया इससे पाठकों को अवगत कराना का उद्देश्य है।

24.1 प्रस्तावना :

सामन्ती व्यवस्था के अन्तर्गत सामन्त को अपनी जागीर को क्षेत्र की प्रजा पर असीमित अधिकार प्राप्त थे। किन्तु 18वीं शताब्दी तक कृषि भूमि का प्रचुरता थी। अतः सामन्त इस भय से कृषकों के साथ उदार व्यवहार करते थे कि कहीं उनकी कठोरता से तंग आकर किसान अन्यत्र चले गये अथवा कृषि के अलावा अन्य कोई व्यवसाय करने लगे तो उन्हें भारी आर्थिक के साथ सैनिक हानि भी हो सकती है क्योंकि कृषक ही आवश्यकता पड़ने पर सामन्तों के सैनिक का कार्य भी करते थे। किन्तु 19वीं शताब्दी में यह स्थिति नहीं रही। 1818 ई. में ब्रिटिश संरक्षण स्वीकार करने के बाद यहां अराजकता के स्थान पर जो व्यवस्था स्थापित हुई वह यथार्थ व्यवस्था नहीं थी। वस्तुतः इस व्यवस्था में राजस्थान के शासकों को जहां बाह्य और पारस्परिक युद्धों में मुक्ति मिली और उनके राज्य सुरक्षित हुये, वहीं इस व्यवस्था की ओट में शासकीय और सामन्तीय शोषण और अन्याय की ऐसी कराल रात्रि का भी अवनतरण हुआ जिसमें सामान्य प्रजा का जीवन अभावो, दुःखों,, निराशाओं और निर्धनता का मरूस्थल बन गया। ब्रिटिश संरक्षण काल में सामन्तों की अपनी प्रजा पर निर्भरता कम हो गयी। साथ ही ब्रिटिश सम्पर्क के परिणामस्वरूप शासकों और उनका अनुकरण करते हुये सामन्तों की जीवन शैली पर पश्चिमी प्रभाव बढ़ने लगा। वस्तुतः ब्रिटिश संरक्षण द्वारा प्रदत्त शान्ति ने शासकों और सामन्तों दोनों को विलासी बना दिया। किन्तु विलासिता के लिये नकद मुद्रा की आवश्यकता थी। चूंकि राजस्थान में शासकों और सामन्तों की आय या धन उपार्जन का साधन कृषि थी। अतः शासकों और सामन्तों ने अपनी–अपनी विलासिता हेतु धन की आवश्यकता की पूर्ति का भार मनमाने करों और लागों के रूप में कृषकों पर डाल दिया। ज्यों–ज्यों विलासिता बढ़ती गई, ये 'कर', 'लागे' और बेकार भी सुरसा के मुंह भांति बढ़ती गई। दूसरी ओर जनसंख्या वृद्धि से कृषि श्रमिकों की संख्या में वृद्धि हुई। फलतः कृषि भूमि की मांग बढ़ी और अब नये लोग कम मजदूरी पर श्रम करने और अधिक लगान पर भी भूमि समाप्त हो गया और उनकी मांगों में वृद्धि होने लगी। साथ ही इस दशा में पुराने किसान की भूमि छोड़कर अन्यत्र नहीं जा सकते थे क्योंकि नये श्रमिक कम मूल्य पर श्रम और अधिक लगान पर कृषि करने को तैयार थे। इस स्थित का लाभ उठाकर सामन्त करो की दरों और लागों और बेगारो की संख्या मे इच्छानुसार वृद्धि करने

लगे। समय के साथ–साथ इनमें वृद्धि होती गई। राजस्थान की विभिन्न रियासतों की भिन्न–भिन्न जागीरों में इन लागों की संख्या भिन्न–भिन्न थी। मेवाड़ के बिजौलिया और बेंगू क्षेत्र के किसानों को भूमिकर के अलावा 72 और 54 प्रकार की लागें देनी पड़ती थी जिनमें से अनेक तो अत्यंत हास्यापद थी। 19वीं शताब्दी के अन्त तक, कृषकों का शोषण इस स्थिति में पहुंच गया कि मरूभूमि की अर्थव्यवस्था की रीढ़ मेहनतकश किसान विपन्नता के कगार पर पहुंच गये थे। वर्ष भर मेहनत करने पर भी, विभिन्न कर और लागें चुकाने के बाद किसान के पास इतना अनाज भी शेष नही रहता था कि वह अपने परिवार का पेट पाल सके। उस पर 'बेगार' का बोझ 'कोढ़ में खाज' का कार्य करता था। किसानों को अपना काम छोड़कर 'बेगार' के रूप में सामन्त के अनेक कार्य करने पड़ते थे। बेगार के लिये मना करने वाले किसान की तो शामत आ जाती थी। उनकी निर्ममता से पिटाई की जाती थी तथा अन्य प्रकार के शारीरिक दण्ड दिये जाते थे। इसके अतिरिक्त की जागीरदार किसानों पर अमानवीय अत्याचार करते थे। किसानों को झूंठे मामलों नें फंसाकर उनसे मनमाना जुर्माना वसूल करना तो आम बात थी। यहां तक की सत्ताधारी लोग किसानों की बहू–बेटियों की इज्जत से भी निःसंकोच खिलवाड़ करते थे। एक रूप में जीवन और मृत्यु को छोड़कर जागीरदार लोग अपनी प्रजा के वास्तविक रूप में स्वामी और शासक थे। किन्तु करों, लागों और अत्याचारों के त्रस्त इन किसानों की कष्टों का निराकरण करने वाला तो दूर उनकी व्यथा सुनने वाला भी कोई नहीं था। किन्तु जैसीकि परम्परा है कि अत्यधिक शोषण और अत्याचार आन्दोलन, विद्रोह और क्रांति का जनक होता है, वहीं किसानों में हुआ। अन्ततः शोषण और अन्याय से त्रस्त किसान एक जनशक्ति के रूप में प्रतिकार के लिये उठ खड़े हुये। फलतः अनेक स्थानों पर किसान आन्दोलन हुये जिनमें मेवाड़ के बिजौलिया के किसानों का वीरतापूर्ण संघर्ष परवर्तीकाल में हुये चम्पारण, खेड़ा और बारदोली किसान आन्दोलन का अग्रगामी ही नहीं वरन् उनका प्रेरणा स्रोत भी था। कुछ अर्थो में जो ऐसा प्रतीत होता है कि कालान्तर में राष्ट्रीय आन्दोलन के दौरान महात्मा गांधी ने अपने विभिन्न अहिंसक आन्दोलनों की, प्रेरणा बिजौलिया के किसान आन्दोलन से ही प्राप्त की थी।

24.2. बिजौलिया किसान आन्दोलन :

भारत में एक संगठित किसान आंदोलन की शुरूआत का श्रेय मेवाड़ के बिजौलिया क्षेत्र को ही जाता है। बिजौलिया मेवाड़ राज्य के अन्तर्गत प्रथम श्रेणी का ठिकाना था। इस ठिकाने का संस्थापक राव अशोक परमार था। वह जगनेर (भरतपुर) से राणा सांगा की सेवा में चित्तौड़ आ गया था और सांगा की ओर से खानवा के युद्ध (1527 ई.) में लड़ा था। इस युद्ध में उसकी वीरता से प्रसन्न होकर सांगा ने उसे 'ऊपरमाल' की जागीर प्रदान कर दी थी। ऊपरमाल की पठारी भूमि भीलवाड़ा जिले में थी। बिजौलिया इस जागीर का सदर मुकाम था। यहां के अधिकांश किसान धाकड़ जाति के जाट थे तथा वे बहुत परिश्रमी थे। इस जागीर की भौगोलिक स्थिति यहां के कृषक आन्दोलन की सफलता के लिए काफी हद तक उत्तरदायी थी क्योंकि यहा ये किसान आवश्यकता पड़ने पर बड़ी सरलता के लिए काफी हद तक उत्तरदायी थी क्योंकि यहा के किसान आवश्यकता पड़ने पर बड़ी सरलता से पास के राज्यों में जा सकते थे। 1894 ई. तक यहां के कृषकों को जागीरदारों के विरूद्ध कोई शिकायत नहीं थी। 1894 ई. में राव गोविन्ददास की मृत्यु के बाद राव किशनसिंह (कृष्णसिंह) नया जागीरदार बना। उसके समय से जागीर के प्रबन्ध तथा किसानों के प्रति नीति में परिवर्तन आना प्रारम्भ हुआ। उसने पुराने कामदारों को हटाकर नये व्यक्ति नियुक्त कर लिए तथा उन्हें किसानों से अधिक लगान वसूल करने के आदेश दिये गये। राव किशनसिंह के समय में किसानों से 84 लागतें ली जाती थी तथा अपनी उपज का आधा भाग किसानों को लगान के रूप में ठिकानों को देना पड़ता था। इसके अतिरिक्त बिजौलिया की जनता से बैठ बेगार भी ली जाती थी। अतः सन् 1895 के बाद किसानों ने जागीरदार द्वारा लगाई गई अतिरिक्त लागों का विरोध करने का निश्चय किया।

सन् 1897 ई. में ऊपरमाल के किसान एक मृत्यु भोज के अवसर पर गिरधारीपुरा नामक गांव में एकत्रित हुए। यहां उन्होंने महाराणा से शिकायत कर इन लागतों को काम करवाने का निश्चय किया। अपनी दयनीय स्थिति का वर्णन करने के लिये दो गांवों के पटले नानाजी और ठाकरी पटेल को उदयपुर भेजे जाने का निर्णय लिया गया। महाराजा ने उनकी सुनवाई कर जांच के लिए एक अधिकारी बिजौलिया भेजा। जांच अधिकारी द्वारा किसानों की शिकायतें सही बताने पर भी राज्य सरकार द्वारा उन पर विशेष कार्यवाही नहीं की गई। क्योंकि महाराणा अंग्रेजों से सन्धि करके अब अपने को सुरक्षित समझते थे। इसी कारण वे अधिक स्वेच्छाचारी भी हो गये थे। महाराणा का बिजौलिया के किसानों के प्रति उपेक्षा का व्यवहार देख कर जागीरदार राव किशनसिंह के हौसले और बढ़ गये। उसने उदयपुर जाने वाले दोनों पटेलों को दण्डित किया। इस प्रकार किसानों का यह प्रथम प्रयास असफल रहा। इसके साथ ही उन्हें स्पष्ट हो गया कि महाराणा के सम्मुख अपनी शिकायतें रखना निरर्थक था।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

सन् 1903 में राव किशनसिंह ने ऊपरमाल की जनता पर 'चंवरी' की लागत लगाई जिसके अनुसार प्रत्येक व्यक्ति को अपनी लड़की की शादी के अवसर पर 5रू. चंवरी कर के रूप में ठिकाने को देने को बाध्य किया गया। किसानों ने इसका विरोध किया व सीधे जागीरदार के समक्ष अपनी शिकायतें प्रस्तुत की। उन्होंने चेतावनी दी कि यदि चंवरी की लागत नहीं हटाई गई और लगान में कमी नहीं की गई तो वे ठिकाने की भूमि पर खेती नहीं करेंगे तथा कोई लाग–बाग अथवा लगान नहीं देंगे। अन्ततः जागीरदार को चंवरी की लागत माफ करनी पड़ी एवं लगान भी उसने उपज के आधे की बजाय 2/5 भाग लेने की घोषणा की। यह सफलता किसानों के भावी सहयोग व अहिंसात्मक आन्दोलन की आधारशिला बनी।

1906 ई. में राव किशनसिंह की मृत्यु हो गई तथा बिजौलिया का नया जागीरदार पृथ्वीसिंह बना। किशनसिंह के निःसन्तान मरने के कारण मेवाड़ के महाराणा ने उसी के वंशज पृथ्वीसिंह को ठिकाने का जागीरदार बनाया। पृथ्वीसिंह को कामां से लाया गया था। उसने अपने पिता द्वारा किसानों को दी गई तमाम रियासतें रद्द कर दी। यही नहीं उसने 'तलवार बन्दी' नामक एक नई लागत और लगा दी। ताकि अपनी गद्दी–नशीनी के बदले तलवार बंधाई के रूप में राणा को दी जाने वाली राशि को वह किसानों से वसूल कर सके। कृषकों ने सीतारामदास, फतहकरण चारण और ब्रह्मदेव के नेतृत्व में राव की इस अन्यायपूर्ण नीति का विरोध किया। उन्होंने 1913 ई. में ऊपरमाल के क्षेत्र को पड़त रखा तथा कोई लगान नहीं दिया। राव ने भी दमनात्मक नीति अपनाई, किसानों के अनेक कार्यकर्ता जेलों के ठूंस दिये गये। फतहकरण और ब्रह्मदेव को बिजौलिया से निष्कासित कर दिया गया। साधु सीताराम को पुस्तकालय की नौकरी से अलग कर दिया। सीताराम ने अपने सहयोगियों के साथ 'मित्र मण्डल' की स्थापना की और किसानों में जागृति उत्पन्न की। इन कार्यवाहियों से आन्दोलन कुछ समय के लिए दब गया। इसी बीच 1914 ई. में पृथ्वीसिंह की मृत्यु हो गई और उसका अल्पवयस्क पुत्र केशरीसिंह जागीरदार बना।

केशरी सिंह के नाबालिग होने के कारण सरकार ने ठिकाने पर मुंसरमात (कोर्ट ऑफ वार्डस) बैठा दी। अमरसिंह राणावत को मुसरिम तथ डूंगरसिंह भाटी को नायब मुसरिम बना दिया गया। हालांकि मेवाड़ सरकार द्वारा किसानों की मांगे स्वीकार कर ली गई परन्तु विभिन्न लागतें तथा बेगार किसानों से पूर्ववत् ली जाती रही। इसका कारण यह था कि ठिकाने के कर्मचारियों ने इन सुविधाओं को किसानों तक नहीं पहुंचने दिया। इसी बीच प्रथम विश्व युद्ध आरम्भ हो गया। युद्धकोष में धन जमा कराना प्रत्येक जागीरदार के लिए आवश्यक था। जागीरदारों ने यह आर्थिक बोझ किसानों पर लाद दिया। बिजौलिया में भी ऐसा ही किया गया। वहां के किसानों की आर्थिक स्थिति पहले ही शोचनीय थी। युद्ध कोष के लिए धन वसूल किये जाने के कारण उनकी आर्थिक अवस्था और भी दयनीय हो गई। इस आर्थिक विपन्नता के कारण किसान व्यापक आन्दोलन के लिए तैयार हो गये। सौभाग्यवश 1916 ई. में विजय सिंह पथिक के रूप में उन्हें एक योग्य नेता भी मिल गया।

24.3. विजयसिंह पथिक तथा बिजौलिया आन्दोलन–

बिजोलिया आन्दोलन को प्रारम्भिक सफलता दिलवाने का श्रेय विजयसिंह पथिक को प्राप्त है पथिक का पूर्व नाम भूपसिंह था। इनका जन्म बुलन्दशहर जिले के गुठावल गांव में हुआ था। 1907 ई. में भूपसिंह प्रसिद्ध क्रांतिकारी रास बिहारी बोस तथा शचीन्द्र–सन्यास के सम्पर्क में आया तथा तभी से उसने क्रान्तिकारी गतिविधियों में भाग लेना आरम्भ कर दिया। बोस ने उन्हें राजस्थान में क्रांति का आयोजन करने के लिये खरवा के ठाकुर गोपालसिंह के पास भेजा। परन्तु देश में क्रांति की योजना असफल हो जाने पर सर्वत्र क्रांतिकारी पकड़े जाने लगे थे। भूपसिंह को भी पकड़ कर टाटगढ़ के किले में बन्द कर दिया गया। परन्तु वे चुपचाप वहां से निकल भागे। उन्होंने अपनी दाढ़ी बढ़ा ली तथा अपना नाम भूपसिंह की जगह विजयसिंह पथिक रख लिया। तभी से वे जीवन भर इसी नाम से जाने जाते रहे।

पथिक जी ने कांकरोली के निकट एक पाठशाला स्थापित की और यहीं उनका परिचय ठाकुर डूंगरसिंह भाटी तथा केसरीसिंह बारहठ के दामाद ईश्वरदान आंसिया से हुआ। वहां से वे चित्तौड़ आ गये तथा वहां 'विद्या प्रचारिणी सभा' से अपने को सम्बद्ध कर लिया। इस संस्था के माध्यम से वे बिजौलिया के किसानों के दुःख निवारण के प्रयास करने लगे। उन्होंने स्थानीय नेताओं के माध्यम से किसानों के दुःख निवारण के प्रयास करने लगे। उन्होंने स्थानीय नेताओं के माध्यम से किसानों से सम्पर्क स्थापित किया इस कार्य में उन्हें माणिक्यलाल वर्मा, साधू सीताराम दास, प्रेमचन्द भील तथा भंवरलाल सुनार का महत्वपूर्ण सहयोग प्राप्त हुआ। उन्होंने कृषकों को पंचायतों के माध्यम से संगठित किया तथा युद्ध कोष में धन देने से उन्हें मना किया। इस पर महाराणा ने किसानों के नेताओं को गिरफ्तार करने के आदेश दे दिये। पथिक जी भूमिगत होकर इस आन्दोलन का नेतृत्व करते रहे। वे ऊमाजी के खेड़े का यह वीरान मकान बिजौलिया–किसान आन्दोलन का क्रान्तिकारी केन्द्र

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

बन गया। पथिक जी ने 1917 में हरियाली अमावस्या के दिन बैरीसाल के बास गांव में किसानों को एकत्रित किया और "ऊपरमाल–पंच बोर्ड" के नाम से एक जबरदस्त संगठन स्थापित कर क्रांति का बिगुल बजाया। श्री मनना पटेल इस पंचायत का सरपंच बना। पथिक जी ने पंचायत की स्थापना के अवसर पर अपने भूमिगत "कार्यालय" से निम्नलिखित पंक्तियों में किसानों का आह्वान किया–

हरियाली अमावस सुखद, शुभ मुहूर्त को जान लो!
स्वतंत्रता के हित, अब धर्म–युद्ध की ठान लो।।

प्रथम विश्व–युद्ध चल रहा था और बिजौलिया के किसानों को अब भी युद्ध के लिए चन्दा देने को विवश किया जा रहा था। तलवार बन्दी और लाटा कूंता लाग से किसान पहले ही परेशान थे। इसी असन्तोष के वातावरण में ठिकाने के कामदार ने नारायण पटेल को बेगार देने को विवश किया। बेगार न देने पर उसे बन्दी बना लिया गया। पटेल को बन्दी बनाने का समाचार ज्यों ही गांव में फैला कि दो हजार किसान सत्याग्रह के लिए बिजौलिया में एकत्रित हो गये। उन्होंने जेल भरने की धमकी देते हुए नारायण पटेल की रिहायी चाही। ठिकाने के कर्मचारी घबरा गये और उन्होंने पटेल को मुक्त कर दिया। पटेल की इस रिहाई ने बिजौलिया के किसानों में अपूर्व उत्साह उत्पन्न कर दिया और वे पथिक जी के प्रति अधिक निष्ठावान हो गये।

ठिकाने ने नारायण पटेल को तो रिहा कर दिया पर युद्ध का चन्दा देने का अब भी ठिकानेदार किसानों को विवश कर रहे थे। इसी सन्दर्भ में किसानों के प्रमुख कार्यकर्त्ता साधु सीताराम दास और प्रेमचन्द भील पकड़ लिए गये और उन पर राजद्रोह का अभियोग चलाया गया। इस सन्दर्भ में 1,300 व्यक्तियों के बयान लिये गये। उन सबने यही कहा कि हम किसी के बहकावे में आकर युद्ध के चन्दे का विरोध नहीं कर रहे है। यह विरोध तो हम स्वतः कर रहे है क्योंकि ठिकाने ने पहले ही हम पर इतनी लागें लगा रखी है कि वे उनके भुगतान से अर्द्ध–नग्न तथा अर्द्ध–भूखे रहने को विवश है। इधर किसान जब जागीरदार के आदमियों से सताये जा रहे थे, उधर पथिक जी ने पत्र के माध्यम से लोकमान्य तिलक को इससे अवगत कर दिया। तिलक ने शीघ्र की महाराणा फतेह सिंह को एक पत्र लिखा और मेवाड़ के पूर्व महाराणाओं के त्याग व बलिदान का स्मरण कराया कि मेवाड़ राजवंश ने स्वतंत्रता के लिए बहुत बलिदान किये है। आप स्वयं स्वतंत्रता के पुजारी है, अतएव आपके राज्य में स्वतंत्रता के उपासकों को जेल में डालना कलंक की बात है। लोकमान्य तिलक के इस पत्र से प्रभावित राणा जी ने दोनों कार्यकर्त्ताओं को रिहा कर दिया।

उन दोनों कार्यकर्त्ताओं की रिहाई पर भी पथिक जी विश्राम से नहीं बैठे। किसानों के संगठन को और सुदृढ़ बनाने को वे और सक्रिय हो गये। उन्होंने पुरूष, स्त्री व बच्चों सबको आजादी का दीवाना बना दिया। सारा ऊपरमाल सत्याग्रह व क्रांति के गीतों से गूंजने लगा। कहीं माणिक्यलाल वर्मा द्वारा रचित "पंछिड़ा" गाया जाता तो कहीं प्रज्ञाचक्षु श्री भंवरलाल स्वर्णकार द्वारा रचित निम्न पंक्तियां गाई जाती–

मान–मान मेवाड़ राणा, प्रजा पुकारे रे।
रूस–जार को पतो न लाग्यो, सुण राणा फतमाल रे।

इसके उपरान्त पथिक जी ने इस आन्दोलन को और उग्र तथा राष्ट्र–व्यापी बनाने की दृष्टि से समाचार–पत्रों का सहारा लिया। 'प्रताप समाचार–पत्र' के माध्यम से पथिक जी ने इस आन्दोलन के समाचार भारत में प्रेषित करना आरम्भ किया और इसके लिए उन्होंने प्रताप के सम्पादक श्री गणेश शंकर विद्यार्थी को राखी भेजकर घनिष्ठता बढ़ाई। महात्मा गांधी को भी बिजौलिया किसान आन्दोलन को जानकारी हो गई और उन्होंने इस सन्दर्भ में पथिक जी को बम्बई आमन्त्रित किया। उधर मेवाड़ के कारकूनों को यह सन्देह हो गया कि बिजौलिया का नायब मुसरिम डूंगरसिंह भाटी पथिक से मिला हुआ है। अतः उसके स्थान पर माधोसिंह कोठरी को मुसरिम बना दिया गया। उसने पद संभालते ही किसानों को बन्दी बना लिया। इस अन्तराल में पथिक जी गणेशशंकर विद्यार्थी से कानपुर में मिलते हुए 1918 में कांग्रेस अधिवेशन में सम्मिलित होने बम्बई चले गये। उनकी अनुपस्थिति में वर्मा जी व साधु जी आन्दोलन का संचालन करते रहे। इसी अन्तराल में वर्माजी 'किसान पंचायत' के तीन सदस्यों को लेकर दिल्ली पहुंचे। वहां से लौटते ही उनको बन्दी बना लिया गया। उनके अलावा और भी किसान बन्दी बनाये गये। इस प्रकार बिजौलिया में पुनः दमन–चक्र आरम्भ हो गया। इस बार किसानों की यह भी मांग थी कि हम जोती जमीन का ही लगान देंगे, पड़त जमीन का नही देंगे। उन्होंने सिंचित भूमि पर कृषि न कर असिंचित भूमि पर कृषि की। पर जागीरदार के कर्मचारी उनसे पूर्ववत् ही लगान वसूल करने का प्रयास करने लगे। किसानों ने इस दमन–चक्र

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

की शिकायत प्रथम अपने जागीरदार से की और उसके द्वारा ध्यान न दिए जाने पर उन्होंने महाराणा के पास पत्र भेजना आरम्भ किया। समाचार–पत्रों के माध्यम से यह किसान आन्दोलन समस्त भारतवासियों की जानकारी में आ गया। अन्ततः राणा जी ने ठिकाने के प्रशासन को आदेश दिया कि किसान ने जिस भूमि को जोता है उसी भूमि का कर लिया जावे। इस प्रकार यह किसानों की दूसरी विजय थी।

1919 ई. में पथिक जी ने 'राजस्थान सेवा–संघ' की स्थापना की। इसका कार्यालय अजमेर में रखा गया। पथिक जी ने अब यहां से बिजौलिया किसान आन्दोलन का संचालन आरम्भ किया। दिसम्बर, 1919 में से अमृतसर कांग्रेस अधिवेशन में भाग लेने गये और वहां बिजौलिया का मामला उठाना चाहा। लोकमान्य तिलक ने इसके प्रस्ताव को प्रस्तुत किया और केलकर ने इसका समर्थन किया। परन्तु महात्मा गांधी पं. मदनमोहन मालवीय के विरोध के कारण कांग्रेस में इस प्रस्ताव पर विचार नहीं हो सका; क्योंकि वे देशी राज्यों के मामलों में हस्तक्षेप नहीं करना चाहते थे। लेकिन मालवीय जी ने व्यक्तिगत रूप से पथिक जी को आश्वासन दिया कि वे स्वयं महाराणा से मिलकर इसे तय कराने का प्रयास करेंगे। इस प्रकार बिजौलिया किसान आन्दोलन अब राष्ट्रीय नेताओं की निगाह में आ गया।

पथिक जी इस आन्दोलन को राष्ट्रीय महत्व का आन्दोलन बनाना चाहते थे। अतः उन्होंने इस मामले को "राजपूताना मध्य भारत सभा" के माध्यम से उठाना चाहा। भवानीदयाल की अध्यक्षता में एक आयोग गठित किया गया। इसकी सूचना महाराणा को भी दे दी गई। महाराणा नहीं चाहते थे कि कोई बाहरी एजेन्सी बिजौलिया के मामले में हस्तक्षेप करे। अतः इसके प्रत्युत्तर में महाराणा ने सूचित किया कि इस सन्दर्भ में वे स्वयं एक कमीशन नियुक्त करने जा रहे है। महाराणा ने तुरन्त ठाकुर राजसिंह की अध्यक्षता में एक कमीशन गठित कर दिया। रामाकान्त मालवीय और तख्तसिंह को इस आयोग का सदस्य बना गया।

महाराणा का आयोग बिजौलिया नहीं गया। उसने किसान पंचायत को कहला दिया कि वह अपना प्रतिनिधि–मण्डल उदयपुर भेज दे। माणिक्यलाल वर्मा की अध्यक्षता में 15 सदस्यों का एक प्रतिनिधि–मण्डल उदयपुर गया। माणिक्यलाल ने विशद रूप से किसानों की कठिनाइयों को अयोग के समक्ष प्रस्तुत किया। आयोग के सदस्य प्रतिनिधि–मण्डल की बातों से सहमत थे। आयोग ने राज्य सरकार से अनुरोध किया कि किसानों से अवैधानिक रूप से ली जा रही लागें व बेगार समाप्त कर दी जावें। इसी अन्तराल में पं. तो आयोग की सिफारिशों को स्वीकार किया और न मालवीय जी की मन्त्रणा को। उधर ब्रिटिश सरकार ने बिजौलिया किसान आन्दोलन को रूस की क्रान्ति की समता देते हुए महाराणा को आदेश दिया कि इस आन्दोलन को सख्ती से दबा दिया जावे। रेजीडेन्ट की भी मान्यता थी। 1920 ई. में बिजौलिया के किसान नागपुर के कांग्रेस अधिवेशन में गये। वहां उनको महात्मा गांधी का ध्यान उन पर हो रहे अत्याचारों की ओर आकर्षित किया और उनका आशीर्वाद प्राप्त किया।

यह वह समय था जबकि असहयोग आन्दोलन समस्त भारत में फैल चुका था। ब्रिटिश सरकार को इससे निपटने के लिए काफी कठिनाई का सामना करना पड़ रहा था। इधर किसान आन्दोलन बेगूं, पारसौली तथा दक्षिण पश्चिम के पहाड़ी क्षेत्रों में फैल चुका था। 1921 ई. में बेगूं, पारसौली आदि कुछ ठिकानों के प्रतिनिधि महाराणा से मिले लेकिन कोई परिणाम नहीं निकला। महाराणा ने किसानों की सहायता करने के बजाय उनका दमन करने के लिये ए. जी. जी. से मेवाड़ में भील कोर भेजने की प्रार्थना की। यदि महाराणा चाहता तो वह किसानो पर लगी अन्यायपूर्ण लागतों को समाप्त कर इस आन्दोलन को समाप्त कर सकता था। परन्तु महाराणा ऐसा नहीं करना चाहता था। दिन–प्रतिदिन बिजौलिया में मेवाड़ सरकार का दमन–चक्र तेज होता गया। उधर किसानों ने भी समर्पण करने से इन्कार कर दिया।

1921–22 में ए. जी. जी. ने मेवाड़ के ठिकानों का दौरा किया। वह बेगूं भी गया तथा 4 फरवरी, 1922 में बिजौलिया पहुंचा। उसने स्वयं हस्तक्षेप कर उस समस्या का हल करना चाहा। 1921 के उत्तरार्द्ध में असहयोग आन्दोलन पूरे जोरों पर था। ब्रिटिश सरकार को यह डर था कि मेवाड़ का किसान–आन्दोलन कहीं भारत में चल रहे इस असहयोग आन्दोलन से न जुड़ जाये। अतः ए. जी. जी. हालैण्ड के प्रयत्नों से किसानो तथा जागीरदारों के बीच समझौता हो गया। इस समझौते के अनुसार किसानों पर लगी 35 लागते समाप्त कर दी गई तथा लगान भी कम कर दिया गया। ठिकाने के जुल्मी कामदार हीरालाल व फौजदार तेज सिंह हटा दिए गये। किसानों पर लगाये गये अभियोग वापिस ले लिए गये। जिन किसानों की भूमि पर दूसरों ने अधिकार कर लिया था, वह जमीन किसानों को वापिस दिला दी गई। तीन साल के भीतर बिजौलिया ठिकाने में जमीन का बन्दोबस्त कर–लगान जिन्स की बजाय नकद में लेना आरम्भ कर दिया जावेगा। किसानों को पहले फसल पकने के एक मास पूर्व ही लगान देना पड़ता था; परन्तु उन्हें अब फसल पक जाने के एक महीने बाद लगान देने की छूट दे दी गई। चित्तौड़ी मुद्रा

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

को अंग्रेजी सिक्कों में बदलने के लिए जो बट्टा लिया जाता था, वह भी बन्द कर दिया गया। इस प्रकार बिजौलिया के किसानों की मुख्य मांगों को इस समझौते के द्वारा मान लिया गया तथा उनकी पंचायतों को मान्यता मिल गई। यह बिजौलिया के किसानों की तीसरी जीत थी।

24.4 1922 ई. के समझौते का क्रियान्वित न होना :

ब्रिटिश सरकार को इस समझौते के प्रति कोई रूचि नहीं थी। वह तो केवल किसानों को भारत में चल रहे असहयोग आन्दोलन से दूर रखना चाहती थी। असहयोग आन्दोलन की समाप्ति के बाद ए. जी. जी. ने बिजौलिया समझौते की गति का पता नहीं लगाया। बिजौलिया के जागीरदार प्रारम्भ से ही इसे लागू नहीं करना चाहते थे। कृषकों के अतिरिक्त किसी ने इस समझौते में रूचि नहीं ली। फलतः इस समझौते का उल्लघंन करते हुए ठिकाने की तरफ से किसानों पर फिर नयी लागतें लगा दी गई। किसान आन्दोलन के सिलसिले में पथिक जी को सवा तीन वर्ष के कारावास की सजा दी गई। पथिक जी के जेल जाते ही मेवाड़ के किसान नेतृत्वहीन हो गये। 1923 में बिजौलिया के राव विवाहित हुए। अतः राव ने किसानों से बेगार लेनी चाही। किसानों ने बेगार देने से इन्कार कर दिया। इस प्रकार आन्दोलन पुनः प्रारम्भ हो गया। अभाग्यवश 1923 से 1926 तक अनावृष्टि व अतिवृष्टि से फसलें खराब हो गई। इससे किसानों की आर्थिक अवस्था दयनीय हो गई। किसानों ने लगान देने से इन्कार किया और उधर ठिकाने ने जबरन भूमि–कर व लागें वसूल करने का प्रयास किया। ऐसी हालत में ब्रिटिश सरकार ने ट्रेंच नामक अधिकारी को भूमि बन्दोबस्त लागू किया उसके अन्तर्गत बारानी क्षेत्र (माल भूमि) के लिये लगान की मात्रा बढ़ा दी जबकि पीवल (सिंचित) क्षेत्रों के लिए लगान अपेक्षाकृत कम निश्चित किया गया। इस मसले पर विचार करने के लिए मार्च, 1927 में किसान पंचायत बुलाई गई। इसमें माणिक्य लाल वर्मा तथा रामनारायण चौधरी भी उपस्थित थे। इस सभा में बारानी क्षेत्रों को छोड़कर अन्य भूमि पर विचार–विमर्श हुआ। परन्तु इस पर अन्तिम निर्णय पथिक जी पर छोड़ा दिया गया जो इसी समय जेल से छूटे थे। चूंकि पथिक जी के मेवाड़ राज्य में प्रवेश पर प्रतिबन्ध था। अतः उन्होंने बिजौलिया की सीमा पर स्थित ग्वालियर राज्य के फूसरिया गांव से किसान पंचायत का मार्ग–दर्शन करना प्रारम्भ किया।

पथिक जी ने भी बारानी भूमि छोड़ने की सलाह दी क्योंकि उन्हें विश्वास था कि इस भूमि को खरीदने का कोई व्यक्ति साहस नहीं करेगा और अन्त में विवश होकर सरकार को लगान कम करना पड़ेगा। परन्तु जैसे ही किसानों ने बारानी भूमि ठिकाने को समर्पित की. ठिकाने ने उसे उसी नयी राजस्व दर पर दूसरे किसानों को दे दिया। पथिक जी का यह निर्णय गलत व दोषयुक्त प्रमाणित हुआ। इस गलत निर्णय का नैतिक तथा वैधानिक उत्तरदायित्व अपने ऊपर लेते हुए पथिक जी ने किसान पंचायत की मध्यस्थता से त्याग–पत्र दे दिया। इस पर वर्मा जी, सेठ जमनालाल बजाज व हरिभाऊ उपाध्याय से मिले और उनसे नेतृत्व सम्भालने की प्रार्थना की। सेठ जमनालाल ने वर्मा जी की प्रार्थना को स्वीकार कर लिया। उन्होंने पथिक व रामनारायण चौधरी को आन्दोलन से अलग कर दिया और स्वयं की ओर से आन्दोलन का नेतृत्व श्री हरिभाऊ उपाध्याय को सौंप दिया। 1929 ई. के बाद से बिजौलिया आन्दोलन का नेतृत्व हरिभाऊ उपाध्याय ने किया।

किसान किसी भी तरह अपनी समर्पित भूमि को ठिकाने से वापिस लेना चाहते थे। हरिभाऊ उपाध्याय ने भी उन्हें भूमि वापिस दिलवाने के काफी प्रयत्न भी किये। श्री हरिभाऊ जी ट्रेंच से मिले। ट्रेंच ने आश्वासन दिया कि किसानों की जमीनों को वे नये बापीदारों को समझाकर वापिस दिलाने का प्रयास करेंगे। परन्तु ट्रेंच भी अपना आश्वासन पूरा नहीं कर सका। इस पर किसानों ने श्री माणिक्यलाल वर्मा ने नेतृत्व में सत्याग्रह करने का निश्चय किया। इससे पूर्व मार्च, 1931 को किसान पंच बोर्ड ने ठिकाने को अभिसूचित कर दिया था कि या तो ठिकाना किसानों से भूमि खाली करादे नहीं तो वे बलपूर्वक कब्जा करेंगे। 21 अप्रैल, 1931 को समर्पित भूमि पर हल चलाकर किसानों ने सत्याग्रह शुरू किया। इस पर ठिकाने के कर्मचारी, पुलिस, राजकीय सेना तथा जमीनों के नवीन स्वामी उन पर टूट पड़े। उन्होंने किसानों की निर्ममता से पिटाई की तथा उनके साथ अमानुषिक व्यवहार किया। गांवों से सेना तैनात कर दी। वर्माजी सहित अनेक किसानों को कैद कर लिया गया। बिजौलिया का मामला अब अखिल भारतीय रूप धारण करने लगा। गांधीजी की सलाह पर मदनमोहन मालवीय ने मेवाड़ के दीवान सुखदेव को पत्र लिखे। स्थिति की गम्भीरता का भांपते हुये महाराणा तथा उनके दीवान ने किसान नेताओं को आश्वासन दिया कि पुराने बापीदारों को जमीनें लौटा दी जायेंगी तथा सत्याग्रहों को रिहा भी कर दिया जावेगा। परन्तु प्रधानमंत्री सुखदेव प्रसाद ने अपना वायदा पूरा नहीं किया। इसके विपरीत उसने श्री वर्मा जी को जेल में डाल दिया। इस प्रकार किसानों का यह आन्दोलन नेतृत्व विहीन होने के कारण 1939 ई. तक लड़खड़ाता रहा। बिजौलिया आन्दोलन का पटाक्षेप 1941 ई. में हुआ। इस समय तक मेंवाड़ में प्रजामण्डल की स्थापना हो चुकी थी। अब मेवाड़ सरकार को यह डर लगने लगा कि यह कहीं

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

बिजौलिया के किसान प्रजामण्डल द्वारा किये जा रहे आन्दोलन से न जुड़ जावें। अतः मेवाड़ सरकार ने किसानों से बातचीत करने बिजौलिया भेजा। उन्होंने वर्मा जी व अन्य किसान नेताओं से बातचीत कर किसानों की समस्या का समाधान करवाया। किसानों को उनकी जमीनें वापिस मिल गई। इस प्रकार इस आन्दोलन का पटाक्षेप 1941 ई. में हुआ।

24.5 समीक्षा :

इस आन्दोलन में बिजौलिया के किसानों ने अत्यधिक धैर्य तथा साहस का परिचय दिया। इस लम्बे संघर्ष में उन्हें कई शारीरिक यातनायें सहनी पड़ी तथा अपूर्व बलिदान देने पड़े। इस आन्दोलन का महत्व इस बात में था कि इसने न केवल मेवाड़ में बल्कि राजस्थान की अन्य रियासतों में भी नई चेतना उत्पन्न कर दी। सन् 1938 ई. में मेवाड़, शाहपुरा, बूंदी आदि रियासतों में प्रजामण्डलों की स्थापना की पृष्ठभूमि में यही किसान आन्दोलन प्रमुख रूप से रहा। इस आन्दोलन के कारण माणिक्यलाल वर्मा जैसे नेताओं का जन्म हुआ जो आगे चलकर राजस्थान के राजनीतिक आन्दोलन के मुख्य कर्णधार बने। राजस्थान में यह किसानों का प्रथम संगठित आन्दोलन था। बिजौलिया के किसानों ने ठिकानेदार व महाराणा के कठोर अत्याचार सहते हुए इसे भारत की राजनीति का प्रमुख आन्दोलन बना दिया। इसी कारण महात्मा गांधी को इसमें हस्तक्षेप करना पड़ा और महाराणा को झुकना पड़ा। इसीलिए इस आन्दोलन का राजस्थान के देशी राज्यों के इतिहास में विशिष्ट स्थान है।

राजस्थान की जन–जातियों में भील, मीणा एवं गरसिया आदि उल्लेखनीय रही है। उदयपुर, डूंगरपुर, बांसवाड़ा तथा सिरोही में भील अधिक रहे है, तो जयपुर, अलवर की ओर मीणों की संख्या बहुतायत के साथ है। अंग्रेजों द्वारा लागू किये गये सुधारों से राजस्थान की जन–जातियों में भी बड़ा असंतोष व्याप्त था जैसे वन में पैदा होने वाली वस्तुओं –कोयला, लकड़ी, महुआ, गोंद, औषधियां, जड़ी–बूटियां, शहद आदि एकत्र कर शहर में लाकर बेचते और अपना जीवन निर्वाह करते थे। महुए से शराब बनाते और पड़त जमीन जोतकर खेती करते और किसी भी प्रकार का लगान नहीं देते थे। इतना ही नहीं वन्य घास का उपयोग अपने पशुओं को चराने में करते थे। इस भांति ये जन–जातियां वन्य धरोहर का स्वतंत्रता के साथ उपयोग कर रही थी। तब अंग्रेज सरकार एवं राज्यों के शासकों ने वन विभाग एवं चौकियां की स्थापना करके उनकी स्वच्छंदता पर प्रतिबंध लगाया। चुंगी चौकियां स्थापित की गई और भूमि की पैमाइश कराके लगान निश्चित किया गया। इससे इन जन–जातियों के जीवकोपार्जन की स्वतंत्रता में बाधा उत्पन्न हुई। तभी जनगणना कार्यक्रम प्रारंभ हो गया। इससे इन जन–जातियों में कई प्रकार की बातें फैलने लगी। वे समझ गये कि अंग्रेज उनकी परम्पराओं पर प्रहार कर रहे है। अतः जन–जातियों में भी अंग्रेजों एवं अपने शासक–सामंतों के प्रति व्याप्त असंतोष फूट पड़ा।

भीलों में जागृति की विचारधारा फैलाने वालों में सर्वाधिक महत्वपूर्ण नाम गुरू गोविन्द का है। इनका जन्म 1858 ई. डूंगापुर राज्य के बांसिया गांव में एक बणजारे के यहां हुआ था। गोविन्दगुरू ने एक गांव के पुजारी की सहायता से अक्षर ज्ञान प्राप्त किया था।

भीलों के प्रारम्भिक दो आन्दोलन नवीन व्यवस्था की प्रतिक्रिया स्वरूप हुये स्वतः स्फूर्त आन्दोलन थे और मेवाड़ रियासत तक ही सीमित थे। किन्तु शोषित और उत्पीड़ित भीलों को शीघ्र ही गोविन्द गिरि के रूप में एक ऐसा 'मसीहा' मिल गया जिसने न केवल मेवाड़ के वरन् उसके आस–पास के क्षेत्रों के भीलों में सांस्कृतिक विकास की एक नवीन लहर पैदा की और उनके सामाजिक और धार्मिक जीवन में सुधार व आमूलचूल परिवर्तन किये। साथ ही उन्हें आर्थिक और राजनीतिक शोषण के विरूद्ध जागृत करके उनके असंतोष की अभिव्यक्ति प्रदान की जिसकी परिणिति मेवाड़ और उसके आस–पास के क्षेत्रों में भील आन्दोलन के रूप में हुई।

24.6. गोविन्द गिरि का नेतृत्व :

गोविन्द गिरि का जन्म 20 दिसम्बर, 1858 ई. को डूंगरपुर रियासत के बांसियां ग्राम के एक सामान्य बंजारा परिवार में हुआ था। अपने गांव के एक पुजारी के सहयोग से उन्होंने अक्षर ज्ञान प्राप्त किया। बचपन से ही उनका रहन–सहन और व्यवहार एक संस्कारित ब्राह्मण की भांति था। युवावस्था में पत्नी व पुत्रों की असामयिक मृत्यु से वे संसार से विमुख होकर आध्यात्म की ओर प्रवृत्त हो गये तथा दशनामी सम्प्रदाय के सन्यासी बन गये। 1881 ई. में युवावस्था में वे स्वामी दयानंद सरस्वती के सम्पर्क में आये और उनकी प्रेरणा से जनजातियों को संगठित और संस्कारित करने में जुट गये। इस कार्य के लिये उन्होंने बासियां गावं में अपनी 'धूणी' और 'निशान' स्थापित किये और आस–पास के क्षेत्र में भीलों की आध्यात्मिक और नैतिक उन्नति की शिक्षाएं देना आरम्भ कर दिया। उन्होंने भीलों को ईश्वर पूजा करने, भरण–पोषण के लिये कृषि करने, परस्पर मैत्री भाव बढ़ाने तथा चोरी, धोखाधड़ी, व्यभिचार आदि से दूर रहने, मांसाहार व मद्यपान तथा अन्धविश्वासों के त्याग की शिक्षाएं

दी। उनके प्रयत्नों से भील शीघ्र ही असभ्य अवस्था से उबरने शूरू हो गये। गोविन्द गिरि के इन विचारों से भीलों में जागृति आई और उन्हें अपनी दुर्दशा और अधिकारों का ज्ञान हुआ। गोविन्द गिरि शीघ्र ही भीलों में लोकप्रिय नेता बन गये। उनका संकेत भीलों के लिये आज्ञा और शब्द अलिखित कानून बन गया।

तदनन्तर अपनी गतिविधियों को निश्चित दिशा देने और भीलों को संगठित करने के उद्देश्य से गोविन्द गिरि ने 'सम्पसभा' नामक एक संगठन की स्थापना की। राजस्थानी भाषा के 'सम्प' शब्द का अर्थ है– प्रेम। सम्पसभा का अर्थ था 'पारस्परिक बन्धुत्व, प्रेमभाव और एकता का संवर्द्धन करने वाला संगठन। यही इस संगठन का कार्य था। वस्तुतः प्रारम्भ में यह संगठन एक सांस्कृतिक जागरण के अभियान का हेतु था, जिसने शासकों की प्रतिक्रिया के कारण कालान्तर में राजनीतिक स्वरूप ग्रहण कर लिया। 'सम्पसभा' का प्रथम अधिवेशन 1903 ई. में गुजरात में स्थित मानागढ़ की पहाड़ी पर हुआ। इस अधिवेशन में गोविन्द गिरि के प्रवचनों से प्रभावित होकर हजारे भील–ग्रासियों ने नित्य स्नान–ध्यान करने, मांस–मदिरा, चोरी डकैती व लूटमार छोड़ने, श्रम से जीवनयापन करने, बच्चों को पढ़ाने और संस्कारित बनाने और पारस्परिक झगड़ों को अपनी पंचायत में ही निपटाने की शपथ ली। गोविन्द गिरि ने उन्हें बैठ–बेगार और अनुचित लागें न देने, अन्याय का प्रतिकार करने और स्वदेशी वस्तुओं का उपयोग करने का आह्वान किया। गोविन्द गिरि की गतिविधियों और भीलों की जागृति से शासक और जागीरदार चौकन्ने हो गये क्योंकि अशिक्षित और असभ्य लोगों पर शासन करना जितना सहज है, जागृत लोगों पर शासन करना उतना ही दुष्कर है। फलतः भीलों की चेतना और गोविन्द गिरि के बढ़ते प्रभाव को अपनी सत्ता और स्वार्थों के लिये संकट मानकर रियासत के अधिकारियों और जागीरदारों ने गोविन्द गिरि के आन्दोलन और सम्पसभा के कार्यो में बाधाएं डालना आरम्भ कर दिया। सभा के प्रचारकों और उपदेशकों के साथ दुर्व्यवहार किया जाने लगा। 'धूणी' बुझाकर और 'निशान' फाड़कर पंथ का अपमान किया गया। साथ ही गोविन्द गिरि के अनुयायियों पर आन्दोलन से सम्बन्ध विच्छेद करने के लिये विभिन्न प्रकार के दबाव डाले गये। शासकों की इस दमनकारी कार्यवाहियों की प्रतिक्रियास्वरूप गोविन्द गिरि का सामाजिक और धार्मिक सुधार आन्दोलन राजनीतिक रूप ग्रहण करने लगा। अब गोविन्द गिरि ने अत्याचारी शासन को उखाड़ फेंकने और भील क्षेत्रों में भील सत्ता की स्थापना के लिये संघर्ष का आह्वान किया। इससे भयभीत होकर डूंगरपुर रियासत ने गोविन्द गिरि को रियासत छोड़कर जाने को बाध्य कर दिया।

गोविन्द गिरि डूंगरपुर रियासत छोड़कर ईडर व सुंथरामपुर रियासत जा पहुंचे जहां वे एक कृषक के रूप में कार्य करते हुये अपने विचारों का प्रसार करने लगे। अब उन्होंने आध्यात्मिक और नैतिक शिक्षाओं के साथ–साथ भीलों को उनके नैसर्गिक अधिकारों और उनकी दयनीय अवस्था व उसके कारणों से अवगत कराया तथा रियासत और जागीरदारों द्वार किये जाने वाले शोषण के विरूद्ध उन्हें जागृत करने लगे। उनके प्रयत्नों से भील काफी संगठित हो गये और फरवरी, 1910 ई. में पालपट्टा के ठिकाने के जागीरदार को भीलों की उचित मांगे स्वीकार करनी पड़ी। इससे भीलों की उचित मांगे स्वीकार करनी पड़ी। इससे भीलों में सामन्ती शोषण से संघर्ष के लिये एक नया आत्म विश्वास उत्पन्न हुआ। इस समय अन्य क्षेत्रों के भील भी पीड़ादायक संक्रमण काल से गुजर रहे थे। नव परिवर्तित व्यवस्था में भीलों की पारम्परिक अर्थव्यवथा समाप्त हो चुकी थी। आखेट और बांस, गोंद, लकड़ी आदि वन उत्पादों और महुवा के पेड़ से शराब बनाने के पारस्परिक स्वामित्व से वंचित होकर, रियासत और जागीरदारों के हाथों अपनी स्वतंत्रता खोकर, बेगार और सामन्ती अत्याचारों के कारण भीलों में पर्याप्त असंतोष व्याप्त था। इसी समय गोविन्द गिरि के सुधार आन्दोलन ने भीलों में नवीन चेतना का संचार किया। यद्यपि उनके आन्दोलन ने भीलों में नवीन चेतना का संचार किया। यद्यपि उनका आन्दोलन आध्यात्म और नैतिक सुधारों से सम्बन्धित था, किन्तु सत्ताधारियों ने इसे अपनी सत्ता को चुनौती मानकर उसे बलपूर्वक कुचलने का प्रयास किया, फलतः यह सुधार आन्दोलन राजनीतिक और आर्थिक रूप ग्रहण करने लगा। 1911 ई. में गोविन्द गिरि पुनः डूंगरपुर लौट आये और बांसिया ग्राम में 'धूणिये' और 'निशान' स्थापित करके जागीरदारों के शोषण से मुक्ति के लिये भीलों को प्रेरित करने लगे। शीघ्र ही अनेक गांवों में उनके धूणिये और निशान स्थापित हो गये और ये स्थान भीलों की जागृति के केन्द्र बन गये। बासियां इनका मुख्यालय था जहां बांसवाड़ा और डूंगरपुर ही नहीं वरन् गुजरात और मालवा क्षेत्र के भील भी उनसे मिलने आते थे। भीलों की इस जागृति को संकट मानकर आस–पास की रियासतों के शासक भयभीत हो गये। उनको भय हो गया कि ये जनजातियां संगठित होकर इस क्षेत्र में भील राज्य की स्थापना के लिये प्रयत्नशील है। अतः वे इनके दमन पर उतारू हो गये। 1913 ई में डूंगरपुर रियासत ने गोविन्द गिरि व उनके परिजनों को गिरफ्तार कर लिया तथा उनका छोड़ने के आदेश दे दिये गये। इस पर वे ईडर रियासत के रोजदा गांव पहुंचे। किन्तु वहां के शासक द्वारा पीड़ित किये जाने पर उन्होंने माही नदी के समीप मानागढ़ की पहाड़ी को अपना केन्द्र बनाकर भीलों को जागृत करने का कार्य आरम्भ किया। गोविन्द गिरि के सर्वप्रथम मानागढ़

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

आने के दिन मार्गशीर्ष की पूर्णिमा को वहां पर प्रतिवर्ष एक विशाल मेला लगने लगा। यह मेला एक रूप में 'सम्पसभा' का वार्षिक अधिवेशन था। इस दिन डूंगरपुर, बांसवाड़ा और गुजरात के लगभग डेढ़ लाख भील राज्य की स्थापना की तैयारी मानकर आस–पास के शासक भयभीत हो उठे और उन्होंने ब्रिटिश सरकार से आग्रह किया कि भीलों के इस संगठन को कठोरता से दबा दिया जाये। 1913 ई. में भी मार्गशीर्ष की पूर्णिमा को मानागढ़ पहाड़ी पर प्रति वर्ष की भांति भीलों का विशाल मेला लगा। दूसरी ओर राजाओं की शिकायतों पर ए.जी.जी. ने सैनिक अधिकारियों को गोविन्द गिरि को गिरफ्तार करने व भीलों को तितर–बितर करने का आदेश देकर एक सेना मानागढ़ की ओर भेज दी। इस सेना ने पहाड़ी को चारों ओर से घेर लिया और अकस्मात मशीनगनों से गोलियां की बौछावर कर दी जिसके परिणामस्वरूप 1500 भील मारे गये और हजारों घायल हो गये। गोविन्द गिरि को गिरफ्तार कर लिया गया। तत्पश्चात् उन पर अदालत में मुकदमा चलाया गया और उन्हें फांसी की सजा दी गई। किन्तु फिर भीलों की प्रतिक्रिया के भय से यह सजा 20 वर्ष के कारावास में बदल दी गई। फिर वे दस वर्ष बाद ही रिहा कर दिये गये। किन्तु उनके गुजरात की सुथरामपुर और राजस्थान की बांसवाड़ा और डूंगरपुर रियासतों में प्रवेश पर रोक लगा दी गई। फलतः वे पहले दाहोद के समीप झालोद गांव में रहने लगे और बाद में लीम्बड़ी के पास कम्बाई गांव से जाकर खेती–बाड़ी से अपना जीवननिर्वाह करने लगे। यही उनका स्वर्गवास हुआ। उनकी स्मृति में अब भी वहां मार्गशीर्ष पूर्णिमा को एक विशाल मेला लगता है जिसमें हजारों आदिवासी एकत्रित होते है। गोविन्द गिरि के जेल भेजने और निष्कासन से भी भीलों में संचरित जागृति का प्रवाह अवरूद्ध नहीं हुआ। संयोग से भीलों को मोतीलाल तेजावत के रूप में एक नया मसीहा मिल गया जिसने गोविन्द गिरि के कार्य को आगे बढ़ाया।

24.7. मोतीलाल तेजावत का नेतृत्व :

गोविन्द गिरि के पश्चात् भीलों की व्यथा को वाणी देने और उनमें अन्याय के प्रतिकार का अद्भुत बल भरने का कार्य मोतीलाल तेजावत ने किया। मोतीलाल तेजावत का जन्म 1887 ई. की ज्येष्ठ शुक्ला प्रथमा को उदयपुर जिले ने पर्वतीय और भील बहुत क्षेत्र फलासिया के कोल्यारी ग्राम के एक ओसवाल वैश्य परिवार में हुआ था। समुचित शिक्षा प्राप्त करने के पश्चात् वे झाड़ौल ठिकाने के कामदार बन गये। किन्तु आठ वर्ष इस रूप में कार्य करने के पश्चात् ठिकाने और सरकार द्वारा आदिवासियों के लिये किये जाने वाले शोषण और अत्याचारों से व्यथित होकर उन्होंने ठिकाने की नौकरी छोड़ दी। तत्पश्चात् उन्होंने झाड़ौल के एक सेठ के यहां मुनीम का कार्य किया। किन्तु वहां भी उन्हें शोषण का वही रूप दिखाई दिया। फलतः उन्होंने उस नौकरी को भी तिलान्जलि देकर शोषित भीलों के उत्थान व उनके दुःखों के निवारण को अपने जीवन का ध्येय बना लिया। उस समय सामन्ती शोषण और अत्याचारों से पीड़ित भीलों की कारूणिक व्यथा का यथार्थ चित्रण और उसके प्रति अपने अन्तर्मन के विद्रोह का सम्पूर्ण विवरण तेजावत की निजी डायरी में वर्णित है।

भीलों की विपन्नता, व्यथा और करूणाजनक स्थिति से व्यथित तेजावत ने भीलों के उत्थान और उन्हें शोषण व अत्याचारों के विरूद्ध संघर्ष के लिये तैयार करने का कार्य का श्री गणेश वैशाख पूर्णिमा पर चित्तौड़गढ़ जिले के मातृकुण्डिया नामक स्थान पर लगने वाले मेले से किया, जहां एक लाख से अधिक लोग एकत्र होते थे। यहां उन्होंने लोगों को सामन्ती अत्याचारों के विरूद्ध संगठित होकर जूझने का आह्वान किया। तेजावत के प्रयत्नों से यहां उपस्थित पंचों ने यह निर्णय लिया कि इस अन्याय और अनाचार से महाराणा को अवगत कराया जाये और ऐसा होने तक कोई भी भील लगान नहीं चुकायेगा। इसके पश्चात् तेजावत ने गांव–गांव घूमकर लोगों को उनकी दयनीय स्थिति, शोषण और उन पर हो रहे अत्याचारों से अवगत कराया और उन्हें इनका प्रतिकार करने के लिये संगठित होकर आन्दोलन करने को प्रोत्साहित किया। साथ ही मातृकुण्डिया मेले में लिये गये निर्णयों और उनकी न्यूनतम मांगों की जानकारी दी। सामन्ती शोषण और अत्याचारों से पीड़ित भीलों में तेजावत ने एक नवीन चेतना का संचार किया। इस कार्य का आरम्भ उन्होंने झाड़ौल और फलासिया गांव से किया था। किन्तु शनैः–शनैः इसका विस्तार होता गया और बड़ी संख्या में भील उनके साथ जुड़ गये। इसके पश्चात् तेजावत ने बदराना गांव के हरिन्दर में विभिन्न गांवों के पंचों की बैठकें आयोजित की और मातृकुण्डिया मेले में लिये गये निर्णयों को क्रियान्वित होने तक लगान न देने व एकता बनाये रखने का आह्वान किया। इन्ही बैठकों में महाराणा से मिलने वाले प्रतिनिधि तय किये गये। किन्तु महाराणा से मिलने के पूर्व यह प्रतिनिधि मण्डल खालसा क्षेत्र के किसानों से भी मिला। फलतः खालसा क्षेत्र के किसान भी इस आन्दोलन से जुड़ गये। तदुपरान्त ये प्रतिनिधि उदयपुर पहुंचे। अनेक कठिनाइयों और बाधाओं को पारकर अन्ततः ये महाराणा से मिलने में सफल हुये। इन प्रतिनिधियों ने ठिकानों में व्याप्त रिश्वतखोरी, अनुचित लाग–बागों, शारीरिक यातनाओं और विभिन्न कष्टों के सप्रमाण विवरणों सहित 'मेवाड़ पुकार' नामक पुस्तिका और 21 सूत्री मांग पत्र महाराणा के समक्ष प्रस्तुत किया। इस पर महाराणा ने कुछ मांगे स्वीकार करते हुये कई लागें और बेगार समाप्त करने की घोषणा करके खालसा क्षेत्र

के भीलों को शान्त कर दिया। किन्तु भीलों को जंगल से लकड़ी काटने, बीड़ों से घास काटने और फसलों को हानि पहुंचाने वाले सुअरों को मारने की स्वीकृति नहीं दी। फलतः उनकी कई समस्याएं यथावत रह गई और उन पर रियासती कर्मचारियों का अत्याचार भी बढ़ता गया। जागीर क्षेत्र के भीलों को इस अभियान का कोई लाभ नहीं हुआ क्योंकि जागीरदारों ने महाराणा की घोषणा को क्रियान्वित नहीं किया। अतः उनका आन्दोलन जोर पकड़ गया। इस बीच झाड़ौल के जागीरदार ने तेजावत की हत्या का घृणित प्रयत्न किया। किन्तु भीलों की सतर्कता से वे बच गये। तदनन्तर तेजावत ने आन्दोलन का विस्तार किया। जुलाई, 1921 ई. में लगानबन्दी के समय उन्होंने भीलों को असहयोग करने का आह्वान किया। इसका पर्याप्त प्रभाव हुआ। तेजावत के आह्वान पर झाड़ौल ठिकानों के भीलों ने लगान, लाग–बाग और बेगार देने से मना कर दिया। इस पर झाड़ौल के जागीरदार ने 19 अगस्त, 1921 ई को तेजावत को गिरफ्तार कर लिया। इससे उत्तेजित होकर हजारों भील उन्हें छुड़ाने के लिये ठिकाने के सामने एकत्र हो गये। फलतः जागीरदार ने विवश होकर उन्हें रिहा कर दिया। तेजावत ने अब आन्दोलन को और तीव्र कर दिया। अपनी गतिविधियों के प्रसार के लिये उन्होंने सम्पूर्ण भोमट क्षेत्र का भ्रमण किया और लोगों से कोई भी कर न देने और शासन को कोई सहयोग न करने की अपील की। भीलों ने पूर्ण निष्ठा से उनका अनुसरण किया और लगान, लाग–बाग और बेगार देने से मना कर दिया। तेजावत के बढ़ते प्रभाव से महाराणा और ब्रिटिश सरकार चिन्तित हो उठे। 31 दिसम्बर को रियासत ने सम्पूर्ण भोमट क्षेत्र मे लिखित अनुमति के बिना 50 से अधिक व्यक्तियों की सभा पर प्रतिबन्ध लगा दिया। साथ ही तेजावत की गिरफ्तारी के लिये 500 रूपये के पुरस्कार की घोषणा की गई और उन्हें शरण देना दण्डनीय अपराध घोषित कर दिया गया। किन्तु इससे भी स्थिति में कोई सुधार नहीं हुआ वरन् शीघ्र ही यह आन्दोलन मेवाड़ के अलावा अन्य भील बहुत क्षेत्रों–सिरोही, पालनपुर, ईडर, विजयनगर आदि राज्यों में फैल गया और यहां के भीलों ने भी लगान, लाग–बाग और बैठ–बेगार न देने का निश्चय कर लिया। सिरोही तो इस आन्दोलन का दूसरा महत्वपूर्ण केन्द्र बन गया। यही नहीं अनेक स्थानों पर तो आन्दोलन हिंसक हो उठा। 1 जनवरी, 1992 ई. को भीलों द्वारा कई स्थानों पर लूटपाट और अधिकारियों पर हमला करने की घटनाएं हो गई। इस परा सिरोही राज्य के दीवान और मदनमोहन मालवीय के पुत्र रमाकान्त मालवीय ने भील आन्दोलन को नियंत्रित करने के लिये महात्मा गांधी और विजयसिंह पथिक से सहयोग मांगा। उन्होंने प्रयत्न भी किये, किन्तु उनका कोई लाभ नहीं हुआ क्योंकि सदियों से पीड़ित भीलों को ठोस रियासतों के बिना सन्तुष्ट करना संभव नहीं था, जबकि रियासत इसके लिये तैयार नहीं थी।

आन्दोलन के बढ़ते प्रसार को देखते हुये सिरोही और अन्य रियासतों ने मेवाड़ से आग्रह किया कि वह तेजावत को तुरन्त वहां से हटा ले। मेवाड़ में उनकी गिरफ्तारी का वारन्ट और उन्हें पकड़ने के लिये पहले ही पुरस्कार घोषित था। अन्य रियासतों ने भी उन्हें पकड़ने के लिये पुरस्कारों की घोषणा की। किन्तु दुर्गम पर्वतीय प्रदेशों में छिपे और भीलों द्वारा रक्षित तेजावत का पकड़ना सरल नहीं था। दूसरी ओर आन्दोलन का प्रसार कल्पनातीत था। अन्दोलन से डरकर कुछ जागीरदारों ने लगान, लागों और बेगार में कमी कर दी, किन्तु आन्दोलन समाप्त नहीं हुआ। अतः रियासत ने दमन का आश्रय लिया। किन्तु तेजावत की शिक्षा पर चलते हुये भील सर्वमान्य समझौता होने तक अडिग बने रहे। वस्तुतः जनशक्ति का सामना करना रियासतों के लिये दुष्कर हो गया। फलतः समझौते के प्रयास होने लगे। 7 मार्च, 1922 ई. को विजयनगर रियासत के पाल छतरियां गांव में आस–पास की रियासतों के भीलों का एक सम्मेलन हुआ। रियासत के अधिकारियों ने भीलों से समझौता वार्ता आरम्भ कर दी। सब कुछ शान्तिपूर्वक चल रहा था और समझौते की लगभग सारी बातें तय हो चुकी थी कि यकायक वहां उपस्थित भील कोर के सिपाहियों ने सभा को घेरकर अचानक गोलियां चलाना आरम्भ कर दिया जिसमें लगभग 1200 निर्दोष व्यक्ति मारे गये और हजारों घायल हो गये। तेजावत के पांव में भी गोली लगा, किन्तु भील उन्हें उठाकर सुरक्षित स्थान पर ले गये। इसके पश्चात् तेजावत सात वर्ष तक अज्ञातवास में रहे।

24.8. सिरोही हत्याकाण्ड

तेजावत के प्रयत्नों से इस समय तक सिरोही में भील आन्दोलन काफी सशक्त हो चुका था। यहां के भीलों ने न केवल लगान, लाग–बाग और बेगार देने से इन्कार किया वरन् वे रियासत के कानूनों की भी सरेआम अवहेलना भी करने लगे थे। रियासत के दीवान रमाकान्त मालवीय इसका कोई हल निकालना चाहते थे। अतः उन्होंने तेजावत के गुप्त आवास पर उनसे भेंट की। तदनन्तर मणिलाल कोठारी आदि की मध्यस्थता से सभी पक्ष समझौते के लिये तैयार हो गये, किन्तु एनवक्त पर रियासत और ए.जी.जी हॉलैण्ड समझौते से पीछे हट गये। समझौता वार्ता विफल होने पर भीलों ने अनुचित और पुराना लगान न चुकाने का निश्चय किया। दूसरी ओर दमन पर उतारू रियासत बकाया लगान के भुगतान पर आमादा थी और ऐसा न करने पर उसने सैनिक कार्यवाही की धमकी दी। किन्तु भीलों ने उसकी कोई परवाह नहीं की। यकायक 5–6 मई को मेजर

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

प्रियार्ड के नेतृत्व में रियासती सेना की एक टुकड़ी ने रोहिड़ा तहसील के बालोलिया और भूला गांवों को घेर लिया और अन्धाधुन्ध गोलियां चलाकर गांवों में आग लगा दी। फलतः गांव जलकर भस्म हो गये और अनेक व्यक्ति और पशु मारे गये। किन्तु रियासती दमन के इस जघन्य रूप से भी आन्दोलन दबा नहीं। इस बीच अनेक जागीरदारों ने अनुचित लोगों को कम करके, बेगार के नियम बनाकर, भील पंचायतों के निर्णयों को मान्यता देकर तथा उन्हें गमेती चुनने का अधिकार देकर भीलों और गिरासियों को अनेक सुविधाएं प्रदान कर दी।

दूसरी ओर तेजावत भीलों की सुरक्षा में अज्ञातवास में रहते हुये आन्दोलन का संचालन करते रहे। मेवाड़ तथा अन्य रियासतों ने उन्हें पकड़ने का हर सम्भव प्रयास किया। किन्तु भीलों की अभेद्य सुरक्षा व्यवस्था के कारण उन्हें सफलता नहीं मिली। अन्त में, गांधीजी की सलाह पर तेजावत ने स्वयं को 4 जून, 1929 ई. को ईडर पुलिस के समक्ष गिरफ्तारी के लिये प्रस्तुत कर दिया जहां से उन्हें मेवाड़ लाया गया। नेवाड़ रियासत ने उन्हें बिना मुकदमा चलाये और बिना कोई आरोप लगाये उदयपुर के केन्द्रीय कारागार में सात वर्ष तक बन्दी रखा। अन्त में, महात्मा गांधी के सहयोगी मणिलाल कोठारी के प्रयत्नों से उन्हें 1936 ई. में रिहा कर दिया गया। किन्तु इसके बदले उन्हें मेवाड़ से बाहर न जाने तथा राज्य विरोधी कार्यो में भाग न लेने का वचन देना पड़ा।

फिर भी 1938 ई. में मेवाड़ प्रजामण्डल की स्थापना के साथ ही तेजावत पुनः सक्रिय हो गये। उनके प्रयत्नों से सैकड़ों लोग प्रजामण्डल के सदस्य बने। 1939 ई. में सत्याग्रह करते हुये वे पुनः जेल गये। जेल से मुक्त होकर वे पुनः प्रजामण्डल से जुड़ गये। भारत छोड़ो आन्दोलन के दौरान 22 अगस्त, 1942 ई. को वे पुनः गिरफ्तार कर लिये गये। 1945 ई. में उन्हें जेल से रिहा कर दिया गया, किन्तु उनके मेवाड़ से बाहर जाने पर पाबन्दी यथावत् रही जो देश के स्वतंत्र होने तक जारी रही। शेष जीवन सामाजिक सेवा में व्यतीत करते हुये इस लोक सेवक का 5 दिसम्बर, 1963 ई. को स्वर्गवास हो गया।

24.9. सारांश :

यद्यपि इन किसानों और आदिवासी आन्दोलनों का लक्ष्य राजनीतिक नहीं था, किन्तु फिर भी इन आन्दोलनों ने जनसाधारण के समक्ष संगठित होकर निरंकुश सत्ता के विरोध और उसके विरूद्ध आवाज उठाकर प्रचलित राजनीतिक व्यवस्था की आलोचना का मार्ग प्रशस्त कर दिया, जिससे राजस्थान की जनता में राजनीतिक चेतना का संचार हुआ। इन आन्दोलनों से उदित चेतना ने ही कालान्तर में विभिन्न राजनीतिक संस्थाओं द्वारा चलाये गये विभिन्न आन्दोलनों को सम्बल ही प्रदान नहीं किया वरन् उनमें जनसाधारण को महत्ती भूमिका निभाने को प्रेरणा भी दी। इस रूप में ये आन्दोलन जागृति के पालने सिद्ध हुये।

24.10. बोध प्रश्न :

प्रश्न 1 बिजोलिया किस राज्य के अन्तर्गत एक ठिकाना था?

अ. मारवाड़ ब. मेवाड़

स. जैसलमेर द. भरतपुर

उत्तर – ....

प्रश्न 2 "मोती लाल तेजावत भिलों के देवता थे" समझाएँ।

उत्तर – ....

प्रश्न 3 विजयसिंह पथिक के नेतृत्व में बिजोलिया किसान आंदोलन को समझाइये।

उत्तर – ....

इकाई – 25

प्रजामण्डलों का स्वतन्त्रता आन्दोलन में योगदान विशेषतया भरतपुर, मारवाड़ एवं मेवाड़ के सन्दर्भ

संरचना

25.0 उद्देश्य

25.1 प्रजामण्डल आन्दोलन : भूमिका

25.1.1 1927 ई. से पूर्व तक

25.1.2 1927 ई. से 1938 ई. तक

25.1.3 1938 ई. से 1949 ई. तक

25.2 प्रजामण्डलों की स्थापना पूर्व राजस्थान में अन्य सेवा संघों की स्थापना

25.2.1 राजस्थान सेवा संघ

25.2.2 राजस्थान मध्य भारत सभा की स्थापना

25.2.3 अखिल भारतीय देशी राज्य लोक परिषद

25.3 मेवाड़ प्रजामण्डल

25.4 मारवाड़ प्रजामण्डल

25.5 भरतपुर प्रजामण्डल

25.6 मूल्यांकन

25.7 बोध प्रश्न

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

25.0 उद्देश्य :

राजपूतानें में स्वतन्त्रता आन्दोलन में सामाजिक संगठनों का क्या योगदान रहा था प्रजामण्डलों ने किस प्रकार कार्य किया इस पर विस्तृत विवेचन किया जायेगा। विशेष रूप से मारवाड़, मेवाड़, भरतपूर प्रजामण्डल के योगदान को विवेचित किया जायेगा।

25.1 प्रजामण्डल आन्दोलन : भूमिका :

राजस्थान में राष्ट्रीय चेतना की चिनगारी तो 1857 के स्वतंत्रता संग्राम से ही सुलग गई थी; परन्तु उसके प्रज्वलित होने में निरंकुश शासक व सामन्त बाधाएं उत्पन्न करते रहे। 1818 की सन्धियां सम्पन्न हो जाने के बाद तो राजपूत नरेश व उनके सामन्त राष्ट्रीयता व उसके मूल स्रोत राष्ट्रीय कांग्रेस के कट्टर शत्रु बन गये थे। ब्रिटिश सरकार उनको इस क्षेत्र में प्रोत्साहित भी कर रही थी तो सहायता भी दे रही थी। तथापि वह राष्ट्रीयता की चिनगारी बुझी नहीं वरन् वह बीसवीं सदी के प्रारम्भ से ही सुलगने लग गई थी। 1938 से उसने प्रजामण्डलों की स्थापना के साथ ही उसने उग्र रूप धारण करना आरम्भ कर दिया था। 1938 में हीरापुर में कांग्रेस का जो अधिवेशन हुआ– उनमें देशी रियासतों से राजनीतिक संगठन बनाने की छूट दे दी गई थी। परिणामतः राजस्थान में बीसवीं सदी का तीसरा दशक इस दिशा में बड़ा युगान्तकारी सिद्ध हुआ। राजस्थान की लगभग सभी रियासतों से प्रजामण्डल स्थापित करने के प्रयास आरम्भ हो गये और उनके माध्यम से राजस्थान में राष्ट्रीयता की जो अग्नि प्रज्वलित हुई वह 1949 में ही वृहत् राजस्थान के निर्माण से शांत हुई। इसके कारणों को हम इस इकाई के आरम्भ में ही दे आये। उनका संक्षिप्त वर्णन निम्न प्रकार से है–

25.1.1. 1927 ई. से पूर्व तक – यह वह समय था जब राजस्थान की राष्ट्रीयता केवल सामाजिक समस्याओं तक ही केन्द्रित थी। यहां तक कि राजस्थान की रियासतें अपनी पड़ौसी रियासतों की घटनाओं से भी प्रभावित नहीं होती थी। उधर भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस ने भी 1920 में यह प्रस्ताव पारित कर दिया था कि वह देशी राज्यों के मामलों में हस्तक्षेप नहीं करेगी। अतः 1927 से पूर्व जिन रियासतों में जो संघर्ष हुए वे राजनीतिक उद्देश्यों से नहीं हुए थे। एक प्रकार से वे लक्ष्यहीन ही थे।

25.1.2. 1927 ई. से 1938 तक – इस काल की प्रमुख घटना थी–अखिल भारतीय देशी राज्य लोक परिषद् की स्थापना। इस परिषद् की स्थापना का परिणाम यह निकला कि राजस्थान की विभिन्न रियासतों के राजनीतिक कार्यकर्ता एक मंच पर एकत्रित होकर राजस्थान की समस्याओं पर सामूहिक रूप से विचार करने लगे।

25.1.3. 1938 ई. से 1949तक – 1938 में हरिपुरा में कांग्रेस का अधिवेशन हुआ। इस अधिवेशन में यह प्रस्ताव पारित किया गया कि देशी रियासतों को अपनी स्वतंत्रता के लिए संघर्ष स्वयं करना चाहिए। अतः इस प्रस्ताव के पारित हो जाने के उपरान्त राजस्थान की रियासतों में राजनीतिक संगठन गठित किये गये। किन्हीं रियासतों में इस संगठन को 'प्रजामण्डल' का नाम दिया गया जबकि कुछ रियासतों में 'प्रजा परिषद' का नाम दिया गया। इन संस्थाओं के नेतृत्व में रियासतों के कार्यकर्ताओं ने अपने यहां के लोगों में राजनीतिक अधिकारों की प्राप्ति व अपने यहां उत्तरदायी शासन की स्थापना की ओर ध्यान आकर्षित किया। 1942 में जब कांग्रेस ने 'भारत छोड़ों आन्दोलन' किया तो उस आन्दोलन में ब्रिटिश प्रान्तों व देशी रियासतों के लोगों ने बिना किसी भेदभाव के भाग लिया। अतः 1942 के उपरान्त राजस्थान की रियासतों में जो आजादी प्राप्ति के लिए संघर्ष हुए, वे 'अखिल भारतीय देशी राज्य लोक परिषद्' के माध्यम से अखिल भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस से ही प्रतिबन्धित थे।

25.2. प्रजामण्डलों की स्थापना पूर्व राजस्थान में अन्य सेवा–संघों की स्थापना :

राजस्थान के राजपूत नरेश ब्रिटिश सरकार के पूर्णतः गुलाम हो चुके थे। वे ब्रिटिश सरकार के आदेशों का पालन बिना किसी तर्क के करते थे। जब 1906 के उपरान्त कांग्रेस के लोकमान्य तिलक के नेतृत्व में उग्र रूप धारण कर लिया था तो ब्रिटिश सरकार को आशंका हुई कि 'गरम दल' की अग्नि कहीं रियासतों में न फैल जावे। अतः उन्होंने राजा व नवाबों को आदेश दिए कि वे अपनी रियासतों में ब्रिटिश विरोधी भावना न पनपने दें। इसका परिणाम यह हुआ कि राजस्थान की रियासतों में महात्मा गांधी की जय बोलना तो दूर रहा, यहां तक कि नरेश खादी की पोशाक व गांधी टोपी से भी भयभीत रहने लगे। अतः उन्होंने अपनी रियासतों से खादी पहनने पर ही कठोर प्रतिबन्ध लगा दिए। इसके विपरीत महात्मा गांधी ने खादी को अपनाना भारत की बेरोजगारी को दूर करने के लिये आवश्यक बताया। अतः राजस्थान में स्थापित 'खादी आश्रम' भी राष्ट्रीयता के प्रेरक तत्व बन गये और खादी के प्रचार के बहाने ही राजस्थान में अनेक संघ स्थापित हुए। उनमें से प्रमुख निम्न है–

25.2.1. राजस्थान सेवा संघ – इस संघ की स्थापना 1919 में हुई और इसका श्रेय विजयसिंह पथिक और रामनारायण चौधरी को जाता है। उन्होंने 1919 में वर्धा में महात्मा गांधी से मिलकर इस संघ की स्थापना हरिभाई किंकर ने की थी। प्रथम इसका कार्यालय वर्धा में रहा और 1920 में उसका अजमेर में स्थानान्तर हो गया। इस संघ का मूल उद्देश्य जागीरदारों तथा उनकी प्रजा के मध्य मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध स्थापित करना था। बिजौलिया, बेगूं, बूंदी तथा सिरोही के आन्दोलन इस संघ से बहुत कुछ सम्बन्धित रहे।

25.2.2. राजस्थान मध्य भारत सभा की स्थापना – 1919 ई में ही राजस्थान सेवा–संघ के संस्थापकों विजयसिंह तथा रामनारायण चौधरी के बीच कुछ मतभेद उत्पन्न हो गये। इसके परिणास्वरूप सेवा संघ निष्क्रिय हो गया। परन्तु सेठ जमनालाल बजाज के सद्प्रयासों से इस संस्था को पुनः क्रियाशील बनाने का प्रयास किया गया। 1919 में दिल्ली के कांग्रेस अधिवेशन में राजस्थान व मध्य भारत के कार्यकर्ताओं में संगठन सम्बन्धी कुछ बातचीत हुई। उस बातचीत का परिणाम यह निकला कि राजस्थान–मध्य भारत सभा की स्थापना की गई। इसका प्रधान कार्यालय अजमेर में रखा गया और सेठ जमनालाल बजाज इसके अध्यक्ष बने। इस सभा के प्रमुख उद्देश्य निम्नलिखित थे–

1. रियासतों की जनता को कांग्रेस के कार्य–कलापो की जानकारी देते रहना ।
2. प्रवासी राजस्थानियों का सहयोग प्राप्त करना।
3. अछूत उद्धार के लिए कार्य करना।
4. नरेशों व जागीरदारों के अत्याचारों से बचाने हेतु किसान आन्दोलनों का संचालन करना।

1920 में इसका प्रथम अधिवेशन कांग्रेस अधिवेशन के साथ नागपुर में ही आयोजित किया गया। इस अवसर पर एक प्रदर्शनी का भी आयोजन किया गया। इस प्रदर्शनी के माध्यम से सभा के कार्यकर्ताओं ने कांग्रेस सदस्यों को रियासतों के आम लोगों की दयनीय अवस्था से अवगत कराया। परन्तु 1920 के उपरान्त यह सभा भी अपने उद्देश्यों की पूर्ति के लिए विशेष कार्य नहीं कर सकी।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

25.2.3. अखिल भारतीय देशी राज्य लोक परिषद् — 1922 में देशी राज्यों के कुछ प्रतिनिधियों ने पूना में देशी राज्यों की एक केन्द्रीय संस्था की स्थापना पर विचार किया। 1926 में देशी राज्यों के प्रतिनिधियों की एक अस्थायी समिति गठित की गई। 1927 में इस परिषद् का प्रथम अधिवेशन बम्बई में हुआ। उसने सत्तर राज्यों के प्रतिनिधियों ने भाग लिया। इस संस्था का प्रधान कार्यालय बम्बई में ही रखने का निर्णय लिया गया। इसके उद्देश्य निम्नलिखित थे—

1. देशी राज्यों में नरेशों के नेतृत्व में उत्तरदायी शासन की प्रप्ति करना।
2. जनता को मौलिक अधिकार दिलाना।
3. राज्यों में निष्पक्ष न्याय दिलाने हेतु स्वतंत्र न्यायालयों की स्थापना करवाना।

1931 में रामनारायण चौधरी के प्रयासों से अजमेर में इसका प्रथम प्रान्तीय अधिवेशन आयोजित किया गया। इसके उपरान्त जयनारायण व्यास ने जोधपुर में इसी प्रकार का अधिवेशन करने का प्रयास किया; परन्तु वहां के राजा के दमन चक्र के कारण वे अपने प्रयास में असफल रहे। इसी अन्तराल में राजस्थान के विभिन्न राज्यों के नेताओं में कुछ मतभेद भी उत्पन्न हो गये। अतः उन्होंने अपने—अपने राज्यों में ही अपने साधनों से आन्दोलन चलाने व संगठन बनाने का निर्णय लिया। इसी निर्णय के परिणामस्वरूप 1937 के उपरान्त राजस्थान के विभिन्न राज्यों में प्रजामण्डल अथवा प्रजा परिषदों का गठन किया गया।

दक्षिण—पश्चिम राजस्थान का जन—आन्दोलन

25.3. मेवाड़ प्रजामण्डल :

मेवाड़ राजस्थान का सर्वाधिक प्रतिष्ठित राज्य रहा है। इसे इसकी राजधानी के नाम से उदयपुर राज्य भी कहा जाता था। इस राज्य में जन—आन्दोलन बहुत पहले शुरू हुए। बिजौलिया—सत्याग्रह और बेगूं किसान आन्दोलन की आंशिक सफलता से प्रेरित होकर माणिक्यलाल वर्मा ने अप्रैल, 1938 ई. में 'मेवाड़ प्रजामण्डल' की स्थापना की। इसका मुख्य ध्येय जनता के अधिकारों और संवैधानिक सुधारों की मांग करना तथा प्रजा के आर्थिक कष्टों को दूर करने का प्रयास करना था। इस संस्था के प्रथम सभापति बलवन्तसिंह मेहता और उपाध्यक्ष भूरेलाल बया बनाये गये। माणिक्यलाल वर्मा मंत्री बने। दो सप्ताह के अन्दर—अन्दर ही सैकड़ों लोग प्रजामण्डल के सदस्य बन गये। उदयपुर राज्य के तत्कालीन प्रधानमंत्री धर्मनारायण ने इस संस्था को इसके जन्म के साथ ही मार डालने का प्रयास किया और गैर—कानूनी घोषित कर दिया तथा माणिक्यलाल वर्मा को शहर छोड़ने की आज्ञा दे दी। माणिक्यलाल वर्मा अजमेर चले आये और प्रेस के माध्यम से प्रजामण्डल का प्रचार—कार्य जारी रखा। सेठ जमनालाल बजाज ने उदयपुर सरकार से माणिक्यलाल वर्मा के निष्कासन के बारे में काफी पत्र—व्यवहार किया, परन्तु कोई परिणाम नहीं निकला। जनता ने भी प्रधानमंत्री से इस सम्बंध में पुनर्विचार करने का बहुत आग्रह किया परन्तु सारे प्रयास विफल रहे। तब 4 अक्टूबर, 1938 ई. को विजयदशमी के दिन प्रजामण्डल ने सत्याग्रह करने का निश्चय कियां उनकी मांग थी कि प्रजामण्डल की कानूनी संस्था माना जाय और माणिक्यलाल वर्मा को पुनः उदयपुर में प्रवेश दिया जाय। इस बीच अहमदाबाद और बम्बई में भी प्रजामण्डल को शाखाएं स्थापित को चुकी थी और महात्मा गांधी का आशीर्वाद भी प्राप्त कर लिया गया। माणिक्यलाल वर्मा ने मेवाड़ राज्य के बाहर से इस सत्याग्रह का संचालन किया जिसमें हजारों लोगों ने भाग लिया। महिलाओं ने भी इसमें अच्छा हाथ बटांया। अब सरकार ने अपना दमन—चक्र और भी तेज कर दिया। गिरफ्तारियों, तलाशियों और निर्वासनों तथा सजाओं का तांता लग गया। भीलवाड़ा और नाथद्वारा में लाठीचार्ज हुआ जिसमें अनेक लोग घायल हुए। दफा 144 भी लगाई गई। भूरेलाल बया को सत्याग्रह शुरू होने से पहले ही मेवाड़ के सराड़ा किले में नजरबन्द कर दिया गया। 4 अक्टूबर, 1938 ई. को अजमेर से रमेशचन्द्र व्यास मेवाड़ का कानून तोड़ने के लिए रवाना हुए थे, उन्हे तथा बलवन्तसिंह मेहता को भी बाद में इसी किले बन्द रखा गया। आन्दोलन का सबसे अधिक जोर नाथद्वारा में रहा जब पुलिस ने नरेन्द्रपालसिंह और प्रो. नारायणदास को गिरफ्तार कर लिया और भीड़ पर लाठीचार्ज किया। इस दौरान कुल मिलाकर मेवाड़ राज्य में 238 गिरफ्तारियां हुई।

मेवाड़ सरकार आन्दोलन के संचालक माणिक्यलाल वर्मा को गिरफ्तार करने पर तुली हुई थी। फरवरी, 1939 ई. में जब माणिक्यलाल कुछ कार्यकर्त्ताओं से विचार—विनिमय करने के लिए देवली गए हुए थे, जो अजमेर—मेरवाड़ा की सीमा पर है, मेवाड़ पुलिस ने उन्हें लाठियों से मारा और झाड़ियों और कांटों में से निर्दयापूर्वक घसीटकर मेवाड़ राज्य की सीमा मे ले आई, जो सौ गज से अधिक फासले पर थी। उन्हें गिरफ्तार कर राज्य के थाने में लाया गया और बिना मुकदमा चलाये जेल में ठूँस दिया गया। जब महात्मा गांधी को मेवाड़ सरकार के इस दुर्व्यवहार की जानकारी मिली तो उन्होंने 18 फरवरी के 'हरिजन' में एक वक्तव्य प्रकाशित किया और जनता को बिना किसी भय के पुलिस के विरुद्ध कानूनी कार्यवाही करने को

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

कहा। 3 मार्च, 1939 ई. को महात्मा गांधी ने मेवाड़ प्रजामण्डल को सत्याग्रह स्थगित कर रचनात्मक कार्य करने की सलाह दी। उनका विश्वास था कि राज्य सरकार जल्दी ही 'प्रजामण्डल' पर लगा प्रतिबंध उठा लेगी और ऐसा ही हुआ। फरवरी, 1941 ई. में राज्य सरकार ने प्रजामण्डल पर से प्रतिबन्ध हटा दिया। इसके बाद, राज्य में प्रजामण्डल का खूब प्रचार हुआ। किसान समिति का भी संगठन हुआ। प्रजामण्डल ने भीलों के सेवाकार्य, पुराने कर्ज के दावों को निपटाने, हरिजन तथा दलितों का उत्थान, औद्योगिक उन्नति, शिक्षा–प्रचार तथा अन्य जनहित कार्यो की तरफ ध्यान दिया।

नवम्बर, 1941 ई. में मेवाड़ प्रजामण्डल का प्रथम अधिवेशन माणिक्यलाल वर्मा के सभापतित्व में उदयपुर में बड़ी धूमध ााम के साथ हुआ। इस अधिवेशन में राज्य में उत्तरदायी शासन स्थापित करने तथा जनता को नागरिक अधिकार दिये जाने की मांग की गई। इस अधिवेशन का उद्घाटन आचार्य जे. बी. कृपलानी ने किया था और इस अवसर पर खादी और ग्रामोद्योग की वृहत् प्रदर्शनी का उद्घाटन श्रीमती विजयलक्ष्मी पण्डित ने किया था। इस अधिवेशन के अवसर पर मेवाड़ के हरिजनों की सेवा करने के लिए 'मेवाड़ हरिजन सेवक संघ' की स्थापना की गई और इसका कार्यभार मोहनलाल सुखाड़िया को सौंपा गया। इसी प्रकार, भील, मीणा आदि आदिवासियों की सेवा का कार्य बलवन्तसिंह मेहता को सौंपा गया।

अगस्त, 1942 ई. में महात्मा गांधी ने 'भारत छोड़ों' का नारा बुलन्द किया और सारे देश में आन्दोलन की आंधी उठी। मेवाड़ राज्य प्रजामण्डल भी इस आन्दोलन में कूद पड़ा। महात्मा गांधी के सुझावानुसार मेवाड़ राज्य प्रजामण्डल की ओर से महाराणा को एक प्रार्थना–पत्र प्रस्तुत किया गया, जिसमें उनके सार्वभौम सत्ता (ब्रिटिश सरकार) से सम्बन्ध–विच्छेद करने और राज्य में उत्तरदायी शासन की स्थापना करने का अनुरोध किया गया। इसके साथ ही प्रजामण्डल ने अपना आन्दोलन भी शुरू कर दिया। 21 अगस्त, 1942 ई. को एक सार्वजनिक सभा करने का निश्चय किया गया। परन्तु सरकार ने इस सभा को भावी आशंका मानकर बड़े पैमाने पर गिरफ्तारियां की तथा सभाओं पर प्रतिबंध लगा दिया। फिर भी सभा हुई और प्रजामण्डल के नेताओं ने सभा में उपस्थित हजारो लोगों को सारी स्थिति की जानकारी दी। सभा के बाद और भी गिफ्तारियां की गई जिनमें कुछ विद्यार्थी नेता भी सम्मिलित थे। प्रजामण्डल को गैर–कानूनी घोषित कर दिया गया। अन्त में राज्य सरकार ने धीरे–धीरे बन्दियों को रिहा करने की नीति अपनाई। आखिरी जत्था फरवरी, 1944 ई. को रिहा किया गया परन्तु प्रजामण्डल पर काफी समय तक प्रतिबन्ध लगा रहा।

जेल से छूटने के बाद प्रजामण्डल के नेताओं ने राजपूताने और मध्यभारत के कार्यकर्ताओं का एक विशाल सम्मेलन आयोजित करने का निश्चय किया ताकि आपसी विचार–विनिमय के बाद एक संयुक्त कार्यक्रम तैयार किया जा सके। अप्रैल, 1994 ई. में उदयपुर में यह सम्मेलन शुरू हुआ जिसमें विविध राज्यों के 250 कार्यकर्त्ताओं ने भाग लिया। सम्मेलन में एक कमेटी का निर्माण किया गया और उसे राजपूताना तथा मध्य भारत के लिए एक समान कार्यक्रम निर्धारित करने को कहा गया। सम्मेलन से लोगों में राजनैतिक चेतना का उदय हुआ, जिसे सरकार सहन न कर सकी और उसने पुनः सभाओं पर प्रतिबंध ा लगा दिया। इस पर प्रजामण्डल पुन: रचनात्मक कार्यो में लग गया। 6 अप्रैल, 1945 ई. को गांधीजी रिहा कर दिये गये और सितम्बर, 1945 ई. में राज्य सरकार ने प्रजामण्डल पर लगे प्रतिबन्ध को उठा लिया। इससे उत्साहित होकर प्रजामण्डल ने राज्य में अपने संगठन को मजबूत बनाने का प्रयास किया। तिलक जयन्ती, गांधी जयन्ती, स्वाधीनता दिवस आदि के अवसरों पर 'प्रभात फेरियां' निकाली गई जिसमें लोग हाथों में तिरंगाा लिए, राष्ट्रीय गीतों को गाते हुए निकले। स्थान–स्थान पर सभाओं का आयोजन किया जाने लगा और आजाद हिन्द फौज के सैनिकों के विरूद्ध चलाये जाने वाले राजद्रोह के मुकदमे का जोरदार विरोध किया गया। राज्य में उत्तरदायी शासन की स्थापना की मांग को दोहराया जाने लगा।

1945 ई. के अन्त में मेवाड़ प्रजामण्डल के अनुरोध को स्वीकार करते हुए अ. भा. दे. रा. लोक परिषद् ने अपना सातवां अधिवेशन उदयपुर में आयोजित करना स्वीकार कर लिया। तदनुसार 31 दिसम्बर, 1945 ई. को उदयपुर में इस सम्मेलन का आयोजन हुआ। सम्मेलन तीन दिन चला। यह पहला अवसर था जबकि अ. भा. दे. रा. लोक परिषद् का सम्मेलन एक देशी राज्य में हो रहा था। भारत के विविध देशी राज्यों के 435 प्रतिनिधियों ने इस सम्मेलन में भाग लिया। सम्मेलन की अध्यक्षता पंत्र जवाहरलाल नेहरू ने की। मेवाड़ की जनता ने इस सम्मेलन में अत्यधिक उत्साह के साथ भाग लिया। सम्मेलन में देशी राज्यों में उत्तरदायी शासन की स्थापना को पुनः दोहराया गया। इस अवसर पर किसान सम्मेलन, राजपूताना आदिवासी सम्मेलन, विद्यार्थी सम्मेलन, महिला सम्मेलन आदि अन्य संस्थाओं के भी सम्मेलन हुए।

1946 ई. में प्रजामण्डल ने राज्य की कई समस्याओं को लेकर सरकार से मोर्चा लिया। गैर–मेवाड़ियों को सरकारी नौकरियां देने की सरकारी नीति की आलोचना की गई। नगरपालिकाओं के चुनाव स्थगित करने, राज्य में खाद्य पदार्थ की पूर्ण आपूर्ति न करने और राज्य कर्मचारियों के वेतमानों तथा महंगाई भत्ते में वृद्धि न करने के लिए भी सरकार की भर्त्सना की गई। सम्पूर्ण राज्य में ब्रिटिश–विरोधी रैलियों का आयोजन किया गया। प्रजामण्डलों के कार्यालयों के बाहर बडे–बडे बोर्डो

पर स्थानीय तथा राष्ट्रीय गतिविधियों का विवरण लिखकर जनता को दिन–प्रतिदिन घटित होने वाली घटनाओं की जानकारी देते रहने का सफल प्रयास किया गया। चूंकि समूचे देश का राजनैतिक वातावरण तेजी से बदलता जा रहा था और देश में संवैधानिक सुधारों की जोरदार मांग की जा रही थी, अतः महाराणा ने भी कुछ संवैधानिक सुधार लागू करना उचित समझा और 23 मई, 1947 ई. को राज्य को एक नया संविधान प्रदान किया, जिसका प्रारूप के. एम. मुंशी ने तैयार किया था। फिर भी, यह संविधान प्रजामण्डल की आकांक्षाओं के अनुकूल नहीं था, अतः उसने उसको पूर्णरूप में स्वीकार नहीं किया, परन्तु व्यवस्थापिका के चुनावों में भाग लिया और बहुत–सी सीटें जीती। परिणामस्वरूप प्रजामण्डल के एक नेता मोहनलाल सुखाड़िया को 23 मई, 1947 ई. को मंत्री पद पर नियुक्त किया गया। स्वतंत्रता के बाद महाराणा ने बिना किसी विरोध के भारत के साथ मिलने का फैसला कर लिया।

25.4. मारवाड़ (जोधपुर) प्रजामण्डल :

मारवाड़ में राजनीतिक चेतना का श्रीगणेश दिसम्बर, 1918 में ही हो गया। इस वर्ष चांदमल सुराणा ने 'मारवाड़ हितकारिणी सभा' की स्थापना करके मारवाड़ में जन–जागृति की ज्योति जलाई। 1920 ई. में जयनारायण व्यास ने 'मारवाड़ सेवा संघ' की स्थापना करके मारवाड़ नरेश के निरंकुश शासन को नियंत्रित करने का प्रयास किया। 1928 में 'मारवाड़ राज्य लोक परिषद्' का जब अधिवेशन होने जा रहा था तो जोधपुर सरकार ने उस पर प्रतिबन्ध लगा दिया। राजस्थान के भावी कर्णधार श्री जयनारायण व्यास ने ब्यावर से प्रकाशित होने वाले अपने समाचार–पत्र 'तरूण राजस्थान' के माध्यम से सरकार की इस कार्यवाही की कटु आलोचना की। इस पर वे भंवरलाल सर्राफ और आनन्द राज सुराणा के साथ बन्दी बना लिए गये। नागौर के दुर्ग में एक विशेष अदालत की स्थापना की गई। वहां इन तीनों पर मुकदमा चलाया गया तथा व्यास जी को 6 वर्ष तथा अन्य दो को 5–5 वर्ष की सजा दी गई। परन्तु जनवरी सन् 1933 में ही वे सब रिहा कर दिए गये।

व्यास जी का दृष्टिकोण सीमित नहीं था। राष्ट्रीयता उनकी नस–नस में समा गई थी। अतः जेल से मुक्त होते ही उन्होंने अपने बीकानेर काण्ड में लिप्त साथियों की पैरवी करना आरम्भ कर दिया। उन्हीं दिनों सीकर, भावलपुर तथा लुहारू में जन–आन्दोलन चल रहे थे। उन आन्दोलनकारियों को भी आपने मार्ग प्रदर्शन किया। नेताओं की रिहाई के उपरान्त जोध्पुर में एक 'जोधपुर युवक लीग' की स्थापना हुई। इस समय देश में सविनय आन्दोलन आरम्भ हो चुका था। लीग के युवकों ने जोधपुर में स्वदेशी के प्रचार के लिए एक विशाल सभा की। इसमें खादी के उपयोग पर बल दिया तथा मद्य–पान व विदेशी वस्त्रों का कठोर विरोध किया। शिक्षण संस्थाओं में हड़तालें की गई। 'मारवाड़ राज्य लोक परिषद्' का अधिवेशन कस्तूरबा गांधी की अध्यक्षता में पुष्कर में आयोजित किया गया। जोधपुर सरकार द्वारा अधिवेशन को असफल बनाने के भारी प्रयास किए गये। परन्तु चान्दकरण शारदा के नेतृत्व में यह अधिवेशन सफल रहा। इसकी सफलता से जोधपुर सरकार बौखला उठी और 1932 ई. में जयनारायण व्यास को मानमल जैन व अभयमल मेहता सहित बन्दी बना लिया गया। 1932 ई. में 'मारवाड़ हिकारिणी सभा' अवैध घोषित कर दी गई। राज–कर्मचारियों को राजनीतिक कार्यविधियों में भाग लेने से प्रतिबन्धित कर दिया गया। परन्तु सरकार की इस कार्यवाही की जनता में उल्टी प्रतिक्रिया हुई। 1932 ई. में मारवाड़ में पहली बार स्वाधीनता दिवस मनाया गया। छगनराज चौपासनी वाला ने तिरंगा ध्वज फहराया। इसी प्रकार के वातावरण में 1934 ई. में प्रजामण्डल की स्थापना हो गई।

1936 में कांग्रेस के अन्तर्गत ही 'अखिल भारतीय देशी राज्य परिषद्' का गठन हो गया था। उसमें श्री जयनारायण व्यास महामंत्री पद के लिए निर्वाचित हुए। यह अधिवेशन करांची में हुआ था। अधिवेशन के समाप्त होते ही व्यास जी बम्बई आ गये और यहां से आपने 'अखण्ड भारत' समाचार पत्र का सम्पादन आरम्भ किया। परन्तु पत्र की आर्थिक अवस्था दयनीय होने के कारण आपको पत्र का सम्पादन बन्द करना पड़ा। इस सन्दर्भ में एक उल्लेखनीय घटना घटी जो आपके चरित्र पर प्रकाश डालती है। बीकानेर नरेश गंगासिंह जी ने गुमनाम से आपको आर्थिक सहायता देने का प्रयास किया। उस आर्थिक सहायता को स्वीकार करने से आपने स्पष्ट इन्कार कर दिया। इस घटना से महाराव गंगासिंह जी व्यास जी के व्यक्तित्व से इतना प्रभावित हुए कि उन्होंने जोधपुर के तत्कालीन प्रधानमंत्री डोनाल्ड फील्ड को लिखा कि ''निःसन्देह श्री जयनारायण व्यास राजशाही की आलोचना करने में सबसे तीखे रहे है। लेकिन वे पक्के ईमानदार है। उन्हें कोई भ्रष्ट नहीं कर सकता। वे अपनी राजनीतिक मान्यताओं के प्रति सत्यनिष्ठ रहे है........1'' महाराजा गंगासिंह जी भी बीकानेर के उल्लेखनीय शासकों में माने जाते है। उस समय वे भारत के देशी राज्यों के नरेशों में अच्छी साख रखते थे। उनकी यह भविष्यवाणी व्यास के जीवन में मृत्यु पर्यन्त तक सच्ची उतरी। राजस्थान के मुख्य मंत्री पद पर रहते हुए भी आपने गंगासिंह जी कि भविष्यवाणी को सही प्रमाणित किया। जिस प्रकार लाल बहादुर शास्त्री के जीवन में कोई बेईमानी का दाग लगाने की हिम्मत नहीं कर सकता, ठीक वैसी ही श्री व्यास जी ही की ईमानदारी में कोई भी सन्देह नहीं कर सकता। इसी कारण आप मुख्य–मंत्री पद पर

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

अल्प–काल ही ठहर सके। आज के परिपेक्ष में हमें व्यास जी के जीवन की इस घटना को बहुत ही चिन्तन के साथ स्मरण करना चाहिए।

'अखण्ड राजस्थान' पत्र के सम्पादन के बन्द होते ही श्री व्यास वापिस ब्यावर आ गये और अपनी जन्म–भूमि मारवाड़ में राजनीतिक चेतना का बिगुल बजाने लगे। 22 जुलाई, 1937 को आपने जोधपुर जाने का प्रयास किया परन्तु मारवाड़ जंक्शन पर ही आपको बन्दी बनाकर वापिस ब्यावर छोड़ दिया गया। यहां से आपने मारवाड़ सरकार के दमन की आलोचना 'मारवाड़ की अवस्था' नामक पर्चे के माध्यम से करना आरम्भ की। पोपा बाई का राज नामक पुस्तक प्रकाशित करा कर मारवाड़ के दयनीय प्रशासन की पोल खोल दी। इस पर आपको दो मह की सजा मिली। 6 मई, 1938 को हरिपुरा कांग्रेस अधिवेशन में स्वीकृत प्रस्ताव के अन्तर्गत जोधपुर में आपके साथियों ने 'मारवाड़ लोक परिषद्' की स्थापना की। जनवरी, 1938 ई. में सुभाष चन्द बोस भी जोधपुर आकर यहां के लोगों के स्वतंत्रता के लिए प्रेरित कर गये थे। आप ब्यावर रहते हुए इस परिषद् में नव–चेतना का संचार करते रहे। परन्तु इसकी स्थापना के कुछ मास उपरान्त आपको अपने बीमार पिता से मिलने जोधपुर आने की अनुमति मिली और आप जोधपुर आये। भगवान ने जोधपुर सरकार को भी सद्बुद्धि दी कि जिसके फलस्वरूप फरवरी, 1939 को व्यास जी के विरूद्ध लगाये गये सारे प्रतिबन्ध हटा लिए गये। अब उन्होंने जोधपुर रहते हुए अपनी सरकार से उत्तरदायी शासन स्थापित करने का अनुरोध किया। इस समय जोधपुर में भी अकाल पड़ा और अकाल के समय जन–साधारण की सेवा करने आपने लोक परिषद् को जोधपुर में लोकप्रिय बना दिया। फरवरी, 1940 में लोक–परिषद् की जोधपुर शाखा ने 'राजपूताना स्टेट्स पीपुल्स कान्फ्रेन्स' का आयोजन करने का निर्णय लिया। इसकी सफलता के लिए श्री रणछोड़दास जी महात्मा गांधी से आशीर्वाद लेने वर्धा गये। लोक परिषद् की बढ़ती हुई लोकप्रियता से जोधपुर की सरकार सहम गई और इसने प्रधानमंत्री डोनाल्ड फील्ड की सलाह पर परिषद् को अवैध घोषित कर दिया। व्यास जी अपने सहयोगियों के साथ बन्दी बना लिये गये। इस पर जोधपुर में आन्दोलन आरम्भ हो गया। सैंकड़ों कार्यकर्त्ता जेल के सीखचों में बन्द कर दिये गये। सरकार ने अपनी दमन नीति से इस आन्दोलन को दबाना चाहा। महात्मा गांधी ने अपने 'हरिजन' पत्र में इस दमन की कटु निन्दा की। अन्त में जोधपुर सरकार को सद्बुद्धि आई। जोधपुर नरेश के इंग्लैण्ड जाने के कारण परिषद व सरकार के बीच समझौता हो गया। जोधपुर नरेश के इंग्लैण्ड जाने के कारण परिषद व सरकार के बीच समझौता हो गया। जोधपुर नरेश ने अपने तत्वावधान में अपने यहां उत्तरदायी सरकार की मांग को स्वीकार कर लिया। इसी फलस्वरूप समस्त राजनीतिक बन्दी रिहा कर दिये गये। 1941 ई. में जोधपुर नगरपालिका के क्षेत्रीय आधार पर चुनाव हुए। उसमें लोक परिषद् के सदस्यों ने बृहमत प्राप्त किया। व्यास जी उसके अध्यक्ष चुने गये। परिषद के सदस्यों ने गांवों में जागीरदारों के विरूद्ध जागृति करना आरम्भ किया। महाराज इससे क्रुद्ध हो गये। 26 मई, 1942 को 'भारत छोड़ों' आन्दोलन के आरम्भ होते ही जोधपुर भी स्वतंत्रता संग्राम में कूद पड़ा। 1944 में महाराज ने सब बन्धियों को मुक्त कर एस. ए. सुधारकर को जोधपुर में नवीन प्रशासनिक सुधारों के लिए नियुक्त किया। 19 जून तक जनता को अपने विचार प्रेषित कर दिए। परन्तु नवीन सुधारों के अन्तर्गत उत्तरदायी सरकार की स्थापना नहीं की गई थी। अतः 2 मार्च, 1946 को परिषद् ने नावां अधिवेशन मे पूर्ण उत्तरदायी शासन की मांग की। इसी बीच 1946 में महाराज उम्मेदसिंह इस दुनिया से चल बसे। 28 फरवरी, 1948 को भारत सरकार द्वारा प्रेषित वी. पी. मेनन की मन्त्रणा पर जोधपुर सरकार झुक गई। व्यास के नेतृत्व में एक मिलाजुला मंत्रिमण्डल बना।

25.5. भरतपुर प्रजामण्डल :

भरतपुर राज्य में जन जागृति 20वीं शताब्दी के दूसरे शतक मे ही आरम्भ होने लगी थी जिनमें यहां के लोगों की साहित्य और पत्रकारिता में गहन रूचि का पर्याप्त योगदान था। 1912 ई. में जगन्नाथदास अधिकारी और गंगाप्रसाद शास्त्री ने भरतपुर में हिन्दी साहित्य समिति की स्थापना की जो शीघ्र ही अत्यन्त लोकप्रिय हो गई। 1920 ई. में जगन्नाथदास ने 'वैभव' नामक समाचार पत्र का प्रकाशन आरम्भ किया। संयोग से उस समय भरतपुर के तात्कालिक शासक किशनसिंह (1900–1927 ई) भी अन्य शासकों की तुलना में उदार और प्रगतिशील थे। अतः उन्होंने हिन्दी को राजभाषा बना दिया और नगरों में स्वायत्तशासी संस्थाओं को विकसित किया। प्रथम महायुद्ध में अंग्रेजों की विजय के उपलक्ष में जब राज्य में उत्सव मनाया गया तो विद्यार्थियों ने इसका विरोध किया था। किन्तु 1924 ई. की वृद्धि के विरोध में हुये किसान आन्दोलन के समय महाराजा ने दमन नीति अपनाकर बढ़ता गया। सरकार की दमन नीति के विरोध में 1 से 15 अप्रैल 1927 ई. में मध्य रियासत में अनेक सम्मेलन हुये जिन्हें रवीन्द्रनाथ ठाकुर, वी.जे. पटेल, मदनमोहन मालवीय, चौंदकरण शारदा आदि नेताओं ने सम्बोधित किया इसके परिणामस्वरूप आन्दोलन प्रबल हो गया और उसने राज्यमें उत्तरदायी शासन की मांग की। अतः महाराजा ने जनता को शासन में भागीदार बनाना स्वीकार कर लिया। इससे ब्रिटिश सरकार महाराजा के विरूद्ध हो गयी। इस समय लोगों के विरोध के कारण न केवल रियासत में अशान्ति और अव्यवस्था व्याप्त हो गई थी वरन उस पर ऋण भी काफी बढ़

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

गये था। अतः ब्रिटिश सरकार ने महाराजा को परामर्श दिया कि या तो अपनी समस्त शक्तियां अंग्रेजों द्वारा नियुक्त दीवान को सौंप दे अथवा फिर एक जांच आयोग का सामना करे जो राज्य की वर्तमान स्थिति और महाराजा के उत्तरदायित्व की जांच करेगा। प्रारम्भ में महाराजा ने जांच आयोग कर निर्णय स्थगित करना पड़ा। किन्तु महाराजा को अपनी समस्त शक्तियां ब्रिटिश सरकार द्वारा नियुक्त दीवान मैकेन्जी को सौंपनी पड़ी। मैकेन्जी ने सत्ता सम्भालते ही राज्य के चार अधिकारियों को भ्रष्टाचार के आरोप में पदमुक्त कर दिया और जगन्नाथदास अधिकारी को राज्य से निर्वासित कर आरोप से पदमुक्त कर दिया और ब्रिटिश सरकार के इस हस्तक्षेप से राज्य का वातावरण अत्यधिक तनावपूर्ण हो गया। 1929 ई. में भरतपुर में रखने का निश्चय किया। किन्तु ब्रिटिश दीवान मैकेन्जी के लिये ये राजनीतिक गतिविधियों असह्य थी। अतः लोक परिषद् के सचिव देशराज को उनके पैतृक गांव जुरेहा से गिफ्तार कर लिया गया और भरतपुर तक लगभग 45 मील भूखे पैदल चलने का बाध्य किया गया। परिषद् के अध्यक्ष गोपीराम यादव के गिरफ्तारी वारण्ट जारी कर दिये गये और गंगाप्रसाद चौधरी व लाला गंगासहाय के मकानों की तलाशी ली गई तथा अनेक लोगों को आपत्तिजनक भाषण देने के आरोप में गिरफ्तार कर लिया गया। इन कार्यवाहियों से राज्य की स्थिति अत्यन्त विस्फोटक हो गई और जनता व जाट महासभा ने ब्रिटिश दीवान को हटाने तथा राज्य में उत्तरदायी शासन स्थापित करने की मांग की और ऐसा न करने पर सत्याग्रह करने की चेतावनी दी। किन्तु ब्रिटिश दीवान ने राज्य में आतंक फैलाने के लिये सार्वजनिक सभाओं, जुलूसों और राजनीतिक भाषणों पर प्रतिबन्ध लगा दिया। यहां तक कि राष्ट्रीय नेताओं के चित्र रखना भी अपराध घोषित कर दिया गया। फिर भी राजनीतिक जागृति का दमन नहीं हो सका। 1930–31 ई. में सविनय अवज्ञा आन्दोलन में भाग लेने भरतपुर से भी एक जत्था अजमेर गया तथा कुछ विद्यार्थियों ने 29 जनवरी को भरतपुर में स्वतंत्रता दिवस मनाया।

हरिपुरा कांग्रेस प्रस्ताव के बाद भरतपुर के नेताओं ने दिसम्बर, 1938 ई. रेवाड़ी (हरियाणा) में भरतपुर राज्य प्रजामण्डलों की स्थापना की। गोपीराम यादव को इसका अध्यक्ष और मास्टर आदित्यकेन्द्र को इसका कोषाध्यक्ष बनाया गया। प्रजामण्डल ने रियासत के समक्ष पंजीकरण का आवेदन किया, किन्तु रियासत ने आवेदन पत्र को अस्वीकृत कर प्रजामण्डल की गतिविधियों को गैर कानूनी घोषित कर दिया। इस पर 9 अप्रैल, 1939 ई. को प्रजामण्डल ने रियासत को मण्डल पर प्रतिबन्ध न हटाने और दमनकारी कानूनों को रद्द न करने पर सत्याग्रह की धमकी दी। किन्तु रियासत पर इसका कोई प्रभाव नहीं हुआ। फलतः 21 अप्रैल, 1939 ई. को प्रजामण्डल ने सत्याग्रह आरम्भ कर दिया। रियासत की नीतियों की आलोचना में ओजस्वी भाषण दिये गये और ज़ुलूस निकाले गये। रियासतने दमन नीति का आश्रय लिया और लगभग 473 लोग गिरफ्तार किये गये जिनमें 32 महिलाएं भी थी। अन्त में, दिसम्बर, 1939 ई. में प्रजामण्डल और रियासत के मध्य समझौता हो गया जिसके अनुसार भरतपुर प्रजामण्डल का 'भरतपुर प्रजा परिषद्' के नाम से पंजीकरण हो गया तथा सभी राजनीतिक बन्दी रिहा कर दिये गये। सार्वजनिक समस्याओं को उठाना, प्रशासनिक सुधार के प्रयत्न और जनमत को शिक्षित करना प्रजा परिषद् ने अपने लक्ष्य निर्धारित किये।

1940 ई. के बाद प्रजा परिषद् के प्रभाव में उत्तरोत्तर वृद्धि होने लगी जिससे रियासत के अधिकारियों की चिन्ता बढ़ने लगी। अतः उन्होंने इसके मार्ग में अवरोध खड़े करने आरम्भ कर दिये। प्रजा परिषद् ने 27 अगस्त से 2 सितम्बर, 1940 ई. तक राष्ट्रीय सप्ताह का अयोजन किया जिसमें उत्तरदायी शासन की स्थापना सहित अनेक प्रस्ताव पारित किये गये। ये सभी प्रस्ताव मांगों के रूप में दीवान के समक्ष रखे गये, किन्तु रियसत ने इस ओर कोई ध्यान नहीं दिया। दिसम्बर 1940 ई. में प्रजा परिषद् का प्रथम राजनीतिक सम्मेलन जयनारायण व्यास की अध्यक्षता में भरतपुर में सम्पन्न हुआ, जिसमें उत्तरदायी शासन स्थापित करने की मांग पुनः दोहरायी गई। 28 से 30 सितम्बर, 1941 ई. को भरतपुर में प्रजा परिषद् का विशेष अधिवेशन हुआ जिसमें जयपुर प्रजामण्डल के अध्यक्ष हीरालाल शास्त्री ने भी भाग लिया। 1940–41 ई. में प्रजा परिषद् काफी सक्रिय हो चुकी थी। किन्तु रियासत के लिये प्रजा परिषद् की लोकप्रियता और राजनीतिक गतिविधियों असहनीय थी। अतः परिषद् के मंत्री को गिरफ्तार कर लिया।

1942 ई. के भारत छोड़ों आन्दोलन के प्रभाव से भरतपुर भी अक्षुण्ण नहीं रहा और यहां भी 10 अगस्त, 1942 ई. को उत्तरदायी शासन स्थापित करने की मांग को लेकर सत्याग्रह आरम्भ हो गया। रियासत ने अनेक लोगों को बन्दी बनाया, किन्तु आन्दोलन दिनों–दिन तीव्र होता गया। फलतः अक्टूबर, 1943 ई. में जनता को सन्तुष्ट करने के लिये रियासत ने केन्द्रीय सलाहकार समिति के स्थान पर 'बृज–जया प्रतिनिधि सभा' गठित करने की घोषणा की जिसके 50 सदस्यों में 37 निर्वाचित सदस्य रखे गये। तद्नुरूप अगस्त, 1943 ई. में प्रतिनिधि सभा के चुनाव हुये जिनमें प्रभाव परिषद् के 27 सदस्य निर्वाचित हुये। युगलकिशोर चतुर्वेदी प्रतिनिधि सभा के नेता और मास्टर आदित्यकेन्द्र उपनेता बने। किन्तु शीघ्र ही यह स्पष्ट हो गया कि इस सभा की स्थापना केवल दिखावा मात्र है, वास्तविक सत्ता अभी महाराजा और रियासत के

अधिकारियों के पास ही है। अतः अप्रैल, 1945 ई. में परिषद् ने प्रतिनिधि सभा का बहिष्कार कर दिया और राज्य में पूर्ण उत्तरदायी शासन स्थापित करने की मांग की। 23 मई 1945 ई. को प्रजा परिषद् ने 12 दिसम्बर तक राज्य में उत्तरदायी शासन स्थापित करने की मांग की और ऐसा न करने पर सत्याग्रह आरम्भ करने की चेतावनी दी। प्रत्युत्तर में रियासत ने 12 दिसम्बर तक राज्य में उत्तरदायी शासन स्थापित करने की मांग की और ऐसा न करने पर सत्याग्रह आरम्भ करने की चेतावनी दी। प्रत्युत्तर में रियासत की दमन नीति की सर्वत्र आलोचना हुई। अतः 1946 ई. में 'बसन्त दरबार' के अवसर पर महाराजा ने रियासत में लोकप्रिय मंत्रिमण्डल बनाने की घोषणा की और संवैधानिक सुधारों के लिये एक समिति नियुक्त की जिसमें प्रजा परिषद् के सदस्यों की बहुमत रखा गया। किन्तु बाद में महाराजा ने परिषद् के सदस्यों की संख्या कम कर दी। 17–18 दिसम्बर, 1948 ई. को कामां में परिषद् का सम्मेलन हुआ जिसमें उत्तरदायी शासन की स्थापना और बेगार समाप्त करने की मांग पुनः दोहरायी गयी। जनवरी, 1947 ई. में वायसराय वैबल और बीकानेर महाराजा शार्दुलसिंह के भरतपुर आगमन पर जनता ने राज्य प्रशासन के विरूद्ध प्रदर्शन किये। रियासत ने पुनः दमन नीति का आश्रय लिया। पुलिस ने प्रदर्शनकारियों पर भीषण अत्याचार किया। पुलिस की नृशंसता के विरोध में भरतपुर में 17 दिन तक पूर्ण हड़ताल रही। अनेक स्थानों पर उपद्रव हुये जो शीघ्र ही साम्प्रदायिक झगड़ों में परिवर्तित हो गये। अनेक स्थानों पर उपद्रवों के दमन में असफल रही। अन्त में, जनवरी, 1948 ई. में चार लोकप्रिय मंत्रियों की नियुक्ति की गई। किन्तु तीन माह पश्चात्, 18 मार्च, 1948 ई. को मत्स्य संघ के निर्माण के साथ ही भरतपुर राज्य का पृथक् अस्तित्व समाप्त हो गया और साथ ही उसकी लोकप्रिय सरकार का भी।

25.6. मूल्यांकन :

ब्रिटिश सत्ता के विरूद्ध भारतीय जनता में राष्ट्रवाद की जो जोरदार लहर उठी, उसने देशी राज्यों की चेतना को भी जागृत कर दिया और वहां की जनता अपने कष्टों तथा राजनीतिक समस्याओं के प्रति संवेदनशील बनती गई। देशी रियासतों के कुछ प्रमुख कार्यकर्त्ताओं ने शुरू से ही कांग्रेसी नेतृत्व में देशी राज्यों की समस्या को भी कांग्रेस के कार्यक्रम में शामिल करने का अनुरोध किया, परन्तु उन्हें निराश होना पड़ा। 1920 ई. में जब कांग्रेस का नेतृत्व महात्मा गांधी ने सम्भाला तो उन्हें आशा बंधी, परन्तु गांधीजी ने यह कह कर कि अभी देशी राज्यों के मामलों में दखल देने का उपयुक्त समय नहीं आया है, उन्हें निराश कर दिया। 1921 ई. में 'नरेन्द्र मण्डल' की स्थापना से देशी राज्यों की जनता का पक्ष और कमजोर पड़ गया। अब इनके सामने अपना पृथक् एवं स्वंतत्र गठन कायम करने के अलावा कोई दूसरा विकल्प न रहा और 1927 ई. में अ. भ. दे. रा. लोक परिषद् की स्थापना हो गई। इसके बाद अन्य राज्यों की भांति राजपूताना के विविध राज्यों में भी प्रजामण्डलों की स्थापना हुई और प्रजामण्डलों ने अपने सीमित साधनों के साथ ही बहादुरी के साथ राजाओं की निरंकुश सत्ता से लोहा लिया और जन–आन्दोलन चलाया। इन आन्दोलनों के दौरान लोगों को अनेक प्रकार के पुलिस जुल्मों को सहन करना पड़ा। कईयों को अपने प्राणों से हाथ धोना पड़ा। परन्तु प्रजामण्डल आखिर तक मैदान में डटे रहे और उत्तरदायी शासन के लक्ष्य को प्राप्त करने में सफल रहे। उनके समर्थन से राष्ट्रीय आन्दोलन को भी बल मिला। स्वतंत्रता–प्राप्ति के बाद अधिकांश राजाओं ने प्रजामण्डलों ने जन–आन्दोलनों से भयभीत होकर ही भारतीय संघ में मिलना स्वीकार किया था। इस दृष्टि से प्रजामण्डल देश को राजनैतिक एकता के सूत्र में बांधने की दिशा में भी महत्वपूर्ण सिद्ध हुए। इसके साथ–ही–साथ प्रजामण्डलों ने अपने–अपने राज्यों में सामाजिक सुधारों, शिक्षा के प्रसार, बेगार प्रथा के उन्मूलन तथा अन्य आर्थिक समस्याओं का समाधान करने की दिशा में भी महत्वपूर्ण कदम उठाये। इसमें संदेह नही कि प्रजामण्डलों ने राजस्थान में राजनैतिक चेतना को उत्पन्न तथा विकसित करने में अहम् भूमिका अदा की।

25.7. बोध प्रश्न :

प्रश्न 1 अखिल भारतीय देशी राज्य लोक परिषद् का प्रथम अधिवेशन कहां हुआ?

अ. बम्बई	ब. मद्रास
स. कलकत्ता	द. बनारस

उत्तर – ....

प्रश्न 2 राजस्थान सेवा संघ पर टिप्पणी लिखिए?

उत्तर – ....

प्रश्न 3 उदयपुर प्रजामण्डल और मारवाड़ प्रजामण्डल पर अपने विचार प्रकट करिये।

उत्तर – ....

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

इकाई – 26
राजस्थान राज्य का निर्माण
(1948 ई. – 1956 ई.)

संरचना

26.0 उद्देश्य
26.1 प्रस्तावना
26.2 राजस्थान के निर्माण में कठिनाइयां
    26.2.1 राजस्थान के नरेशों का स्वाभिमानी होना
    26.2.2 नरेशों के विभिन्न दृष्टिकोण
    26.2.3 जौधपुर व बीकानेर नरेशों की अलग–अलग धारणाएं
26.3 एकीकरण की अवधारणा और स्वतःस्फूर्त प्रयत्न
26.4 प्रथम चरण – मत्स्य राज्य का गठन
26.5 द्वितीय चरण – संयुक्त राजस्थान (द्वितीय) का गठन
26.6 तृतीय चरण – संयुक्त राजस्थान का निर्माण
26.8 पंचम चरण – मत्स्य संघ का वृहद राजस्थान में विलय
26.9 षष्ठम चरण – सिरोही एवं आमेर – मेरवाड़ा का विलय – सिरोही का प्रश्न
26.10 अजमेर का विलय
26.11 राजशाही के अवशेषों की समाप्ति
26.12 बोध प्रश्न

26.0 उद्देश्य :

प्रस्तुत इकाई में स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात राजस्थान राज्य के निर्माण को निम्नलिखित बिन्दूओं के माध्यम से अवगत कराया जायेगा –

–राजस्थान के निर्माण में आई कठिनाइयाँ

–राजस्थान के निर्माण के विभिन्न चरण – मत्स्य राज्य का गठन, संयुक्त रास्थान का निर्माण, वृहद राजस्थान का निर्माण आदि का विस्तारपूर्वक विवेचन किया गया है।

26.1 प्रस्तावना :

भारत में लगभग 565 देशी रियासतें थीं जिनका कुल क्षेत्रफल 18 लाख वर्ग किलोमीटर से अधिक था। यह क्षेत्रफल सारे देश के क्षेत्रफल का 45 प्रतिशत था। 1819 के अंत तक देश की सभी रियासतें ब्रिटिश सरकार को सार्वभौम सत्ता के रूप में स्वीकार कर चुकी थीं। यद्यपि ब्रिटिश सरकार समय–समय पर रियासतों के अन्दरूनी मामलों में भी दखल करती रहती थीं, यद्यपि वैधानिक दृष्टि से सुरक्षा, विदेशी मामलों एवं अन्तर्जातीय सम्बन्धों को छोड़कर शेष सभी विषयों में ये रियासतें स्वतन्त्र थीं। आजादी के पूर्व राजपूताना एजेंसी में कुल 19 रियासतें थीं इनमें सबसे अधिक प्राचीन रियासत मेवाड़ थी जिसकी स्थापना गुहिल ने 565 में की थी। सबसे नयी रियासत झालावाड़ थी जिसकी स्थापना 1835 में झाला मदनसिंह ने अंग्रेजों की कृपा से की थी। क्षेत्रफल की दृष्टि से इस प्रदेश की सबसे बड़ी रियासत जोधपुर थी जिसका क्षेत्रफल 45,000 वर्ग किलोमीटर थी और सबसे छोटी रियासत शाहपुरा थी जिसका क्षेत्रफल 1000 वर्ग किलोमीटर था। हरिपुरा कांग्रेस में लिए गए निर्णय के अनुसार 1938–39 में प्रदेश की लगभग सभी रियासतों में प्रजामण्डल। प्रजा–परिषद् के नाम से राजनीतिक संगठन बन गए थे। इन संगठनों

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

का उद्देश्य अपनी–अपनी रियासतों में सम्बन्धित नरेश की छत्रछाया में उत्तरदायी शासन की स्थापना करना था। उस समय तक राजाओं की समाप्ति की तो बात ही क्या, रियासतों के एकीकरण की भी किसी ने कल्पना नहीं की थी।

26.2. राजस्थान के निर्माण में कठिनाइयाँ :

26.2.1. राजस्थान के नरेशों का स्वाभिमानी होना – हालांकि राजस्थान के समस्त नरेश ब्रिटिश हुकूमत के तो पूर्णतः गुलाम बन चुके थे। उनकी दासता में वे अपना हित समझते थे। टोंक का नवाब पाकिस्तान के गीत गा रहा था। परन्तु जहाँ तक उनकी आपसी प्रतिष्ठा का प्रश्न था–वे सब अपने को एक–दूसरे के समकक्ष समझते थे। डूंगरपुर, बांसवाड़ा व शाहपुरा जैसी छोटी रियासतों के नरेश भी अपने को महाराणा, जोधपुर नरेश व कोटा के महाराव से कम नहीं समझते थे। अतः जब कभी राजस्थान की रियासतों को मिलाकर एक संवर्ग में गठित करने की बात आई तो प्रत्येक नरेश का यही प्रयास रहा कि उस संवर्ग में वह अपने राज्य को प्रभावशाली रखे। इसके सथ ही उस संवर्ग में वे अपना पद भी गौरवशाली बनाये रखना चाहते थे। मेवाड़ के महाराणा भूपालसिंह ने जब अपने नेतृत्व में संघ बनाना चाहा तो उन्होंने इसी नीति पर आचरण किया। इसी प्रकार जब जयपुर नरेश मानसिंह ने राजस्थान की दक्षिण–पूर्वी रियासतों का संघ बनाना चाहा तो उन्होंने भी जयपुर राज्य का महत्व रखते हुए अपने पद को सम्माननीय बनाये रखने का प्रयास किया। उनकी इस नीति ने छोटी रियासतों के नरेशों के मस्तिष्क में शंका उत्पन्न कर दी। परन्तु जब इंगलैण्ड की एटली सरकार ने भारत की सत्ता भारतवासियों को सौंपने का समय (जून, 1947) निर्धारित कर दिया तो रियासतों में खलबली मचना स्वाभाविक था। रियासतों के भविष्य के संदर्भ में ब्रिटिश सरकार ने स्पष्ट किया था कि भारत को स्वाभाविक ढाँचे में समुचित रूप से अपना भाग अदा करने के लिए छोटी–छोटी रियासतों को आपस में मिलकर बड़ी इकाइयाँ बना लेनी चाहिए या उन्हें पडौस की बड़ी रियासतों या प्रान्तों में मिल जाना चाहिए। इसी संदर्भ में सितम्बर, 1946 में अखिल भारतीय देशी लोक परिषद् भी यह निर्णय ले चुकी थी कि राजस्थान की कोई भी रियासत अपने आप में भारतीय संघ में शामिल होने के योग्य नहीं है। अतः समस्त राजस्थान को एक ही संवर्ग के रूप में भारतीय संघ में शामिल होना चाहिए। इस चेतावनी से छोटी रियासतें अपने भविष्य के लिए भयातुर अवश्य थीं। मेवाड़ के महाराणा भूपालसिंह ने समय के बदलाव को पहिचाना और समय का लाभ उठाते हुए उन्होंने पडौसी छोटी रियासतों को मिलाकर उनकी एक बड़ी संवर्ग बनाने का प्रयास किया। इसके लिए उन्होंने सम्मेलनों का आयोजन किया जिनका वर्णन आगे किया जायेगा। महाराणा द्वारा आयोजित सम्मेलनों से डूंगरपुर, प्रतापगढ़, बांसवाड़ा, शाहपुरा आदि रियासतों के नरेश यही सोचने लगे कि महाराणा हमारा विलय करके हमारे अस्तित्व को समाप्त करना चाहते हैं और वे मेवाड़ का प्रभाव–क्षेत्र बढ़ाना चाहते हैं। इसी प्रकार जब जयपुर नरेश मानसिंह की अनुमति से उनके प्रधानमंत्री वी.टी. कृष्णमाचारी ने प्रदेश के शासकों का सम्मेलन बुलाया तो अलवर, भारतपुर व करौली को अपना अस्तित्व संकट में लगा। इसी प्रकार राजस्थान की अन्य छोटी रियासतें भी पारस्परिक अविश्वास के कारण संघ में मिलने को तैयार नहीं हो रही थीं।

26.2.2. नरेशों के विभिन्न दृष्टिकोण – राजस्थान की छोटी रियासतों के विलय के संदर्भ में राजस्थान की रियासतों को बड़ी संवर्ग के रूप में बदलने के प्रस्ताव पर राजस्थान के लगभग सभी राजा सहमत थे। परन्तु वे अपने विचारों को असली जामा विभिन्न स्वरूपों में पहनाना चाहते थे। मेवाड़ के महाराणा राजस्थान की चार बड़ी रियासतों (जयपुर, जोधपुर, बीकानेर, उदयपुर) का अस्तित्व रखते हुए ऐसा संघ बनाना चाहते थे जो एक महत्वपूर्ण संवर्ग के रूप में भावी भारतीय संघ में भूमिका निभा सके। जबकि कोटा के महाराव भीमसिंह कोटा, बूंदी व झालावाड़ को मिलाकर उनका एक संयुक्त संघ बनाना चाहते थे। इसी प्रकार डूंगरपुर के महारावल लक्ष्मणसिंह डूंगरपुर, बांसवाड़ा, कुशलगढ़ व प्रतापगढ़ को मिलाकर एक अलग संवर्ग बनाना चाहते थे। जैसाकि बताया जा चुका है कि जयपुर नरेश अलवर और करौली को लेकर अलग संघ बनाना चाहते थे। नरेशों के विभिन्न विचारों के कारण राजपूताने की रियासतें आपस में एक संवर्ग में परिणित नहीं हो पा रही थीं।

26.2.3. जोधपुर व बीकानेर नरेशों की अलग धारणा – जोधपुर नरेश हनुवन्तसिंह ब्रिटिश सरकार की घोषणा के उपरान्त अपनी नई धारणा बना रहा था। महत्वाकांक्षी होने के कारण वह अपने राज्य के लिए अधिक सुविधाएँ व अधिकार प्राप्त करने का इच्छुक था। धौलपुर का शासक उदयभान सिंह उसे पाकिस्तान में मिलने के लिए प्रोत्साहित कर रहा था। भोपाल नवाब के माध्यम से जोधपुर नरेश ने पाकिस्तान के निर्माता मुहम्मद अली जिन्ना से मुलाकात की। मुहम्मद अली ने उसे निम्न प्रलोभन देने का आश्वासन देकर अपना बनाने का प्रयास किया–

1. जोधपुर राज्य को कराची बन्दरगाह की सभी सुविधाएं प्रदान की जावेंगी।

2. जोधपुर राज्य को शस्त्र आयात करने की छूट रहेगी।

3. जोधपुर–सिन्ध रेलवे पर जोधपुर का अधिकार होगा।

4. जोधपुर राज्य को अकाल के समय यथेष्ट अनाज उपलब्ध कराया जावेगा।

उपर्युक्त प्रलोभनों से प्रभावित हो जोधपुर नरेश पाकिस्तान में अपने राज्य के विलय के संदर्भ में मानस बना चुका था। उसका साथ जैसलमेर व बीकानेर के नरेश भी दे रहे थे। परन्तु वी.टी. मेनन के ठीक समय पर किये गये प्रयासों व लार्ड माऊण्टबैटन के समझाने के कारण जोधपुर नरेश ने अपनी रियासत को पाकिस्तान में विलय करने का विचार त्याग दिया। इसके साथ ही जैसलमेर नरेश की हिन्दुत्व की भावना ने भी उसको इस मार्ग से हटा लिया। जब जोधपुर नरेश जिन्ना के कहने पर पाकिस्तान के साथ समझौता करने को उद्यत हो गये तो उन्होंने जैसलमेर के नरेश से पूछा कि तुम मेरे साथ पाकिस्तान में विलय पर हस्ताक्षर करोगे या नहीं? प्रत्युत्तर में जैसलमेर के राजा ने कहा कि यदि हिन्दू व मुसलमानों के मध्य कोई संकट उत्पन्न हुआ तो वह हिन्दुओं के विरूद्ध मुसलमानों का साथ नहीं देना। जैसलमेर के नरेश का यह कहना जोधपुर के नरेश को एक वज्रपात के सदृश लगा। उसने पाकिस्तान में विलय का विचार त्याग भारतीय संघ में मिलने का इरादा कर लिया। इसी प्रकार बीकानेर नरेश शार्दूलसिंह भी पहले बीकानेर को राजस्थान संघ्ञ में विलय करने के पक्ष में नहीं था। दिसम्बर, 1946 में वी.पी. मेनन बीकानेर नरेश से भी इस सदर्भ में मिले। उन्होंने मेनन को इंकार कर दिया; परन्तु जब जैसलमेर व जोधपुर के नरेश राजस्थान में विलय के लिए राजी हो गये तब कहीं बीकानेर नरेश ने राजस्थान में विलय की सहमति दे दी। 30 मार्च, 1949 को जब वृहद् राजस्थान का निर्माण हो गया तो बीकानेर रियासत का अस्तित्व भी समाप्त हो गया। इस प्रकार जोधपुर व बीकानेर रियासतों के नरेशों ने भी राजस्थान संघ के निर्माण में कुछ विलम्ब ही किया।

26.3. एकीकरण की अवधारणा और स्वतःस्फूर्त प्रयत्न :

स्वतंत्रता प्राप्ति के समय राजस्थान में 22 छोटी–बड़ी रियासतें थीं और अजमेर–मेरवाड़ा का प्रदेश सीधे ब्रिटिश शासन के अन्तर्गत था। इन समस्त रियासतों और ब्रिटिश शासित प्रदेश को सम्मिलित रूप से एक संवर्ग के रूप में संगठित करने की चर्चा स्वतंत्रता प्राप्ति के काफी पहले ही आरम्भ हो गयी थी। 1939 ई. में वायसराय लार्ड लिनलिथगो ने रियासतों के समूहीकरण के सम्बन्ध में रियासतों में नियुक्त अंग्रेज अधिकारियों और शासकों से इस सम्बन्ध में बातचीत की थी। किन्तु शासकों के सहयोग के अभाव में यह योजना विफल हो गयी। तदनन्तर जुलाई, 1945 ई. में इंगलैण्ड में मजदूर दल की सरकार के गठन के बाद जब एटली सरकार ने सत्ता भारतीयों को हस्तान्तरित करने का समय जून, 1947 ई. निर्धारित कर दिया तो देशी रियासतों में भी अपने भविष्य को लेकर खलबली मच गई। केबीनेट मिशन ने भी अपने प्रतिवेदन में इन रियासतों के भविष्य के सम्बन्ध में स्पष्ट कर दिया था कि "भारत के स्वाभाविक ढाँचे में समुचित रूप में अपना भाग अदा करने के लिये छोटी रियासतों को आपस में मिलकर बड़ी संवर्ग बना लेनी चाहिये या उन्हें अपने पड़ौस की बड़ी रियासतों या प्रान्तों में मिल जाना चाहिये।" इसी संदर्भ में सितम्बर, 1946 ई. में 'अखिल भारतीय देशी राज्य लोक परिषद् भी निर्णय ले चुकी थी कि "राजस्थान की कोई भी रियासत अपने–आप में भारतीय संघ में शामिल होने योग्य नहीं है। अतः समस्त राजस्थान को एक ही संवर्ग के रूप में भारतीय संघ में शामिल होना चाहिये।" शीघ्र ही इस दिशा में प्रयत्न आरम्भ हो गये। सर्वप्रथम कोटा के महाराव भीमसिंह ने इस ओर प्रयत्न किये, किन्तु उन्हें कोई सफलता नहीं मिली। फिर भी महाराव ऐसे प्रयत्नों को प्रोत्साहन और समर्थन देता रहा। तत्पश्चात् मेवाड़ के महाराणा भूपालसिंह ने 25–26 जून, 1946 ई. को राजस्थान, गुजरात और मालवा के शासकों का एक सम्मेलन आयोजित किया जिसमें उन्होंने उपस्थित राजाओं से राजस्थान यूनियन के निर्माण की अपील की जो भावी संघ की सुदृढ़ संवर्ग बन सके। राजाओं ने महाराणा के प्रस्ताव पर सहमति व्यक्त की और इस पर विचार का वायदा किया। इस योजना को क्रियान्वित करने के लिये महाराणा ने भी के.एम. मुंशी को अपना संवैधानिक सलाहकार नियुक्त किया और उनकी सलाह पर 23 मई, 1947 ई. को उक्त राजाओं का दूसरा सम्मेलन उदयपुर में आयोजित किया। इस सम्मेलन में महाराणा ने उपस्थित राजाओं को चेतावनी दी कि यदि "हम लोगों ने मिलकर अपनी रियासतों की यूनियन नहीं बनायी तो सभी रियासतें जो प्रान्तों के समकक्ष नहीं हैं, निश्चित रूप से समाप्त हो जायेंगी।" फलतः जयपुर, जोधपुर और बीकानेर जैसी बड़ी रियासतों को छोड़कर शेष रियासतों ने एक संघ के निर्माण के लिये एक समिति का गठन किया गया। फरवरी, 1948 ई. में इस समिति ने प्रस्तावित संघ के विधान का प्रारूप भी प्रस्तुत कर दिया। किन्तु उक्त प्रारूप पर मतैक्य नहीं हो सका। इस प्रकार यह योजना असफल हो गयी।

इसके पश्चात् जयपुर के महाराजा सवाई मानसिंह की स्वीकृति से रियासत के दीवान सर वी.टी. कृष्णामाचारी ने प्रदेश के राजाओं और उनके प्रतिनिधियों का एक सम्मेलन बुलाया। इस सम्मेलन में उसने प्रस्ताव रखा कि प्रदेश की रियासतों

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

को मिलाकर एक ऐसा संघ बनाया जाय जिसमें हाइकोर्ट, उच्च शिक्षा, पुलिस आदि विषय तो संघ को सौंप दिये जायें और शेष विषय संवर्गयों के पास रहें। इस प्रस्ताव को स्वीकार्य न होने की दशा में उसने विकल्प के रूप में एक यह प्रस्ताव भी रखा कि प्रदेश की जो रियासतें अपना पृथक् अस्तित्व बनाये रखने में अक्षम हैं, वे अपने पड़ौस की बड़ी रियासतों में मिल जायें। किन्तु यह सम्मेलन भी बिना कोई निर्णय लिये समाप्त हो गया। कोटा के महाराव भीमसिंह ने कोटा, बूंदी और झालावाड़ को मिलाकर एक संयुक्त राज्य बनाने का प्रयत्न किया, तो दूसरी ओर डूंगरपुर के महारावल लक्ष्मणसिंह डूंगरपुर, प्रतापगढ़ और कुशलगढ़ को मिलाकर एक संयुक्त राज्य बनाने के लिये प्रयत्नशील थे। किन्तु इन दोनों के प्रयास भी सफल नहीं हो सकें।

दूसरी ओर भारत में स्थित छोटी रियासतों के विलय के सम्बन्ध में भारत सरकार के 'रियासती सचिवालय' ने यह निर्णय लिया कि स्वतंत्र भारत में वे ही रियासतें अपना पृथक् अस्तित्व रख सकेंगी जिनकी वार्षिक आय एक करोड़ और जनसंख्या दस लाख या अधिक होंगी। इस मापदण्ड के अनुसार राजस्थान की केवल चार रियासतें–बीकानेर, जयपुर, जोधपुर और उदयपुर ही अपना पृथक् अस्तित्व बनाये रखने में सक्षम थीं। इस मापदण्ड के निर्धारण से छोटी रियासतों को यज अनुभव तो हो गया था कि स्वतंत्र भारत में परस्पर मिलकर स्वावलम्बी राजनीतिक संवर्गयों के निर्माण के अतिरिक्त उनके पास कोई विकल्प नहीं है, किन्तु इन रियासतों के शासकों का पारस्परिक अविश्वास, द्वेष और ईर्ष्या, इसमें सबसे बड़ी बाधा सिद्ध हो रही थी। राजस्थान की बड़ी रियासतों द्वारा एकीकरण की दिशा में किये गये प्रयत्नों को छोटी रियासतों ने बड़ी रियासतों द्वारा छोटी रियासतों को निगलने के रूप में देखा। एक सीमा तक उनका यह सोचना सही भी था। वस्तुतः कुछ रियासतों के शासक एकीकरण और समूहीकरण के माध्यम से अपनी दमित राजनीतिक महात्वाकांक्षाओं को पूरा करने के लिये प्रयत्नशील थे और उन्होंने ऐसे संकेत भी दिये थे। मेवाड़ के महाराणा छोटी रियासतों को मिलाकर बृहत्तर मेवाड़ का निर्माण करना चाहते थे और फिर जयपुर, जोधपुर और बीकानेर को मिलाकर स्वयं के नेतृत्व में रियासतों का एक ऐसे संघ बनाना चाहते थे जो भारतीय संघ में अपनी महत्वपूर्ण भूमिका निभा सके। जयपुर के महाराजा तो अंत तक इस प्रयास में लगे रहे कि वृहद राजस्थान के निर्माण की अपेक्षा राजस्थान की रियासतों को तीन या चार इकाइयों में बांट दिया जाय तथा करौली व अलवर को जयपुर में मिला दिया जाय। कोटा के महाराव भीमसिंह भी कोटा, बूंदी और झालावाड़ को मिलाकर एक संघ बनाना चाहते थे। इसी भांति डूंगरपुर के महारावल भी डूंगरपुर, बांसवाड़ा, कुशलगढ़ और प्रतापगढ़ को मिलाकर एक अलग संवर्ग बनाने के प्रयत्न में थे। जोधपुर नरेश हनुवन्त सिंह तो जोधपुर को पाकिस्तान के साथ मिलाने के प्रयत्नशील थे। इस सम्बन्ध में उन्होंने मुहम्मद अली जिन्ना से बातचीत भी करली थी। किन्तु सरदार पटेल, वी.पी. मेनन और लार्ड माऊण्टबेटन की जागरूकता और प्रयत्नों से जोधपुर नरेश ने इस आत्मघातक निश्चय को त्याग दिया। इस प्रकार राजाओं द्वारा एकीकरण और समूहीकरण के लिये किये गये सभी प्रयत्न असफल रहे। इनकी असफलता ने यह स्पष्ट कर दिया कि प्रबल जनमत और शक्ति सम्पन्न केन्द्रीय सत्ता के दबाव के बिना एकीकरण संभव नहीं है।

रियासती शासकों के साथ ही राजस्थान के विभिन्न राजनीतिक संगठन भी वृहद् राजस्थान के निर्माण के लिए प्रयत्नशील थे। अ. भा. देशी राज्य लोक परिषद् की राजपूताना प्रान्तीय सभा सितम्बर, 1946 ई. में ही यह प्रस्ताव पारित कर चुकी थी कि राजस्थान की कोई भी रियासत स्वतंत्र रूप से भारतीय संघ में शामिल होने की योग्यता नहीं रखती। अतः समस्त राजस्थान को एक संवर्ग के रूप में भारतीय प्रजामण्डल और प्रजा परिषदें भी वृहद् राजस्थान के निर्माण की मांग उठाते रहे थे। मार्च, 1948 ई. में राजपूताना प्रान्तीय सभा की कार्यसमिति ने स्पष्ट रूप से घोषणा कर दी थी कि राजस्थान की सभी रियासतों और अजमेर–मेरवाड़ा को सम्मिलित कर वृहद् राजस्थान के निर्माण के अतिरिक्त अन्य कोई विकल्प नहीं है। दूसरी ओर राम मनोहर लोहिया के नेतृत्व में समाजवादी दल भी अखिल भारतीय स्तर पर वृहद् राजस्थान के निर्माण की मांग कर रहा था। किन्तु इन प्रस्तावों और मांगों को कार्यरूप में परिणित करने के लिये अभी अनेक सोपान पार करने थे। भारत सरकार के रियासती सचिवालय ने इस दुष्कर कार्य को पूरा करने का निश्चय किया। अन्ततः सरदार पटेल और वी.पी. मेनन ने अत्यन्त बुद्धिमत्ता, दूरदर्शिता, कूटनीति और संयम और लार्ड माऊण्टबेटन के सहयोग से शनैःशनैः विभिन्न सोपानों को पारकर विभिन्न रियासतों और ब्रिटिश क्षेत्रों को एकीकृत करके राजस्थान को वर्तमान स्वरूप दिया। राजस्थान के वर्तमान रूप का निर्माण स्थूल रूप से छः चरणों में पूर्ण हुआ।

1. प्रथम चरण मेंअलवर, भरतपुर, धौलपुर और करौली रियासतोंको सम्मिलित करके 'मत्स्य संघ' का निर्माण किया गया।

2. द्वितीय चरण में कोटा, बूंदी, झालावाड़, डूंगरपुर, बांसवाड़ा, प्रतापगढ़, टोंक, किशनगढ़ और शाहपुरा को मिलाकर ''संयुक्त राजस्थान'' का निर्माण किया गया।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

3. तृतीय चरण में मेवाड़ का "संयुक्त राजस्थान" का निर्माण किया गया।

4. चतुर्थ चरण में जयपुर, बीकानेर, जोधपुर और जैसलमेर को "संयुक्त राजस्थान" में सम्मिलित करके "वृहद् राजस्थान" का निर्माण किया गया।

5. पंचम चरण में "मत्स्य संघ" को वृहद् राजस्थान में सम्मिलित कर दिया गया।

6. षष्ठम चरण में अजमेर–मेरवाड़ा और सिरोही को सम्मिलित करके आधुनिक राजस्थान का निर्माण हुआ।

26.4. प्रथम चरण– मत्स्य राज्य का गठन :

स्वतंत्रता प्राप्ति के समय अलवर व भरतपुर में बड़े पैमाने पर साम्प्रदायिक दंगे हो रहे थे। प्रथम मेव लोगों ने भरतपुर का उत्तरी भाग, गुड़गाँव और अलवर के दक्षिणी भाग को मिलाकर 'मेवस्तान' बनाने का प्रयास किया था। परन्तु हिन्दुओं ने उनकी मुरादों पर पानी फेर दिया और इसी कारण यहां अशांति फैली थी। वहां के मेव (मुसलमान) लोग भारी संख्या में पाकिस्तान जा रहे थे। भारत सरकार इससे विक्षुब्ध थी। अलवर नरेश का उसमें सक्रिय हाथ होने की आशंका में भारत सरकार के गृह–मंत्री ने अलवर नरेश को दिल्ली नजरबंद कर लिया और राज्य का प्रशासन अपने हाथों में ले लिया। हालांकि अलवर में साम्प्रदायिक झगड़े भरतपुर के झगड़ों के कारण हुए थे। उधर इन साम्प्रदायिक दंगों के कारण भरतपुर की कानून–व्यवस्था भी टूट चुकी थी। अतः भरतपुर नरेश बृजेन्द्र सिंह अपने राज्य की बिगड़ती दशा के कारण अपनी रियासत का शासन–तंत्र मेनन की मंत्रणा पर केन्द्रीय सरकार को सौंपने को उद्यत हो गया। हालांकि भरतपुर नरेश ने साम्प्रदायिक झगड़ों को शांत करने के लिए हरचन्द कोशिश की थी। जनता से भी इसमें सहयोग देने को कहा गया था। परन्तु भरतपुर सरकार के सारे प्रयास विफल रहे। अलवर–भरतपुर से मिलती हुई करौली व धौलपुर दो छोटी रियासतें और थीं। ये चारों रियासतें भारत सरकार द्वारा निर्धारित मापदण्ड के अनुसार पृथक् अस्तित्व बनाये रखने योग्य नहीं थीं। वैसे भी धौलपुर नरेश ने पाकिस्तान में विलय के प्रश्न पर जोधपुर नरेश का साथ दिया था। अतः भारत सरकार उससे भी नाराज थी। इसीलिए 27 फरवरी, 1948 ई. को भारत सरकार ने इन रियासतों को सलाह दी कि अलवर, भरतपुर, धौलपुर व करौली को मिलाकर एक नवीर राज्य के रूप में रूपान्तरित हो जाना चाहिए। चारों रियासतों ने इस प्रस्ताव को स्वीकार कर दिया और 18 मार्च, 1948 को ये चारों रियासतें 'मत्स्य' के नाम से ही जाना जाता था। अतः इस नवीन राज्य को यही नाम दिया गया और इस नवीन राज्य का उद्घाटन 18 मार्च, 1948 को भारत के केन्द्रीय मंत्री एन. वी. गाडगिल ने किया। हालांकि इसके उद्घाटन के समय भरतपुर नरेश के अनुज मानसिंह के नेतृत्व में जाटों ने उसकी राजधानी अलवर रखी गई। इसकी जनसंख्या 1.8 करोड़ तथा वार्षिक आय 2 करोड़ थी। संघ का प्रधानमंत्री अलवर प्रजामण्डल के नेता श्री शोभाराम कुम्हावत को बनाया गया जबकि राजप्रमुख महाराजा धौलपुर उदयभान सिंह को बनाया गया। मंत्रीमण्डल में 8 मंत्री रखे गये।

26.5. द्वितीय चरण– सँयुक्त राजस्थान का निर्माण :

मत्स्य संघ के निर्माण के समय ही रियासती विभाग रजस्थान की दक्षिणी और दक्षिणी–पूर्वी रियासतों के समूहीकरण और एकीकरण के लिये प्रयत्नशील था। सर्वप्रथम रियासती विभाग ने इन रियासतों के समक्ष मध्य भारत और गुजरात की रियासतों के साथ मिल जाने का प्रस्ताव रखा। किन्तु इन रियासतों के शासकों और जन प्रतिनिधियों दोनों ने ही इसे स्वीकार नहीं किया। इसके प्रत्युत्तर में कोटा के महाराव भीमसिंह ने प्रस्ताव रखा कि राजस्थान की पुरातन सांस्कृतिक परम्परा को अक्षुण्ण रखते हुए कोटा, बूंदी, टोंक, झालावाड़, बांसवाड़ा, डूंगरपुर, प्रतापगढ़, शाहपुरा और किशनगढ़ रियासतों को मिलाकर एक संघ बना दिया जाय। झालावाड़ और डूंगरगढ़ के शासकों ने भी इस पर सहमति व्यक्त की। 3 मार्च, 1948 ई. को कोटा, झालावाड़ और डूंगरपुर के शासकों ने दिल्ली जाकर इस संघ के निर्माण का आग्रह किया। किन्तु इस संघ के निर्माण के मार्ग में अभी कुछ बाधाएं थी। प्रस्तावित नये संघ के क्षेत्र के मध्य में मेवाड़ रियासत थी, जो रियासती विभाग द्वारा निर्धारित मापदण्ड के अनुरूप अपना पृथक् अस्तित्व बनाये रखने के लिये स्वतंत्र थी। अतः रियासती विभाग मेवाड़ पर प्रस्तावित संघ में शामिल होने के लिये दबाव डालने के पक्ष में नहीं था। फिर भी कुछ शासकों के आग्रह पर रियासती विभाग ने मेवाड़ को प्रस्तावित संघ में सम्मिलित होने का निमंत्रण भेज दिया। किन्तु मेवाड़ के महाराणा भूपालसिंह और दीवान राममूर्ति ने यह कहते हुये कि मेवाड़ का 1300 वर्ष पुराना राजवंश अपनी गौरवशाली परम्पराओं को तिलांजली देकर भारत के मानचित्र पर अपना अस्तित्व समाप्त नहीं कर सकता, निमंत्रण को ठुकरा दिया। इसके प्रत्युत्तर में उसने प्रस्ताव रखा कि यदि दक्षिण–पूर्वी राजस्थान की रियासतें चाहे तो वे मेवाड़ के साथ मिल सकती हैं। किन्तु ये रियासतें मेवाड़ के साथ मिलने को तैयार नहीं हुई।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

मेवाड़ के इस रूख को देखते हुए रियासती विभाग ने इस समय मेवाड़ को छोड़कर पूर्वोक्त रियासतों को मिलाकर 'संयुक्त राजस्थान' का निर्माण करने का निश्चय कर लिया। मेवाड़ इसमें बाद में सम्मिलित हो सकता था। प्रस्तावित संघ में कोटा सबसे बड़ी रियासत थी। अतः रियासती विभाग ने कोटा के महाराव को बहादुरसिंह ने राजस्थान का राजप्रमुख बनाने का निर्णय लिया। किन्तु बूंदी के महाराणा महाराव बूंदी के महाराव के 'छुटभैया' थे। अतः बूंदी के महाराव ने उदयपुर जाकर मेवाड़ के महाराणा से प्रस्तावित संघ में शामिल होने की प्रार्थना की ताकि महाराणा के राजप्रमुख बन जाने सऐ उसके अहं की तृष्टि हो जाय। किन्तु महाराणा ने बूंदी के महाराव को भी वही उत्तर दिया जो उन्होंने रियासती विभाग को दिया था। अंत में, रियासती विभाग के दबाव के कारण बूंदी के महाराव को कोटा के महाराव को 'संयुक्त राजस्थान' का राजप्रमुख बनाने का प्रस्ताव स्वीकार करना पड़ा। किन्तु बूंदी और डूंगरपुर के महाराव का सम्मान करते हुये रियासती विभाग ने उन्हें क्रमशः उप–राजप्रमुख और कनिष्ठ उप–राजप्रमुख के पद प्रदान किये।

संयुक्त राजस्थान में विलय के प्रति महाराणा की हठधर्मिता के विरूद्ध मेवाड़ में तीव्र प्रतिक्रिया हुई। मेवाड़ प्रजामण्डल के नेता और संविधान सभा के सदस्य माणिक्यलाल वर्मा ने अपने एक वक्तव्य में कहा कि मेवाड़ की 20 लाख जनता के भाग्य का फैसला अकेले महाराणा और दीवान राममूर्ति नहीं कर सकते। प्रजामण्डल की यह स्पष्ट नीति है कि मेवाड़ अपना अस्तित्व समाप्त कर राजपूताना प्रान्त का अंग बन जाय। 'मेवाड़ प्रजामण्डल पत्रिका' ने भी अपने 8 व 15 मार्च, 1948 ई. के सम्पादकीय में अनेक तर्क देते हुये मेवाड़ को प्रस्तावित 'संयुक्त राजस्थान' में सम्मिलित करने की मांग का पुरजोर समर्थन किया। किन्तु महाराणा अपने निश्चय पर अडिग रहे। किन्तु शीघ्र ही मेवाड़ की राजनीतिक परिस्थितियों में बदलाव आया। मार्च, 1948 ई. में मंत्रिमण्डल के गठन के प्रश्न को लेकर प्रजामण्डल और महाराणा के मध्य गतिरोध उत्पन्न हो गया। दरबार में प्रजामण्डल के विरूद्ध मुसद्दी वर्ग की धारणा थी कि चाहे मेवाड़ का संयुक्त राजस्थान में विलय हो जाय, किन्तु सत्ता प्रजामण्डल के हाथों में नहीं जानी चाहिये। अतः मुसद्दियों के प्रभाव में आकर महाराणा ने 23 मार्च, 1948 ई. को मेवाड़ को संयुक्त राजस्थान में शामिल करने के अपने निर्णय की सूचना भारत सरकार को भेज दी और संयुक्त राजस्थान के उद्‌घाटन की 25 मार्च, 1948 ई. को श्री एन.वी. गाडगिल ने संयुक्त राजस्थान की विधिवत् उद्‌घाटन किया। प्रो. गोकुलप्रसाद असावा को इस नवीन संघ का प्रधानमंत्री बनाया गया। किन्तु मेवाड़ के विलय के प्रस्ताव के कारण भारत सरकार की सलाह पर मंत्रिमण्डल के गठन का कार्य कुछ दिनों के लिये स्थगित कर दिया गया।

26.6. तृतीय चरण–संयुक्त राजस्थान (द्वितीय) का गठन :

जिस समय संयुक्त राजस्थान का गठन किया जा रहा थ उस समय मेवाड़ के महाराणा के सम्मुख मेवाड़ को भी संघ में विलय करने का प्रस्ताव रखा था। भारत सरकार ने महाराणा के निर्णय की प्रतीक्षा में संयुक्त राजस्थान के उद्‌घाटन को भी स्थगित करने का प्रयास किया था। परन्तु कोटा के महाराव के अनुरोध पर उसका उद्‌घाटन निर्धारित समय (25 मार्च, 1948) पर ही हुआ। महाराणा ने मेवाड़ विलय के प्रस्ताव का विरोध करते हुए कहा कि मेवाड़ का 1300 वर्ष पुराना राजवंश अपने गौरवशाली परम्पराओं को तिलांजलि देकर भारत के मानचित्र पर अपना अस्तित्व समाप्त नहीं कर सकता। हाँ, राजस्थान की रियासतें चाहें तो उनमें मिल सकती हैं। इस पर राज्य के प्रजामण्डल के प्रमुख नेता और संविधान निर्मात्री परिषद् के सदस्य श्री माणिक्यलाल वर्मा ने इसकी कड़ी प्रतिक्रिया की और कहा कि मेवाड़ की 20 लाख जनता के भाग्य का निर्णय अकेले महाराणा और मेवाड़ के प्रधानमंत्री सर रामामूर्ति नहीं कर सकते। प्रजामण्डल की यह स्पष्ट नीति है कि मेवाड़ अपना अस्तित्व समाप्त कर राजस्थान का अंग बन जावे। प्रजामण्डल के नेताओं ने जनता को इस तर्क से प्रभावित करना आरंभ किया कि मेवाड़ की उन्नति उसकी पृथक्कता समाप्त करके ही संभव थी। रियासती विभाग अपनी निर्धारित नीति के अनुसार मेवाड़ पर विलय के लिए दबाव नहीं डाल सकता था। परन्तु 4 अप्रैल को मेवाड़ में विधानसभा के चुनाव होने वाले थे। चुनाव में प्रजामण्डल के सदस्य भूरेलाल बया तथा क्षेत्रीय परिषद् के सदस्य गुमान सिंह के बीच टक्कर होने को थी। इस चुनाव ने प्रथम मेवाड़ का वातावरण उत्तरेजनात्मक बनाया औरउधर महाराणा के रूख को विनम्र बनाया। बदलती हुई राजनैतिक परिस्थितियों ने महाराणा को स्पष्ट कर दिया कि कोई भी राजतंत्र जनमत के विरूद्ध अधिक समय तक खड़ा नहीं रह सकता। अतः संयुक्त राजस्थान के उद्‌घाटन के तीन दिन बाद राणा ने भारत सरकार को सूचित किया कि वह संयुक्त राजस्थान में सम्मिलित होने के लिये तैयार है। इसके साथ ही महाराणा भोपालसिंह ने अपने प्रधानमंत्री सर राममूर्ति को दिल्ली विलय की शर्तें तय करने के लिय वी.पी. मेनन से मिलने भेजा। प्रधान मंत्री के साथ श्री मोहन सिंह मेहता भी दिल्ली गये थे। परिणामतः यह तय हुआ कि उदयपुर के 'संयुक्त राजस्थान राज्य' में शामिल होने पर राज्य की राजधानी उदयपुर होगी। महाराणा

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

उदयपुर आजन्म राजप्रमुख होंगे। उन्हें प्रवीपर्स के दस लाख रुपयों के अतिरिक्त पांच लाख रुपये वार्षिक राजप्रमुख के पद का भत्ता एवं पांच लाख रुपये धार्मिक कार्यों पर खर्च करने के लिय और दिये जायेंगे। उस समय इतनी रियासतें विलय होने वाली किसी अन्य रियासत को नहीं दी गई थीं। रियासती विभाग ने महाराणा की निजी सम्पत्ति के प्रश्न पर भी उदारतापूर्वक विचार करने का आश्वासन दिया। महाराणा ने उक्त शर्तें स्वीकार कर लीं। इसके अलावा मेवाड़ की भौगोलिक स्थिति भी मेवाड़ को 'संयुक्त राजस्थान राज्य' में विलय को ही आमंत्रित कर रही थी। इन परिस्थितियों में मेवाड़ ने 11 अप्रैल, 1948 को संयुक्त राजस्थान में मिलने का प्रस्ताव विधिवत् रियासती विभाग को भेजा। इस नवीन संघ का उद्घाटन स्व. जवाहरलाल नेहरू ने 18 अप्रैल, 1948 को किया। इस संयुक्त राजस्थान के राजप्रमुख महाराणा भूपालसिंह तथा प्रधानमंत्री माणिक्यलाल वर्मा बने। इस संयुक्त राजस्थान के गठन में भारत सरकार को अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ा। कई बार रियासती विभाग व राणाजी के मध्य आपसी विरोधी पत्र–व्यवहार हुए। परन्तु वर्मा जी के मंत्रीमण्डल ने अपने 11 मास के कार्यकाल में वह कर दिखाया जो राज्य सरकारें 11 वर्षों में भी नहीं कर पाई थीं।

26.7. चतुर्थ चरण–वृहद् राजस्थान का निर्माण–

संयुक्त राजस्थान द्वितीय के निर्मित हो जाने से पूर्व ही अखिल भारतीय देशी राज्य लोक–परिषद् की राजपूताना प्रान्तीय सभा 20 जनवरी, 1948 को एक प्रस्ताव द्वारा राजस्थान की सभी रियासतों को मिलाकर एक वृहद् राजस्थान राज्य के निर्माण की मांग कर चुकी थी। इस प्रस्ताव को क्रियान्वित करने में भारत सरकार के समक्ष अनेक कठिनाइयां प्रस्तुत थीं। परन्तु जब मार्च, 1948 में मत्स्य संघ का गठन हो गया और अप्रैल, 1948 में ही राजस्थान की दक्षिण तथा उत्तर–पूर्व की रियासतों को मिलाकर संयुक्त राजस्थान का निर्माण कर दिया गया तो भारत सरकार के समक्ष वृहद् राजस्थान के निर्माण में आने वाली कुछ कठिनाइयां कम हो गईं। उधर मई, 1948 में ही भारत सरकार ने सिरोही रियासत का शासन प्रबन्ध बम्बई सरकार को सौंप दिया था। अब राजस्थान की प्रमुख रियासतों में जयपुर, जोधपुर, बीकानेर व जैसलमेर रियासतें ऐसी बचीं थीं जो अभी तक किसी संघ में नहीं मिली थीं। इसके अलावा इनका बहुत क्षेत्र बड़ा रेगिस्तानी होने के कारण यातायात व संचार की दृष्टि से भी बहुत पिछड़ा हुआ था। इसीलिये भारत सरकार का गृह मंत्रालय इन तीनों राज्यों को केन्द्रीय शासित प्रदेश बनाने के लिये उत्सुक था। लेकिन लोक–भावनाओं को ध्यान में रखकर ही वह कोई निर्णय लेना चाहता था। तीनों रियासतों के नरेश अपनी–अपनी रियासतों का स्वतंत्र अस्तित्व रखना चाहते थे। बीकानेर नरेश श्री सार्दूल सिंह तो इस संदर्भ में अपने विचार भी व्यक्त कर चुके थे। उधर समाजवादी नेता श्री जय प्रकाश नारायण तथा राम मनोहर लोहिया भी वृहद् राजस्थान का समर्थन (9 नवम्बर, 1948) कर चुके थे। बीकानेर, जैसलमेर व जोधपुर की पाकिस्तान की सीमा पर स्वतंत्र इकाइयों के रूप में बने रहना भारत सरकार को स्वीकार नहीं था। अतः सरदार वल्लभ भाई पटेल ने रियासती विभाग के सचिव श्री वी.पी. मेनन को उक्त चारों रियासतों के नरेशों से बात करने भेजा।

जयपुर रियासत के दीवान सर वी.टी. कृष्णामाचारि ने वृहद् राजस्थान का विरोध किया पर साथ में ही अपने वजनदार सुझाव भी प्रस्तुत किये। उन्होंने कहा कि इस समय पंजाब में सिक्ख–प्रभुत्व की समस्या बनी हुई है। यदि वृहद् राजस्थान बन गया तो यहां पर राजपूत प्रभुत्व की समस्या उठ खड़ी होगी। अतः राजपूत रियासतों का एकीकरण एक बजाय तीन इकाइयों में करना चाहिये। पहली संवर्ग में वर्तमान संयुक्त राजस्थान यूनियन हो। दूसरी में जयपुर, अलवर व करौली शामिल किये जायें तथा तीसरी संवर्ग जोधपुर, बीकानेर और जैसलमेर में मिला दिया जाये। बीकानेर के दीवान श्री सी.एस. वैंकटाचारी ने वृहद् राजस्थान का समर्थन किया तथा मेनन के साथ मिलकर कृष्णामाचारी को योजना से असहमति प्रकट करते हुये कहा कि प्रदेश में फैली हुई जन भावनाओं तथा समाजवादियों द्वारा आरम्भ किये गये आंदोलन को ध्यान में रखते हुये राजपूताना की रियासतों को एक ही संवर्ग के यप में एकीकरण करने के अतिरिक्त और कोई रास्ता नहीं है। सरदार पटेल ने श्री मेनन व वैंकटाचारी की राय से सहमति प्रकट की। अतः जहां सरदार पटेल व श्री वी.पी. मेनन के प्रयासों से दिसम्बर, 1948 में जयपुर, जोधपुर व बीकानेर के नरेशों ने वृहद्–राजस्थान में मिलना स्वीकार कर लिया। 14 जनवरी, 1948 को सरदार पटेल ने उदयपुर की एक विशाल सभा में इस आशय की घोषणा भी कर दी।

वृहद् राजस्थान के निर्माण की घोषणा तो कर दी गई पर इसके साथ ही भारत सरकार के सारम अनेक कठिनाइयां उत्पन्न हो गईं। वृहद् राजस्थान का राजप्रमुख कौन बने? मुख्यमंत्री का पद किसे दिया जावे तथा नवीन संघ की राजधानी कहां रखी जावे? इन समस्याओं के निवारणार्थ दिल्ली में 3 फरवरी, 1948 को राजस्थान के गणमान्य कांग्रेस नेताओं (श्री गोकुल भाई भट्ट, श्री माणिक्यलाल वर्मा, श्री जयनारायण व्यास व हीरालाल शास्त्री) की एक बैठक आमंत्रित की गई। उसमें

तय किया गया कि राजप्रमुख का पद जयपुर नरेश सवाई मानसिंह की मान–मर्यादा को ध्यान में रखते हुए श्री भूपाल सिंह को महाराज–प्रमुख के पद से सम्मानित किया जाये। इन सब शर्तों के तय हो जाने पर जब मानसिंह जी वायुयान से दिल्ली जाने वाले थे कि उनका वायुयान भस्म हो गया और वे आहत हो गये। इस कारण वृहद् राजस्थान के निर्माण में कुछ विलम्ब हो गया। उधर जब वृहद् राजस्थान का उद्घाटन करने 29 मार्च को सरदार पटेल जयपुर आ रहे थे तो शाहपुरा के पास वायुयान में खराबी के कारण उनके हवाई जहाज को शुष्क नदी में उतारना पड़ा। इन दैवी मुसीबतों को पार करने के उपरान्त नवीन संघ की राजधानी जयपुर में 30 मार्च, 1949 को सरदार पटेल ने वृहद् राजस्थान का उद्घाटन किया और 7 अप्रैल को हीरालाल शास्त्री के मंत्रिमण्डल ने शपथ ली। इस वृहद् राजस्थान के निर्माण से राजस्थान में सदियों से चली आ रही राजाशाही समाप्त हो गई।

26.8. पंचम चरण–मत्स्य संघ का वृइद् राजस्थान में विलय :

मत्स्य संघ के गठन के समय उनमें सम्मिलित होने वाले राज्यों के समक्ष यह स्पष्ट कर दिया गया था कि भौगोलिक आदि कारणों से भविष्य में यह संघ उत्तर प्रदेश या राजस्थान में मिलाया जा सकता है। वृहद् राजस्थान के निर्माण की प्रक्रिया के समय ही मत्स्य संघ के शासकों और जन नेताओं में मत्स्य संघ के भावी स्वरूप के सम्बन्ध में चर्चा आरम्भ हो गयी थी। वृहद् राजस्थान के निर्माण के बाद मत्स्य संघ का अस्तित्व अनुपयुक्त प्रतीत होने लगा था। अतः 13 फरवरी, 1949 ई. को मत्स्य संघ में विलीन रियासतों के शासकों व संघ के मंत्रियों की मत्स्य संघ के वृहद् राजस्थान में विलय के सम्बन्ध में भारत सरकार के साथ बातचीत आरम्भ हुई। इस वार्ता में भारत सरकार के समक्ष यह बात स्पष्ट हुई कि अलवर और करौली तो वृहद् राजस्थान में विलय हेतु तैयार है, किन्तु भरतपुर और धौलपुर के शासक अभी संशय में है। वस्तुतः इन राज्यों के कुछ प्रतिनिधि तो मत्स्य संघ को बनाये रखना चाहते थे और कुछ भाषायी समानता के आधार पर उत्तरप्रदेश में मिलना चाहते थे। ऐसी स्थिति में सरदार पटेल ने डॉ. शंकरदेव की अध्यक्षता में एक समिति नियुक्त की। इस समिति ने दोनों रियासतों का दौरा करके सभी वर्गों के लोगों के विचार जानकार भारत सरकार को अपनी रिपोर्ट प्रस्तुत कर दी जिसके अनुसार दोनों रियासतों की अधिकांश जनता वृहद् राजस्थान में मिलने के पक्ष में थी। फलतः 1 मई, 1949 ई. को भारत सरकार ने एक विज्ञप्ति निकालकर मत्स्य संघ के राजस्थान में विलय के आदेश जारी कर दिये। तत्पश्चात् मत्स्य संघ की रियासतों के शासकों और जन नेताओं से विलय की प्रकिया पर विस्तृत विचार–विमर्श के बाद 15 मई, 1949 ई. को मत्स्य संघ का वृहद् राजस्थान में विधिवत् विलीनीकरण हो गया इस नवीन संघ को "संयुक्त वृहद् राजस्थान" की संज्ञा प्रदान की गई ओर मत्स्य संघ के प्रध ानमंत्री शोभाराम कुमावत को हीरालाल शास्त्री मंत्रिमण्डल में सम्मिलित कर लिया गया।

26.9. षष्ठम चरण–सिरोही एवं आमेर–मेरवाड़ा का विलय–सिरोही का प्रश्न :

आधुनिक राजस्थान के एकीकरण का सर्वाधिक चर्चित प्रश्न सिरोही के विलय का रहा। गुजरात के अनेक नेता सिरोही के सुप्रसिद्ध पर्यटन केन्द्र आबू पर्वत को गुजरात में मिलाने के इच्छुक थे। नवम्बर, 1947 ई. में सरदार पटेल ने सुझाव दिया कि सिरोही, पालनपुर, दाँता, ईडर, विजयनगर, डूँगरपुर, बाँसवाड़ा, झाबुआ आदि गुजराती भाषा–भाषी राज्यों को गुजरात स्अेट्स एजेन्सी के साथ मिला दिया जाय। इस प्रस्ताव के अनुरूप भारत सरकार ने पालनपुर, दाँता, ईडर और विजयनगर को गुजरात स्टेट्स एजेन्सी को सौंप दिया। किन्तु गुजरात के नेता निरन्तर इस बात के लिये प्रयत्नशील थे कि सिरोही को भी गुजरात स्अेट्स एजेन्सी के अन्तर्गत मिला दिया जाय। सरदार पटेल, के.एम. मुंशी आदि नेताओं के रूप में इस समय भारत सरकार के रियासती विभाग में गुजरात के लोगों का काफी प्रभाव था। गुजराती होने के नाते सरदार पटेल भी गुजराती नेताओं के साथ सहानुभूति रखते थे। अतः नवम्बर 1949 ई. में ही सिरोही को गुजरात स्टेट्स एजेन्सी के अधीन कर दिया गया। मार्च, 1948 ई. में गुजरात स्टेट्स एजेन्सी के राज्यों के शासकों ने स्वयं को बम्बई प्रान्त में मिलाने का आग्रह किया। फलतः मार्च, 1948 ई. में सँयुक्त राजस्थान में विलय हो गया। इस अवसर पर अ.भा. देशी राज्य लोक परिषद् की राजपूताना प्रान्तीय सभा के महामंत्री हीरालाल शास्त्री ने अपने 10 अप्रैल के तार में सरदार पटेल को लिखा कि "यह जानकर प्रसन्नता हुई कि उदयपुर सँयुक्त राजस्थान में शामिल हो रहा है। इससे सिरोही का राजस्थान में शामिल होना और भी अवश्यंभावी हो गया है। फिर हमारे लिये सिरोही का अर्थ है गोकुलभाई। बिना गोकुल भाई के हम राजस्थान नहीं चला सकते।" पटेल ने इस तार का कोई उत्तर नहीं दिया। अतः शास्त्री जी ने 14 अप्रैल को पुनः एक तार कर सिरोही को राजस्थान में मिलाने का आग्रह किया। किन्तु पटेल ने इस ओर कोई ध्यान नहीं दिया। इस सम्बन्ध मे पटेल ने गोकुलभाई भट्ट से बातचीत की। भट्ट की मान्यता थी कि सिरोही के सम्बन्ध में तत्काल कोई भी निर्णय संभव नहीं है, उचित यह होगा कि फिलहाल सिरोही का शासन भारत सरकार

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

संभाल ले। तद्नुरूप 8 नवम्बर, 1948 ई. को सिरोही राज्य के साथ एक समझौता करके भारत सरकार ने सिरोही राज्य का प्रशासन अपने हाथ में ले लिया। किन्तु सरदार पटेल तो येन–केन–प्रकारेण सिरोही को गुजरात में मिलाना चाहते थे। अतः भारत सरकार ने दो माह पश्चात् ही जनवरी, 1949 ई. को सिरोही का प्रशासन बम्बई प्रान्त को सौंप दिया।

रियासती विभाग की सिरोही राज्य के प्रति अपनाई जा रही नीति से सम्पूर्ण राजस्थान में तीव्र उत्तेजना फैल चुकी थी। 18 अप्रैल, 1948 ई. को उदयपुर सहित संयुक्त राजस्थान के उद्घाटन के अवसर पर उदयपुर के कार्यकर्त्ताओं का एक प्रतिनिधि मण्डल पं. जवाहरलाल नेहरू से मिला और उन्हें सिरोही के प्रदेश की जनता की भावनाओं की जानकारी दी। पं. नेहरू ने दिल्ली लौटते ही सरदार पटेल को एक पत्र लिखा जिसमें उन्होंने लिखा कि "राजस्थान भर के कार्यकर्त्ताओं में जिस सवाल पर सबसे अधिक रोष था वह था सिरोही के बारे में ...... मुझे बार–बार कहा गया कि गत 300 वर्षों से भाषा और अन्य हर प्रकार के सिरोही, राजस्थान का ही अंग रहा है, अतः उसे राजस्थान में ही मिलाना चाहिये। मैंने उनसे (कार्यकर्त्ताओं से) कहा कि मुझे इस विषय में विभिन्न पहलुओं की जानकारी नहीं है, अतः मैं इस सम्बन्ध में कुछ भी कहने की स्थिति में नहीं हूँ। किन्तु साधारणतया जहाँ मतभेद हो, वहाँ जनता की राय ही मान्य होनी चाहिये। इस पत्र के प्रत्युत्तर में सरदार पटेल ने नेहरू को लिखा कि "सिरोही के सम्बन्ध में मेरी इन लोगों से कई बात बातचीत हुई। सभी मुद्दों पर विचार करने के बाद ही हम इस निर्णय पर पहुंचते हैं कि सिरोही गुजरात में ही जाना चाहिये। उन्हें (राजस्थान वालों को) सिरोही नहीं चाहिये, उन्हें तो गोकुलभाई भट्ट चाहिये। उनकी ये मांग सिरोही को राजस्थान के दिये बिना भी पूरी की जा सकती है।"

अपने इस पत्र की भावना के अनुरूप राजनीतिक कुशलता के धनी सरदार पटेल ने शास्त्रीजी की गोकुलभाई भट्ट की माँग को पूरा करते हुये, जनवरी 1959 ई. में गोकुलभाई भट्ट के जन्म स्थान हाथल सहित सिरोही का एक भाग तो राहस्थान को दे दिया और आबू पर्वत सहित शेष सिरोही को गुजरात में मिला दिया। किन्तु इस निर्णय के विरोध में सिरोही में एक व्यापक आंदोलन उठ खड़ा हुआ। यह आंदोलन तभी समाप्त हुआ, जब भारत सरकार ने अपने निर्णय पर पुनर्विचार का आश्वासन दिया। सिरोही के अंग–भंग के रूप में राजस्थान के साथ हुये अन्याय का निराकरण 1 नवम्बर, 1956 ई. को हुआ, जब राज्य पुनर्गठन आयोग की सिफारिशों के अनुसार सिरोही का आबूपर्वत वाला क्षेत्र गुजरात से पृथक् करके पुनः राजस्थान में सम्मिलित कर दिया गया।

26.10. अजमेर का विलय :

अजमेर के विलय का प्रश्न भी अत्यन्त विवादास्पद रहा। अखिल भारतीय देशी राज्य लोक परिषद् की राजपूताना प्रान्तीय सभा निरन्तर यह मांग कर रही थी कि प्रान्त की सभी रियासतों और अजमेर–मेरवाड़ा प्रदेश को मिलाकर वृहद् राजस्थान का निर्माण किया जाय। किन्तु अजमेर का कांग्रेसी नेतृत्व अजमेर के राजस्थान में विलय का विरोधी था। ऐसी स्थिति में भारत सरकार ने अजमेर के सम्बन्ध में कोई निर्णय नहीं किया और उसे केन्द्र शासित प्रदेश बना रहने दिया। 1952 ई. के आम चुनावों के बाद अजमेर–मेरवाड़ा में हरिभाई उपाध्याय के मुख्यमंत्रित्व में कांग्रेसी मंत्रिमण्डल का गठन हुआ। इसके बाद तो अजमेर का मंत्रिमण्डल प्रशासनिक कुशलता के नाम पर छोटे राज्यों के गठन का तर्क देकर अजमेर के पृथक् अस्तित्व की रक्षा के प्रयत्नों में लग गया। यह तर्क सत्ता की क्षुधा से प्रेरित थे क्योंकि अजमेर के राजस्थान में विलय का अर्थ था, अजमेर–मेरवाड़ा मंत्रिमण्डल के पृथक् अस्तित्व की समाप्ति, और उस स्थिति में यहां के सभी मंत्रियों को संयुक्त वृहद् राजस्थान के मंत्रिमण्डल में स्थान मिलना संदिग्ध था। किन्तु राज्य पुनर्गठन आयोग ने अजमेर के नेताओं के तर्कों को अस्वीकृत करते हुये अजमेर–मेरवाड़ा को राजस्थान में मिलाने की अनुशंसा की। तद्नुरुप 1 नवम्बर, 1956 ई. को अजमेर–मेरवाड़ा का क्षेत्र भी राजस्थान में मिला दिया गया। वस्तुतः सिरोही और अजमेर का वृहद् राजस्थान में विलय 'वृहद् सँयुक्त राजस्थान' रूपी शरीर के लिये "हृदय" और "आत्मा" की प्राप्ति के समान था।

इस प्रकार राजस्थान के एकीकरण का जो रथचक्र मत्स्य संघ के गठन के साथ मार्च, 1948 ई. में गतिशील हुआ था, वह 1 नवम्बर, 1956 को सिरोही और अजमेर–मेरवाड़ा के राजस्थान के विलय के साथ आकर रुका। राजस्थान के इस एकीकरण का यह महायज्ञ 8 वर्ष, और 15 दिन में पूर्ण हुआ। राजस्थान के इस एकीकरण के साथ ही महाराणा सांगा द्वारा सोलहवीं शताब्दी में राजपूत राजाओं के परिसंघ के रूप में देखा गया सँयुक्त राजस्थान का स्वप्न चरितार्थ हो गया। वस्तुतः राजस्थान का एकीकरण एक सुनिश्चित और शांतिपूर्ण क्रान्ति थी जिसमें विभिन्न रियासतों के शासकों, भारत सरकार, राजनीतिक नेताओं आदि सभी सम्बद्ध लोगों का यथोचित् योगदान था। कुछ विद्वान् तो रियासतों के एकीकरण को "भारत के स्वतन्त्रयोत्तर युग का सबसे आश्चर्यजनक कार्य" मानते हैं।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

26.11. राजशाही के अवशेषों की समाप्ति :

वृहद् राजस्थान के निर्माण के पश्चात् भी राजस्थान में राजप्रमुख के पद और पूर्व रियासतों के शासकों के विशेषाधिकारों के रूप में राजतंत्र के अनेक चिन्ह शेष रह गये थे। इन्हीं कारणें से राजस्थान को 'बी' श्रेणी के राज्यों में रखा गया था। किन्तु भारत की नवनिर्वाचित संसद ने 7वें संविधान संशोधन द्वारा 1 नवम्बर, 1956 ई. को प्रथम और द्वितीय श्रेणी के राज्यों का भेद समाप्त करके राजस्थान में भी राजप्रमुख के पद को समाप्त कर राजतंत्र के इस अवशेष को समाप्त कर दिया। भारत के अन्य राज्यों के समान राजस्थान में भी अब 'राज्यपाल' की नियुक्ति की जाने लगी। तदनन्तर 1970 ई. में एक संविधान संशोधन द्वारा रियासतों के शासकों को प्राप्त प्रिवीपर्स, विशेषाधिकारों और सुविधाओं को भी समाप्त कर राजतंत्र के अंतिम अवशेषों को भी समाप्त कर दिया गया।

26.12. बोध प्रश्न :

प्रश्न 1 राजस्थान के निर्माण में कितना समय लगा ?

अ. 7 वर्ष 25 दिन　　ब. 8 वर्ष 15 दिन

स. 7 वर्ष 17 दिन　　द. 8 वर्ष 28 दिन

उत्तर – ....

प्रश्न 2 मत्स्य संघ के निर्माण पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखिएं ? (30 शब्द सीमा)

उत्तर – ....

प्रश्न 3 राजस्थान राज्य के निर्माण को सविस्तार समझाइये।

उत्तर – ....

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

जैन विश्वभारती संस्थान

(मान्य विश्वविद्यालय)

लाडनूँ–341306 (राजस्थान)

दूरस्थ शिक्षा निदेशालय

स्नातक (बी.ए.) द्वितीय वर्ष

विषय - इतिहास

द्वितीय-पत्र : राजस्थान के इतिहास का सर्वेक्षण

(आरम्भिक काल से 1958 ई. तक)

संवर्ग

संवर्ग–1	:	राजपूतों की उत्पत्ति, पृथ्वीराज चौहान
संवर्ग–2	:	सामन्तवाद, मालदेव
संवर्ग–3	:	राजपूतों का स्वर्ण युग
संवर्ग–4	:	राजस्थान में राजनैतिक जागरण
संवर्ग–5	:	बिजोलिया और प्रजामण्डल

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

विशेषज्ञ समिति

1. श्रीमती संतोष व्यास
2. श्रीमती स्वाति चतुर्वेदी
3. डॉ. अरुणा सोनी
4. श्री विनीत गोधल

लेखक

डॉ. अरुणा सोनी

कॉपीराइट

जैन विश्वभारती संस्थान, लाडनूँ

नवीन संस्करण : 2017

मुद्रित प्रतियां : 1000

प्रकाशक :

जैन विश्वभारती संस्थान,

लाडनूँ–341 306 (राजस्थान)

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

अनुक्रमणिका

	पृष्ट संख्या
संवर्ग–1 : राजपूतों की उत्पत्ति, पृथ्वीराज चौहान	**1–30**
इकाई – 1 राजस्थान के पूर्वपाषाण युग की रूपरेखा मुख्यतः कालीबंगा, आहड़ एवं बैराठ के पुरातात्विक सन्दर्भ में	1
इकाई – 2 मत्स्य जनपद	16
इकाई – 3 राजपूतों की उत्पत्ति	20
इकाई – 4 पृथ्वीराज चौहान	24
संवर्ग–2 : सामन्तवाद, मालदेव	**31–69**
इकाई – 5 राजपूत राज्यों मे सामन्तवाद की विशेषताएँ	31
इकाई – 6 ब्रिटिश प्रभुसत्ता के समय से राजपूत जागीरदारों की स्थिति में परिवर्तन	43
इकाई – 7 मालदेव के अधीन मारवाड़ राज्य का उत्कर्ष	48
इकाई – 8 दुर्ग वास्तुकला : चित्तौड़, रणथम्भौर और आमेर के सन्दर्भ में	63
संवर्ग–3 : राजपूतों का स्वर्ण युग	**70–178**
इकाई – 9 राजपूत राज्यों की मुगल सम्राटों के साथ सहयोग एवं प्रतिरोध की नीति	70
इकाई – 10 आमेर का राजा मानसिंह	85
इकाई – 11 बीकानेर का रायसिंह	94
इकाई – 12 मारवाड़ का जसवन्तसिंह	102
इकाई – 13 वीर दुर्गादास	109
इकाई – 14 महाराणा कुम्भा	115
इकाई – 15 महाराणा सांगा	129
इकाई – 16 महाराणा प्रताप	142
इकाई – 17 सवाई जयसिंह द्वितीय	155
इकाई – 18 धार्मिक आन्दोलन : मीराबाई के नेतृत्व में	165
इकाई – 19 धार्मिक आन्दोलन : दादू दयाल के नेतृत्व में	173
संवर्ग–4 : राजस्थान में राजनैतिक जागरण	**179–219**
इकाई – 20 राजपूताना में मराठों के हस्तक्षेप के कारण एवं परिणाम	179
इकाई – 21 राजस्थान में 1818 ई. की संधियाँ विशेषतः मेवाड़, मारवाड़ एवं कोटा राज्यों के सन्दर्भ में	188
इकाई – 22 राजस्थान में 1857 ई. का विद्रोह	200
इकाई – 23 राजस्थान में राजनैतिक जनजागरण के कारण	210
संवर्ग–5 : बिजोलिया और प्रजामण्डल	**211–248**
इकाई – 24 राजस्थान बिजोलिया किसान आन्दोलन एवं जनजातीय आन्दोलन	220
इकाई – 25 प्रजामण्डलों का स्वतन्त्रता आन्दोलन में योगदान विशेषतया भरतपुर, मारवाड़ एवं मेवाड़ के सन्दर्भ	231
इकाई – 26 राजस्थान राज्य का निर्माण (1948 ई. – 1956 ई.)	239

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun